संसार के महापुरुष

अभिलाष साहेब

कबीर आश्रम, इलाहाबाद

समर्पित

उन पाठकों के कर-कमलों में जो संसार
के महापुरुषों के जीवन-उपवन
के सुमन-सौरभ के
मधुकर
हैं।

निवेदन

मैं जब भी किसी आत्मकल्याण तथा लोककल्याण में समर्पित महापुरुष का जीवन पढ़ता हूं, तो श्रद्धा से भर जाता हूं। भूतकाल की यदि कुछ हमारे लिए थाती है तो महापुरुषों का जीवनादर्श तथा उनकी वे कृतियां जो मानव को पाशविक धरातल से उठाकर मानवीय तथा आत्मिक धरातल पर स्थित करती हैं।

देश, काल, परिस्थिति, वातावरण, रुचि, स्वभाव, योग्यता आदि की विभिन्नता होने से संसार के सन्तपुरुषों एवं महापुरुषों के विचारों, सिद्धान्तों एवं शैलियों में अन्तर रहा है, आज है तथा आगे रहेगा। परन्तु उनके शाश्वत स्वर एक समान सबके लिए मंगलकर हैं और उन सभी का उद्देश्य एक है आत्मकल्याण एवं लोककल्याण। अतएव जो दैहिक बुद्धि एवं संकुचित स्वार्थ से ऊपर उठकर आत्मकल्याण में लगने तथा दूसरों को लगाने वाले हैं और किसी प्रकार मानवता के हित में समर्पित हैं, वे महापुरुष चाहे जिस देश, काल तथा परिस्थिति के हों, मानव मात्र का कर्तव्य है कि वह उनके प्रति श्रद्धावान हो और विवेकी बनकर उनके कल्याणकारी आदर्शों से प्रेरणा ले। इसमें मत, मजहब, प्रांत, देश, भाषा आदि आड़े नहीं आना चाहिए।

मैंने 'पारख प्रकाश' त्रैमासिक पत्र में समय-समय से महापुरुषों की जीवनियां लिखकर छापी हैं। उन्हीं का यह संग्रह पुस्तकाकार रूप में आपके सामने प्रस्तुत है। कुछ कारणों से भारतेतर देशों के सन्तों एवं महापुरुषों की जीवनियों पर ज्यादा काम नहीं हो सका। भारत के ही अभी उच्चस्तर के कई सन्तों, स्वतन्त्रता के लिए अपना सब कुछ समर्पित करने वाले उच्चतर राष्ट्रभक्तों एवं कई क्षेत्रों में मानवता के कल्याण में समर्पित मनीषियों के विषय में काम नहीं हो सका है। संस्थान के साधक इस दिशा में काम कर सकें तो मंगलकर होगा।

जिन पर टूटा-फूटा काम हुआ है और इस ग्रन्थ में संग्रहीत है उनमें रही हुई त्रुटियों पर सम्माननीय पाठक अवश्य निर्देश करने की कृपा करें जिससे आगे उन पर पुनर्विचार किया जा सके।

कबीर पारख संस्थान, इलाहाबाद
कुआर, अमावस 2049

विनम्र
अभिलाष दास

दूसरा संस्करण

अबकी बार सात महापुरुषों की जीवनियां इस पुस्तक में और जोड़ दी गयी हैं। इसलिए इसकी उपादेयता बढ़ गयी है। जिनके पास पहले संस्करण की जिल्द हो, उन्हें भी इसे रखना चाहिए।

—लेखक

पांचवां संस्करण

पिछले संस्करणों में अक्षर छोटे थे, इसलिए अबकी बार कुछ बड़े अक्षरों में कंपोज कराकर छापा जा रहा है। इससे पाठकों को सुविधा होगी। मेरी अन्य पुस्तकों की तरह इस पुस्तक का भी आदर सभी वर्ग की तरफ से हुआ है। इसी का फल है कि इसका पांचवां संस्करण पाठक के सामने है।

अबकी बार अमेरिका के प्रसिद्ध मानवतावादी राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन का जीवन-दर्शन 18वें संदर्भ के रूप में आया है। इसके साथ चीन के प्राचीन दार्शनिक संत लाओत्ज़े के विषय में 30वां आलेख आ गया है जो ब्रह्मचारी देवेंद्र का लिखा हुआ है और 'ताओ-ते-चिंग' के भाष्य में भूमिका के संदर्भ में आया है। इस प्रकार इस संस्करण में दो महान पुरुषों के जीवन-दर्शन जुड़ गये हैं।

—लेखक

अनुक्रमणिका

सद्‌गुरवे नमः

संसार के महापुरुष

1

महर्षि अगस्त्य

प्रयाग से कन्याकुमारी तथा सिंहल, जावा, सुमात्रा आदि एशिया के बड़े भू-भाग में आर्यत्व का प्रचार करने वाले महर्षि अगस्त्य का नाम वैदिक, पौराणिक साहित्य तथा जनमानस में अमर है। उनके महामहिम व्यक्तित्व से प्रभावित होकर भारतीय पंडितों ने दक्षिण में उदय होने वाले एक तारे का नाम ही रख दिया है अगस्त्य।

1. महर्षि अगस्त्य का जन्म

ऋग्वेद सातवें मंडल के तैंतीसवें सूक्त के अनुसार उर्वशी अप्सरा मित्र तथा वरुण—इन दो महापुरुषों के यहां उन्हीं दिनों निमन्त्रित रहती थी। इसी बीच में वसिष्ठ तथा अगस्त्य उर्वशी अप्सरा से पैदा हुए। ऋग्वेद (7/33/13) में अगस्त्य का नाम 'मान' है। शायद अगस्त्य पैदा होने के बाद मिट्टी के घड़े-जैसे पात्र में रखे गये हों, इसलिए उनका नाम 'कुंभज' भी पड़ा। वाल्मीकीय रामायण (7/80/1) में कहा गया 'महर्षिः कुम्भसम्भवः।' उर्वशी से पैदा होने

से 'और्वशेय' तथा उनके पिता मित्र या वरुण होने से 'मैत्रावरुणि' भी उनके नाम पड़े। उन्होंने प्रयाग के अपने आश्रम से चलकर विंध्यपर्वत के दुर्गमपथ को जीता था। इसलिए उनका नाम 'विंध्यकूट' भी पड़ा। उन्होंने विदेशों में आर्यत्व के प्रचार के लिए समुद्र की लम्बी-लम्बी यात्राएं की थीं। इसलिए कहा गया कि अगस्त्य ने समुद्र को पी लिया था। वस्तुत: उन्होंने समुद्र पर विजय पायी थी। इसलिए उनके नाम 'समुद्र चुलुक' अर्थात समुद्र के जल को चुलक (अंजली) में पी लेने वाला तथा 'पीताब्धि' अर्थात समुद्र को पी लेने वाला पड़े। उन्होंने भारत के बाहर पूर्व तथा दक्षिण में आर्यत्व का प्रचार किया, इसलिए उनका एक नाम 'आग्नेय' पड़ा।

महर्षि अगस्त्य का उपाख्यान महाभारत के वनपर्व के 96 से 99 अध्यायों[1] तक दिया गया है, जो केवल पौराणिक पक्ष से रंगा है। महर्षि अगस्त्य का मूल आश्रम "प्रयाग के समीप यमुना-तट पर बताया जाता है।"[2] इसके पास कहीं की एक पर्वत-चोटी का नाम भी 'अगस्त्यपर्वत' था। महाभारत (वनपर्व) के अनुसार महर्षि अगस्त्य की पत्नी 'लोपामुद्रा' विदर्भनरेश की पुत्री थीं। ऋग्वेद (1/179) में लोपामुद्रा और अगस्त्य का संवाद आया है।

वेद-पुराणादि ग्रंथों से निष्कर्ष निकलता है कि महर्षि अगस्त्य वैदिक आर्यमत के महान प्रचारक थे। अगस्त्य का व्यक्तित्व अथाह सागर-जैसा था। उनके मन में आर्यत्व-प्रचार की तीव्र अभिलाषा थी और उन्होंने मध्य भारत होते हुए दक्षिणी भारत तथा समुद्र-पार जावा-सुमात्रादि अनेक द्वीपों एवं देशों में अपनी प्रचार-ध्वजा फहराई थी।

2. प्रयाग से दक्षिण प्रस्थान

महर्षि अगस्त्य जब प्रयाग से दक्षिण की तरफ चले, तब पहले विंध्यपर्वत मिला जो रास्ता रोक रहा था। उन्होंने उसे सदैव के लिए परास्त किया और वह अगस्त्य के चरणों में झुक गया। अर्थात उन्होंने अपने अथक प्रयास से विंध्यपर्वत के बीच रास्ता बनाया। इसीलिए उनका नाम 'विंध्यकूट' पड़ा।

आगे चलकर उन्हें मणिमती नगर में 'इल्वल' तथा 'वातापि' नाम के दो महान वैभवशाली एवं विद्वान राक्षस मिले जो संस्कृत भाषा में पारगत थे। ये श्राद्ध में ब्राह्मणों को निमंत्रित कर उन्हें भोजन भी कराते थे, परन्तु ये ब्राह्मणों को धोखा देकर उन्हें मार देते थे, अतएव ब्राह्मणों के शत्रु थे। महर्षि अगस्त्य ने इन दोनों वीरों को परास्त किया। दक्षिण भारत में अगस्त्य द्वारा आर्यत्व के प्रचार के सम्बन्ध में वाल्मीकीय रामायण आरण्यकांड के ग्यारह से तेरह सर्गों में अच्छा प्रकाश मिलता है।

---

1. **गीताप्रेस, गोरखपुर संस्करण।**
2. **हिन्दू धर्मकोश, अगस्त्य।**

महर्षि अगस्त्य ने तमिल प्रदेश के मलयपर्वत पर अपना आश्रम बनाकर वहां प्रचार किया। "दक्षिण भारत में अगस्त्य का सम्मान विज्ञान एवं साहित्य के सर्वप्रथम उपदेशक के रूप में होता है। वे अनेक प्रसिद्ध तमिल ग्रन्थों के रचयिता कहे जाते हैं। कहा जाता है, प्रथम तमिल-व्याकरण की रचना अगस्त्य ने ही की थी। वहां उन्हें अब भी जीवित माना जाता है जो साधारण आंखों से नहीं दिखते तथा वे त्रावनकोर की सुन्दर अगस्त्य पहाड़ी पर वास करते माने जाते हैं; जहां से तिन्नेवेली पवित्र पोरुनेई अथवा ताम्रपर्णी नदी का उद्‌भव होता है।"[1]

3. भारत के बाहर

महर्षि अगस्त्य दक्षिणी भारत से समुद्र पार करके सिंहल, जावा, सुमात्रा आदि अनेक देशों में गये और वहां पर आर्य-धर्म का प्रचार किये। आज भी दक्षिणी भारत तथा समुद्र के पूर्वी द्वीप-समूहों में महर्षि अगस्त्य का नाम प्रसिद्ध है तथा जावा द्वीप में उनकी मूर्ति मिली है। वारुणद्वीप (बोर्नियो) के 'कोंबोङ्' नाम की जगह में अगस्त्य ऋषि की मूर्ति मिली है।

जावा द्वीप में सन् 732 ई० का खुदा हुआ एक लेख मिला है जिसमें अगस्त्य ऋषि का दक्षिणी भारत में 'कुंजर-कुंज' नाम का आश्रम बताया जाता है। ईस्वी सन् 863 के जावा की भाषा में एक खुदे लेख में बताया गया है कि अगस्त्य के वंशज जावा देश में जाकर बस गये हैं। शायद ईस्वी 9वीं शताब्दी तक महर्षि अगस्त्य का मत जावा आदि द्वीपों में प्रसारित रहा।

गुजरात के परिश्रमी व्यापारियों ने जावा में अपना निवास बनाया था। गुजरात तथा भारत के अन्य क्षेत्रों से जावा का आना-जाना बना हुआ था। गुजरातियों में प्रसिद्धि है—

जे जाये जावे ते पाछी नहीं आवे।
ने जो आवे तो परिया-परिया मोती लावे॥

अर्थात जो जावा-देश जाता है वह लौटकर नहीं आता और कदाचित आता है, तो पात्र भर-भरकर मोती लाता है।

महात्मा बुद्ध के बाद तो प्रसिद्ध ही है कि बौद्ध-भिक्षुओं ने पूरे एशिया को बौद्ध-धर्म-प्रचार से प्रभावित किया था। बौद्ध-भिक्षुओं ने सिंहल, जावा, सुमात्रा, श्याम, तिब्बत, चीन, ईरान, ईराक आदि अनेक देशों में जा-जाकर भारतीय धर्मसाधना का शंखनाद किया।

महर्षि अगस्त्य ने प्रयाग गंगा-यमुना के संगम से उठकर विंध्यपर्वत तथा दंडकारण्य लांघते हुए मलय, सिंहल आदि देशों में अपना आश्रम स्थापित

---

1. **हिन्दू धर्मकोश, अगस्त्य।**

करते हुए तथा आर्यत्व का प्रचार करते हुए समुद्र पार जो जावा आदि अनेक पूर्वी द्वीप-समूहों को आर्यमत से प्रभावित किया, वह उनके अपूर्व साहस, मेधा, कार्यक्षमता एवं पौरुष का परिणाम था। उन्होंने इस वेदमन्त्र को चरितार्थ करने का भरसक प्रयास किया कि विश्व को आर्य बनाओ—कृण्वन्तं विश्वमार्यम्।

परंतु ध्यान रहे, यह सब डंडे के बल पर नहीं और न स्वर्ग और मोक्ष देने की एकाधिकार दादागीरी के बल पर उन्होंने किया था, अपितु प्रेम और ज्ञान के बल पर किया था।

2

महर्षि वेदव्यास

तप:पूत विद्या के सागर महर्षि वेदव्यास ने हिन्दू-समाज के धर्म, दर्शन, इतिहास, पुराण आदि को अत्यन्त प्रभावित किया है। वेदव्यास नाम मानस-पटल पर आते ही एक अत्यन्त गरिमामय पुरुष की मूर्ति सामने खड़ी हो जाती है जिसका व्यक्तित्व घुलकर ज्ञान का महार्णव बन गया है।

1. महर्षि वेदव्यास का जन्म

सत्यवती नाम की एक केवटकुमारी नाव चला रही थी। उसका यही निर्वाह-धंधा था। पराशर[1] मुनि को यमुना पारकर कहीं जाना था। वे नाव पर बैठकर पार होने लगे। उन्होंने ही उस समय सत्यवती को गर्भवती कर दिया।

समय पूरा हुआ। झुग्गी-झोपड़ी में रहने वाली केवटकुमारी ने यमुना के एक बालुकाद्वीप में बच्चे को जन्म दिया। बच्चे का रंग काला था, इसलिए वह 'कृष्ण' कहा गया और बालू के द्वीप में पैदा हुआ, इसलिए 'द्वैपायन' कहा गया। पूरा नाम रखा गया 'कृष्णद्वैपायन'।

कृष्णद्वैपायन की माता सत्यवती को आगे चलकर हस्तिनापुर के नरेश शांतनु ने अपनी पत्नी बनाया जिससे चित्रांगद और विचित्रवीर्य नाम के दो पुत्र पैदा हुए। चित्रांगद तो युद्ध में मारे गये तथा विचित्रवीर्य अत्यन्त विषयासक्ति के कारण रोगग्रस्त हो नि:संतान ही मर गये।

2. व्यास की परंपरा

राजा शांतनु की प्रथम पत्नी से देवव्रत नाम का राजकुमार था, जिसको आगे चलकर भीष्मपितामह कहा गया। सत्यवती उसकी सौतेली मां थी। सत्यवती ने भीष्म से कहा कि तुम विचित्रवीर्य की दोनों नि:संतान पत्नियों से बच्चे पैदा करो। परन्तु भीष्म ने पहले ही जीवन भर के लिए ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया था। अत: उन्होंने माता की बात को अस्वीकार दिया। फिर सत्यवती ने अपने जन्माये हुए पुत्र कृष्णद्वैपायन के सामने यह प्रस्ताव रखा। कृष्णद्वैपायन आजीवन अविवाहित, विद्यानुरागी और तपस्वी पुरुष थे; परन्तु राजवंश चलाने

---

1. **पराशर मुनि ऋषि शक्ति के द्वारा एक भंगिनि के गर्भ से पैदा हुए थे-श्वपाकश्च पराशर:।**

के लिए माता की आज्ञा मानकर विचित्रवीर्य की दोनों पत्नियों से एक से धृतराष्ट्र तथा दूसरे से पांडु को पैदा किया और एक दासी से विदुर को भी जन्म दिया। शुकदेवमुनि की भी कृष्णद्वैपायन के पुत्र के रूप में मान्यता है जो किसी शुकपक्षी का चिह्न (टॉटेम) रखने वाली आदिवासी जाति की स्त्री से पैदा हुए थे।

कृष्णद्वैपायन के पुत्र धृतराष्ट्र तथा पांडु हैं, और इनकी संतानें ही कौरव तथा पांडव हैं। इस प्रकार पूरा कौरव-पांडव कृष्णद्वैपायन की ही संतान-परंपरा है। वेदों का संपादन करने के कारण कृष्णद्वैपायन का नाम वेदव्यास पड़ा। व्यास का अर्थ है—संपादक।

3. निराला व्यक्तित्व

उपर्युक्त प्रकार मोटा-मोटी रूप से पूरा कौरव-पांडव कृष्णद्वैपायन की ही सन्तान-परम्परा है; परन्तु इस महापुरुष ने परिवार-बन्धन से रहित तप और विद्या की साधना में ही जीवन बिताया। बताया जाता है कि आपका एक आश्रम बदरिकाश्रम में था, जहां आपने तप और साहित्य-साधना की। आगे चलकर आपने हस्तिनापुर के पास सरस्वती नदी के तट पर भी एक आश्रम बना लिया था। वहां रहकर वे अपना सम्बन्ध हस्तिनापुर से बनाये रहते थे। पांडु के मरने के बाद उन्होंने हस्तिनापुर आकर माता सत्यवती को पारिवारिक-प्रपंच छोड़कर समाधि में लीन रहने की बात कही थी। कौरव-पांडव की अस्त्र-परीक्षा के समय भी आप हस्तिनापुर में थे। जब पांडव वनवास में थे तब भी कृष्णद्वैपायन ने एकचक्रा नामक स्थान पर उन्हें मिलकर द्रौपदी के स्वयंवर में भाग लेने को कहा था। युधिष्ठिर को राजसूय-यज्ञ करने की सलाह उन्होंने ही दी थी।

कौरव तथा पांडवों का वैमनस्य देखकर उन्हें भावी विनाश का अन्दाज हो गया था और युधिष्ठिर को यह बताकर वेदव्यास जी कैलाश की ओर चले गये थे।

जब जुआ के फल में पांडवों का बारह वर्ष का वनवास तथा एक वर्ष का अज्ञातवास हुआ, तब भी बीच-बीच में वेदव्यासजी आकर उनसे मिलते रहे और धैर्य बंधाते रहे तथा युक्ति बताते रहे। जब तेरह वर्ष वन में काटकर आने के बाद पांडवों ने दुर्योधन से अपना राज्य मांगा और उन्होंने देने से इंकार किया, तब भी वेदव्यास जी ने दुर्योधन को समझाया था। किन्तु काल-चक्र की ऐसी महिमा कि किसी की सीख न चली। युद्ध के बीच-बीच में भी वे स्थिति को सम्हालने की चेष्टा करते रहे। युद्ध समाप्ति तथा पूर्ण विनाश के बाद उन्होंने धृतराष्ट्र तथा युधिष्ठिर को उपदेश देकर धैर्य बंधाया। नीति और धर्म की शिक्षा

देकर युधिष्ठिर को राज्य के लिए तैयार किया और उन्हें भीष्म के पास उपदेश ग्रहण करने के लिए भेजा।

युद्ध के दिन सोलह वर्ष बीत चुके थे। महर्षि वेदव्यास ने धृतराष्ट्र से मिलकर उन्हें तप करने का आदेश दिया। जब अर्जुन द्वारका से श्रीकृष्ण के परिवार के बच्चे, बूढ़े, नारियों तथा कोष को हस्तिनापुर ला रहे थे, तब सरस्वती नदी के पास बसने वाले वनवासियों ने उन्हें पीटकर लूट लिया था। वे युवतियों तथा धन को उड़ा ले गये थे। तब अर्जुन को बड़ा अन्तर्दाह हुआ था और वे महर्षि वेदव्यास के पास अन्तिम बार मिलने गये थे। वेदव्यास जी ने उन्हें समझाया था कि यह कालचक्र है। इससे कोई बच नहीं सकता।

अपने पुत्रों, पौत्रों, प्रपौत्रों तथा उनके लंबे परिवार का विनाश देखकर भी कृष्णद्वैपायन महर्षि वेदव्यास तटस्थ थे। इतनी बड़ी उथल-पुथल की झंझा में वे हिमालय के समान क्षोभ-रहित थे।

4. महर्षि वेदव्यास की कृति

पुराणों के अनुसार अट्ठाइस 'व्यासों' का पता चलता है। कृष्णद्वैपायन वेदव्यास इनमें शीर्षस्थान में हैं। कहा जाता है कि इन्होंने ही वेदों के मन्त्रों का वर्गीकरण करके ऋक्, यजु, साम एवं अथर्व—इन चार संहिताओं का विभाग किया था। कृष्णद्वैपायन के प्रमुख चार शिष्य थे—पैल, वैशंपायन, जैमिनि तथा सुमंतु। महर्षि ने इन चारों शिष्यों को क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद संहिताओं का अध्ययन कराया था।

यह माना जाता है महर्षि वेदव्यास ने 8,800 श्लोकों में मूल भारत आख्यान की रचना की। इसमें मुख्य कौरव-पांडवों की कथा थी। इसमें वासुदेव कृष्ण एक सम्बन्धी के रूप में घटनाओं के साथ चित्रित थे। उनमें किसी प्रकार ईश्वरत्व का आरोपण नहीं था। पीछे 'वैशंपायन' ने इसे चौबीस हजार श्लोकों में बढ़ाया और 'सौति' ने एक लाख श्लोकों तक कर दिया।

''आधुनिक आलोचक इस महाग्रंथ (महाभारत) को वेदव्यास और उनके शिष्य-प्रशिष्यों की रचना न मानकर बाद के अनेक संशोधक-संपादक पौराणिक विद्वानों का संकलन या संग्रह कहते हैं। इनके विचार में भारत नामक महाकाव्य मूलतः वीरगाथा के रूप में था। कालांतर में जनसाधारण के धर्म ज्ञान का प्रमाण होने तथा विविध हिन्दू सम्प्रदायों के उत्थान का वर्णन उपस्थित करने के कारण उसकी महत्ता बढ़ गयी। विद्वान इस महाकाव्य के मिश्रण या परिवर्धनात्मक तीन कालों पर एक मत हैं—

(क) भारत महाकाव्य की साधारण काव्यमय रचना : दसवीं से पांचवीं अथवा चौथी शताब्दी ईसा पूर्व के बीच।

(ख) इस महाकाव्य का वैष्णव आचार्यों द्वारा सांप्रदायिक काव्य में परिवर्तन : दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व।

(ग) महाभारत का वैष्णव ईश्वरवाद, धर्म, दर्शन राजनीति, विधि का विश्वकोश बन जाना : ईसा की पहली तथा दूसरी शताब्दी।''[1]

जो हो, जैसे गंगा में मिलने वाली सारी नदियां अपने नाम-रूप को खोकर गंगा कहलाती हैं, वैसे सारे सत्ताइस या अट्ठाइस व्यास कृष्णद्वैपायन महर्षि वेदव्यास में मिलकर एक ही व्यास लोगों के मानसपटल पर झलकते हैं—कृष्णद्वैपायन वेदव्यास! और महाभारत, पुराण आदि चाहे जिनकी रचनाएं हों, परन्तु वे सब कृष्णद्वैपायन वेदव्यास से जुड़कर महिमान्वित होते हैं। यह महर्षि के विशाल व्यक्तित्व का महत्त्व है कि जो उनका नहीं है, उनका हो गया। उनके नाम से प्रचलित महाभारत का आधा श्लोक लें—''मैं एक गोपनीय बात बताता हूं—मनुष्य से बढ़कर कुछ नहीं है—गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।''[2]

---

1. **हिन्दू धर्मकोश, महाभारत।**
2. **महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय 299, श्लोक 20।**

3

महर्षि कपिल

'महर्षि कपिल' भारतवर्ष के एक महान ज्ञानी पुरुष का महिमामय नाम है। इस महापुरुष के सांख्यदर्शन ने भारत के सभी दर्शनों को तो प्रभावित किया ही है, विश्व के अन्य दर्शनों को भी प्रभावित किया है। विंटर नीज कहते हैं— ''ऐसा प्रतीत होता है कि यह सिद्ध है कि 'पिथागोरस' पर भारतीय सांख्य का प्रभाव पड़ा था।''[1]

1. प्राक-इतिहासकाल की गरिमामय उपज

महर्षि कपिल का जीवन-काल कब था तथा उन्होंने कहां जन्म लिया था, इसका उत्तर दे पाना अत्यन्त कठिन है। इतना ही कहा जा सकता है कि उन्होंने भारत में जन्म लिया था और वे इतिहास की पकड़ के बाहर के महापुरुष हैं।

वस्तुतः महर्षि कपिल वैदिककाल के महापुरुष हैं। ऋग्वेद (10/27/16) के ऋषि कहते हैं, ''दस में एक कपिल श्रेष्ठ हैं—दशानामेकं कपिलं समानम्।'' समान के अर्थ सदृश और श्रेष्ठ होते हैं। इसके भाष्य में सायणाचार्य लिखते हैं, एकं मुख्यं कपिलं एतन्नमानं तं प्रसिद्धमृषिम्।''

'श्वेताश्वतर उपनिषद्' का लेखक कहता है—''प्रथम पैदा हुए महर्षि कपिल को जिसने ज्ञान से भर दिया उस स्वयं प्रत्यक्ष आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करना चाहिए।''[2] गीताकार ने महाराज श्रीकृष्ण के मुख से कहलवाया है ''मैं सिद्धों में कपिल हूं।''[3] कौटिल्य (300 ईसा पूर्व) ने सांख्य, योग तथा लोकायत को आन्वीक्षकी[4] (जांच-परख) विद्या कही है जिसमें सांख्य का प्रथम स्थान है, जो महर्षि कपिल का दर्शन है।

भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं—''हे राजन, नरेश्वर! महात्माओं में, वेदों में, दर्शनों में, योगशास्त्र और पुराणों में जो अनेक उत्तम ज्ञान देखा जाता है, वह सब सांख्य से आया है। इतना ही नहीं, बड़े-बड़े इतिहासों में, पवित्रात्माओं से

---

1. **कैलकटा रिव्यू 1924, पृष्ठ 21, सर राधाकृष्णन् : भारतीयदर्शन 2/247।**
2. **ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्। 5/2।**
3. **सिद्धानां कपिलो मुनिः॥ गीता 10/26॥**
4. **कौटलीय अर्थशास्त्रम् 1/1/6।**

सेवित अर्थशास्त्रों में, यहां तक कि संसार में जो कुछ महान ज्ञान देखा जाता है, सब सांख्य से आया हुआ है। सांख्य का ज्ञान अत्यंत विशाल है, बहुत पुराना है, महासागर के समान अगाध है, निर्मल, उदार भावों से भरा तथा ज्योतित है। हे राजन! इस अद्वितीय संपूर्ण सांख्यज्ञान को नारायण धारण करते हैं।''[1] श्रीमद्भागवत में कहा गया है—''यह संसार-समुद्र मृत्यु-पथ है। इससे पार जाना कठिन है। परंतु महर्षि कपिल ने उससे तरने के लिए सांख्यदर्शन एक मजबूत नाव बना दी है जिसका आधार लेकर मुमुक्षु सहज ही संसार-सागर से तर सकते हैं। ऐसे उदार तथा महाकारुणिक पुरुष में राग-द्वेष की बुद्धि कैसे हो सकती है।''[2]

इसी प्रकार महर्षि याज्ञवल्क्य जनक से कहते हैं—''हे तात! तब मैं उपनिषद्, उसके परिशिष्ट भाग और अत्यन्त उत्तम आन्वीक्षकी विद्या को ध्यान में रखकर उस पर विचार करने लगा। हे राजन! त्रयी, वार्ता और दण्ड[3] इनसे परे चौथी विद्या आन्वीक्षकी है जो मोक्षप्रद है। सांख्य का पचीसवां तत्त्व चेतन पुरुष है। इससे अधिकृत आन्वीक्षकी विद्या का प्रतिपादन मैंने किया था।''[4]

स्वामी शंकराचार्य जो सांख्य सिद्धांत के आलोचक हैं, उन्हें भी विवश होकर कहना पड़ा—''शुद्ध आत्मतत्त्व का विज्ञान सांख्य कहलाता है।''[5] श्वेताश्वतर उपनिषद् के ऋषि कहते हैं—''सांख्य-योग से ही आत्मतत्त्व का

---

1. **ज्ञानं महद् यद्धि महत्सु राजन् वेदेषु सांख्येषु तथैव योगे।**
   यच्चापि दृष्टं विविधं पुराणे सांख्यागतं तन्निखिलं नरेन्द्र॥ 108॥
   यच्चेतिहासेषु महत्सु दृष्टं यच्चार्थशास्त्रे नृप शिष्टजुष्टं।
   ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किंचित् सांख्यागतं तच्च महन्महात्मन्॥ 109॥
   साख्यं विशालं परमं पुराणं महार्णवं विमलमुदारकान्तम्।
   कृत्स्नं च सांख्यं नृपते महात्मा नारायणो धारयतेऽप्रमेयम्॥ 114॥
   (महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय 301)
2. **यस्येरिता सांख्यमयी दृढेह नौर्यया मुमुक्षुस्तरते दुरत्ययम्।**
   भवार्णं मृत्युपथं विपश्चितः परात्मभूतस्य कथं पृथंमतिः॥ श्रीमद्भागवत, 9/8/14॥
3. **वैदिक कर्मकाण्ड 'त्रयी' है; खेती, गोपालन तथा व्यापार 'वार्ता' है और राजनीति एवं शासन 'दण्ड' है। इन तीन विद्याओं के परे चौथी आन्वीक्षकी विद्या है जो सांख्य, योग और लोकायत है। परन्तु यहां आन्वीक्षकीम् से मुख्य अर्थ सांख्य है। उसमें अन्य दो आ जाते हैं।**
4. **तत्रोपनिषदं चैव परिशेषं च पार्थिव।**
   मन्थामि मनसा तात दृष्ट्वा चान्वीक्षकीं पराम्॥
   चतुर्थी राजशार्दूल विद्यैसा साम्परायिकी।
   उदीरिता मया तुभ्यं पंचविशादधिष्ठिता॥ शांतिपर्व 318/34-35॥
5. **शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्याभिधीयते।**
   (विष्णु सहस्त्रनाम की टीका, सर राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन 2/247)

बोध हो सकता है।''[1] महर्षि कपिल के सांख्य-विचार को श्वेताश्वतर के ऋषि प्रस्तुत करते हैं—''त्रिगुणात्मक प्रकृति नित्य है। वह अनेक प्रकार से सृष्टि करती है और दूसरे नित्य चेतन पुरुष हैं जो प्रकृति-प्रदत्त भोगों को भोगते हैं और उन्हें त्यागकर मुक्त भी हो जाते हैं।''[2]

आदि शंकराचार्य यह मानते हैं कि सांख्य-प्रणेता महर्षि कपिल उस कपिल से पृथक हैं जिसने गंगासागर के तट पर सगर के पुत्रों को भस्म कर दिया था। यह मानना उचित भी है और यही सत्य है। महर्षि कपिल परम कारुणिक एवं कृतार्थ आत्मा पुरुष थे। उनके मन में अहंकार, कामना ही नहीं थे, तो उन्हें ऐसा क्रोध कैसे आ सकता है कि वे जरा-सी ठोकर लगने पर हजारों की हत्या कर दें।

सिद्धार्थ गौतम जब गृह त्यागकर आत्मानुसंधान में निकले थे, तब उन्होंने आलार कालाम तथा उद्दक रामपुत्र, इन ऋषियों के पास में रहकर सत्संग किया था और योगाभ्यास सीखा था। ये दोनों ऋषि कपिल की सांख्य-परम्परा के महापुरुष थे। इसीलिए महात्मा बुद्ध के चिंतन एवं सिद्धान्त पर महर्षि कपिल के सांख्य दर्शन की गहरी छाप है। बुद्ध जिसमें पैदा हुए थे उस शाक्यवंश की राजधानी कपिलवस्तु थी। यह क्षेत्र शायद महर्षि कपिल के विचारों से प्रभावित था। जैन दर्शन भी सांख्य से प्रभावित है। या कहना चाहिए कि दोनों के बहुत-से विचार सांख्य के समान हैं। पुराणों में जहां भी सृष्टि-उत्पत्ति-क्रम बताया जाता है प्राय: सब सांख्य-दर्शन से प्रभावित होता है।

2. श्रीमद्भागवत में महर्षि कपिल

श्रीमद्भागवत पुराण अवतारवादी है। उसने महर्षि कपिल को पांचवां अवतार माना है और अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है। परन्तु उस कुहासे में से भी उनका विवेकपूर्ण देदीप्यमान स्वरूप प्रतिबिम्बित होता है। कहा गया—''पांचवें अवतार सिद्धों में सिरमुकुट महर्षि कपिल हैं। तत्त्वों का निर्णय करने वाला सांख्य दर्शन समय के चक्र में तिरोहित हो गया था। उन्होंने उसका उपदेश आसुरि नामक शिष्य को दिया।''[3]

भागवत के अनुसार 'कर्दम' नाम के पिता तथा 'देवहूती' नाम की माता से महर्षि कपिल पैदा हुए।[4] कुछ दिनों में ही उनके ज्ञान-वैराग्यादि से उनके पिता इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उनको पूज्य एवं गुरु रूप मान लिया। कर्दम ने

---

1. **सांख्ययोगाधिगम्यम् 6/13।**
2. **श्वेताश्वतर उपनिषद् 4/5।**
3. **पंचमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।**
   प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम्॥ भागवत 1/3/10॥
4. **भागवत, स्कंध 3, अध्याय 24।**

कहा—"ज्ञान की इच्छा रखने वाले विद्वानों द्वारा आपका पाद-पीठ सदैव वंदनीय है। आप वैराग्य, यश, ज्ञान, बल, श्री आदि से पूर्ण हैं। अतः मैं आपकी शरण हूं।......स्वच्छन्दशक्तिं कपिलं प्रपद्ये।"[1] महर्षि कपिल के पिता कर्दम जी तो गृह त्यागकर विरक्त हो गये। अब महर्षि कपिल ने सोचा कि माता देवहूती को भी प्रकृति-पुरुष का विवेक-ज्ञान देना है। वे सोचते हैं—"जो सभी कर्मों का नाश करने वाला है वह एकमात्र अध्यात्मज्ञान है। मैं उसका उपदेश माता को करूंगा, जिससे वे संसार के सारे भय से मुक्त हो जायें।"[2]

एक दिन महर्षि कपिल जी अपने आसन पर बैठे थे। माता देवहूती ने पास आकर उनसे कहा—मैं इन दुष्ट इन्द्रियों की विषय-इच्छाओं से ऊब गयी हूं। मैं मन-इन्द्रियों की लालसाओं को जितनी पूर्ण करती रही उतना ही घोर अज्ञान-अन्धकार में पड़ी रही। आपके ज्ञान से निश्चित है मेरा संसार-चक्र समाप्त होगा। देह-गेहादि सांसारिक प्राणी-पदार्थों में जो मेरी अहंता-ममता हो गयी है, उसे आप अपने ज्ञानोपदेश से दूर करने की कृपा करें। "मैं आपका नमस्कार करती हूं, और आप शरणरक्षक की शरण लेती हूं। आपका ज्ञान अपने शिष्यों के संसार-वृक्ष को काटने के लिए कुल्हाड़ी के समान है। मुझे प्रकृति और पुरुष का विवेक-ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा है। आप सत्य धर्म के जाननेवालों में श्रेष्ठ हैं। मुझे बोध दीजिए।"[3]

माता देवहूती के उक्त जिज्ञासामय एवं मुमुक्षापूर्ण वचन सुनकर महर्षि कपिल ने कहा—"हे माता! यह मेरा पूर्ण निश्चय है कि आत्मज्ञान ही मनुष्य को संसार के दुख-सुखों के द्वन्द्व से पार लगाकर मोक्ष देनेवाला है। मन की विषयासक्ति बन्धन तथा वैराग्यभाव मोक्ष का कारण है। जब मन सांसारिक प्राणी-पदार्थों के प्रति लगी हुई अहंता-ममता को छोड़कर समभाव में स्थित हो जाता है तब वह द्वन्द्वातीत हो जाता है। वह भक्ति, ज्ञान और वैराग्ययुत होकर उस समय अपनी आत्मा को जड़ प्रकृति से परे, श्रेष्ठ, केवल, एकरस, ज्ञानस्वरूप, अखण्ड और उदासीन समझकर स्थित हो जाता है, अतएव प्रकृति उसके सामने शक्तिहीन हो जाती है। "विवेकवान महात्मा लोग आसक्ति को ही आत्मा का मजबूत बन्धन मानते हैं और यही आसक्ति जब संत पुरुषों के प्रति हो जाती है तब वह मोक्ष का खुला द्वार बन जाती है।"[4]

---

1. **भागवत 3/24/32-33।**
2. **मात्र आध्यात्मकीं विद्यां शमनीं सर्वकर्मणां।**
   वितरिष्ये यया चासौ मयं चातितरिष्यति॥ भागवत 3/24/40॥
3. **तं त्वा गताहं शरणं शरण्यं स्वभृत्यसंसारतरोः कुठारम्।**
   जिज्ञासयाहं प्रकृतेः पुरुषस्य नमामि सद्धर्मविदां वरिष्ठम्॥ भागवत 3/25/11॥
4. **प्रसंगमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः।**
   स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम्॥ भागवत 3/25/20॥

"हे माता! जो तितिक्षु, कारुणिक, सब देहधारियों पर दया करने वाला सब का मित्र है, जो किसी को शत्रु नहीं मानता, शांत रहता एवं संतों का आदर करता है, जो सब तरफ से अनासक्त है, ऐसे संतों की संगत करना चाहिए। ऐसे संत सारे विकारों को हरने वाले हैं।"[1]

"हे माता! जब साधक तीव्र विवेक-ज्ञान, वैराग्य, तप और योग द्वारा समाधि में लीन होता है, तब चेतन पुरुष की जड़ प्रकृति के प्रति लगी हुई आसक्ति नष्ट हो जाती है। फिर अपने स्वरूप में स्थित हुए चेतन पुरुष की यह प्रकृति कुछ नहीं कर पाती। जैसे सपने से जगे हुए मनुष्य को सपने के हानि-लाभ व्यर्थ हो जाते हैं, वैसे प्रकृति-पुरुष का भिन्न विवेक हो जाने पर पुरुष सदैव अपने स्वरूप में लीन रहता है। अतएव उसके लिए प्रकृति के सारे खेल सारहीन हो जाते हैं। ऐसे साधक को लोक-परलोक के सारे भोग तुच्छ दिखते हैं।"[2]

कहा जाता है कि महर्षि कपिल ने जब माता देवहूती को प्रकृति-पुरुष-विवेक का उपदेश दिया, तब यह तो अपना ही पुत्र है यह मानकर उन्हें उपदेश में श्रद्धा नहीं हुई। यह भाव महर्षि ने समझ लिया। अतएव वे माता से आज्ञा लेकर कुछ दिनों के लिए भ्रमण में निकल गये। जब महर्षि वर्षों बाद घर पर आये, तो देवहूती ने किसी संत का आगमन समझकर उनका आदर किया, आसन और जल-भोजन दिया। इसके बाद उन्होंने महात्मा से अपने कल्याण के लिए जिज्ञासा प्रकट की। महात्मा ने उन्हें प्रकृति-पुरुष के विवेक का उपदेश दिया। माता को महात्मा के उपदेश से बोध हो गया, और वे देहाभिमान को छोड़कर निज स्वरूप में स्थित हो गयीं।

एक दिन महात्मा ने कहा—माता जी, मैं आपका पुत्र कपिल हूं। माता ने कहा—गुरुदेव, आप ऐसा न कहें। अब माता तथा पुत्र का भाव जाता रहा। आपके उपदेश से मुझे अपने स्वरूप का ज्ञान हुआ, इसलिए आप मेरे गुरुदेव हैं।

इस प्रकार महर्षि कपिल के ज्ञानोपदेश से उनके पिता कर्दम जी संन्यासी हो गये थे, उनकी माता देवहूती भी स्वरूपज्ञान को पाकर कृतार्थ हो गयीं और स्वयं महर्षि तो कृतार्थ स्वरूप थे ही।

3. सांख्य-परम्परा और सांख्य कारिका

महर्षि कपिल के बाद सांख्य-परम्परा में आसुरि, पंचशिख, जैगीषव्य, वार्षगण्य तथा ईश्वरकृष्ण—ये महान चिंतक हुए हैं। महर्षि कपिल-प्रवर्तित

---

1. **भागवत 3/25/21, 22, 24।**
2. **भागवत 3/27/22-27।**

सांख्य-दर्शन का महान ग्रन्थ षष्टितन्त्र था। वह समय के फेर में लुप्त हो चुका है। उसके आधार पर ही श्री ईश्वरकृष्ण का लिखा 'सांख्य कारिका' नाम का ग्रन्थ है; जो आज दो हजार वर्ष से सांख्य-दर्शन का मानक शास्त्र है। श्री ईश्वरकृष्ण ईसा से सौ-दो सौ वर्ष पूर्व हुए हैं। उनका लिखा 'सांख्य कारिका' ग्रन्थ कुल बहत्तर (72) कारिकाओं (श्लोकों) में है, जिनमें अन्त के चार श्लोक तो सांख्य-परम्परा तथा प्रस्तुत ग्रंथ के परिचय में कहे गये हैं, शेष पहले के अड़सठ (68) श्लोक सांख्य-दर्शन का सम्यक स्वरूप निरूपित करते हैं। श्री ईश्वरकृष्ण ने अन्त के चार श्लोकों में कहा है—"यह पुरुषार्थ (मोक्ष) ज्ञान गोपनीय है। परम ऋषि कपिल ने इसका उपदेश किया है। इसकी प्राप्ति के लिए उसमें तत्त्वों की सृष्टि, स्थिति और प्रलय का विचार किया गया है। महर्षि कपिल ने इस पवित्र ज्ञान को पहले कृपाकर आसुरि को दिया और आसुरि ने पंचशिख को दिया तथा उन्होंने इसका खूब प्रसार और प्रचार किया। इस प्रकार शिष्य-परंपरा से यह ज्ञान ईश्वरकृष्ण को मिला और उन्होंने उसे अच्छी तरह समझकर संक्षिप्त रूप में सत्तर कारिकाओं में रचकर प्रकट किया। यह जो सत्तर कारिकाओं में सिद्धांत निरूपित है वह निश्चित ही 'षष्टितन्त्र' नामक शास्त्रग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय है। इसमें केवल उसकी कहानियां तथा परमत-खंडन नहीं है।"[1]

इस अन्तिम वाक्य से लगता है कि 'षष्टितन्त्र' ग्रंथ विशालकाय था। उसमें सांख्य दर्शन को समझाने के लिए आख्यायिकाएं अर्थात कहानियां लिखी गयी थीं और उस ग्रंथ में परमतों का खंडन भी था।

जैसे मीमांसा, वैशेषिक आदि दर्शनों के सूत्र-ग्रंथ आज उपलब्ध हैं, वैसे सांख्य-दर्शन का भी सूत्र-ग्रंथ उपलब्ध है, परन्तु वह महर्षि कपिल का नहीं है। वह अपेक्षया बहुत अर्वाचीन है। उसे न श्री ईश्वरकृष्ण जानते हैं, न स्वामी शंकराचार्य और न सर्वदर्शन संग्रह के लेखक माध्वाचार्य जानते हैं। इसलिए सांख्य-दर्शन के तत्त्व-निर्णय का प्रामाणिक ग्रंथ श्री ईश्वरकृष्ण रचित 'सांख्य-कारिका' ही है।

4. महर्षि कपिल का मुख्य सिद्धान्त

महर्षि कपिल सृष्टि, जीवों के कर्म-फल भोग एवं उनके मोक्ष में—कहीं भी ईश्वर की आवश्यकता नहीं समझते। वे कहते हैं कि जड़-प्रकृति और चेतन-पुरुष के गुण-धर्मों से जगत की व्यवस्था चलती रहती है। मनुष्य का मुख्य पुरुषार्थ एवं लक्ष्य है दुखों से सर्वथा निवृत्ति। वे कहते हैं कि लौकिक भोगों से दुख दूर नहीं होता, बल्कि और बढ़ जाता है। यदि वैदिक कर्मकांड करे तो

1. **सांख्य कारिका, 69-72।**

इससे भी दुख नहीं दूर होता; क्योंकि उसमें तीन दोष महान हैं—अशुद्धि, क्षय तथा सातिशयता (विषमता)। वैदिक यज्ञों में पशुवध होने से उनमें अशुद्धि है, वैदिक कर्म-फल स्वर्गादि नाशवान हैं तथा स्वर्ग-सुख विषमता-पूर्ण है। जिसके अधिक शुभकर्म हैं वहां उसकी स्थिति उच्च ऐश्वर्यपूर्ण और जिसके अपेक्षया कम शुभकर्म हैं उसकी स्थिति निम्न है। अतएव वहां भी मन का संताप बना रहता है। अतएव लोक और वेद, दोनों सुख के रास्ते नहीं हैं। इनके विपरीत दुखों से पूर्ण छुटकारा का रास्ता है व्यक्त = (जगत), अव्यक्त = (प्रकृति), ज्ञ = (चेतन पुरुष) का विवेक। अर्थात चेतन पुरुष जब अव्यक्त जड़ प्रकृति तथा व्यक्त जड़ जगत से अपने ज्ञान स्वरूप को पृथक समझकर अपने आप में स्थित हो जाता है तब वह सारे दुखों से मुक्त हो जाता है।[1]

जब इस प्रकार तत्त्व-ज्ञान का अभ्यास हो जाता है, तब यह निश्चय हो जाता है कि मैं न क्रियावान हूं, न मेरा भोक्तृत्व है और न मैं कर्ता हूं। इस स्थिति में कोई भ्रम शेष नहीं रहता। यहां देहाभिमान रूपी उलटी बुद्धि के नष्ट हो जाने से विशुद्ध केवल एवं असंगत्व ज्ञान का उदय होता है।[2]

5. उपसंहार

भारतरत्न महामहोपाध्याय डॉ० पांडुरंग वामन काणे जी ने सांख्य पर विस्तारपूर्वक निर्णय देने के बाद लिखा है—"जब शांतिपर्व (290/103-104; 301/108-109, चित्रशाला प्रेस संस्करण) यह उद्‌घोष करता है कि वेदों, सांख्य, योग, विभिन्न पुराणों, विशद इतिहासों, अर्थशास्त्र में जो कुछ ज्ञान पाया जाता है तथा इस विश्व में जो कुछ ज्ञान है यह सांख्य से निष्पन्न है, तो यह केवल दर्पोक्ति मात्र नहीं है।"[3]

महर्षि कपिल महान तत्त्वदर्शी एवं निर्भय संतपुरुष वैदिक काल में हुए थे। यह एक आनंदपूर्ण आश्चर्य का विषय है। उनके सांख्य का निर्मल ज्ञान होते हुए भी पीछे की भारतीय-परम्परा के लोग कहां-कहां भटकते रहे और अपने सिर कहां-कहां पटकते रहे। लोक और वेद की परवाह छोड़कर आत्मज्ञान के ऐसे प्रांजल-पथ के प्रदर्शक महर्षि कपिल को शत-शत नमन!।

---

1. **दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।**
   तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्॥ सांख्यकारिका, 44॥
2. **एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।**
   अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥ सांख्यकारिका, 64॥
3. **धर्मशास्त्र का इतिहास, खण्ड 5, पृष्ठ 245।**

4

महाराज श्रीराम

श्रीराम समुद्र के समान गम्भीर, पर्वत के समान धैर्यवान, विष्णु के समान बलवान, चंद्रमा के समान प्रियदर्शन, कालाग्नि के समान क्रोधवान, पृथ्वी के समान क्षमावान, कुबेर के समान त्यागी, स्वस्थ, सुन्दर, विद्वान, नीतिनिपुण तथा सर्वगुण सम्पन्न हैं। (वाल्मीकि : बालकांड, सर्ग 1)

1. श्रीराम चारों भाइयों का जन्म तथा विवाह

'श्रीराम' शब्द मन में आते ही एक सुन्दर तथा सौम्य मूर्ति खड़ी हो जाती है जिसने भारत के ही नहीं, भारतेतर लोगों के दिल को भी जीत लिया है। इतिहास की पकड़ में न आने वाले अतीतकाल में अयोध्या के इक्ष्वाकुवंशीय क्षत्रिय-कुल में राजा दशरथ की पटरानी कौसल्या से श्रीराम का जन्म हुआ। उनकी दूसरी रानी कैकेयी से भरत तथा तीसरी रानी सुमित्रा से लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न पैदा हुए।

राजा दशरथ द्वारा रानियों से कोई संतान नहीं हुई थी। अत: राजा ने जीवन के उत्तरार्ध में ऋष्यश्रृंग से यज्ञ करवाया। यज्ञ से प्राप्त हविष्य (खीर) रानियों ने खाया और उन्हें गर्भ रह गया। फिर रानियों ने राम, भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न को जन्म दिया। खीर खाने से गर्भ का रहना एक चमत्कारी प्रसंग है।[1]

अयोध्या से पूर्वोत्तर दिशा में सैकड़ों किलोमीटर पर मिथिला देश है। वहां के राजा सीरध्वज जनक ने खेत में पड़ी हुई एक नवजात कन्या पायी थी।[2] उन्होंने उसका पालन-पोषण किया और उसका नाम सीता रखा। युवती होने पर

---

1. राम-सीता-विवाह-काल में सखियों ने राम से विनोद में कहा—
   अति उदार करतूतिदार सब, अवधपुरी की बामा।
   खीर खाय पैदा सुत करतीं, पतिकर कछु नहिं कामा॥
   सखी वचन सुन कर रघुनन्दन, बोले मृदु मुस्काते।
   आपन चाल छिपावहु प्यारी, कहहु आन की बातें॥
   कोइ नहिं जनमें मात-पिता बिनु, बांधी वेद की नीती।
   तुम्हरे तो सब महि से उपजे, अस हमरे नहिं रीती॥
2. वाल्मीकि, 1/66/13-14; 2/118/28-31 तथा 5/16/16।

इसी कन्या से श्रीराम का विवाह हुआ। जनक की एक औरस पुत्री उर्मिला थी उसके साथ लक्ष्मण का विवाह हुआ तथा जनक के भाई कुशध्वज की दो पुत्रियां मांडवी तथा श्रुतिकीर्ति क्रमश: भरत और शत्रुघ्न को व्याह दी गयीं।

चारों भाइयों के विवाह के बाद भरत अपने मामा केकय-नरेश के बुलावा से उनके यहां पहुनई करने चले गये। उनके साथ शत्रुघ्न भी गये। केकय-देश आज के व्यास तथा सतलज-नदी के मध्य का भू-भाग है।

2. राम को राजतिलक देने की बात

राजा दशरथ का अन्तिम विवाह केकय-नरेश की पुत्री कैकेयी से हुआ था। दशरथ कैकेयी के सौंदर्य में विमोहित थे; इसलिए केकय-नरेश की इस शर्त को उन्होंने स्वीकार किया था कि कैकेयी से पैदा हुए पुत्र को ही अयोध्या की राजगद्दी दी जायेगी।[1] यह बात दशरथ के मन में थी। इसलिए राजा दशरथ ने राम को उस समय गद्दी देनी चाही जब कैकेयी-कुमार भरत अपने ननिहाल में थे।[2] ऐसी मन:स्थिति में दशरथ द्वारा भरत को बुलाने की बात ही नहीं उठती। गुरु वसिष्ठ, श्रीराम तथा अन्य किसी ने भी भरत को बुलाने के प्रयास में सुझाव तक नहीं दिया। कल राम की राजगद्दी होगी यह बात कौसल्यादि तथा नगरवासी जानते हैं, परन्तु दशरथ की प्रिय रानी कैकेयी नहीं जानती। मन्थरा ने कौसल्या के घर की गहमागहमी से जाना और इसका सन्देश उसने कैकेयी को दिया।

कैकेयी की महानता थी कि वह चेरी मन्थरा द्वारा राम का राजतिलक होने की बात सुनकर प्रसन्न हुई और उसने कहा कि मैं राम और भरत में भेद नहीं मानती। यदि राम का राजतिलक सचमुच होने वाला है तो इस सन्देश के लिए मैं तुम्हें पुरस्कार दूंगी, और उसने अपना एक आभूषण मन्थरा को तत्काल दे डाला। ध्यान देने योग्य है कि कैकेयी को कवियों ने ज्यादा बदनाम करने की चेष्टा की है, परन्तु कैकेयी काफी शुद्ध है, प्रत्युत राजा दशरथ का मन षड्यंत्र से भरा है और इसका कोई विरोध न करके सब दोषों के घेरे में आ जाते हैं, क्योंकि शर्त कैकेयी-पुत्र की राजगद्दी की थी।

मन्थरा कैकेयी की उदारता से खुश न हुई अपितु भड़क उठी और कैकेयी को सुझाया कि यदि राम का राज्य होगा तो आगे उनकी ही वंश-परम्परा राजगद्दी का अधिकारी होगी। राजा राम, भरत को निकाल देंगे या उनका वध करवा देंगे।[3] तुम सब उपेक्षित कर दिये जाओगे, इत्यादि।

---

1. **वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग 107, श्लोक 3।**
2. **वाल्मीकि, 2/4/25-27।**
3. **वाल्मीकीय रामायण, 2/8/27।**

मन्थरा ने कहा ''तुमने शंबरासुर के युद्ध में राजा दशरथ की रक्षा की थी। इसके पुरस्कार में राजा ने तुम्हें दो वर देने की बात कही थी। तुमने उन्हें रख छोड़ा था। आज उस वर को राजा से मांग लो। एक में राम का चौदह वर्ष के लिए वनवास तथा दूसरे में भरत का राजतिलक।''

3. कैकेयी-कोप

उपर्युक्त सुझाव से कैकेयी प्रसन्न हो गयी और मैले वस्त्र पहनकर कोपभवन में जा लेटी। दशरथ के आने पर उसने इन्हीं दोनों वरों को मांगा। दशरथ इन बातों से बहुत पीड़ित हुए। राम जब राजा के पास सुबह बुलाये गये तब राजा तो शोक-विह्वल होने से कुछ न कह सके, अपितु, कैकेयी ने ही राम को चुनौतीपूर्वक बताया कि तुम्हारे मोह में राजा कहीं सत्य ही न छोड़ दें। तुम्हें चौदह वर्ष के लिए वन जाना चाहिए। राम कैकेयी की उक्त कठोर बातें सुनकर शोकित नहीं हुए, किन्तु वन जाने के लिए तैयार हो गये और माता कौसल्या से आज्ञा लेने के लिए उनके भवन में गये।

लक्ष्मण ने राम को राय दी कि आप राजगद्दी पर बैठें। पिता को कारावास में डाल देना चाहिए या मार डालना चाहिए।[1] राम ने कहा कि यह गलत बात है। पिता हमारे पूज्य हैं। हम उनके लिए यह सोच भी नहीं सकते। हम शीघ्र वन को चलेंगे। वे पुनः दशरथ से आज्ञा लेकर तथा मुनिवेष धारणकर वन को चले गये। साथ में सीता भी वन को चल पड़ीं और लक्ष्मण ने भी मुनिवेष धारणकर राम का अनुसरण किया।

4. राम का वनवास

श्रीराम लक्ष्मण तथा सीता सहित चित्रकूट के वन में जाकर निवास किये। इधर राजा दशरथ ने पुत्रशोक में अपने प्राण त्याग दिये। भरत तथा शत्रुघ्न बुलाये गये। भरत ने राजगद्दी पर बैठने के कैकेयी के प्रस्ताव को कठोरता से अस्वीकार दिया। उन्होंने दशरथ के शव का दाह करने के बाद राम को वन से मनाकर अयोध्या लौटा लाने की घोषणा की।

भरत दलबल सहित राम को मनाने के लिए चित्रकूट गये, परन्तु राम ने भरत को समझाकर अयोध्या लौटा दिया और कहा कि चौदह वर्ष वन में रहकर मैं अयोध्या लौटूंगा। भरत ने राम की चरणपादुका लाकर अयोध्या की राजगद्दी पर आसीन कर दी, और स्वयं तपस्वी-सेवक बनकर राजकाज देखते रहे।

---

1. **वाल्मीकि, 2/21/12।**

इधर श्रीराम चित्रकूट छोड़ भारत के दक्षिणी वन की ओर चल पड़े। वे रास्ते में अत्रि, सरभंग, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य आदि ऋषियों के आश्रमों में जाकर उनके दर्शन किये। इसके बाद जटायु से मिलकर दण्डकारण्य की पंचवटी में उन्होंने रहने का आश्रम बनाया और यहीं पर वे रहने लगे।

दण्डकारण्य (जनस्थान) तथा समस्त दक्षिणी भारत राक्षस जातीय लोगों के अधिकार में था। वन में आर्य तपस्वी भी रहते थे। उन्हें राक्षस लोग परेशान करते थे और उनकी हत्या भी कर देते थे। ऋषियों ने अपने दुख राम से सुनाये। राम ने ऋषियों के सामने प्रतिज्ञा की कि मैं राक्षसों को मारूंगा।[1]

5. सीता जी का श्रीराम को उत्तम सुझाव

सीता जी ने राम को समझाया—''आप महान हैं। परन्तु विचार करने पर पता लगता है कि आप अधर्म कर रहे हैं। काम से पैदा हुए तीन दोष होते हैं—व्यभिचार, मिथ्याभाषण तथा हिंसा। आप व्यभिचार तथा मिथ्याभाषण से तो दूर हैं, परन्तु निरपराध प्राणियों की हत्या करते रहते हैं। आपने ऋषियों की रक्षा में राक्षसों को मारने के लिए प्रतिज्ञा की है, इसलिए धनुष-बाण लेकर दण्डकारण्य में चलते हैं। मैं आपको इस घोर कर्म हिंसावृत्ति में लगा देखकर चिंता में डूबी रहती हूं कि आपका कल्याण कैसे होगा।[2] आपका दण्डकारण्य की तरफ जाना मुझे अच्छा नहीं लगता। आप दोनों भाई बड़े-बड़े अस्त्र-शस्त्र लेकर चल रहे हैं। हो सकता है कि वनवासियों को देखकर आप उन पर बाणों का प्रहार करने लगें। जैसे आग से लगा ईंधन जलने लगता है, वैसे ज्यादा अस्त्र-शस्त्र बांधने से मन में हिंसा की वृत्ति जगती है। पुरानी कथा है कि इंद्र ने एक ऋषि को थाती रूप में रखने के लिए एक तलवार दे दी थी। ऋषि उस तलवार की रक्षा के लिए उसे सदैव अपने हाथों में लिये रहने लगे। धीरे-धीरे उनके मन में तलवार चलाने की वासना जग गयी और वे क्रूर-कर्मी हो गये।

''मेरे मन में आपके लिए प्रेम है, इसलिए मैं आपको यह राय दे रही हूं। आप बड़े-बड़े अस्त्र-शस्त्र लेकर दण्डकारण्य न चलें। आपको बिना अपराध दण्डकारण्यवासियों का वध नहीं करना चाहिए। इसे कोई भला मानुष अच्छा नहीं मानेगा। क्षत्रियों को तो केवल इसलिए अस्त्र-शस्त्र रखना चाहिए कि समय आने पर वे प्राणियों की रक्षा कर सकें। कहां शस्त्र-धारण, कहां

---

1. **राक्षस का अर्थ यह नहीं है कि वे कोई भयंकर जीव थे। वस्तुतः वे भी सुसभ्य मनुष्य थे। वे विद्वान तथा तपस्वी भी होते थे। कुछ आर्य-ऋषि लोग शायद उनके क्षेत्र में राजनीतिबाजी करते थे। इसका पता चलने पर वे राक्षसों द्वारा मारे जाते थे। शेष साधना-परायण ऋषि-मुनि नहीं मारे जाते थे। इसीलिए वे राम से वार्ता करने के लिए जीवित थे।**
2. **वाल्मीकि, 3/9/12।**

वनवास, कहां हिंसामय क्षात्रकर्म तथा कहां तप? ये परस्पर विरुद्ध बातें हैं। इसलिए आप लोगों को देश-धर्म पालन करना चाहिए। आप तपोवन रूप देश में निवास करते हैं, अत: तपस्वी बनकर रहें। तपस्वी हिंसा नहीं करता।''[1]

''केवल हथियार बांधने वाले का मन कृपण मनुष्यों की तरह क्रूर हो जाता है। आप जब अयोध्या चलेंगे तब ज्यादा हथियार बांधियेगा। आप मुनिव्रत में हैं, अत: अहिंसाव्रत में रहेंगे तो इससे सासु-ससुर को प्रसन्नता ही होगी। मैंने अपनी चपलता से यह सब कह डाला। मैं आपको उपदेश देने में समर्थ नहीं हूं। आप अपने छोटे भाई से विचार कर लें, फिर जो अच्छा लगे वह करें।''

राम ने कहा कि तुम अपने विचार से ठीक कहती हो, परन्तु मैं अपने प्राण छोड़ सकता हूं, तुम्हें तथा लक्ष्मण को भी छोड़ सकता हूं, किन्तु इस प्रतिज्ञा को नहीं तोड़ सकता कि मैं राक्षस-जाति का वध करूंगा।[2]

6. शूर्पणखा-विरूपण तथा खर-दूषणादि को मारना

पंचवटी में रहते-रहते एक दिन रावण की बहिन शूर्पणखा आ गयी और वह राम को देखकर मोहित हो गयी। उसने राम से पूछा—तुम यहां राक्षसों के क्षेत्र में कैसे घुस आये हो?

राम ने सरलतापूर्वक अपने आने के कारण बताये। फिर शूर्पणखा ने अपने मन की बात कही कि मैं तुम्हें अपने पति के रूप में पाना चाहती हूं। राम ने कहा—मेरी पत्नी तो देखो, सीता पास में बैठी है। मेरे छोटे भाई लक्ष्मण अविवाहित हैं, उनके पास जाओ। राम का यह मजाक वह न समझ सकी और लक्ष्मण से उसने अपना प्रस्ताव रखा। लक्ष्मण ने स्वयं को राम का दास बताया और कहा कि राम के पास जाओ, वे समर्थ हैं। इस धकापेल में वह कुपित हो गयी। राम ने लक्ष्मण द्वारा उसके नाक-कान कटवा लिए।

शूर्पणखा ने जनस्थान में रहने वाले रावण के सरदार खर, दूषण, त्रिशरा आदि से यह घटना बतायी। वे सब राम से लड़ने आये और मारे गये। शूर्पणखा ने लंका में जाकर रावण को यह सब बताया, और सीता की सुन्दरता का वर्णन किया। रावण ने मारीच को स्वर्णमय मृग बनकर राम तथा सीता को भ्रम में डालने की राय दी जिससे वह सीता का हरण सरलता से कर सके।

7. सीताहरण

बहुरुपिये भी स्वांग बनाकर वानर-भालू आदि का रूप बना लेते हैं। इसी तरह मारीच स्वर्णमय मृग का स्वांग बनाकर पंचवटी में राम के आश्रम पर

---

1. **क्व च शस्त्रं क्व च वनं क्व च क्षात्रं तपः क्व च। व्याविद्धमिदमस्माभिर्देशधर्मस्तु पूज्यताम्॥ वा० 3/9/27॥**
2. **वा० 3/10/18-19।**

गया। सीता उसे देखकर मोहित हो गयीं और उन्होंने राम से उसे जीवित या मारकर लाने का आग्रह किया। लक्ष्मण ने राम को रोका कि सोने का मृग कहीं नहीं होता। यह राक्षसों का छलावा हो सकता है और इसके पीछे हमारे ऊपर संकट आ सकता है। इसलिए इसके पीछे नहीं पड़ना चाहिए। परन्तु राम-जैसे विवेकी पुरुष भी उस पर विमोहित हो गये और उसके पीछे धन्वा-बाण लेकर दौड़ पड़े। महाभारतकार ने ठीक ही कहा है—''किसी प्राणी का शरीर स्वर्ण का नहीं होता, परन्तु राम उस स्वर्णमय दिखते हुए मृग में विमोहित हो गये। सच है, जब किसी के पतन का समय आता है तब उसकी बुद्धि विपरीत हो जाती है।''[1]

जब मारीच राम को दूर तक ले गया और राम के बाण से आहत होकर गिरा तब उसने हा लक्ष्मण, कहा। सीता ने आश्रम में यह शब्द सुनकर लक्ष्मण को राम के पास जाने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने समझा कि राम के ऊपर विपत्ति आ गयी। लक्ष्मण ने उन्हें समझाया कि राम के ऊपर विपत्ति नहीं आ सकती। मुझे उन्होंने आपकी रक्षा के लिए यहां दायित्व दिया है। अतः मैं आपकी रक्षा में रहूंगा।

उक्त बातें सुनकर सीता लक्ष्मण पर क्रुद्ध हो गयीं और उन्होंने उन पर अनेक भयंकर संदेह करके बड़े तीखे वचन कहे। लक्ष्मण इन कठोर वचनों के कारण राम के पास गये। उधर राम मृग को लाद-फांद कर आ रहे थे। इधर रावण आश्रम पुरुषों से सूना देखकर सीता को लंका उठा ले गया।

राम तथा लक्ष्मण जब आश्रम पर आये, तब उसे सूना देखकर बहुत दुखी हुए। राम ने सीता के लिए विलाप किया, फिर दोनों भाई सीता की खोज करते हुए दक्षिण को बढ़े। रास्ते में घायल जटायु मिले, जो गृध-गोत्रिय राजपुरुष थे। उन्होंने सीता को रावण के पंजे से छुड़ाने के लिए युद्ध किया था, परन्तु रावण के बाण से घायल होकर मैदान में पड़े थे। राम ने जटायु की चिकित्सा एवं सेवा की, परन्तु वे बच न सके और देखते-देखते मर गये। मरने के पहले जटायु ने यह बता दिया था कि सीता को रावण ले गया है।

8. रावण पर विजय

श्रीराम लक्ष्मण-सहित तपस्विनी एवं श्रमणी शबरी से मिलते हुए पम्पासरोवर पहुंचते हैं। वहां वानरगोत्रिय राजपुरुष सुग्रीव के मन्त्री हनुमान मिलते हैं। सुग्रीव अपने बड़े भाई द्वारा निष्कासित हैं। हनुमान ने राम और सुग्रीव की एक-जैसी स्थिति देखकर दोनों से मित्रता करायी और दोनों द्वारा

---

1. **असम्भवे हेममयस्य जन्तोस्तथापि रामो लुलभे मृगाय।**
प्रायः समासन्नपराभवाणां धियो विपर्यस्ततरा भवंति॥ सभापर्व, 76/5॥

दोनों के काम बनाने की प्रतिज्ञा करायी। राम ने सुग्रीव के बड़े भाई वाली को छिपकर मार दिया और सुग्रीव को राजगद्दी पर बैठा दिया। इसके फल में सुग्रीव ने अपनी सेना के सहित स्वयं को राम के कार्य के लिए समर्पित किया। इतने में वर्षा का समय आया। राम ने लक्ष्मण को लेकर प्रस्रवण नाम के पर्वत पर वर्षा-वास किया। वर्षा-वास राम सीता की याद में बहुत बेचैनी में बिताते हैं।

वर्षा बीत जाती है। राम को संदेह होता है कि मैंने सुग्रीव से मित्रता तो की और उसका काम भी कर दिया, परन्तु उसने मेरे काम को भुला दिया है। उन्होंने लक्ष्मण से कहा कि जाकर सुग्रीव को बता दो कि जिस रास्ते से वाली गया है, वह रास्ता बन्द नहीं हो गया है। वाली को तो अकेले भेजा था, सुग्रीव यदि कृतघ्न हुआ तो उसे परिवार सहित मौत के घाट उतार दूंगा।

लक्ष्मण ने जाकर सुग्रीव को फटकारा, परन्तु सुग्रीव ने बताया कि हम सावधान हैं। सेना को एकत्र होने की आज्ञा दे दी गयी है। सुग्रीव ने सेना द्वारा सीता का पता लगाया कि वे रावण की अशोक-वनिका में लंका में कैद हैं।

उधर रावण के छोटे भाई विभीषण ने रावण को अनेक बार समझाया कि सीता को राम के पास भेज दिया जाये, अन्यथा इसका फल बुरा होगा। रावण विभीषण को टालता रहा कि तुम राम की परवाह मत करो। वे हमारा कुछ नहीं कर सकते। अंतत: रावण ने विभीषण को फटकारा कि तुम मेरे भाई होकर मेरे शत्रु की बड़ाई करते हो, तुम्हें धिक्कार है। तुम भाई हो, यदि दूसरा कोई ऐसा कहा होता तो उसका कुशल न होता।

विभीषण दुखी होकर और अपने चार मन्त्रियों के साथ यह कहकर चल दिये कि मैंने तुम्हारे भले के लिए कहा था। अब मैं जा रहा हूं। तुम मेरे बिना सुखी रहो।

विभीषण राम की सेना में आकर मिल गया। यद्यपि अन्य लोगों ने विभीषण पर शंका की, परन्तु राम ने उसे सहर्ष स्वीकार किया। जब विभीषण राम के पास लाया गया, उसने राम से कहा—मैं मित्र, धन और लंका छोड़कर आया हूं। अब मेरा राज्य, जीवन और सुख सब आपके हाथों में हैं। विभीषण की उक्त बातें सुनकर राम ने अपनी मधुर वाणी से उसे सांत्वना दी और वे इस प्रकार देखने लगे कि मानो आंखों से उसे पी जायेंगे—'लोचनाभ्यां पिबन्निव।' तत्काल राम ने लक्ष्मण को आज्ञा देकर विभीषण का लंका राजगद्दी के लिए राजतिलक करवा दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि राम राजनीति में काफी निपुण हैं।

सुग्रीव तथा विभीषण इन दो की सहायता एवं अपने पराक्रम से राम ने रावण से घोर युद्ध किया। राम तथा लक्ष्मण युद्ध में कई बार घायल होते हैं।

युद्ध बड़ा घमासान चलता है। अंतत: रावण अपने सभी वीरों के सहित मारा जाता है और राम की पूर्ण विजय होती है।

9. सीता की अग्निपरीक्षा और रामराज्य

विजय के बाद विभीक्षण द्वारा सीता राम के पास लायी जाती हैं। भरी सभा में राम ने बड़ी कठोरता से सीता को तिरस्कार भरे शब्द कहे हैं,[1] उन पर अविश्वास किया है तथा कहा है कि मैंने शत्रु पर विजय करके तथा तुम्हें उसके कैद से मुक्त करके अपने ऊपर लगे कलंक को धो दिया है, परन्तु मैं तुम्हें अपने पास रख नहीं सकता। तुम चाहे जहां चली जाओ तथा चाहे जिसके पास रहो।

सीता को राम के दुर्वचन से बड़ा कष्ट हुआ। उन्होंने पीड़ित होकर राम से कहा—आपने उसी प्रकार मुझे कठोर वचन कहे हैं जैसे एक निम्न कोटि का पुरुष एक निम्नकोटि की स्त्री को कहे। आप मुझे जैसी समझते हैं, मैं वैसी नहीं हूं। मेरी अनिच्छा से रावण ने मेरा शरीर छुआ है। मेरा मन ही मेरे अधिकर में था और उसमें तो मैंने केवल आपको ही बैठा रखा है। आप और मैं दोनों एक साथ बहुत दिन रहे हैं। एक दूसरे को अच्छी तरह जानते हैं। इतने पर भी यदि आपने मुझे नहीं समझा, तो मैं मारी गयी। आपने छिछले मनुष्यों की भांति केवल उत्तेजना का आश्रय लिया और मेरे शील स्वभाव से अपनी आंखें मीच लीं।

अंतत: सीता अपनी अग्निपरीक्षा में उत्तीर्ण हुईं। सज्जनों ने आकर सीता की तरफदारी की। राम ने सीता को स्वीकार किया और श्रीराम सीता तथा लक्ष्मण-सहित अयोध्या लौट आये। राम की राजगद्दी हुई। राम के राज्य में प्रजा को सर्वत्र सुख-सुविधा थी।

10. सीता निर्वासन

राम को राज्य करते हुए बहुत दिन बीत गये। सीता को बहुत दिनों तक रावण ने अपने कैद में रखा था; राम ने उन्हें कैसे पुन: स्वीकार लिया—इस बात की सुगबुगाहट प्रजा में चल रही थी। भीड़ का समाधान बड़ा मुश्किल होता है। सीता-जैसी पतिव्रता नारी पर भी अयोध्यावासियों ने भयंकर संदेह किया और यह सन्देह जन-चर्चा का विषय बन गया।

राजा राम के मन को प्रसन्न करने के लिए उनके सखा हंसी-विनोद करते तथा उनका मनोरंजन करते थे। ये थे—विजय, मधुमत्र, काश्यप, मंगल, कुल, सुराजि, कालिय, भद्र, दंतवक्त्र, सुमागध आदि। राम ने इन सबसे पूछ लिया

---

1. **वाल्मीकि, युद्धकांड, 115वां सर्ग।**

कि मेरे, मेरी पत्नी, मेरी माताओं तथा मेरे अनुशासन के लिए प्रजा में कैसी चर्चा चलती है? अच्छी तथा बुरी, जो चर्चा हो, सब बताओ।

मित्रों ने कहा कि आपकी सभी बातों के लिए प्रशंसा होती है। केवल एक बात से आपकी निंदा हो रही है, वह है सीता को पुन: घर में रख लेना। इसको लेकर प्रजा में असंतोष है। लोग कहते हैं कि रावण ने पहले सीता को बलपूर्वक उठा अपनी गोद में लेकर उनका अपहरण किया। पीछे उन्हें लंका ले जाकर अपने अन्त:पुर की अशोक-वनिका में रखा। इस प्रकार सीता बहुत दिनों तक रावण के वश में रहीं। फिर राम उनसे घृणा क्यों नहीं करते? अब हमें भी स्त्रियों की ऐसी गलत बातें सहनी पड़ेंगी। क्योंकि राजा जिस प्रकार रहता है, प्रजा उसी प्रकार होती है।

उक्त बातें सुनकर राम उदास हो गये। उन्होंने मित्रों को विदा कर दिया और अपने भाइयों को बुलाया तथा उनसे कहा कि मैं जो तुम लोगों को आज्ञा देने जा रहा हूं उसे सीधे स्वीकार करो। अयोध्या में सीता के रहने से मुझे बहुत अपमान सहना पड़ रहा है। सीता गर्भवती हैं। इन्होंने एक दिन एवं रात के लिए ऋषियों के आश्रम में घूम-फिर एवं रहकर आने की भी इच्छा प्रकट की थी। अत: सीता से कह दो कि तुम्हें वन में ऋषियों के आश्रम में घुमाने के लिए ले चल रहे हैं, और वहां पहुंचने पर बता देना कि राम की आज्ञा है कि तुम्हें वन में निष्कासित कर दिया जाये। उक्त आज्ञा लक्ष्मण को दी गयी कि सुमन्त के साथ रथ लेकर तथा सीता को उस पर बैठाकर वाल्मीकि-आश्रम के वन में सीता को छोड़ आओ। संभवत: राम के मन में था कि वाल्मीकि के आश्रम के वन में सीता को छोड़ने से उन्हें आश्रम में आश्रय मिल जायेगा।

उक्त बातें भाइयों को अच्छी नहीं लगीं। परन्तु वे मजबूर थे। दूसरे दिन सुमन्त ने रथ हांका और सीता को उस पर बैठाकर लक्ष्मण ले चले। जब वन में रथ रोककर तथा सीता को नौका में बैठाकर गंगा की दूसरी तरफ लक्ष्मण ले गये और सीता के सामानों की गठरी जमीन पर रखकर रोने लगे तब सीता ने उनके रोने का कारण पूछा। लक्ष्मण ने दुखपूर्वक बताया कि आपको राम ने निकाल दिया है। सीता व्याकुल होकर जमीन पर गिर पड़ीं और अचेत हो गयीं।

जगने पर सीता ने कहा—हे लक्ष्मण! विधाता ने मेरा शरीर मानो केवल दुख भोगने के लिए बनाया है। पता नहीं मेरा पूर्वजन्म का कौन-सा पाप है जिसका फल मैं भोग रही हूं। मुझ-जैसी सती-साध्वी को राम ने त्याग दिया। मैंने चौदह वर्ष वन में रहकर राम की सेवा की। दुख को दुख नहीं माना। अब परिवार से अलग मैं कैसे रहूंगी। दुख पड़ने पर किससे कहूंगी। जब ऋषि लोग पूछेंगे कि राजा राम ने तुम्हें किस अपराध से निकाल दिया है, तो मैं क्या

बताऊंगी? मैं अभी गंगा में कूदकर अपने प्राण खो देती, परन्तु मैं गर्भवती होने से ऐसा नहीं करूंगी, अन्यथा राजवंश ही डूब जायेगा।

हे लक्ष्मण! तुम तो वही करो जो महाराज ने कहा है। मुझ दुखिया को तुम छोड़ जाओ। परन्तु मेरी बातें सुनते जाओ—सब सासुओं को नमस्कार कहना, महाराज के सामने मेरी ओर से सिर टेककर कुशल पूछना और बता देना जैसा कि वे स्वयं जानते हैं कि मैं पवित्र हूं। उन्होंने लोक-अपवाद के डर से मुझे त्याग दिया है, तो ठीक है, जिससे उनका अपमान न हो वैसा काम करें। मेरे कारण उनकी निंदा होती थी, तो मेरा भी कर्तव्य है कि जिससे उनकी निंदा न हो ऐसे कार्य में मैं उनकी सहायता करूं। स्त्री के लिए तो पति देवता है। उसे प्राणों की बाजी लगाकर पति का काम करना चाहिए। लक्ष्मण सीता को नमस्कार कर सुमंत के साथ अयोध्या लौट आये।

11. सीता का पृथ्वी में प्रवेश

बहुत दिनों के बाद राम ने नैमिषारण्य में अश्वमेधयज्ञ किया। उसमें वाल्मीकि भी सीता तथा उनके दोनों बच्चे कुशी और लव को लेकर पहुंचे। वहां कुशी और लव ने रामायण का गायन किया। इससे राम को सीता का भी पता लगा कि वे भी वाल्मीकि के साथ आयी हैं। राम ने अपने दूतों द्वारा वाल्मीकि को सन्देश दिया कि वे सीता को लाकर सभा में उपस्थित हों और सीता भरी सभा में अपनी पवित्रता प्रमाणित करें।

सभा खचाखच भरी थी। वाल्मीकि सीता को लेकर सभा में पहुंचे। सीता अपना सिर नीचे किये आंसू बहा रही थीं। राम ने सीता से उनकी शुद्धता का प्रमाण मांगा। सीता ने कहा—"मैं श्रीराम को छोड़कर दूसरे पुरुष का मन से भी नहीं चिंतन करती हूं। यदि यह बात सत्य है तो पृथ्वी देवी मुझे अपनी गोद में जगह दें। और पृथ्वी फटी तथा पृथ्वी देवी ने सीता को अपनी गोद में समा लिया।"[1]

12. साथियों सहित राम की जलसमाधि

कुछ दिनों के बाद कौसल्यादि माताओं का निधन हो गया। लक्ष्मण ने पहले सरयू में प्रवेशकर जलसमाधि ले ली। इसके बाद राम ने विंध्यपर्वत के पास 'कुशावती' नगर में 'कुश' को तथा अयोध्या से उत्तर 'श्रावस्ती' में 'लव' को राजा बनाया। शत्रुघ्न के पुत्र 'सुबाहु' को 'मधुरा' (मथुरा) तथा 'शत्रुघाती' को 'विदिशा' का राज्य दिया गया। भरत के पुत्र 'तक्ष' को 'तक्षशिला' एवं 'पुष्कल' को 'पुष्कलावती' का राज्य मिला।

---

1. **यह भी एक चमत्कारी प्रसंग है। किसी के कहने से पृथ्वी फट नहीं सकती। यहां का अर्थ यही है कि सीता ने सत्य के लिए अपना बलिदान कर दिया।**

लक्ष्मण के जल समाधि ले लेने के बाद से राम का मन संसार से एकदम उचट गया और उन्होंने कहा कि मैं शीघ्र ही सरयू में प्रवेशकर जल समाधि लूंगा। राम के साथ बहुत-से लोग जलसमाधि लेने के लिए तैयार हुए। अंततः उन्होंने अपने साथियों के सहित सरयू नदी में जलसमाधि लेकर इहलीला का विसर्जन किया।

13. उपसंहार

महाराज श्रीराम के जीवन में ऐसे सद्गुण हैं जो मानव-समाज को हजारों वर्षों से प्रेरणा देते रहे हैं तथा आगे देते रहेंगे। माता-पिता की आज्ञा से चौदह वर्षों का कठोर तपस्वी जीवन बिताना, सत्य वचन में दृढ़ता, भाई के लिए राज्य का त्याग तथा कुशल प्रजा-पालन उनके महान गुण हैं। साथ-साथ रामायण के अन्य पात्रों के उत्तम आदर्श हैं, जैसे सीता जी का पातिव्रत, भरत का त्याग, लक्ष्मण का सेवाव्रत तथा उर्मिला का चौदह वर्ष का तप आदि मानव-मन को प्रकाश देने वाले हैं। रामायण-काव्य बड़ा मनोहारी तथा प्रेरणाप्रद है। सच है—''जब तक इस पृथ्वी पर पर्वतों तथा नदियों का अस्तित्व रहेगा, तब तक रामायण की कथा संसार में फैलती रहेगी।''

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद् रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति॥ (वाल्मीकि 1/2)

5
महाराज श्रीकृष्ण

महाराज श्रीकृष्ण भारतवर्ष के एक बहुमुखी प्रतिभासंपन्न वैभवशाली व्यक्तित्व का नाम है जिसने हजारों वर्षों से सम्पूर्ण देश को राजनीति, धर्म, दर्शन, योगादि अनेक विधाओं से अत्यन्त प्रभावित किया है। और केवल भारतवर्ष ही नहीं, इस अद्वितीय व्यक्तित्व ने विश्व के दिग-दिगंत में अपनी प्रकाश-रश्मियां फैलायी हैं। श्रीकृष्ण का ऐसा विशाल व्यक्तित्व हुआ कि उस पर हजारों वर्षों से साधारण जनता, पंडित एवं भक्त-समुदाय मोहित होकर क्या-क्या नहीं आरोपित किये। अतिश्रद्धा तथा चमत्कारी वर्णनों के घटाटोप में संसार के सभी महापुरुषों की सत्यता छिप-सी गयी है। महाराज श्रीकृष्ण के प्रति तो भक्तों ने अगम-अपार चमत्कारी प्रसंग जोड़े हैं, इससे भी उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व का ही संकेत मिलता है।

1. वंश

रामायण, हरिवंश एवं पुराणों के अनुसार सूर्यवंश से ही चंद्रवंश निकला है जिसे आगे चलकर यादव-वंश कहा गया है। वाल्मीकीय रामायण (7/58) के अनुसार सूर्यवंशी राजा ययाति से उनकी पत्नी एवं शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी से 'यदु' हुए। हरिवंश (विष्णु पर्व, अध्याय 37) के अनुसार सूर्यवंशी राजा हर्यश्व तथा उनकी पत्नी एवं मधु नामक दैत्य की पुत्री मधुमती से 'यदु' हुए। पुराणों से यह सिद्ध है कि 'हर्यश्व' और 'ययाति' दोनों ही सूर्यवंशी थे। हो सकता है ययाति और हर्यश्व एक ही व्यक्ति रहे हों।

यादव-वंश में 'अंशु' नाम के राजा के पुत्र सत्वत थे और सत्वत के पुत्र सात्वत थे। इनसे सात्वत-वंश प्रसिद्ध हुआ। कूर्म पुराण के अनुसार सात्वत ने देवर्षि नारद से उपदेश पाकर भागवतधर्म चलाया जिसमें नारायण की उपासना थी। इसको सात्वत-धर्म भी कहा गया। आगे चलकर श्रीकृष्ण इसी परम्परा में हुए, और वे ऐसे महान समर्थ पुरुष हुए कि उन्होंने स्वयं नारायण का स्थान ग्रहण कर लिया। श्रीकृष्ण को पाकर यादवों को ऐसा लगा कि मानो नारायण श्रीकृष्ण के रूप में हमारे यहां पैदा हो गये हैं। आगे चलकर श्रीकृष्ण नारायण के अवतार ही नहीं, किन्तु स्वयं परब्रह्म अर्थात अनन्त ब्रह्मांडनायक बन गये।

यादव-वंश में अनेक यशस्वी पुरुष होते गये, और उनके नाम से नये-नये गोत्र बनते गये, जैसे यादव, भैम, सात्वत, मधु, अर्बुद, माथुर, शूरसेन, विसर्जन, कुंति, कुक्कुर, भोज, अंधक, दाशार्ह, वृष्णि आदि। यदु, मधु, वृष्णि आदि प्रतापवान पूर्वजों के कारण श्रीकृष्ण को यादव, माधव तथा वार्ष्णेय कहा जाता था। यादव-वंश में अनेक वंश होने पर भी वर्चस्व केवल दो वंशों का था—वृष्णि और अंधक।

2. जन्म

यदुवंश में एक राजा थे शूरसेन। वे मथुरा पर राज्य करते थे। इनके नाम से उस मंडल का नाम हो गया शूरसेन मंडल। मथुरा की राजगद्दी पर एक यादव राजा उग्रसेन बैठे। उनका पुत्र कंस था जो उन्मादी था। जवान होने पर उसने अपने पिता उग्रसेन को गद्दी से उतारकर कारावास में डाल दिया और स्वयं मथुरा का राजा बन बैठा। यह वसुदेव आदि यादवों को बुरा लगा। कंस की चचेरी बहिन देवकी थीं जो वसुदेव से व्याही गयी थीं। कंस को अपनी बहिन तथा वसुदेव पर विरोधी होने की शंका थी। अत: उसने उन्हें भी मथुरा के कारावास में डाल दिया।

इसी कारावास में वसुदेव-देवकी से भादों कृष्ण अष्टमी बुधवार, रोहिणी नक्षत्र में आधी रात को श्रीकृष्ण का जन्म हुआ। कंस को डर था कि वसुदेव-देवकी से पैदा हुए बच्चे मेरे शत्रु हो सकते हैं। अत: वह उनसे पैदा हुए सभी बच्चों को मरवाता रहता था। जब श्रीकृष्ण का जन्म हुआ तब कुछ ऐसा बानक बना कि वसुदेव ने उस बच्चे को रात-ही-रात गोकुल नामक ग्राम में नन्दबाबा के यहां पहुंचा दिया और लौटकर पुन: कारावास में आ गये। समय-संयोग के बदलाव से कंस ने वसुदेव-देवकी को भी कारावास से मुक्त कर दिया।

3. बाललीला

श्रीकृष्ण पर रीझकर भक्तों ने पीछे से उनकी बाललीला का अतिशयोक्तिपूर्ण विशद वर्णन किया है। इसे हरिवंश तथा विस्तार से भागवत में देख सकते हैं। नवजात शिशु-कृष्ण पूतना का वध करता है, अपने पैरों के प्रहार से बैलगाड़ी को तोड़ देता है। वह बचपन में ही यमलार्जुन पेड़ों को उखाड़ देता है, वत्सासुर, वकासुर, अघासुर, धेनुकासुर आदि दुष्टों का विनाश करता है, कालिया नाग का मर्दन कर ग्वालबालों को उससे बचा लेता है।

बालक-कृष्ण नटखट है। वह अन्य ग्वालबालों को लेकर घर तथा दूसरे ग्वालों के घर में दधि-माखन की चोरी करता है। कृष्ण की माखन-चोरी की भावना को कवियों ने बहुत तूल दिया है। नटखट बच्चों का कुछ दिन ऐसा

करना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। परन्तु पाठकों से निवेदन है कि वे स्वयं समझें कि उनके घर के बच्चे कहीं माखन चुराने नहीं जाते हैं, तब जिन नंदबाबा के घर में हजारों गायें थीं, उनके घर का बच्चा कृष्ण क्या माखन की चोरी करने जायेगा! परन्तु रस लेने और देने के लिए कवि लोग आकाश-पाताल के कुलावे मिला देते हैं।

4. चीरहरण

गोपिकाएं अपने कपड़े उतारकर तट पर रख देती हैं और नंगी होकर यमुना-नदी में स्नान करती हैं। संयोग से वहां बालक-कृष्ण आ जाते हैं। उन्हें गोपियों की यह क्रिया अच्छी नहीं लगी। वे गोपियों के सारे कपड़े लेकर पेड़ पर चढ़ जाते हैं और वहीं से उन्हें पुकारकर कहते हैं कि तुम लोग स्वयं आकर अपने-अपने कपड़े ले जाओ। वर्णन में हंसी-विनोद का पुट दिया गया है। अन्ततः गोपियां पेड़ के नीचे आकर अपने-अपने कपड़े मांगती हैं और श्रीकृष्ण उनको कपड़े देते हुए उन्हें सावधान करते हैं कि अब आज से नंगी होकर कभी स्नान नहीं करना। वे कहते हैं कि हे गोपियो! तुम्हारे सत्यव्रत की मैं प्रशंसा करता हूं, परन्तु तुम लोगों ने नंगी होकर स्नान करने का अपराध किया है। इससे मानो देवस्वरूप सुसभ्य लोगों की तुम लोगों ने अवहेलना की है।

इस घटना में गोपियों के वस्त्रों को लेकर पेड़ पर चढ़ जाने से बालक-कृष्ण की चपलता मानी जा सकती है, परन्तु इसके मूल में उनका उद्देश्य गोपियों को कड़ी शिक्षा देना था जिससे नंगी होकर खुली जगह में कभी स्नान न करें।

5. रास या महारास

रास का अर्थ होता है कोलाहल एवं नाच-गान। धारणा यह है कि जब श्रीकृष्ण दस वर्ष के थे, तब वे गोकुल की गोपिकाओं को लेकर कार्तिक-पूर्णिमा की रात को वृन्दावन के यमुना तट पर चले गये और वहां उन्होंने उनके साथ रातभर नाच-गान किया। देश और काल की अनादि-अनन्त-यात्रा में कब कैसी-कैसी रीति-नीति रही है और आगे कैसी-कैसी रहेगी, कह पाना असम्भव है। और आज के सन्दर्भ में उन बातों को सही या गलत मानकर समीक्षा करना भी व्यर्थ है। आदिवासियों में ऐसे नाच-गान की रीति आज भी है। मध्यप्रदेश के बस्तर जिले के आदिवासियों में आज भी 'घोटुल' नाम के क्लब होते हैं, जिसमें अविवाहित किशोर-किशोरी एवं युवक-युवती रात में इकट्ठे होकर नाच-गान करते हैं।

परन्तु श्रीकृष्ण ने रास किया था इसका पता वेद, वैदिक साहित्य तथा महाभारत में कहीं नहीं है। वेद में केवल एक जगह (ऋग्वेद 8/85/13-16

में)[1] श्रीकृष्ण की चर्चा है जो वासुदेव कृष्ण ही लगते हैं। इस स्थल पर केवल यही वर्णन है कि वे तेज, वीर, देदीप्यमान एवं इन्द्र के विरोधी हैं। वैदिक साहित्य में भी मात्र एक स्थल पर (छांदोग्य उपनिषद् 3/17/6 में) श्रीकृष्ण की चर्चा है जहां उन्हें गुरु घोर आंगिरस ने ज्ञान देकर तृष्णा से पार लगा दिया है। वेद और वैदिक साहित्य के बाद महाभारत का स्थान आता है। यह कौरव-पांडवों की गाथा है। श्रीकृष्ण उनके सम्बन्धी होने से उनकी भी कथा उसमें खूब आयी है, परन्तु पूरे महाभारत में कहीं एक वाक्य में भी नहीं लिखा है कि श्रीकृष्ण ने रास किया था।

महाभारत के सभापर्व के 68वें अध्याय के 41वें श्लोक में, जहां दु:शासन ने द्रौपदी का वस्त्र खींचना शुरू किया है, द्रौपदी ने आर्त होकर श्रीकृष्ण को पुकारा है और यहां पर श्रीकृष्ण को 'गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय' कहा है। इस श्लोक में 'गोपीजनप्रिय' शब्द श्रीकृष्ण के लिए आया है। इसका अर्थ होता है कि श्रीकृष्ण गोपियों के प्यारे हैं। एक तो इतने शब्द मात्र से रास का अर्थ नहीं लगाया जा सकता है। दूसरी खास बात है कि महाभारत के समस्त तार्किक अध्येता ''द्रौपदी चीर-हरण'' प्रसंग को प्रक्षिप्त मानते हैं। किसी के द्वारा किसी स्त्री के वस्त्र खींचने पर और उसके पुकारने पर हजार किलोमीटर की दूर पर रहे हुए किसी महापुरुष की कृपा से वस्त्र बढ़ता ही जाये, यह सब असम्भव है। खास बात यह है कि यह प्रसंग बहुत पीछे जोड़ा गया है।

साढ़े आठ हजार श्लोकों में पहले कौरव-पांडव की कथा लिखी गयी थी। इसका नाम 'जय' था। इसमें श्रीकृष्ण की चर्चा मानव के रूप में थोड़ी थी। उसके बाद यह ग्रंथ पचीस हजार श्लोकों में हुआ, और नाम हुआ भारत। इसमें श्रीकृष्ण की लीला में अलौकिकता लायी गयी। और जब इसमें एक लाख श्लोक हुए, तब इसका नाम 'महाभारत' हुआ और इसमें श्रीकृष्ण पूर्ण परब्रह्म रूप में उभरकर आये। प्रक्षेप के लिए केवल तीन उदाहरण लें। महाभारत के सभापर्व में जहां श्रीकृष्ण की अग्रपूजा पर शिशुपाल ने उनको कटु शब्द कहे हैं, वहां भीष्म ने उसके आक्षेपों का उत्तर दिया है। यह अड़तीस (38)वां अध्याय है। जिसमें कुल तैंतीस (33) श्लोक हैं। परन्तु इसमें 29 और 30 श्लोकों के बीच में 728 श्लोक[2] घुसेड़ दिये गये हैं जिनमें भागवत के अनुसार कृष्ण के चरित्र तथा उनके ईश्वरत्व का वर्णन है। अतएव महाभारत में कृष्ण के लिए गोपीजनप्रिय शब्द पीछे से प्रवेश किया गया है। अनुशासन पर्व के 145वें अध्याय में मूल श्लोक 64 हैं तथा प्रक्षेप 1209 और आश्वमेधिक पर्व

1. **जिस संस्करण में खिलभाग है उसमें यह वर्णन 8/96/13-16 में पड़ता है।**
2. **इसे गीताप्रेस के संस्करण में देख सकते हैं।**

के 92वें अध्याय में 53 श्लोक मूल हैं और 1220 श्लोक प्रक्षेप। एक किलो दाल में पचास किलो नामक खाया गया है।

एक महत्त्वपूर्ण बात, जब पांडवों द्वारा उनके राजसूय यज्ञ में श्रीकृष्ण की अग्रपूजा हुई है, तब उसे देखकर चेदिनरेश शिशुपाल नहीं सह पाया है और उसने श्रीकृष्ण की अवहेलना करके उन्हें बड़े कटु शब्द सुनाये हैं। उसने उस समय श्रीकृष्ण को स्त्रीहंता और गोहंता भी कहा है। लगता है इस कथा के उदय होने तक श्रीकृष्ण की बाललीला में जो पूतनावध तथा वृषभासुर वध आये हैं, वे आ चुके थे। परन्तु अभी तक रास की कल्पना नहीं की गयी थी। इसलिए शिशुपाल ने जहां श्रीकृष्ण को बहुत गालियां दी हैं, वहां उन्हें रसिया तथा परस्त्रियों को लेकर नाचने वाला नहीं कह सका है। यदि श्रीकृष्ण रास किये होते तो इसको लेकर शिशुपाल उनकी धज्जियां उड़ा डालता। अतएव श्रीकृष्ण के साथ रास जोड़ना उनके साथ, भारतवर्ष के सथ, हिन्दू समाज के साथ तथा मानवता के साथ अक्षम्य अपराध करना है।

वस्तुत: हरिवंश पुराण के विष्णुपर्व के बीसवें अध्याय में पन्द्रहवें से पैंतीसवें—कुल इक्कीस श्लोकों में रास की चर्चा पहली बार आयी है। पीछे श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध के वंतीसवें से तैंतीसवें—पांच अध्यायों तथा 174 श्लोकों में रासलीला का ज्यादा अश्लील रूप उभरा है। परन्तु इन सबमें 'राधा' की कल्पना नहीं है। इसके बाद ब्रह्मवैवर्त पुराण में सविस्तार रास का वर्णन है तथा वहां राधा भी आ उपस्थित हुई हैं। इसके बाद विशालकाय ग्रंथ गर्ग-संहिता की रचना हुई, जिसमें श्रीकृष्ण की खरबों-खरबों पत्नियां एवं प्रेमिकाओं की कल्पना की गयी। इसके बाद बंगाल के भक्त जयदेव ने गीतगोविंद लिखकर उसमें कृष्ण-गोपी के सम्बन्ध में अश्लील वर्णन किया। इसके पश्चात भागवत के काल्पनिक शृंगाररस की भावना को कविकुल भूषण सूरदास ने हिन्दी काव्य में खूब उभारा। उनका 'भ्रमरगीत' काव्य देखने योग्य है। इसके बाद कवि रत्नाकर एवं रसाल के "उद्धव शतकों" में यह धारा बहती हुई बहुमुखी हो गयी और आज के छोटे-छोटे फिल्मी-गैर-फिल्मी कवि भी राधा-माधव तथा असंख्य गोपियों और कृष्ण के रंगरास गाने लगे।

श्रीकृष्ण के चरित पर प्रकाश डालने वाले वेद, उपनिषद्, महाभारत तथा गीता जब रासलीला का नाम तक नहीं लेते हैं तब किस प्रमाण से पीछे के पंडितों ने हरिवंश, भागवत आदि पुराणों में उसकी चर्चा कर कृष्ण चरित की हत्या की है? वस्तुत: यह मलिन पंडितों के मन की भड़ास है।

आजकल के कुछ विद्वान, ज्ञानी एवं महात्मा कहलाने वाले लोग रास का समर्थन करके कहते हैं कि यह भगवान की गुह्यतमगुह्य लीला है। आप भागवत का रास पंचाध्यायी पढ़कर देख सकते हैं कि वह आजकल के नाइट-क्लब के

डांस से भी अत्यन्त अश्लील एवं भ्रष्ट है। भागवतादि में जैसा रास का वर्णन है वैसा क्या दस वर्ष का बच्चा कर सकता है? क्योंकि श्रीकृष्ण उस समय दस वर्ष के थे। इसे ईश्वर की गुह्यतमगुह्य लीला कहकर अपने भोलापन में हिन्दू समाज को धोखा देना है। श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—''बड़ा व्यक्ति जैसा करता है छोटे लोग वैसे ही करते हैं। वह जैसा आदर्श स्थापित कर देता है, संसार उसी का अनुसरण करता है।''[1] आश्चर्य है कि जो रास को माने और रासलीला करवाये, वह आस्तिक है और जो इसको न माने तथा इससे दूर रहे वह नास्तिक है। ऐसी स्थिति में भारत की पूरी जनता को इस विषय में नास्तिक हो जाना चाहिए। तभी वह अपने महान पुरुष पर लगाये गये इस लांछन को मिटा पायेगी।

6. क्रान्तिकारी श्रीकृष्ण

ऋग्वेद के 8वें मंडल के 85वें[2] सूक्त के 13 से 16 मंत्रों में एक गरिमामय कृष्ण का पता चलता है। यह सूक्त इन्द्र की महिमा में है। ऋषि इन्द्र की महिमा में कहते हैं—अंशुमती (यमुना) नदी के किनारे कृष्ण नाम का एक वीर रहता था उसके साथ दस हजार सेना थी। वह घोर गर्जन करनेवाला, तीव्रगामी, अंशुमती नदी के तट पर गूढ़ स्थानों पर तथा उसके विशाल क्षेत्र में विचरने वाला और सूर्य के समान अवस्थान-प्रस्थान करने वाला था। इन्द्र ने अपनी बुद्धि से उसका पता लगाया और उसकी सेना का विनाश किया तथा उसे परास्त किया।

आर्यों के यज्ञों में पशुवध होता था। इन्द्र आर्यों का नायक तथा यज्ञ और पशुवध का समर्थक था। श्रीकृष्ण भारत में प्रथम अहिंसक गोपालक थे। वे इसलिए यज्ञ के भी विरोधी थे। इसका स्पष्टीकरण पुराणों तथा गीता में आया है जिसे हम आगे इस निबन्ध में देखेंगे। इसी से इन्द्र कुपित होकर कृष्ण और यादवों को सताने की चेष्टा करता था। ऋग्वेद के उक्त स्थल पर श्रीकृष्ण इन्द्र के विरोधी तथा यमुनातट विहारी, अत्यन्त तेजवान, तीव्रगामी और एक महान सेना के नायक हैं। यह सेना यादव परिवार है।

वेद के टीकाकारों द्वारा जो उक्त कृष्ण को असुर कहा जाता है, तो यह स्वाभाविक भी है। जो यज्ञ का विरोधी होगा, वह इन्द्र तथा आर्यों की दृष्टि में असुर होगा ही। वैसे वेदों में असुर बलवान को भी कहते हैं और ऐसे स्थल बहुत हैं। ऋग्वेद (10/93/14) में जहां तीन धनवान राजा पृथु, वेन तथा

---

1. **यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।**
   स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ गीता 3/21॥
2. **जिस संस्करण में खिल भाग है, उसमें यह विषय 96वें सूक्त में पड़ता है।**

दु:शीम के साथ राम का नाम आया है वहां राम के नाम में असुर विशेषण है। असु 'प्राण' को कहते हैं। प्राण का अर्थ बल है। अतएव जो बलवान है, वह असुर है। ऋग्वेद (3/55) के कुल 22 मंत्रों के अन्त-अन्त में इस अंश को दोहराया गया है—''महद्देवानामसुरत्वमेकम्'' अर्थात महान देवताओं का असुरत्व (बल) एक ही है।

प्रसिद्ध आर्यसमाजी विद्वान आचार्य चतुरसेन लिखते हैं—''कृष्ण वैदिक काल में ही गोरक्षक थे। इन्द्र आदि देवगणों की पशु-यज्ञ-प्रथा उन्हें पसन्द न थी। इसी से उन्होंने इन्द्र का विरोध किया था। यदि कृष्ण ने इन्द्र की अधीनता स्वीकार ली होती तो इन्द्र से झगड़ा ही न होता तथा दिवोदास की भांति वह भी ऋग्वेद के एक प्रसिद्ध व्यक्ति हो गये होते।''[1]

सर राधाकृष्णन ने अपने ग्रंथ भारतीय दर्शन में लिखा है—''इंद्र का एक अन्यतम शत्रु ऋग्वेद के काल में कृष्ण था; जो कृष्ण नामक वन्यजातियों का देवतास्वरूप वीरनायक था। छंद इस प्रकार है—'फुर्तीला कृष्ण अंशुमती (यमुना) के किनारे अपनी दस सहस्त्र सेनाओं के साथ रहता था। इंद्र ने अपनी बुद्धि से ऊंचे स्वर से चीत्कार करने वाले इस सरदार का पता लगाया। उसने हमारे लाभ के लिए इस लूट-मार करने वाले शत्रु का विनाश किया।' सायणाचार्य ने इस प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत की है और यह कथा कृष्ण-सम्प्रदाय के सम्बन्ध में अपना कुछ महत्त्व रखती है।''[2]

श्रीकृष्ण एक स्वतन्त्र चिन्तक एवं क्रांतिकारी पुरुष थे। वे मुट्ठीभर आर्य नामधारियों को ही मनुष्य नहीं मानते थे, किन्तु जंगली आदिवासियों को भी मनुष्य मानते थे और उन्हें भी वे उतना ही श्रेय देते थे। इसीलिए वे अपनी दस हजार सेना के साथ आर्यनायक इन्द्र से लोहा लेते थे। और इतना ही नहीं, वे पशुओं पर भी दयालु थे। देवताओं तथा ईश्वर के नाम पर निरीह पशुओं को काटना, इस निर्दयता के वे घोर विरोधी थे। यह प्रेरणा उनको उनके सद्गुरु घोर आंगिरस से मिली थी। श्रीकृष्ण के कुलगुरु गर्गाचार्य थे, शिक्षागुरु सांदीपनि थे[3] तथा अध्यात्मगुरु अर्थात सद्गुरु घोर आंगिरस थे।[4]

छांदोग्य उपनिषद् के तीसरे प्रपाठक के सतरहवें खंड में घोर आंगिरस ने देवकी-पुत्र कृष्ण को यज्ञ के नाम पर आत्मज्ञान का उपदेश दिया है। उन्होंने कहा है कि यह जीवन ही यज्ञ है। घोर आंगिरस ने जीवन को ही यज्ञ बताकर

---

1. **वैदिक संस्कृति : आसुरी प्रभाव, पृष्ठ 197।**
2. **भारतीय दर्शन, भाग 1, पृष्ठ 79, सन् 1969 का छपा।**
3. **हरिवंश पुराण, विष्णुपर्व, अध्याय 33। भागवत 10/45।**
4. **छांदोग्य उपनिषद् 3/17।**

श्रीकृष्ण को बाहरी यज्ञ से मानो विरत कर दिया। उन्होंने कृष्ण से कहा कि जो व्यक्ति तप, दान, सरलता, अहिंसा एवं सत्यवचन में जीवन व्यतीत करता है, मानो उसका जीवन ही दक्षिणा का जीवन है। यह ध्यान देने योग्य है कि घोर आंगिरस ने तप, दान, सरलता तथा सत्य वचन के साथ अहिंसा को भी लिया है जो तात्कालिक हिंसापरक यज्ञ का विरोधी है। उन्होंने कहा कि तप, दान, सरलता, अहिंसा तथा सत्य वचन का जीवन में आचरण करना मानो गुरु को सच्ची दक्षिणा देना है।[1]

जीवनयज्ञ के इस रहस्य को जब घोर आंगिरस ने देवकी-पुत्र कृष्ण को समझाया तब उसकी पिपासा एवं तृष्णा शांत हो गयी।[2] अंततः घोर ऋषि ने कृष्ण से कहा कि अंत समय के लिए, जीवन की पूरी ऊंचाई तक पहुंचने के लिए अथवा अन्त वेला आने पर अपने मन में यह विचार करे, अपने आप को इन तीन गुणों से सम्पन्न समझे अथवा अपने आप को सम्बोधित करके विचार करे कि तू अक्षत (अविनाशी) है, अच्युत (एकरस) है और प्राणसंशित अर्थात प्राण से भी तेजवान एवं सूक्ष्म है।''[3]

उपर्युक्त क्रांतिकारी एवं सच्चा ज्ञान जो अपने गुरु से श्रीकृष्ण को मिला वह उनके दादागुरु ऋषि अंगिरा से ही आया था। अर्थात ऋषि अंगिरा से घोर आंगिरस को तथा घोर आंगिरस से श्रीकृष्ण को मिला। श्रीकृष्ण के दादागुरु अंगिरा का वर्णन तथा उनके उपदेश मुण्डक उपनिषद् में हैं। नैमिषारण्य-निवासी महर्षि सौनक जी थे। उनके गुरुकुल एवं विश्वविद्यालय में (पुराणों के अनुसार) अट्ठासी (88) हजार ऋषि एवं विद्यार्थी निवास करते थे। परन्तु वे स्वयं सत्यज्ञान एवं विद्या को जानने के लिए महर्षि अंगिरा के पास गये और उन्होंने उनसे पूछा कि विद्याएं कितनी हैं? महर्षि अंगिरा ने कहा—विद्याएं दो प्रकार की हैं। एक 'परा' तथा दूसरी 'अपरा'। ऋक्, यजु, साम, अथर्व, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष—ये अपरा विद्या एवं सांसारिक विद्या हैं और जिससे अक्षर, अक्षय एवं अविनाशी का ज्ञान होता है वह आत्मज्ञान ही 'परा' विद्या है।[4]

यह अंगिरा के क्रांतिकारी विचार हैं। वे चारों वेदों और छहों वेदांगों को सांसारिक विद्या बताते हैं। वे आत्मज्ञान एवं ब्रह्मज्ञान को ही परा विद्या एवं उच्चतम विद्या बताते हैं।

---

1. **अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः।**
2. **तद्धैतद् घोर आंगिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचापिपास एव स बभूव।**
3. **सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येताक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसीति।**
4. **मुण्डक उपनिषद् 1/1/3-5।**

वे आगे कहते हैं कि वैदिक कवि लोग रूढ़िवादी कर्मकांड, हवन-यज्ञ को ही श्रेष्ठ बताते हैं और उसका बहुत बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि यज्ञ की तेजोमय आहुतियां ऐसी मीठी-मीठी बातें करती हैं—''प्रियाम् वाचम् अभिवदन्त्य:'' कि इन यज्ञ-कर्मों के पुण्य से ही तुम्हें ब्रह्म-लोक मिल जायेगा।[1]

परन्तु महर्षि अंगिरा इसका खंडन करते हुए कहते हैं कि यह अठारह[2] प्रकार वाली यज्ञरूपी नावका निश्चित ही जीर्णशीर्ण एवं टूटी-फूटी है। क्योंकि इसके कर्म नीच, हिंसा-युत एवं प्रपंचपूर्ण हैं। अतएव जो मूर्ख लोग इसी को श्रेष्ठ मानकर इसकी प्रशंसा करते हैं, वे संसार-सागर से न तरकर बारम्बार जन्म-मरण के चक्कर में घूमते रहते हैं। ऐसे लोग पड़े रहते तो हैं अविद्या में, परन्तु अपने आप को मानते हैं ज्ञानी और पंडित। जैसे अन्धा अन्धे को चलाये वैसे ये मूर्ख लोग एक दूसरे की पूंछ पकड़े हुए भटकते और ठोकरें खाते हैं। वे मूर्ख लोग अविद्या में अनेक प्रकार से डूबे रहते हैं और माने रहते हैं कि हम कृतार्थ हैं। वे यज्ञकर्म करने वाले विषयासक्ति-वश सत्यतत्त्व को नहीं जानते। इसलिए वे दुखों से आतुर होकर बारम्बार नश्वर भोगों से निराश होकर पतित होते हैं।[3]

इन्हीं सब का फल है कि श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं ''हे अर्जुन! जो अज्ञानी हैं, वेदों के शब्दों में आसक्त हैं, जो यह कहते हैं कि इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जो विषय-अभिलाषी हैं और स्वर्ग को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, वे इस प्रकार के सेमल-फूल जैसी दिखाऊ वाणियों को कहते हैं जिनका निदान कर्मों के फल में पुनर्जन्म की प्राप्ति होती है और जो भोग तथा मायावी

---

1. **मुण्डक उपनिषद् 1/2/1-6।**
2. **यज्ञ की टूटी नावका के साथ अठारह की संख्या आयी है। यज्ञ करने में मुख्य चार पुरोहित होते हैं–ब्रह्मा, उद्‌गाता, होता और अध्वर्यु। इनके तीन-तीन सहायक होते हैं। इस प्रकार सब सोलह पुरोहित हो जाते हैं और यजमान एवं उसकी पत्नी–ये दो। इस प्रकार यज्ञ के ये अठारह अंग हैं। दर्श-पूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुबन्ध, अग्निष्टोम, सोम, वाजपेय, राजसूय, सौत्रामणी, अश्वमेध, गोमेध, नरमेध आदि मुख्य अठारह यज्ञ भी अर्थ हो सकता है कि जो मुख्य अठारह यज्ञ हैं, टूटी नावका के समान हैं।**
3. **प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।**
   एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढ़ा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति॥
   अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयंधीराः पण्डितं मन्यमानाः।
   जंघन्यमानाः परियन्ति मूढ़ा अन्धेनैव नीयमाना यथांधाः।
   अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्तिबालाः॥
   यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते॥ मुण्डक 1/2/7-9॥

शक्तियों की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार की विशेष कर्मविधियां बताती हैं। उपर्युक्त वेदवाणी द्वारा जिनकी बुद्धि मारी गयी है और जो भोग तथा मायावी वस्तुओं में आसक्त हैं, उनकी निश्चयात्मक बुद्धि एकाग्रता में स्थिर नहीं होती। वेदों का सम्बन्ध तीनों गुणों की क्रियाओं से है। अतएव हे अर्जुन! तू त्रिगुणात्मक प्रकृति से मुक्त हो जा और दुनियादारी झगड़ों से स्वतन्त्र होकर नित्य सत्य में स्थित, भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति और रक्षा की इच्छा से निवृत्त एवं स्वरूपनिमग्न हो जा। जब सब ओर जल ही जल भरा हो, तब छोटी तलैया से जितना प्रयोजन रहता है, उतना ही प्रयोजन ज्ञानी को सभी वेदों से रहता है। अर्थात जब सर्वत्र स्वच्छ जल उपलब्ध है तब छोटी तलैया के पास क्यों जाये! इसी प्रकार जब आत्मज्ञान में निमग्न हो गया तब वैदिक कर्मकांड से क्या प्रयोजन।[1] वस्तुत: भौतिक वस्तुओं द्वारा किये हुए यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, क्योंकि इसमें सारे कर्मों का अन्त है। अतएव किसी ज्ञानी पुरुष की शरण लेकर, उसकी सेवा करके और उससे प्रश्न करके समझो। तत्त्वदर्शी पुरुष उस ज्ञान का उपदेश करेंगे।''[2]

श्रीमद्‌भागवत श्रीकृष्ण में पूर्ण ईश्वरत्व प्रतिष्ठित करता है। अत्यन्त भावुकतापूर्वक इस पुराण की रचना हुई है। परन्तु इस पुराण का लेखक भी श्रीकृष्ण के क्रांतिकारी स्वरूप को चित्रित करने के लिए विवश हुआ है। एक कथा लें—

नन्द बाबा गोकुल में किसी उत्सव की तैयारी में लगे हैं। बहुत वस्तुएं इकट्ठी की जा रही हैं। लोगों में बड़ी गहमागहमी है। श्रीकृष्ण पूछ पड़ते हैं—''पिताजी! यह सब क्या हो रहा है? संसार के लोग समझे-बे-समझे बहुत प्रकार के अनुष्ठान एवं कर्म करते रहते हैं। पिताजी! आप लोग किस पूजा-पाठ की तैयारी कर रहे हैं?''

नन्द बाबा ने कहा—''बेटा! इन्द्र हमारे परम देवता हैं। वे जल की वर्षा करते हैं जिससे वन में घास होती है और उसे हमारी गायें चरकर पलती हैं और वर्षा से ही हमारी खेती होती है। हम इन्द्र की कृपा से ही सुखी रहते हैं। अत: हम हर वर्ष इन्द्र की पूजा करते हैं, यज्ञ करते हैं। यह हमारी कुल परम्परा का धर्म है।''

श्रीकृष्ण ने कहा—''पिताजी! जीव अपने कर्मों के अनुसार ही जन्म तथा मृत्यु पाता है। वह अपने कर्मानुसार ही जीवन में सुख-दुख पाता है, भय और मंगलमयता पाता है। यदि यह माना जाये कि जीवों के कर्मों के फलों का देने

---

1. **गीता 2/42-46।**
2. **गीता 4/33-34।**

वाला ईश्वर है, तो भी यह मानना ही पड़ेगा कि जो जीव के कर्म हैं उन्हीं के अनुसार ईश्वर उसे फल देगा। कर्म न करने वालों पर ईश्वर की कोई प्रभुताई नहीं चल सकती। ईश्वर नाम लो या इन्द्र, जीव द्वारा किये गये कर्मों के फलों को वह बदल नहीं सकता। फिर उससे क्या प्रयोजन रहा? पिताजी! 'कर्मैव गुरुरीश्वर:' कर्म ही जीव का गुरु है, कर्म ही ईश्वर है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह अपने कर्मों को सुधारे। किसी देव के पूजा-पाठ में अपना समय न नष्ट करे।

''व्यवहारत: देखा जाये तो मनुष्य की जीविका जिससे चलती है वही उसका देवता है। जैसे कोई स्त्री अपने पति को छोड़कर अन्य पुरुष से राग करे, तो यह उसकी भ्रष्टता है, वैसे मनुष्य अपनी आजीविका के धन्धे को छोड़कर किसी देवी-देवता के पूजने के चक्कर में पड़े तो यह उसका भटक जाना है और इससे उसे उचित फल नहीं मिल सकता। हम लोग सदा से गोपालक हैं। हमारा धन्धा ही गोपालन तथा खेती-बारी है। न हमारे पास राज है, न नगर और न कोई गांव या घर ही। हम तो वनवासी हैं। पहाड़ ही हमारा घर है। अत: हम पूजा ही करें तो पहाड़ की करें, वन की करें, जिनसे हमारी जीविका चलती है। इन्द्र की पूजा में जो सामग्री इकट्ठी की गयी है उनसे अच्छे-अच्छे पकवान बनाये जायें, और उन्हें मनुष्यों, पशुओं, कुत्तों आदि प्राणियों को खिलाया जाये, गायों को चारा दिया जाये और स्वयं हम सब खूब खा-पीकर तथा सज-धज कर गोवर्धन पर्वत की पूजा करें, उत्सव मनायें, जहां हमारी गायें चरती हैं।

''इंद्र या ईश्वर पानी बरसाता है, यह मानना तो एकदम भोलापन है। वस्तुत: संसार में उत्पत्ति, स्थिति और अन्त क्रमश: रज, सत तथा तम गुणों से होते हैं। स्त्री-पुरुषों के संयोग से रजोगुण द्वारा मनुष्यों की उत्पत्ति होती है। प्रकृति के रजोगुण द्वारा ही मेघ जल बरसाते हैं। उसी से अन्न होता है तथा अन्न से प्राणियों का जीवन चलता है। इसमें इन्द्र का क्या लेना-देना। इन्द्र बेचारा क्या कर सकता है।''[1] श्रीकृष्ण और कहते हैं—''जिनका सदाचार क्षीण है, जो अपने इष्ट देव को सभी प्राणियों के हृदयों में न देखकर केवल जड़ मूर्तियों में देखते हैं, उन्हें संतसेवा का सौभाग्य कहां मिल सकता है। नदियां तीर्थ नहीं हैं, मिट्टी-पत्थर की मूर्तियां देवता नहीं हैं। वस्तुत: संतजन ही तीर्थ और देवता हैं। अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, तारे, पृथ्वी, जल, आकाश, वायु आदि के पूजने से न पाप नष्ट होता है और न अज्ञान का नाश होता है। पाप-ताप एवं अज्ञान का नाश तो निर्मल संतों के चरणों में ही है। जो व्यक्ति शव-तुल्य शरीर को अपना आपा समझता है, स्त्री-पुत्रादि की ममता करता है,

---

1. **श्रीमद्भागवत, स्कंध 10, अध्याय 24।**

मिट्टी-पत्थर-काष्ठादि की जड़ मूर्तियों को देवता मानता है और जलमय नदियों को तीर्थ समझता है, वह मनुष्य रूप में दिखाई देने पर भी गधा ही है।[1] जो निष्पक्ष, मननशील, शांत, निर्वैर और समदर्शी सन्त हैं, मैं उनके पीछे-पीछे इसलिए घूमा करता हूं कि उनके चरणों की रज मेरे अंगों में पड़ जाये और मैं पवित्र हो जाऊं।[2] वैदिक कर्मकांडों की बड़ाई न करे, पाखंड न करे, तर्क-वितर्क न करे और जहां नीरस बकवाद होती हो उसमें न पड़ें।''[3]

इस प्रकार महाराज श्रीकृष्ण का स्वरूप महान क्रांतिकारी है!

7. कंस-निपात

श्रीकृष्ण जी अपने मामा राजा कंस के कारावास में वसुदेव-देवकी पिता-माता से जन्में थे, और गोकुल में नन्दबाबा के यहां पले थे। पाठक सोच सकता है कि जिसका जन्म ही कारावास में हुआ हो और जो अपने माता-पिता से अलग पाला-पोषा गया हो, उसके संस्कार किस प्रकार निर्मित होंगे। वह अपने माता-पिता को कारावास में डालने वाले के विषय में क्या भाव रखेगा।

उधर श्रीकृष्ण के तेज की चर्चा सुनकर मथुरानरेश कंस घबड़ा रहा था। इधर श्रीकृष्ण का संघ बलवान होता जा रहा था। उनके तेजोमय व्यक्तित्व से सब उनके प्रेमी बन गये थे।

मथुरानरेश कंस ने अपने यहां एक उत्सव रचकर उसमें श्रीकृष्ण तथा उनके परिवार वालों को निमन्त्रित किया। कंस की इसमें कपट-नीति थी। वह इसी उत्सव में धोखा देकर कृष्ण की हत्या कराना चाहता था। श्रीकृष्ण को बुलाने के लिए अक्रूर भेजे गये। श्रीकृष्ण, बलराम तथा नन्दबाबा सहित बहुत-से गोप मथुरा गये। इसी उत्सव में श्रीकृष्ण ने अपने मामा को समाप्त कर दिया। इसके बाद नाना उग्रसेन को कारावास से निकालकर उन्हें मथुरा की गद्दी पर बैठा दिया। कंस के समाप्त होने से यादव-कुल ने शांति की सांस ली। परन्तु इसके बाद वैर-विरोध का दूसरा क्रम आरम्भ हो गया।

8. जरासंध का मथुरा पर आक्रमण

मगधनरेश जरासंध की दो पुत्रियां अस्ति और प्राप्ति थीं। वे दोनों मथुरानरेश कंस से व्याही थीं। जब श्रीकृष्ण द्वारा कंस मारा गया तब अस्ति और प्राप्ति विधवा हो गयीं और दुखी होकर अपने नैहर चली गयीं। मगधनरेश को अपनी पुत्रियों का विधवापन देखकर बड़ा शोक हुआ और फिर वह श्रीकृष्ण पर क्रोध से तिलमिला उठा।

---

1. **श्रीमद्भागवत, स्कंध 10, अध्याय 84, श्लोक 10-13।**
2. **निरपेक्षं मुनिं शांतं निर्वैरं समदर्शनम्।**
   अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यंघ्रिरेणुभिः॥ भागवत 11/14/16॥
3. **भागवत 11/18/30।**

जरासंध बहुत बलवान राजा था। उसके पास बहुत बड़ी सेना थी। उसने अपनी सेना लेकर मथुरा पर हमला कर दिया और मथुरा-नगर को चारों ओर से घेर लिया। श्रीकृष्ण और बलराम ने अपनी सेना लेकर जरासंध का सामना किया। बड़ा युद्ध हुआ, किन्तु युद्ध निर्णायक नहीं हुआ। जरासंध लौट गया। परन्तु उसने कुछ दिनों का अंतराल कर-करके मथुरा पर सत्तरह बार चढ़ाईयां कीं। इससे यादवों के धन-जन का काफी नुकसान हुआ। अंतत: यादव बहुत निराश हो गये। मथुरा में यादवों की सभा हुई। उसमें श्रीकृष्ण ने स्वयं स्वीकारा कि हम सौ वर्षों में भी जरासंध को परास्त नहीं कर सकते हैं। अतएव हमारा विचार उनसे हट जाने का है।[1]

मथुरा में यादवों का रहना जरासंध रूपी काल के मुख में रहना समझकर श्रीकृष्ण ने सुदूर पश्चिमी भारत में समुद्र से घिरे भू-भाग पर द्वारका नगर बसाया और यादव-परिवार को धीरे-धीरे वहां भेज दिया।

जरासंध ने कालयवन नामक वीर राजा तथा उसकी सेना के साथ मथुरा पर अठारहवीं बार चढ़ाई की। बलराम सहित श्रीकृष्ण कालयवन तथा जरासंध के भय से मथुरा से भाग निकले।[2] जरासंध ने पीछा किया। जब बलराम तथा कृष्ण थक गये, तब एक पर्वत पर चढ़कर छिप गये। जरासंध ने उस पर्वत में चारों ओर से आग लगवा दी। परन्तु कृष्ण और बलराम किसी प्रकार वहां से भागकर द्वारका चले गये। रण छोड़कर भागने के कारण श्रीकृष्ण का एक नाम रणछोड़ भी पड़ा।

9. श्रीकृष्ण के विवाह

श्रीकृष्ण बलराम तथा यादव-वंश सहित द्वारका में निश्चिंत होकर रहने लगे। विदर्भ देश (आज का नागपुर क्षेत्र) के राजा भीष्मक थे। उनके पांच पुत्र तथा रुक्मिणी नाम की एक पुत्री थी। रुक्मिणी अपना विवाह श्रीकृष्ण से चाहती थी और उसके बन्धु-बांधव भी यही चाहते थे, परन्तु केवल बड़ा भाई रुक्मी, श्रीकृष्ण से द्वेष होने के कारण उन्हें अपनी बहिन नहीं देना चाहता था। रुक्मी चेदि देश (आज का जबलपुर क्षेत्र) के राजा शिशुपाल के साथ रुक्मिणी का विवाह करना चाहता था। शिशुपाल श्रीकृष्ण की बुआ के पुत्र थे। शिशुपाल भी श्रीकृष्ण का घोर विरोधी था। अंतत: रुक्मी के दबाव में आकर उनके पिता भीष्मक ने शिशुपाल से रुक्मिणी का विवाह तय कर लिया। शिशुपाल बरात सजाकर विदर्भ पहुंच भी गये, परन्तु रुक्मिणी ने एक ब्राह्मण को दूत के रूप में द्वारका भेजकर श्रीकृष्ण को बुला लिया, और श्रीकृष्ण

---

1. **हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय 56, श्लोक 11।**
2. **हरिवंश, विष्णुपर्व, 56/35।**

रुक्मिणी को देवदर्शन-स्थान से अपने रथ में बैठाकर द्वारका चले गये। इसमें रुक्मी आदि ने प्रतिरोध किया, परंतु श्रीकृष्ण से सब परास्त होकर लौट आये। इस प्रकार श्रीकृष्ण का रुक्मिणी से पहला विवाह हुआ। इससे शिशुपाल का श्रीकृष्ण से द्वेष बढ़ गया। क्योंकि यहां शिशुपाल का बड़ा अपमान हुआ। वह बेचारा बरात सहित दूल्हा बनकर रुक्मिणी को व्याहने गया था, किन्तु अपमानित होकर उसे लौटना पड़ा।

रुक्मिणी के बाद श्रीकृष्ण की सत्यभामा[1] आदि कुछ अन्य पत्नियां भी बतायी जाती हैं, परन्तु वे सब-की-सब विश्वसनीय नहीं हैं। राधा तो एकदम काल्पनिक हैं। उनका नाम महाभारत तथा हरिवंश में ही नहीं, भागवत तक में भी नहीं है। यदि श्रीकृष्ण की एक से अधिक पत्नियां थीं तो यह देश, काल एवं परिस्थिति के कारण थीं। उनके साथ हजारों पत्नियां जोड़ना तो लेखकों के अविवेक का फल है। श्रीकृष्ण का पूरा जीवन राजनीतिक एवं धार्मिक आंदोलन तथा आध्यात्मिक ज्ञान से परिपूर्ण था। अतः वे विलासी नहीं हो सकते। ''उनका हिमालय में बारह वर्ष तक तप करना भी बताया जाता है।''[2]

10. युगपुरुष राजनेता

श्रीकृष्ण युगपुरुष राजनेता थे और महान योद्धा थे। उस समय भारतवर्ष में अनेक क्रूर राजाओं का साम्राज्य था। श्रीकृष्ण महाराज ने उन सब को परास्त कर राज्य-व्यवस्था सुधारने का प्रयत्न किया। पहले पहल उन्होंने अपने मामा कंस को मारकर पुनः अपने नाना उग्रसेन को गद्दी पर बैठाया। मगध की राजधानी गिरिव्रज में जरासंध को मरवाकर उसके पुत्र जरासंधि सहदेव को गद्दी पर बैठाया। अपने फुफेरे भाई चेदिनरेश शिशुपाल को मारकर उसके पुत्र धृष्टिकेतु को माहिष्मती की गद्दी पर बैठाया। नग्नजित के पुत्रों को हराकर गांधार देश को स्वतन्त्र किया। सौभनगर में शाल्वराज को वशीभूत किया। बलवान पांड्यराज को पछाड़ा। प्राग्ज्योतिष-दुर्ग में भौमनरक नामक राजा का क्रूर शासन था। उसने एक हजार कन्याओं को अपने बंदीगृह में डाल रखा था। उसकी राजधानी निर्मोचन में ही उसकी सेना सहित उसको मारकर कन्याओं को मुक्त करवाया, तथा कामरूप प्रदेश को मुक्त किया। कलिंगराज, काशिराज और वाणासुर—सब श्रीकृष्ण के सामने परास्त हुए।

जैसा कि पहले वर्णन कर आये हैं कि यादवों में अनेक वंश थे। परन्तु उनमें मुख्य दो वंशों का वर्चस्व था—वृष्णि और अंधक। कृष्ण वृष्णि-वंश के थे तथा अक्रूर अंधक-वंश के। अंधक और वृष्णि-वंशियों का एक सम्मिलित

---

1. **हरिवंश, विष्णुपर्व, 60/40-44।**
2. **हरिवंश, भविष्यपर्व, अध्याय 84।**

गणराज्य था। कहा जाता है कि ऐसे सिक्के भी मिले हैं जिन पर ''वृष्णि राजन्यगणस्यतात्रारस्य'' खुदा है, जिससे वृष्णि राज्य का प्रमाण मिलता है। महर्षि पाणिनि के अष्टाध्यायी (4/1/114) तथा बौद्ध साहित्य में भी अंधक और वृष्णि-वंशियों का उल्लेख मिलता है।

अंधक और वृष्णि के सम्मिलित संघ में वृष्णियों की ओर से कृष्ण तथा अंधकों की ओर से वभ्रु उग्रसेन संघप्रधान चुने गये थे। वृष्णियों की ओर से आहुक तथा अंधकों की ओर से अक्रूर सदस्यों का नेतृत्व करते थे। समय-समय पर इन दोनों पक्षों में बड़े उत्तेजक भाषण होते थे।

11. महाभारत युद्ध

कौरव-पांडव एक परिवार के सदस्य थे। परन्तु उनमें आपस में कलह था। कलह इतना उग्र रूप ले लिया कि परस्पर युद्ध की दशा आ गयी। श्रीकृष्ण ने इसे रोकने का प्रयास किया परन्तु सफलता नहीं मिली। लोग यह भी मानते हैं कि यदि श्रीकृष्ण एकदम युद्ध न चाहते तो वह रुक सकता था। परन्तु यह तो अपना-अपना विचार है। वस्तुत: कौरव-पांडवों में इतना विनश चुका था कि युद्ध रुकना कठिन था। सब जानते हैं कि अंतत: युद्ध हुआ, और उसका परिणाम बुरा होना ही था। अधिकतम लोग कटकर मर गये। जो बचे, वे अंतर्दाह से जलते रहे।

12. यादव-कलह

इधर द्वारका में यादव-वंश अत्यन्त बढ़ गया था। उस समय भारतवर्ष में उन्हीं का वर्चस्व था। श्रीकृष्ण के तेज से यादव-वंश चमक रहा था। जिनकी कृपा एवं पौरुष से सफलता मिलती है उन महापुरुषों को तो अहंकार नहीं होता है, परन्तु प्राय: अनुगामियों को अहंकार हो जाता है। श्रीकृष्ण के तेज से यादवों का भारत तथा भारतेतर देशों में वर्चस्व हुआ परन्तु उन्हें कोई अहंकार नहीं था, किन्तु यादवों को घोर अहंकार हो गया था। इस घोर अहंकार के कारण वे आपस में ही एक-दूसरे के प्रति काफी कटु हो गये थे।

13. देवर्षि नारद की श्रीकृष्ण को सम्मति

श्रीकृष्ण की अवस्था कोई 119 वर्ष की रही होगी। वे बूढ़े हो गये थे, और अपने यादव-परिवार के कलह से तंग आ गये थे। अत: वे नारद के पास गये और उन्होंने अपनी बात कहीं—''जो सुहृद (स्नेहयुत हृदयवाला) न हो, सुहृद होने पर भी पंडित (समझदार) न हो और समझदार होने पर भी जिसने मन को अपने वश में न किया हो, वह गुप्त बातें सुनने योग्य नहीं होता। आप सुहृद, पंडित और स्ववश मन वाले हैं, इसलिए मैं आपसे अपना दुखड़ा सुना रहा हूं।

"मैं अपने परिवार में अपनी प्रभुता नहीं जमाना चाहता और न परिवार वालों को अपना दास ही बनाना चाहता हूं। मुझे जो भोग की सामग्री मिलती है, उसका आधा ही अपने प्रयोग में लेता हूं, शेष परिवार वालों के लिए छोड़ देता हूं और उनकी कही हुई कटु बातों को भी क्षमा कर देता हूं। जैसे कोई आग पैदा करने के लिए दो लकड़ियों को मथता है, वैसे मेरे कुटुम्बी जनों के कटुवचन मेरे हृदय को सदैव मथते एवं जलाते रहते हैं। बड़े भाई बलराम अपने बल के घमण्ड में चूर रहते हैं, छोटे भाई गद इतने सुकुमार बनते हैं कि कुछ करना नहीं चाहते और पुत्र प्रद्युम्न तो अपने रूप-सौंदर्य के नशा में ही मतवाला बना रहता है। इस प्रकार मेरे इतने सहायक होने पर भी मैं असहाय बना रहता हूं।

"अंधक और वृष्णि वंश में बड़े-बड़े वीर हैं। अंधक की ओर से अक्रूर तथा वृष्णि की ओर से आहुक अपने-अपने सदस्यों का नेतृत्व करते हैं, परन्तु अक्रूर और आहुक ने आपस में इतना वैमनस्य बढ़ा लिया है कि इससे मेरा रास्ता ही रुक गया है। मैं इनमें से किसी एक का पक्ष नहीं ले सकता। मेरी दशा तो उन दो जुआरियों की मां की तरह है, जो एक की तो जीत चाहती है और दूसरे की हार नहीं चाहती। इस प्रकार मैं दोनों पक्षों का हित चाहता हूं और दोनों ओर से कष्ट पाता रहता हूं। कृपया आप मेरी तथा मेरे परिवार की भलाई के लिए कोई रास्ता बताने का कष्ट करें।"[1]

नारद जी ने कहा—"हे वार्ष्णेय श्रीकृष्ण! विपत्तियां दो प्रकार की होती हैं, एक आन्तर, दूसरी बाह्य, अर्थात एक सीधे अपनी करतूति से आती है और दूसरी का निमित्त कोई बाहरी कारण बन जाता है। आपके ऊपर आयी विपत्ति आप तथा आपके परिवार की करतूति का फल है। आपके सामने ऐसी समस्याएं आयीं कि आपको जीवनभर विभिन्न राजाओं से लड़ाइयां लड़नी पड़ीं। आपने अपने परिवार वालों को भी जीवनभर लड़ाइयां सिखायीं। वे भी जीवनभर कहीं-न-कहीं लड़ते रहे। अब बाहर की लड़ाइयां समाप्त हो गयी हैं और परिवार वालों में लड़ने की आदत है, तो अब वे आपस में लड़ते हैं। जिस परिवार के लोग दूसरों से लड़ते हैं, वे चार दिन के बाद आपस में लड़ते हैं। कंस को मारने के बाद यादवों का राज्य आपके हाथ में आ गया था, परन्तु आपने किसी प्रयोजन से, स्वइच्छा से या कटुवचन के डर से उसे अंधक श्रेष्ठ उग्रसेन तथा अक्रूर के हाथ में दे दिया। अब उनका राज्य बलवान हो चुका है। उग्रसेन के उनके वंश वाले सहायक हैं। आप इतना बलवान होकर भी राज्य लौटा नहीं सकते। वृष्णिवंशियों को अंधक वंश का वर्चस्व सहन नहीं हो रहा है इसलिए दोनों आपस में लड़ते हैं।

---

1. **महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय 81, श्लोक 3-12।**

''हे कृष्ण! अब आप ऐसे कोमल अस्त्र से, जो लोहे का न बना होने पर भी हृदय को छेद डालता है, परिमार्जन-अनुमार्जन करके उन सभी की जीभ उखाड़ लें।[1] यह मीठा वचन ही बिना लोहे का बना शस्त्र है। भोजन देना, सत्कार करना, सहनशीलता, सरलता एवं कोमलता का बरताव करना—यह सब बिना लोहे के बने शस्त्र हैं। जब आपके बन्धु-बांधव एवं अनुयायी आपको ओछी एवं कड़वी बातें सुनाना चाहें, तब आप अपने मधुर वचनों से उनके मन और वाणी को शांत कर दें।

''जो विशेष सद्गुणों से सम्पन्न नहीं है, जो स्ववश मन वाला नहीं है तथा जिसके सहायक लोग नहीं हैं, वह कोई भारी काम नहीं कर सकता। समतल भूमि पर सभी बैल भरी गाड़ी खींच लेते हैं, ऊबड़-खाबड़ भूमि पर तो बलवान बैल ही खींच सकते हैं। आप बलवान हैं। आप यादववंश के मुखिया हैं। यदि इसमें फूट पड़ गयी तो पूरे संघ का विनाश हो जायेगा। आप ऐसा करें कि आपके रहते हुए इसका विनाश न हो।[2]

''जिसमें अच्छी समझदारी नहीं, जो क्षमाशील नहीं है, जिसने अपने मन-इन्द्रियों को अपने वश में नहीं किया है और जो धन-ऐश्वर्य एवं प्रतिष्ठा का त्याग नहीं कर सकता है, गण, संघ, परिवार एवं समाज उसकी आज्ञा के अधीन नहीं रह सकते हैं। वृष्णि, अंधक भोज, कुकुर आदि पूरा यादव-वंश आपसे प्रेम करता है। संसार के अन्य प्रतिष्ठित लोग भी आपका आदर करते हैं। आपके संरक्षण में ही यदुवंश फल-फूल सकता है।''

14. यादवों का विनाश

यादवों में घोर उन्माद बढ़ गया था। वे आपस में काफी कटु हो गये थे। मदिरा बनाने तथा पीने का बहुत प्रचलन हो गया था। इस प्रकार यादवों में परस्पर शत्रुता एवं मदिरापान का वातावरण देखकर श्रीकृष्ण ने राजा के द्वारा आज्ञा निकलवायी कि आज से मदिरा बनाना तथा पीना एकदम मना है। जो इस अपराध में पकड़ा जायेगा उसे प्राणदण्ड दिया जायेगा।

परन्तु न तो मदिरा बनाना रुका और न पीना। एक दिन यादव लोग मदिरा पीकर इतना उन्मत्त हो गये थे कि एक दूसरे की निन्दा करने लगे। वे एक दूसरे की पुरानी खोटी-खोटी बातें याद कर और उन्हें उनको सुनाकर परस्पर उपहास करने लगे।

---

1. **अनायसेन शस्त्रेण मृदुना हृदयच्छिदा।**
जिह्वामुद्धर सर्वेषां परिमृज्यानुमृज्य च॥ शांतिपर्व, 81/19॥
2. **भेदाद् विनाशः संघानां संघमुख्योऽसि केशव।**
यथा त्वां प्राप्य नोत्सीदेत् अयं संघस्तथा कुरु॥ शांतिपर्व, 81/25॥

अन्ततः सात्यिक ने तलवार से कृतवर्मा का सिर काट लिया। इसके बाद उनमें परस्पर मारकाट शुरू हो गयी और यादव-वंश आपस में कटकर मर गया।[1]

उधर द्वारका को निरन्तर समुद्र काट रहा था। श्रीकृष्ण ने एक दूत हस्तिनापुर भेजकर अर्जुन को सन्देश दिया कि यहां से बचे हुए स्त्री-बच्चों एवं बूढ़ों को हस्तिनापुर ले जाओ। स्वयं श्रीकृष्ण ने अर्जुन के आने तक रुकने का विचार नहीं किया। वे सबको छोड़कर जंगल में चले गये और समाधिमग्न होकर एक पेड़ के नीचे लेट गये। एक वधिक ने दूर से हिरन समझकर बाण चला दिया। वह बाण श्रीकृष्ण को लगा और उनका उससे प्राणांत हुआ।

अर्जुन हस्तिनापुर से द्वारका आये। वे पहले वसुदेव से मिले। वसुदेव बहुत बूढ़े थे। उन्होंने अर्जुन से कहा कि जिनकी तुम बहुत प्रशंसा किया करते थे वे सात्यिक और प्रद्युम्न ही यादवों के विनाश के कारण बने। इसके बाद उपवास करके वसुदेव ने भी शरीर छोड़ दिया।

अर्जुन ने मृतकों का अन्त्येष्टि-संस्कार कराया। उन्होंने बलराम तथा श्रीकृष्ण के शव की भी खोज कराकर उनका भी अंत्येष्टि-संस्कार कराया। फिर बूढ़ों, स्त्रियों और बच्चों तथा धन-रत्न को गाड़ी-छकड़ों, घोड़ों-हाथियों पर लेकर अर्जुन ने हस्तिनापुर की यात्रा की। रास्ते में जंगली लोगों ने धन तथा स्त्रियों को लूट लिया। जो लोग बच गये, उन्हें अर्जुन ने हस्तिनापुर के आस-पास बसा दिया।

15. उपसंहार

संसार का स्वभाव है परिवर्तन। इसे कोई हस्ती रोक नहीं सकती। इसलिए यहां किसी वस्तु के स्थायित्व का भ्रम नहीं करना चाहिए। यहां कुछ भी नित्य रहने वाला नहीं है। किसी महापुरुष का शरीर भी नहीं रह जाता और न उनके इर्द-गिर्द इकट्ठे ऐश्वर्य एवं जनसमूह ही रह जाते हैं। परन्तु उनका यशःशरीर, उनकी सुकीर्ति, उनके उत्तम आदर्श विश्व को युगों-युगों तक सत्प्रेरणा देते रहते हैं। यही उनके जीवन की महान सार्थकता है।

महाराज श्रीकृष्ण इस धरती के महान रत्न हैं। उनके जीवन का एक बहुत बड़ा हिस्सा युद्धमय होते हुए भी उनके पूरे जीवन में आनन्द की वंशी बजती रही। यही उनके वंशीधर होने की सार्थकता है। वे जीवन में दुखों एवं प्रतिकूलताओं को लेकर प्रायः क्षोभित नहीं होते हैं। यहां तक कि पूरे यादव-वंश के विध्वंस हो जाने पर वे वन में जाकर ध्यान एवं समाधि में लीन हो

---

1. **महाभारत, मौसलपर्व, अध्याय 1-3।**

जाते हैं। सचमुच वे अपने सद्गुरु घोर आंगिरस के अन्तिम उपदेश को याद रखते हैं। ''अन्तवेलायाम् एतत् त्रयम् प्रतिपद्येत्'' अन्त वेला के लिए यही तीन उपदेश थे सद्गुरु के कि तू ''अक्षितम् असि, अच्युतम् असि, प्राण-संशितम् असि''[1] अर्थात तू अविनाशी है, एकरस है और प्राण से भी तेज एवं सूक्ष्म है।

अन्त में किसी का अपना माना हुआ कुछ भी नहीं रह जाता है। बस, ''धातुः प्रसादान्महिमानात्मनः''[2] अर्थात आत्मा की निर्मलता द्वारा अपनी आत्मा में महिमावान होना ही जीवन की सार्थकता है। इसीलिए महाराज श्रीकृष्ण का गीता में प्रवचन है—

''सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर अपने आप में सन्तुष्ट, दुखों में उद्वेग-रहित, सुख की इच्छा से परे, राग, भय, क्रोध से रहित और शांत, सर्वत्र मोह को जीते हुए, अनुकूल-प्रतिकूल की निंदा-प्रशंसा से रहित, अपने इंद्रियों को वश में किये, सब कामनाओं से अतीत, ममता-रहित, अहंकार-रहित व्यक्ति स्थितिवान है। वही शांति-प्राप्ति का अधिकारी है।[3]

---

1. **छांदोग्य उपनिषद्, 3/17/6।**
2. **कठउपनिषद्, 1/2/20।**
3. **गीता, 2/54-71।**

6

महात्मा जरथुश्त्र

'जरथुश्त्र' प्राक् इतिहासकाल में एक उच्च कोटि के महात्मा हो गये हैं जिससे प्राचीनतम पारसी-मत उजागर हुआ। विश्व के लिए उस महान पुरुष की अद्‌भुत देन है।

1. जन्म और जीवन

आज से कई हजार वर्ष पूर्व 'ईरान' देश अनेक दुराचारों के अन्धकार से ढका था। इसी देश में राजघराने से सम्बद्ध एक मां से 'स्पितमा' (Spitama) नाम का बच्चा पैदा हुआ।

वे बचपन से ही इतने मेधासम्पन्न और तीव्रबुद्धि थे कि उनके प्रश्नों के सामने उनके पिता भी नतमस्तक हो जाते थे।

उनका पन्द्रह वर्ष की आयु में विवाह कर दिया गया; परन्तु कुछ ही दिनों के बाद उन्हें ऐश्वर्य भरे गृहस्थी से वैराग्य हो गया और वे अपनी नवयुवती पत्नी तथा ऐश्वर्य छोड़कर विरक्त हो गये।

'स्पितमा' पन्द्रह वर्षों तक साधना में लगे रहे, और तब उन्हें ज्ञान एवं शांति की प्राप्ति हुई। इस प्रकार जब उनको तीस वर्ष की उम्र में सिद्धावस्था प्राप्त हुई, तब उनका नाम 'स्पितमा' से 'जरथुश्त्र' पड़ा। 'जरथुश्त्र' का अर्थ होता है चमकनेवाला।

2. प्रचार कार्य

जरथुश्त्र पुन: घर पर लौट आये और अपने विचारों के प्रचार करने का प्रयत्न करने लगे; परन्तु उन्हें तत्काल सफलता नहीं मिली। बहुत समय तक अनुयायी के रूप में उनके एक भतीजे को छोड़कर कोई न था। इसके अतिरिक्त ईरान के बाहर कौन कहे ईरान में ही उनके विचारों को कोई मानने वाला न था। शासक और पुरोहित वर्ग उनसे नाराज था। परन्तु जरथुश्त्र हताश नहीं हुए।

कुछ समय के बाद पड़ोसी बेक्ट्रिया राज्य के शासक 'विष्टास्प' ने जरथुश्त्र के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया। फिर उस शासक के दो मन्त्री 'जामास्प'

और 'फ्रशाओष्ट' भी जरथुश्त्र के अनुयायी बन गये। इस प्रकार जरथुश्त्र का सिद्धान्त पूर्वी ईरान का राजधर्म बन गया।

फिर पीछे तो उनके विचारों का बड़े जोर-शोर से प्रचार हुआ। इस प्रचार से कुछ निरंकुश शासक बौखलाये; परन्तु कुछ कर न सके, और जरथुश्त्र के जीवनकाल में ही उनका मत ईरान में सर्वव्याप्त हो गया।

3. जरथुश्त्र का समय

पश्चिमी विद्वानों के विचारों से जरथुश्त्र का समय ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व है। परन्तु अनेक प्राचीन ग्रीक लेखकों ने जरथुश्त्र को ईसा से कई हजार (करीब छः हजार) वर्ष पूर्व माना है। यह निश्चित है कि संसार में जरथुश्त्र और उनके धर्मग्रंथों के नाम बहुत प्राचीन हैं। यह कहा जा सकता है कि जरथुश्त्र उतने ही प्राचीन हैं जितना कि ऋग्वेद के ऋषिगण। कहा जाता है जरथुश्त्र और वेदव्यास से शास्त्रार्थ हुआ था। वेदव्यास स्वयं ईरान गये थे।

दुख के साथ कहना पड़ता है कि जैसे बुद्ध मत भारत की धरती पर जन्म कर और फल-फूल कर अपनी जन्मभूमि से निर्वासित हो गया, उसी प्रकार महात्मा जरथुश्त्र का मत आज से एक हजार वर्ष के पूर्व इसलाम की क्रूरता के कारण अपने देश से निर्वासित हो गया। जरथुश्त्र के ईरानी अनुयायी इसलाम के सामने घुटने टेक दिये और कुछ अपनी जान बचाकर भारत भाग आये। इन्हीं का नाम 'पारसी' है। पश्चिमी भारत के 'उदवाड़ा' नामक स्थान में इनका प्रधान मन्दिर है, जहां इनके द्वारा पूजी जाने वाली पवित्र अग्नि स्थापित है। ये अग्नि की पूजा करते हैं।

4. ईरानी और भारतीय संस्कृतियों की समानता

प्राचीन ईरान और भारत की संस्कृतियों में काफी समानता है। यह उनके ग्रंथों के अध्ययन से पता चलता है। कहते हैं हमारे पितामह आर्य लोग अपने उद्‌गम स्थल से जब चल पड़े तब उनकी दो धाराएं हो गयीं, एक ईरान में चली गयी दूसरी भारत में। देश-काल के भेद से ईरानी और भारतीय संस्कृतियों में अन्तर आ गया, परन्तु यथार्थतः दोनों सभ्यताओं का स्रोत एक है। जैसे प्राचीन भारतीय आर्य लोगों ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चतुर्वर्ण की व्यवस्था की थी, वैसी मिलती-जुलती व्यवस्था ईरानियों में पायी गयी है। उनके चारों वर्णों के नाम क्रमशः 'आथ्रवण', 'रेथेष्टार', 'वास्ट्रयोश' तथा 'हुतोक्ष' है। वे भी आर्यों के समान अग्नि, जल, वायु, इन्द्र आदि को देवता मानकर पूजते थे।

उनकी भाषा वैदिक संस्कृत से मिलती-जुलती है।

प्राचीन ईरान के धर्मग्रन्थ का नाम 'यस्न' है। इसमें 72 'हास' यानी भाग हैं। इनमें जरथुश्त्र की गाथा पांच भागों में है। उन पांचों के नाम इस प्रकार हैं—अहुनवैती, उष्तवैती, स्पेन्तामैन्यु, योहू-क्षत्र तथा वहिश्तोइश्ती। इन्हीं पांचों भागों में जरथुश्त्र की सारी शिक्षाएं भरी पड़ी हैं।

ईरानियों के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'अवेस्ता' में कहीं-कहीं उसी प्रकार उद्गार हैं जैसे ऋग्वेद की ऋचाओं में। इनके ईश्वर का नाम 'अहुरमजदा' है।

5. सिद्धान्त

जरथुश्त्र ने कुछ निर्गुण की-सी भी कल्पना की है और इसके विपरीत उन्होंने 'अहुरमजदा' को छह अन्य रूपों से युक्त माना है।

इन्हीं सबसे उन्होंने संसार की उत्पत्ति की कल्पना की है। ईरानी एवं पारसी लोग 'आतर' अर्थात अग्नि को सम्भवत: ज्ञान का प्रतीक मानकर पूजते हैं।

उपर्युक्त गाथा 'अहुनवैती' में सत-असत का गम्भीर विवेचन किया गया है। उनका मूल सिद्धान्त इसी भाग में संकलित है। उसमें बताया गया है कि जीवन में सत और असत इन विरोधी शक्तियों का महत्त्व है। असत की उपस्थिति से ही सत का मूल्य आंका जा सकता है। दुख, प्रतिकूलता, अन्धकार और मृत्यु के होने से ही सुख, अनुकूलत ा, प्रकाश और अमरता का मूल्यांकन होता है। जीवन की क्षणभंगुरता समझकर ही मोक्ष की अभिलाषा होती है।

सांख्य के प्रकृति और पुरुष की तरह जरथुश्त्र ने संसार के विकास के लिए सत और असत की उपस्थिति आवश्यक समझी है। उनके अनुसार भाव के अनुसार ही अभाव का महत्त्व है।

जरथुश्त्र ने कर्म-मार्ग पर जोर दिया है। निष्काम कर्म अत्यन्त आवश्यक है। दुखियों की सहायता करना महान पुण्य है। निष्काम सेवा, परोपकार, दया, प्रेम, त्याग, उदारता आदि दैवी गुणों से सम्पन्न व्यक्ति ही मनुष्य कहा जा सकता है। मानवता की उन्नति के लिए परस्पर की सहानुभूति महान साधन है।

महात्मा जरथुश्त्र ने मन, वचन तथा कर्म से पवित्रता तथा सत्य-पालन पर बहुत जोर दिया है। सत्य भाषण और सत्याचरण के समान संसार में कोई धन नहीं है; परन्तु सत्य भाषण के साथ मीठे वचन का प्रयोग करना चाहिए।

इस मत का सार 'अश' के नियमों की श्रेष्ठ भावना है। 'अश' के अर्थ—व्यवस्था, संगति, अनुशासन, पवित्रता, सत्यशीलता, परोपकार आदि हैं।

इस मत के अनुसार 'वोहू महह' (विचार एवं अन्तरध्वनि) के शब्द जो सुन पाते हैं और उनके अनुसार कर्म करते हैं वे स्वास्थ्य और अमरत्व को

प्राप्त करते हैं। यह मत मृत्यु के बाद भी भावी-जीवन मानता है।

पारसी धर्म की नैतिकता का महान भवन निम्न तीन भीतों पर खड़ा है—

हुमत = अच्छे विचार।

हुख्त = अच्छे उच्चार (वाणी)।

हुवर्श्त = अच्छे आचार।

संसार में कुल एक लाख तीस हजार (1, 30, 000) पारसी हैं। उनमें एक लाख भारत में, सत्तरह (17) हजार ईरान में, आठ हजार पाकिस्तान में, एक हजार इंग्लैण्ड में तथा चार हजार विश्व के अन्य देशों में रहते हैं।

किसी विचार से दुनिया भर में पारसी डेढ़ लाख (1, 50, 000) हैं।

7
वर्धमान महावीर

महात्मा वर्धमान महावीर विरक्त मण्डल के एक चमकीले तारे हैं जो आज ढाई हजार वर्षों से विश्व के लिए अहिंसा, तप और आत्मज्ञान का प्रखर प्रकाश विकीर्ण कर रहे हैं। उनका संक्षिप्त परिचय यहां प्रस्तुत है।

1. जन्म और आरम्भिक जीवन

बिहार प्रदेश में, पटना से उत्तर लगभग पैंतालीस किलोमीटर दूर पर वेनग्राम (आज के वसाढ़) में महात्मा महावीर का जन्म ईसा पूर्व छठीं शताब्दी में हुआ था। पिता का नाम सिद्धार्थ था जो गांव के मुखिया थे और माता का नाम त्रिशला था। कुछ लोगों का कहना है कि सिद्धार्थ केवल गांव के मुखिया नहीं किन्तु राजा थे। महावीर के माता-पिता पार्श्वनाथ के अनुयायी थे।

कल्पसूत्र ग्रंथ के अनुसार जब महावीर की आत्मा जन्म धारण करने के लिए उन्मुख हुई तो उसने एक ब्राह्मणी के गर्भ में प्रवेश किया; परन्तु कोई भी तीर्थंकर ब्राह्मणवंश में नहीं पैदा हुआ था, इसलिए इन्द्र ने महावीर की आत्मा को ब्राह्मणी से निकालकर लिच्छवि राजकुमारी त्रिशला के उदर में पहुंचा दिया। वस्तुत: यह ब्राह्मणों से क्षत्रियों को ऊंचा सिद्ध करने का प्रयास है।

महावीर आठ वर्ष की उम्र में पाठशाला भेजे गये। वे तीव्र संस्कारी होने से थोड़े समय में ही विद्वान हो गये। कुछ का मत है कि वे पाठशाला गये ही नहीं, किन्तु अपने तीव्र संस्कार के कारण स्वत: सर्वविद्या सम्पन्न हो गये।

दिगम्बरों के अनुसार महावीर बालब्रह्मचारी रहे, किन्तु श्वेताम्बरों के अनुसार उनका यशोदा नाम की कन्या से विवाह हुआ था और उनको अनुजा नाम की एक पुत्री हुई थी, और वे पीछे विरक्त हुए थे।

2. गृहत्याग और तप

महावीर की अट्ठाइस वर्ष की उम्र में उनके माता-पिता मर गये; परन्तु अपने भाई तथा जनता के प्रति सहानुभूति रखकर वे दो वर्ष घर पर रहकर विरक्त हुए और घर-बार छोड़कर साधु जीवन अपना लिये। कहा जाता है घर छोड़ते समय उन्होंने तीन सौ अट्ठासी करोड़ असी लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान किया था। यह भी अतिशयोक्ति है।

महावीर अपने दोनों हाथों से अपने बाल नोचकर पार्श्वनाथ के मत में दीक्षित हो गये। महावीर स्वामी ने बारह वर्षों तक घोर तप किया, परन्तु उन्हें शांति न मिली। फिर वे उज्जैन चले गये। वे वहां शिव-मन्दिर में तप करते रहे। अन्त में पार्श्वनाथ पर्वत के समीप बहने वाली रिजुपालिका नदी तट पर चले गये। वहां जृंभक नाम का गांव था। वहां एक किसान के खेत में पुराना मन्दिर था। वहीं तपस्या करते हुए उन्हें केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई।

वे केवल ज्ञान होने के बाद निर्द्वन्द्व हुए। कुछ के विचारों से वे तेरह वर्षों तक कम-से-कम एक वस्त्र का प्रयोग करते रहे और कुछ के विचारों के अनुसार वे जो एक वस्त्र घर से पहनकर निकले थे वही तीन वर्षों तक उनके शरीर पर फटते-फटते बना रहा, तथा उसके पूर्णतया जीर्ण होकर गिर जाने पर वे सदैव के लिए नंगे हो गये।

जिस पार्श्वनाथ के मत में महावीर स्वामी दीक्षित थे उसमें बहुत दुर्बलताएं भर गयी थीं। इसलिए उन लोगों का साथ छोड़कर उन्होंने उस मत का सुधार करते हुए उसका नवीनीकरण किया। पार्श्वनाथ के मत में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह ये चार व्रत थे। महावीर स्वामी ने उसमें ब्रह्मचर्य व्रत को भी सम्मिलित किया। पाश्वनार्थ-मत वाले कपड़े पहनते थे, किन्तु महावीर स्वामी ने उसकी आवश्यकता नहीं समझी। अत: वे जीवनभर नग्न बने रहे।

3. प्रथम आजीवक मत

कहा जाता है कि महावीर स्वामी प्रथम छह वर्षों तक मंखलिपुत्र गोशाल के साथ रहे जिनका आजीवक नाम का सम्प्रदाय था। वैसे आजीवक सम्प्रदाय वाले व्रत, उपवास, तप आदि भी करते थे और कहते थे कि मांस, मदिरा तथा मोहिनी (स्त्री) से दूर रहना चाहिए, परन्तु समय-समय पर वे इनका छककर उपभोग भी कर लेते थे। आजीवक लोक, कर्म, उद्धान, बल, वीर्य, पुरुषकार, पराक्रम आदि को नियति के अधीन मानते थे। इनके नंगे रहने का भी उल्लेख मिलता है। ये स्त्रियों के सहवास से परहेज नहीं रखते थे। उल्लेख मिलता है कि स्वयं मंखलिपुत्र गोशाल शराबपान, नाच-गान तथा भोग-विलास में लवलीन रहते थे।

उपर्युक्त कारणों से महावीर स्वामी ने इन आजीवकों का साथ छोड़ दिया और एक बार गोशाल को खूब फटकारा। कहा जाता है श्रावस्ती में गोशाल ने महावीर तथा उनके अनुयायियों से लड़ाई-झगड़े भी किये, परन्तु अन्त में वे महावीर स्वामी के अनुयायी हो गये।

4. महावीर स्वामी का प्रथम शिष्य

गौतम इन्द्रभूति नाम का एक ब्राह्मण था। उसके नौ भाई और थे। इस प्रकार वे सब दस भाई थे। पावानगर में वे निवास करते थे जो आज-कल

बिहार प्रदेश के नालंदा जिले में पड़ता है। गौतम कर्मकांडी थे। वे एक यज्ञ करने जा रहे थे। उसमें बहुत-से पशुओं की बलि चढ़ने वाली थी। महावीर स्वामी उस समय वहीं निवास कर रहे थे। उन्होंने इस यज्ञ का घोर विरोध किया। इसके परिणाम में गौतम आदि दसों भाई महावीर स्वामी से विवाद में उलझ गये। परन्तु अंतत: उनके वक्तव्य से गौतम तथा उनके भाइयों को संतोष मिल गया और वे अपना कर्मकांड छोड़कर महावीर स्वामी के शिष्य हो गये। गौतम के पांच सौ अनुयायी थे, वे भी महावीर स्वामी के शिष्य हो गये। कहा जाता है कि वे दस ब्राह्मण-बन्धु ही महावीर के संघ के दस गणधर बने। यह भी कहा जाता है कि गौतम किसी ब्राह्मण द्वारा महावीर स्वामी के सिद्धान्त सम्बन्धी एक श्लोक सुनकर उसके अर्थ को समझने के लिए उनके पास गये और जब महावीर स्वामी द्वारा उसे समझ लिये तब वे अपने भाइयों तथा अनुयायियों सहित उनके शिष्य हो गये।

5. गौतम को उपदेश

महावीर स्वामी ने गौतम को उत्तम पात्र देखकर उन्हें यह उपदेश दिया— ''जैसे वृक्ष से पत्ते झड़ जाते हैं वैसे जीवन एक दिन समाप्त हो जायेगा। जीवन तो उसी प्रकार नश्वर है जैसे कमलपत्र पर पड़ी ओस की बूंद। यह जीव असंख्य योनियों में भटकता हुआ आया है। मानव जीवन बड़े सौभाग्य का फल है। स्वर्ग में जन्म लेना भी लाभकर नहीं है। मानव जीवन में ही कर्मबन्धन काटे जा सकते हैं। हे गौतम! अथाह संसार-सागर को पारकर तुम मानव जीवन रूपी किनारे पर लग गये हो जो मोक्ष-साधना करने योग्य है। तुम अपना समय नष्ट क्यों कर रहे हो! बुढ़ापा आने पर शक्तिहीन हो जाओगे और कुछ नहीं कर सकोगे। मोक्ष-साधना करने का यही समय है। अब क्यों नहीं जाग जाते हो!''

महावीर स्वामी की उक्त शिक्षा का गौतम पर ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा कि वे उनके अनन्य भक्त हो गये। कहा जाता है कि गौतम की महावीर स्वामी के प्रति आजीवन रागात्मक भक्ति बनी रही। इसलिए महावीर स्वामी के शरीरांत के बाद गौतम को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ और वे मुक्त हुए।

6. महावीर स्वामी और जैनमत

जैनमत पहले से चला आ रहा था। इसका मूल ऋषभदेव से माना जाता है। उसके बाद अजीतनाथ, सम्भवनाथ, अभिनन्दनाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभु, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभु, सुविधिनाथ, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनंतनाथ, धर्मनाथ, शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिव्रत, नमिनाथ, नेमिनाथ तथा पार्श्वनाथ हुए। इस प्रकार ऋषभदेव को लेकर

उक्त तेईस तीर्थंकरों के बाद ईसा पूर्व छठीं शताब्दी में चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी हुए। इतना परम सत्य है कि महावीर स्वामी के जीवनकाल के एक हजार वर्ष बाद ही जैनमत के शास्त्रों एवं साहित्यों की रचना हुई। महावीर स्वामी के पहले जैनमत का कोई ग्रंथ नहीं था।

महावीर स्वामी परम विरक्त और महान तपस्वी थे। वे मानते थे कि तप से पूर्व तथा पूर्वजन्मों के पाप नष्ट होते हैं तथा मन, वाणी और वचनों का संयम कर लेने से नये कर्म नहीं होते।

महावीर स्वामी के विचारों का प्रचार बिहार तथा उत्तर प्रदेश में खूब था। उनके भक्तों का बहुत बड़ा विस्तार था तथा विरक्त साधुओं का बहुत बड़ा समाज। वे जीवन भर सत्योपदेश करते हुए भ्रमण करते रहे और आखिर में बिहार के पावाग्राम में उनका शरीरांत हुआ। उनका स्मारक पावाग्राम से कुछ दूर पर पावापुरी में निर्मित है।

इनके साधुओं की पांच श्रेणियां हैं—सिद्ध, अरहत, आचार्य, उपाध्याय और साधु। इसे पंच परमेष्ठिन कहा जाता है। जैनमत का पूरे भारत में खूब प्रचार हुआ, और आज भी जैनमत एवं जैन-दर्शन भारत का प्रसिद्ध मत एवं दर्शन है। जैनमत का सार है दूसरे पर दया करना और संसार की वासनाओं का त्याग कर तथा अपने चेतन स्वरूप में स्थित होकर मुक्त हो जाना।

जैन धर्म का सार एक श्लोक में इस प्रकार है—

आस्रवो भवहेतुः स्यात् संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हतो दृष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम्॥

अर्थात आस्रव (कर्मों का प्रवाह) आवागमन का कारण है और संवर (कर्मों का नाश) मोक्ष का हेतु है। अर्हत (जीवन्मुक्तों) का यही उपेदश है। उनके दूसरे उपदेश इन्हीं के विस्तार हैं।

8

तथागत बुद्ध

विरक्त-परम्परा में तथागत बुद्ध एक अत्यन्त वैभवशाली नाम है, जिसकी बड़ाई करना सूरज को दीपक दिखाना है, जिसके ज्ञान और साधना की गंगा में विश्व का बहुत बड़ा क्षेत्र आप्लावित है, 'आर्नल्ड' के शब्दों में जो 'लाइट ऑफ एशिया' है, धर्म के उस महान अनुशास्ता का यहां थोड़ा परिचय प्रस्तुत है।

1. सिद्धार्थ का जन्म

तथागत बुद्ध का प्रथम नाम सिद्धार्थ था। शाक्यवंशीय राजा सुद्धोधन कपिलवस्तु में राज कर रहे थे जो उत्तर भारत में आज के बस्ती के उत्तर स्थित था।

ईसा के 563 वर्ष के पहले बैसाख महीने की पूर्णिमा के दिन राजा सुद्धोधन के औरस तथा माता महामायादेवी के गर्भ से सिद्धार्थ नामक बच्चा उत्तरी भारत के लुम्बनी वन में पैदा हुआ, जब गर्भवती रानी महामाया देवी अपनी सखियों तथा रक्षकों के साथ अपने पीहर जा रही थी। जन्म से सात दिन के बाद माता मायादेवी का देहान्त हो गया। अतएव मां की बहिन (सौतेली मां) महाप्रजापति गौतमी ने बच्चे का पालन किया।

2. सिद्धार्थ की चिंतनशीलता और वैराग्य

राजा सुद्धोधन के एक हजार हल चल रहे थे। एक दिन कृषि सम्बन्धी उत्सव था। राजा स्वयं हल चला रहे थे। बालक सिद्धार्थ जामुन-पेड़ के नीचे पल्थी मार, आंखें बन्द कर समाधि में लग गया। यह देखकर सब आश्चर्य में पड़ गये। सिद्धार्थ चिंतनशील और मननशील थे। वे अपना समय हास-परिहास में नहीं बिताते थे। उनकी इस गम्भीरता से राजा सुद्धोधन डरने लगे। वे सदैव शंकालु बने रहते थे कि इस बुढ़ापा में जन्मा होनहार इकलौता लड़का कहीं वैरागी न हो जाये। राजा ने राजकुमार सिद्धार्थ के चारों ओर भोगों की सामग्री सजा रखी थी और ऋतुओं के अनुसार उनके लिए अनेक महल बनवा रखे थे।

राजकुमार सिद्धार्थ अनेक जन्मों के शुद्ध संस्कारी थे; अतः छोटी-छोटी घटनाओं से भी उनको बड़ा मोड़ मिलता था। एक बार उनके चचेरे भाई

देवदत्त ने एक हंस को बाण मार दिया। हंस की पीड़ा तथा उसके स्वजनों की व्याकुलता देखकर सिद्धार्थ करुणा से भर गये और प्राणियों पर उनकी वह करुणा जीवनपर्यंत बरसती रही।

सुन्दरी राजकुमारी यशोधरा से सिद्धार्थ का विवाह हुआ था। सिद्धार्थ की गम्भीर दशा देखकर यशोधरा ने हर प्रयत्न से सिद्धार्थ पर अपना मायाजाल फेंककर उनको मोहित करने की चेष्टा की थी। सिद्धार्थ को एक सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसको हम राहुल के नाम से जानते हैं। पुत्र उत्पन्न होने के बाद से सिद्धार्थ को विशेष उदासीनता रहने लगी। वे विचारते थे कि राज्य, धन, पत्नी—ये सब बन्धन के कारण थे ही, पुत्र तो निश्चय ही मार्ग का बड़ा रोड़ा है। पुत्र ग्रसने वाला 'राहु' है इसलिए लड़के का नाम 'राहुल' रखा।

उनके अन्दर वैराग्य की आग सुलग रही थी। कहा जाता है कि जब एक दिन उन्होंने रोगी, वृद्ध और मृतक को देखा तब उनके मन में एकदम उथल-पुथल हो गयी। वे एकांत में अपने आप से पूछने लगे—''क्या मैं भी रोगी तथा बूढ़ा हो जाऊंगा? क्या मैं भी एक दिन मर जाऊंगा? और जब एक दिन मरना है तब यह सब किस काम का? क्यों न मैं सत्य की खोज करूं? क्यों न मैं रोग, बुढ़ापा और मौत से छुटकारा लेने का पंथ पकड़ूं?''

आग लगी हो और उसमें घी पड़ जाये तो क्या पूछना? सिद्धार्थ को किसी साधु के गीत सुनाई पड़े—

नरपुंगव जन्ममृत्युभीत:
श्रमण: प्रव्रजितोस्मि मोक्षहेतो:।

अर्थात—''हे नर श्रेष्ठ! जन्म-मरण के भय से, उससे छूटने के लिए मैंने प्रव्रज्या ले ली है, मैं संन्यासी हो गया हूं।'' उपर्युक्त सारी बातें गौतम के विवेकी मन को मथती रही होंगी। किन्तु निम्न घटना ने उन्हें पूर्ण विरक्त बना दिया।

शाक्यसंघ में हर शाक्यवंशी की अपने बीस वर्ष की उम्र में दीक्षा होती थी और उसे शाक्यों की सभा में यह व्रत लेना पड़ता था कि वह अपने तन, मन तथा धन से शाक्यों के स्वार्थ की रक्षा करेगा, संघ की सभाओं में उपस्थित रहेगा, बिना किसी भय और पक्षपात के किसी भी शाक्य का दोष कह देगा, उस पर कोई दोष लगाये तो दोष होने पर उद्वेग रहित होकर स्वीकार लेगा और दोष न होने पर वैसा कह देगा। यदि वह व्यभिचार, हत्या और चोरी करेगा तथा झूठी साक्षी देगा तो संघ का सदस्य न रह सकेगा। सिद्धार्थ गौतम बीस वर्ष की उम्र में शाक्य संघ के सदस्य बन गये तथा तत्परतापूर्वक अपने व्रत का पालन करते हुए अपने अट्ठाइस वर्ष की उम्र तक व्यतीत किये।

शाक्यों और कोलियों की राज्यसीमा की विभाजक रेखा रोहिणी नदी थी। दोनों उसी से अपने खेत सींचते थे। दोनों रिश्तेदार थे और आये दिन पानी को लेकर परस्पर झगड़े की स्थिति में आ जाते थे। जब गौतम की उम्र अट्ठाइस वर्ष की हुई तब शाक्य और कोलियों में पानी को लेकर विवाद हुआ। शाक्यों ने कोलियों से युद्ध करने का मन बनाया।

गौतम ने इसका विरोध किया कि युद्ध से दोनों तरफ के हित की हानि होती है। परंतु अधिसंख्यक शाक्य युद्ध के समर्थन में एक मत हो गये।

सेनापति ने शाक्य युवकों को सेना में भरती होने के लिए आमंत्रित किया। शाक्यों के नियम के अनुसार गौतम के सामने तीन विकल्प थे—(1) सेना में भर्ती होकर युद्ध में भाग लेना, (2) फांसी पर लटकना या देश निकाला स्वीकार करना अथवा (3) उनके परिवार का सामाजिक बहिष्कार होना और उनके खेतों का जब्त कर लिया जाना। गौतम ने बीच वाला विकल्प पसंद किया—घर से निकल जाना।

शाक्य-नरेश साकेत-नरेश के अधीन रहते थे। सेनापति ने कहा कि आप देश से निकल जायेंगे तो साकेत-नरेश हम लोगों को दंडित करेगा कि तुम लोगों ने गौतम को निकाला है। गौतम ने कहा कि मैं संन्यासी बनकर निकलूंगा, इससे आप लोगों पर दोष नहीं लगेगा।

गौतम ने पिता और माता गौतमी से अपना लक्ष्य बताया। वे दोनों दुखी और मूक थे। यशोधरा ने जो गौतम की पत्नी थीं, गौतम के विचारों का समर्थन किया और गौतम घर तथा राज्य छोड़कर संन्यासी हो गये।[1]

सिद्धार्थ अपने वैराग्य उदय होने के सम्बन्ध में स्वयं कह रहे हैं—

"अत्तदण्डा भयं जातं, जनं पस्सथ मेधकं।
संवेगं कित्तयिस्सामि यथा संविजितं मया॥ 1॥
फन्दमानं पजं दिस्वा मच्छे अप्पोदके यथा।
अञ्ञमञ्ञेहि व्यारुद्धे दिस्वा मं भयमाविसि॥ 2॥
समन्तसरो लोको, दिस्सा सब्बा समेरिता।
इच्छं भवनमत्तनो नाद्दसासिं अनोसितं।
ओसाने त्वेव व्यारुद्दे दिस्या मे अरति अहु॥ 3॥

अर्थात—शस्त्र धारण करना भयावह लगा। (उससे) यह जनता कैसे झगड़ती है देखा। मुझमें संवेग (वैराग्य) कैसे उत्पन्न हुआ यह मैं बताता हूं॥ 1॥ अपर्याप्त पानी में जैसे मछलियां छटपटाती हैं; वैसे एक दूसरे से विरोध करके

1. **डॉ० भीमराव अम्बेडकर कृत "भगवान बुद्ध और उनका धर्म" प्रथमकांड, पहला भाग।**

छटपटाने वाली प्रजा को देखकर मेरे अंत:करण में भय उत्पन्न हुआ ॥ 2 ॥ चारों ओर का जगत असार दिखाई देने लगा। दशों दिशाएं कांप रही हैं ऐसा लगा और उसमें आश्रय का स्थान खोजने पर निर्भय स्थान नहीं मिला, क्योंकि अन्त तक सारी जनता को परस्पर विरुद्ध हुए देखकर मेरा जी ऊब गया ॥ 3 ॥''[1]

वे और कहते हैं—

''किसी भी बुद्धिमान के लिए राज्याधिकार कैसे उचित हो सकता है, जहां चिंता है, राग-द्वेष है, क्लांति है और है दूसरों के प्रति अन्याय।''

वे आगे कहते हैं—''सोने का महल तो लगता है जैसे उसमें आग लगी है। अच्छे-से-अच्छे भोजन विष मिले प्रतीत होते हैं और कमलों के फूल से आच्छादित शय्या पर लगता है जैसे मगरमच्छ लोट रहे हों।''

(महात्मा बुद्ध, 137)

सिद्धार्थ की अवस्था उस समय 29 वर्ष की थी। आषाढ़ पूर्णिमा (उत्तराषाढ़ नक्षत्र) की रात को सिद्धार्थ ने घर से निकलकर छंदक नामक सेवक को जगा सवारी लाने को कहा। सेवक कंथक नामक घोड़े को लाया। सिद्धार्थ उस पर बैठकर रात-ही-रात तीस योजन दूर अनोमा नदी पर पहुंचे।

3. सत्य की खोज, तप और बुद्धत्व प्राप्ति

सिद्धार्थ नदी में घोड़े सहित उतर गये। छंदक घोड़े की पूंछ पकड़कर साथ-साथ नदी पार गया। सिद्धार्थ ने अपना राजसी वस्त्र उतारकर छंदक को दे दिया और अपनी कटार से अपने राजसी बाल काट डाले। छंदक भी साथ-साथ साधु होना चाहा; परन्तु सिद्धार्थ ने उसे घोड़ा सौंपकर लौटा दिया, और कहा कि जब तक मैं बुद्धत्व (सिद्धि) न प्राप्त कर लूंगा, कपिलवस्तु न लौटूंगा।

सिद्धार्थ ने अनोमा नदी के पार अनूपिया नामक कस्बे के आम्रवन में एक सप्ताह व्यतीत किया। वे पुन: वहां से तीस योजन चलकर राजगृह पहुंचे। राजगृह मगध की राजधानी थी।

सिद्धार्थ राजगृह में अनेक घरों से भिक्षा मांगकर एक पर्वत के पास भोजन करने बैठे। उस भोजन में अनेक घरों की सामग्री होने से वह विचित्र हो गया था। सिद्धार्थ ने जब मुख में ग्रास डाला तब उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि मानो भीतर से आंत ही निकल आयेगी। उनको वह भोजन रुचिकर नहीं लग रहा

---

1. **डॉ० अंबेडकर रचित भगवान बुद्ध और उनका धर्म, भदंत आनंद कौसल्यायन कृत भूमिका।**

था। तुरन्त उनको विवेक जाग्रत हो गया और वे अपने आप को धिक्कारने लगे—"सिद्धार्थ! तूने अन्नपान सुलभ कुल में तीन वर्ष के पुराने सुगंधित चावल का भोजन किये जाने वाले स्थान में पैदा होकर भी, गुदरीधारी भिक्षु को देखकर सोचा था कि मैं भी कब इसी तरह भिक्षु बनकर भिक्षा मांग भोजन करूंगा, क्या वह भी समय होगा!—और यही सोच घर से निकला था। अब यह क्या कर रहा है!" इस प्रकार उन्होंने अपने आप को समझाकर तथा निर्विकार भाव होकर भोजन किया। उस समय 'राजगृह' का राजा 'बिम्बसार' सिद्धार्थ को मिला और उन्हें घर लौट जाने को कहा; परन्तु जब उन्हें दृढ़ देखा तब कहा कि मुझे पुनः दर्शन दीजियेगा।

सिद्धार्थ वहां से चलकर एक वनखण्ड में गये जहां अनेक ऋषिगण साधना में लगे थे। वे सांख्यमतवादी 'आलार कालाम' तथा वैशेषिकवादी 'उद्दक-राम-पुत्र' के पास कुछ-कुछ दिन रहे तथा समाधि-अभ्यास सीखे, परन्तु उन्हें सन्तोष न हुआ। उन्होंने दूसरे अनेक तपस्वियों के पास जाकर उनकी श्रद्धापूर्वक सेवा की, उनके निर्देशानुसार तपस्या की; परन्तु उनको उनसे भी सन्तोष न होने से उन तापसों से विनम्रता प्रकट करते हुए आगे बढ़ते रहे।

वे भ्रमण करते हुए 'उरुवेला'[1] पहुंचे। तप करने लगे। वहां पांच तापस साधु मिले। वे सिद्धार्थ के पास रहने लगे और छहों ने छह वर्ष निरन्तर तप किया। सिद्धार्थ का शरीर तप से सूख गया और काला पड़ गया। एक दिन वे घूमते समय निर्बलता से गिर पड़े। उन्होंने तप में सार नहीं देखा और पुनः ग्राम से भिक्षा लेकर खाने लगे तथा कुछ दिनों में स्वस्थ हो गये। इधर पांच साथी तपस्वियों ने सिद्धार्थ को समझा कि यह तो तप छोड़कर देह पालने लगा है, अतः वे उनका साथ छोड़कर ऋषिपत्तन (सारनाथ-वाराणसी) वन में चले गये।

सिद्धार्थ को यह अनुभव हुआ कि अधिक तप ठीक नहीं है। उन्होंने एक सुजाता नाम की बुढ़िया के हाथ की खीर खायी और निरंजना नदी के तट पर एक पीपल पेड़ के नीचे ध्यान में सात सप्ताह व्यतीत किये। उन्हें एक रात्रि प्रातः होने के पहले ज्ञान का रास्ता दिखाई दिया और उनको पूर्ण शांति मिली। उस दिन से वे तथागत तथा बुद्ध कहलाने लगे। जो सत्य को पा जाये उसका नाम तथागत तथा ज्ञानवान को बुद्ध कहते हैं।

सात सप्ताह के बाद 'तपसु' तथा 'भल्लिक' नाम के दो व्यापारी उत्कल (उड़ीसा) के पश्चिम जा रहे थे। वे तथागत बुद्ध को भोजन कराये तथा उनसे दीक्षा लिये। वे महात्मा बुद्ध के प्रथम दो गृहस्थ शिष्य हुए।

---

1. **उरुवेला गया के पास था जो बिहार में पड़ता है।**

4. धर्म प्रचार

तथागत बुद्ध ने सोचा कि मैंने जो ज्ञान प्राप्त किया है उसका लोगों में प्रचार करूं। परन्तु पुनः उनको संदेह हुआ कि काम, क्रोध तथा राग-द्वेष से मलिन मानव मेरी बातों पर क्या ध्यान देगा! अतः यह झमेला छोड़कर शांत रहें। परन्तु पुनः विचार हुआ कि इस संसार रूपी घोर रात्रि में कुछ लोग शुद्ध संस्कारी हैं जो जाग रहे हैं और वे पथप्रदर्शन चाहते हैं। अतएव उन्होंने सोचा कि पहले मैं अपने पूर्व गुरुओं 'आलार कालाम' तथा 'उद्दक-राम-पुत्र' को उपदेश दूं और वे इसके लिए चले; परन्तु रास्ते में पता चला कि उनका देहांत हो गया है। अत; उन्होंने पुनः सोचा, चलो हम अपने पंचवर्गीय तपस्वी मित्रों को ही क्यों न चेतावें! अत; वे ऋषिपत्तन (सारनाथ) आ गये और प्रथम बार उन साधुओं को उपदेश दिया जिसको महात्मा बुद्ध का प्रथम 'धर्मचक्र प्रवर्तन' कहा जाता है। वे पांचों तपस्वी बुद्ध के शिष्य हो गये। तथागत बुद्ध सारनाथ में ही वर्षावास किये और उन्होंने अन्य 55 साधकों को दीक्षा दी। इस प्रकार सब 60 भिक्षु हो गये। वर्षा बाद सबको विभिन्न प्रदेशों में भेजकर स्वयं 'उरुवेला' की ओर चल पड़े।

तथागत बुद्ध ने पथ में अनेक लोगों को शिक्षा-दीक्षा दी। उरुवेला के काश्यप आदि तीन जटिल भाइयों को प्रभावित कर उन्हें शिष्य बनाया।

तथागत बुद्ध ने राजा 'बिम्बसार' की पूर्व प्रार्थना का स्मरण कर कि मुझे 'पुनः दर्शन दीजियेगा' 'राजगृह' की ओर प्रस्थान कर दिया। वे 'लट्ठिवन-उद्यान' में पहुंचे। माली द्वारा पता पाकर राजा बिम्बसार महात्मा बुद्ध से मिलने आया। साथ में ब्राह्मणों का एक बड़ा दल था।

ब्राह्मणों ने देखा कि बुद्ध के साथ में उरुवेला का महान ब्राह्मण काश्यप भी है। वे इस चक्कर में पड़ गये कि काश्यप तथा बुद्ध—दोनों में कौन गुरु एवं कौन शिष्य है! यह बात तथागत बुद्ध समझ गये। अतएव ब्राह्मणों के भ्रम को मिटाने के लिए उन्होंने काश्यप से कहा—"काश्यप! क्या समझकर तुमने आग छोड़ी? क्यों अग्निहोत्र त्यागा?"

काश्यप ने कहा—"भगवन! यज्ञ से भौतिक भोग मिलना बताया जाता है; परन्तु यह मल है, विकार है। अतः मैं इनसे विरक्त होकर रहता हूं। मैं न यज्ञ करता हूं न हवन।"

राजा बिम्बसार ने तथागत बुद्ध को अपने उद्यान में ठहराया। राजगृह के पास ही दो महान परिव्राजक ब्राह्मण सारिपुत्र तथा मौदगल्यायन रहते थे और वे अविनाशी वस्तु की खोज में थे। वे दोनों तथागत बुद्ध के शिष्य हो गये।

तथागत वेणुवन में विहार करते थे, साथ में विशाल शिष्य-मंडली रहती थी। तथागत बुद्ध का प्रचार जोरों से चला। 'सारिपुत्र' तथा 'मौदगल्यायन' जैसे

उत्तम ब्राह्मण, 'आनन्द' तथा 'देवदत्त' जैसे क्षत्रिय कुमार, 'तपस्सु' और 'भल्लिक' जैसे वैश्य और 'उपलिस' जैसे शूद्र कहे जाने वाले उनके शिष्य हुए। उनके यहां किसी के लिए भेदभाव न था।

राजा सुद्धोधन ने जब अपने पुत्र की महिमा सुनी कि वे एक बड़े महात्मा हुए हैं और अपने ज्ञान से बड़े-छोटे—सभी लोगों को प्रभावित कर रहे हैं, तब उनके पुत्र-वियोग का घाव भरने लगा और आगे चलकर उनका मन बहुत प्रसन्न हुआ। उन्हें सिद्धार्थ के वियोग में जितना दुख हुआ था, उनकी ज्ञान-महिमा सुनकर उतनी ही शांति मिली।

अब राजा सुद्धोधन के मन में यह व्याकुलता रहने लगी कि कब महात्मा बुद्ध के दर्शन होंगे। कहा जाता है कि उन्होंने बारी-बारी अपने नौ मंत्रियों को एक-एक हजार राजकर्मचारियों के साथ वेणुवन बुद्ध को बुलाने के लिए भेजा और सब जाकर बुद्ध के पास भिक्षु (साधु) बन गये। जो बुद्ध के पास जाता वह इतना प्रभावित होता कि उसे अपने घर, कपिलवस्तु राजधानी एवं राजा के संदेश की ही सुधबुध खो जाती।

जब नौ हजार कर्मचारियों के साथ नौ मंत्रियों ने लौटकर कोई संदेश न दिया तब राजा बहुत घबराया और एक 'कालउदायी' नामक मंत्री को अपने पास बुलाया जो बुद्ध का समवयस्क तथा उनका बालसाथी था। राजा ने कहा—तुम जाकर महात्मा बुद्ध को लाओ और हमें उनके दर्शन करा दो। 'कालउदायी' ने कहा—यदि आप मुझे प्रव्रज्या लेने (साधु होने) की आज्ञा दें तो मैं जाऊं। राजा ने कहा—अरे भाई! जा, उनको लाकर दर्शन करा दे, फिर पीछे तेरा जो मन कहेगा वह हो जाना।

'कालउदायी' ने मगध जाकर तथागत बुद्ध को कपिलवस्तु चलने की प्रार्थना की और एक हजार कर्मचारियों के साथ भिक्षु बन गया। कहा जाता है इस प्रकार 10 हजार तो कपिलवस्तु के भिक्षु तथा 10 हजार पहले के मगध के भिक्षु—सब 20 हजार भिक्षुओं सहित बुद्ध कपिलवस्तु राजधानी में पहुंचे। इसमें घोर अतिशयोक्ति है, परन्तु महात्मा बुद्ध के समय साधु बनने की बाढ़ अवश्य थी।

राजा सुद्धोधन ने बुद्ध का अभिवादन किया, स्वागत किया, किन्तु अन्य शाक्यवंशीय क्षत्रिय लोगों ने घर के लड़कों और युवकों से बुद्ध का अभिवादन तथा स्वागत कराया। वे स्वयं अभिमान-वश अभिवादन नहीं कर सके। उनमें कोई सोचता "बुद्ध तो मेरा भतीजा है, कोई कहता मेरा पौत्र है, कोई कहता मेरा तो छोटा भाई लगता है, मैं उसका कैसे नमस्कार करूं।" सत्संग पाकर पीछे से क्षत्रिय लोग विनम्र हुए और उनका शिष्यत्व तक स्वीकार किये।

तथागत बुद्ध को न्यग्रोध नामक स्थान में ठहराया गया। पहले दिन की सभा समाप्त हुई। राजा, मंत्री तथा दूसरे लोग भी अगले दिन के लिए तथागत बुद्ध को भिक्षा के लिए निमंत्रण नहीं दिये, क्योंकि वे निमंत्रित ही थे।

तथागत बुद्ध दूसरे दिन भिक्षुओं सहित राजधानी में घूम-घूमकर भिक्षा मांगना आरम्भ किये। यशोधरा ने अट्टालिका के झरोखों से देखा 'तथागत बुद्ध' भिक्षा मांग रहे हैं। राहुल की माता यशोधरा सोचती हैं ''जो सोने की पालकी पर चलते थे, वे मूड़ मुड़ाये भिक्षा मांग रहे हैं।'' वे दौड़ी-दौड़ी राजा के पास आयीं और कहने लगीं आपके पुत्र घर-घर भिक्षा मांग रहे हैं।

राजा धोती सम्हालते हुए राजभवन से दौड़ पड़े और तथागत बुद्ध के पास पहुंच गये और उन्होंने उनसे कहा—सुगत! क्या हम भिक्षुओं को भोजन नहीं दे पाते? तथागत बुद्ध ने कहा—हमारे कुल की यही रीति है। राजा ने कहा—न-न, कभी शाक्यवंशी भीख नहीं मांगते। बुद्ध ने कहा—राजन! आपके शाक्यवंश में अवश्य भीख नहीं मांगी जाती; किन्तु मेरे बुद्धवंश में भिक्षा ही की जाती है।

सब लोग मिलने आये; परन्तु राहुल की माता यशोधरा यह कहकर मिलने नहीं आयीं कि भगवन स्वयं कृपा करके दर्शन देंगे। बुद्ध अपने शिष्यों के सहित यशोधरा के भवन में उनसे मिलने गये और उन्होंने शिष्यों को समझा दिया कि यशोधरा जिस प्रकार मिलना चाहेगी मिलने देना, कोई उन्हें रोकना नहीं।

राहुल की माता जबसे सुनी थीं कि सिद्धार्थ काषाय वस्त्र धारण कर लिये हैं तब से वे भी काषाय वस्त्र धारण करने लगी थीं। इसी प्रकार एक समय भोजन करना, जमीन पर सोना तथा राजसुखों का त्याग कर देना—ये सब तपस्या के गुण यशोधरा में पूर्ण हो गये थे।

यशोधरा ने तथागत बुद्ध से प्रभावित होकर राहुल से कहा कि अपने पिता से आशीर्वाद मांगो। तथागत बुद्ध ने राहुल को भी दीक्षा देकर अपने संघ में मिला लिया। साथ-साथ राजघराने के अनेक युवक तथा नाई भी उनकी शरण लेकर भिक्षु हो गये। तथागत बुद्ध का जनता पर अमिट छाप पड़ा। जो कोई उनके सामने जाता था उनका हो जाता था। श्रावस्ती (गोण्डा से उत्तर) के सेठ अनाथ पिंडक ने बौद्ध विहार बनवाने के लिए साकेतनरेश से जेतवन नामक बाग को उतने मोहर देकर खरीदा जितने से वह बाग ढक जाता। बुद्ध से प्रभावित होकर कोसलनरेश 'प्रसेनजित' एवं सेठानी 'विशाखा' उनके शिष्य हुए। तथागत बुद्ध एक बार बीमार हुए। मगध राजवैद्य जीवक उनकी चिकित्सा करने आये और उलटकर उन्हीं की चिकित्सा हो गयी और वे तथागत बुद्ध के शिष्य हो गये। 'जीवक' राजगृह की प्रमुख वेश्या के पुत्र थे। वेश्या ने उस बच्चे के पैदा होते ही उसे घूर पर फेंकवा दिया था। उसे एक राजपुरुष ने पाला था।

जीवक बड़ा होने पर तक्षशिला विश्वविद्यालय में जाकर वैद्यक की शिक्षा पाये थे और बहुत बड़ा वैद्य हुआ था।

तथागत बुद्ध ने राजाओं के बीच उठे हुए युद्ध को भी शांत किया था। एक उदाहरण काफी है। एक बार शाक्यों और कोलियों में नदी के पानी को लेकर विवाद खड़ा हो गया और तलवारें खिंच गयीं। तथागत बुद्ध ने दोनों को ऐसा उपदेश दिया कि दोनों गले मिले।

5. नारियों का संघ में प्रवेश

पहले चर्चा कर आये हैं कि सिद्धार्थ को पालने-पोषने वाली प्रजापति गौतमी थीं। जब राजा सुद्धोधन मर गये तब गौतमी ने भिक्षुणी की दीक्षा चाही। तथागत बुद्ध ने उन्हें समझाया कि नारियों को घर में ही रहकर साधना करनी चाहिए। उनका भिक्षुणी होना आवश्यक नहीं है और न यह भिक्षुओं के लिए हितकर है। परन्तु वे आग्रह करती रहीं। तथागत बुद्ध के श्रेष्ठ शिष्यों में से आनन्द ने गौतमी के लिए जोर दिया कि इन्हें भिक्षुणी की दीक्षा मिलनी चाहिए। महात्मा बुद्ध ने, अन्दर से न चाहते हुए भी आनन्द के अति आग्रह-वश प्रजापति गौतमी को दीक्षा दी; और फिर तो खुलेआम महिलाएं भिक्षुणी बनने लगीं। तथागत बुद्ध ने कहा था—'आनन्द! यदि नारियों को संघ में न लिया जाता तो संघ हजार वर्ष चलता; परन्तु यह जो नारियों को संघ में मिला लिया गया है, संघ का पांच सौ वर्ष ही चलना बहुत है।' और यह उनकी भविष्यवाणी अक्षरशः सिद्ध हुई।

6. उनकी समता दृष्टि

तथागत बुद्ध समता की महान मूर्ति थे। एक बार वे भ्रमण करते हुए वैशाली पहुंचे। वहां की प्रसिद्ध वेश्या आम्रपाली उनके दर्शन के लिए आयी। उसने उन्हें निमंत्रण दिया और तथागत बुद्ध उसे स्वीकार कर उसके घर गये और उसका आतिथ्य स्वीकार किये। इस बात को लेकर लोगों ने विरोध किया; परन्तु तथागत बुद्ध ने जरा भी नहीं माना। उन्होंने कहा हमारे लिए सब बराबर हैं।

7. उनकी सहनशीलता

एक बार एक राजा यज्ञ कर रहा था जिसमें सैकड़ों बकरे कटने वाले थे। तथागत बुद्ध ने राजा के पास जाकर कहा—"यदि बकरों की बलि देने से मनुष्य को स्वर्ग मिलता है तो मनुष्य की बलि देने से और उत्तम स्वर्ग मिलेगा। अतः इन बकरों की बलि न देकर मेरी बलि दे दी जाये।" राजा ने यह बात सुनकर उनकी शरण ले ली और बकरों को छोड़वा दिया।

तथागत बुद्ध त्याग, वैराग्य, समता, शांति, करुणा और मानवता की महान मूर्ति थे, तो भी दुष्ट लोगों ने उनको सताने की बड़ी चेष्टा की। सांप्रदायिक उद्वेग से विरोधियों ने उनको नीचा दिखाने के लिए दुराचारिणी स्त्रियों द्वारा उनको लांछित किये जाने का उपक्रम किया, परन्तु सूर्य पर थूकने पर जो गति होती है वही विरोधियों की हुई।

एक बार श्रावस्ती में विरोधियों ने एक भिक्षुणी की हत्या करके यह प्रचार किया कि बुद्ध के चेले ऐसे दुष्ट हैं कि वे एक भिक्षुणी से व्यभिचार करके उसकी हत्या कर दिये हैं। इसको लेकर प्रजा में भिक्षुओं के प्रति अश्रद्धा हो गयी। सर्वत्र भिक्षुओं को ताने सुनने पड़ते। तथागत बुद्ध ने भिक्षुओं को समझाया—भिक्षुओ! ये अन्धकार के बादल थोड़े दिन हैं। वास्तविकता दस दिन में प्रकट हो जायेगी। तुम लोग उद्वेग-रहित रहो। जब तुम्हें कोई देखकर तुम्हारा अपमान करे, तुम्हें गाली दे, तब तुम उससे कहो—"झूठ बोलने वाले नरक में जाते हैं और जो करके कहते हैं कि मैंने नहीं किया वे भी नरक में जाते हैं।" धीरे-धीरे वास्तविकता खुल गयी। भिक्षुओं को लोग श्रद्धा से देखने लगे।

कोशल-नरेश प्रसेनजित तथागत बुद्ध के प्रेमी थे। तथागत बुद्ध शाक्यवंशीय थे। प्रसेनजित ने सोचा कि यदि शाक्यवंशियों से अपना रक्त-सम्बन्ध जुड़ जाये तो आपसी व्यवहार ज्यादा मधुर हो जायेगा। अत: नरेश ने शाक्यों के पास दूत भेजकर अपना विवाह-प्रस्ताव रखा।

शाक्य लोग कोशल-नरेश को निम्नकोटि का क्षत्रिय मानते थे। अत: वे अपनी कन्या से उनका विवाह नहीं करना चाहते थे। परन्तु कोशल-नरेश के प्रस्ताव को भय-वश ठुकराना भी नहीं चाहते थे; क्योंकि प्रसेनजित बलवान राजा थे। अत: शाक्यों ने अपने राजभवन की एक दासी-पुत्री को, जो सुन्दरी और दक्ष थी, शाक्य-पुत्री बताकर प्रसेनजित को व्याह दी।

उक्त दासी-पुत्री प्रसेनजित की रानी हुई। उसे विड्डभ नाम का पुत्र पैदा हुआ। वह जवान हुआ और एक बार अपने ननिहाल कपिलवस्तु गया। उसके साथ सेना थी। सेना के एक जवान को पता लगा कि विड्डभ की माता दासी-पुत्री है। यह बात सेना में फैल गयी। विड्डभ को दासी-पुत्री की संतान समझकर शाक्यों ने उससे राजोचित व्यवहार करने में भी त्रुटि की। विड्डभ को कष्ट हुआ और उसने सोचा कि पिता के मर जाने पर जब मैं राजा बनूंगा तब अपनी सेना से शाक्यों की सामूहिक हत्या कराऊंगा।

तथागत बुद्ध की अवस्था कोई 78 वर्ष की रही होगी। इसी बीच उनके सामने महान दुर्घटना हुई। प्रसेनजित शरीर छोड़ दिये, तब विड्डभ ने समस्त शाक्यों को तलवार के घाट उतार दिया। यह परिवार का सम्पूर्ण विनाश

देखकर तथागत बुद्ध अवश्य दुखी हुए होंगे, परन्तु वे जीवन्मुक्त थे। वे उस अवस्था में भी भ्रमण करते हुए शांति का उपदेश देते रहे।

8. देवदत्त का विनाशकारी षड्यन्त्र

बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद जब महात्मा बुद्ध कपिलवस्तु राजा सुद्धोधन को दर्शन देने गये थे, उस समय अन्य लोग तथा राजपुरुषों ने भी तथागत बुद्ध से प्रव्रज्या ली थी; जैसे अनुरुद्ध, आनन्द, भृगु, किंबिल, देवदत्त आदि।

तथागत बुद्ध ने कपिलवस्तु में सात दिन रहकर अपने भिक्षुसंघ के सहित कौशांबी[1] के लिए प्रस्थान किया। रास्ते में जगह-जगह पर उनका भक्तों द्वारा सेवा-सत्कार होता था। यह सब देखकर देवदत्त के मन में हुआ कि मेरा भी ऐसा सेवा-सत्कार हो। देवदत्त धीरे-धीरे तथागत बुद्ध से ईर्ष्या करने लगा। अंततः वह उनका साथ छोड़कर राजगृह चला गया। उस समय राजगृह के राजा 'बिंबसार' थे।

राजा 'बिंबसार' का पुत्र 'अजातशत्रु' था। देवदत्त ने अजातशत्रु से कहा कि तुम अपने पिता को मारकर राजा बनो और मैं बुद्ध को मारकर बुद्ध बनूं। देवदत्त के निरन्तर के कुसंग से अजातशत्रु अपने पिता राजा बिंबसार की हत्या कर राजगद्दी पर बैठ गया, और देवदत्त को श्रेय देकर उसे पालने लगा।

तथागत बुद्ध राजगृह में थे। एक बड़ी सभा में बैठे थे। देवदत्त ने उठकर तथागत बुद्ध का नमस्कार किया और कहा कि भगवन्! आप इस भिक्षु-संघ को मुझे दे दें। मैं इस पर शासन करूंगा । आप वृद्ध हो गये हैं। अब आप से यह चलने वाला नहीं है। तथागत बुद्ध ने उसकी बात को अस्वीकार दिया जो स्वाभाविक ही था।

एक दिन देवदत्त ने दूसरी चाल चली। उसने तथागत बुद्ध के सामने पांच शर्तें रखीं—

1. भिक्षु जीवन भर जंगल में रहें; वे गांव-नगर में न जायें।
2. भिक्षु सदैव भिक्षा मांगकर खायें; वे निमन्त्रित भोजन न करें।
3. भिक्षु सदैव गली-कूची में पड़े चिथड़े बटोर और सिलकर पहनें; नये वस्त्र न पहनें।
4. भिक्षु सदैव वृक्षों के नीचे निवास करें; किसी मकान, मठ आदि में न रहें।
5. भिक्षु सदैव मछली-मांस[2] का सेवन न करें।

---

1. **कौशांबी प्रयाग (इलाहाबाद) के पश्चिम करीब पचास किलोमीटर दूर यमुना के उत्तर तट पर है।**
2. **भिक्षुओं के लिए भिक्षा में मिले हुए मांस-मछली खाने की छूट थी।**

तथागत बुद्ध ने कहा—देवदत्त! जो भिक्षु चाहे वह जीवनभर उपर्युक्त ढंग से रह सकता है और चाहे तो वैसा नहीं रहे। मैं शर्त में नहीं बांध सकता।

देवदत्त ने भिक्षुसंघ में फूट डालने की प्रक्रिया शुरू कर दी और कहा जाता है कि उसने पांच सौ भिक्षुओं को फोड़कर अपने संघ में मिला लिया।

देवदत्त ने तथागत बुद्ध की हत्या करने का कई बार प्रयास किया; परन्तु वह सफल नहीं हुआ। एक बार तथागत बुद्ध एक पर्वत पर निवास कर रहे थे। देवदत्त ने जाकर ऊपर से एक बड़ा पत्थर उनके ऊपर ढकेल दिया। संयोग से वह पत्थर उनके ऊपर न आकर बगल में गिरा, परन्तु उससे एक टुकड़ा टूटकर उनके पैर पर आ गिरा और उनके पैर में गहरी चोट लगी। काफी खून बह गया। तथागत बुद्ध महीनों में चलने-फिरने योग्य हो सके।

तथागत बुद्ध के श्रेष्ठ शिष्य सारिपुत्र के उपदेश से वे सभी भिक्षु देवदत्त के पास से तथागत बुद्ध के पास आ गये जो पहले बहककर देवदत्त के पास गये थे। इससे देवदत्त के मन को धक्का लगा।

पूरी प्रजा देवदत्त का विरोधी हो गयी। अन्ततः अजातशत्रु भी देवदत्त को सहयोग देना छोड़कर तथागत बुद्ध की सेवा करने लगा।

देवदत्त अपने पाप से पीड़ित था। वह बीमार पड़ गया। उसका रक्त कट-कट कर गिरने लगा। उसने पुनः तथागत बुद्ध की शरण में जाने की बात सोची। शिविका पर बैठकर श्रावस्ती चला। किन्तु रास्ते में एक सरोवर पर उसकी मृत्यु हो गयी।

9. आनन्द

तथागत बुद्ध का उनकी पचपन (55) वर्ष की उम्र तक कोई स्थायी परिचारक नहीं था। कोई साधु उनकी कभी किसी प्रकार की सेवा कर देता और कोई साधु कभी किसी प्रकार। अतएव भिक्षु-संघ से तथागत ने कहा कि अब उम्र ढल रही है। मेरे साथ जो भिक्षु मेरे चीवर तथा पात्र लेकर चलता है कई बार वह रास्ते में ही चीवर-पात्र रखकर दूसरी तरफ चला जाना चाहता है। इसलिए एक स्थायी परिचारक होना चाहिए।

सारिपुत्र, मोद्गल्यायन आदि अनेक भिक्षुओं ने सेवा में रहने के लिए प्रार्थना की, परन्तु अनुशास्ता ने उन्हें उस योग्य न समझकर उनकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की। अंततः किसी ने आनन्द से कहा कि तुम क्यों नहीं प्रार्थना करते? आनन्द कुछ हठीले थे, परन्तु अनुशास्ता के परम भक्त थे। उन्होंने कहा यदि अनुशास्ता की इच्छा होगी तो वे स्वयं मेरी सेवा लेंगे। तथागत बुद्ध ने कहा—आनन्द! यदि तुम चाहो तो सेवा में रह सकते हो।

आनन्द ने सेवा करना चाहा और उन्होंने तथागत के सामने पांच शर्तें रखीं—

1. आप मुझे अच्छे वस्त्र न देंगे।
2. आपके लिए आये किसी अच्छे भोजन में से मुझे न देंगें।
3. आप अपने निवास-कक्ष में मुझे निवास करने का स्थान न देंगे।
4. यदि कोई आपके दर्शनार्थ आया है, तो मैं उसे जब कभी भी आपके दर्शन करा सकूं।
5. यदि आपने किसी को कोई उपदेश दिया है और मैं सेवा में लगे रहने के कारण नहीं सुन सका हूं, तो यदि मैं उसे सुनना चाहूं तो आप कृपया मुझे पुनः सुना दें।

आनन्द ने उक्त पांच शर्तों में प्रथम की तीन शर्तें इसलिए रखी थीं कि कोई यह न मान या कह सके कि आनन्द गुरु की सेवा अच्छे कपड़े, अच्छे भोजन तथा अच्छे निवास पाने के लिए करते हैं।

तथागत बुद्ध ने उक्त सभी शर्तें बिना हिचक के स्वीकार लीं। फिर तो आनन्द उनके महानिर्वाण के समय तक सेवा में छाया की तरह लगे रहे।

10. जीवन के अन्तिम दिन और निर्वाण

तथागत बुद्ध का शरीर जरजर हो गया था। उनकी अवस्था 80 वर्ष की हो गयी थी। उन्होंने अपने शरीर का अंत निकट जानकर श्रेष्ठ शिष्य आनन्द से कहा कि अब यह काया जाने वाली है। आनन्द यह सुनकर विह्वल हो गये। तथागत बुद्ध ने कहा—"आनन्द! तुम व्याकुल क्यों होते हो? सारी वस्तुओं का परिवर्तन क्षण-क्षण हो रहा है। जन्म ही मृत्यु का कारण है। तृष्णा का क्षय करो और मुक्ति लो। गुरु तो केवल पथ बताने वाला है। चलना तुम्हें ही पड़ेगा। तुम स्वयं अपनी शरण हो। तुम अपनी शरण में जाओ, सत्य और धर्म का आधार लो।"

तथागत बुद्ध वैशाली से चलकर कुशीनारा के पथ में थे जो गोरखपुर के पास पड़ता है। चुंद नाम का लोहार था। तथागत बुद्ध ने उसके हाथों का भोजन खाया, जो शूकर मार्दव था। उसे खाने से तथागत को पेचिस हो गयी। उन्हें आभास हुआ कि अब शरीर नहीं रहेगा और आनन्द तथा अन्य भिक्षुओं से उन्होंने कहा कि कोई यह न कहना कि चुंद लोहार कलंकी या अपराधी है जिसका भोजन करने से शास्ता का अन्त हो गया, प्रत्युत यह कहना कि वह महा भाग्यशाली है जो उसका अन्तिम भोजन करके बुद्ध महानिर्वाण को प्राप्त हुए।

तथागत बुद्ध रास्ते-रास्ते जा रहे थे और कुशीनगर के वन में पहुंचे। उनकी आज्ञा से आनन्द ने दो साल वृक्षों के बीच कपड़ा बिछा दिया और उस पर वे लेट गये। सब समझ गये कि अब गुरुदेव के शरीर का अन्त है। सब व्याकुल हो उठे। उस समय हजारों भिक्षु इकट्ठे थे।

तथागत बुद्ध ने कहा—"भिक्षुओ! सब कुछ नाशवान है, अतः प्रमाद को छोड़ो, तृष्णा का क्षय करके निर्वाण प्राप्त करो।" यह थे अन्तिम वाक्य उस महा सन्त के जिसने अपने और दूसरे के हित के लिए अपने आपको साधना में तपा डाला था और महा वैराग्यवान होकर भी जीवनपर्यन्त लोककल्याण के लिए गली-गली घूमता रहा।

तथागत बुद्ध एक महान हस्ती के व्यक्ति थे। वे जात-पांत, हिंसकी कर्मकांड तथा पाखण्ड के सर्वथा विरोधी थे। वे आर्यपुत्र थे; किन्तु आर्य-अनार्य का भेद उनके मन में नहीं था। वे मानवता के पुजारी थे।

कितने बौद्ध बन्धु तथागत बुद्ध की परम्परा को आर्यों से अलग कायम करके भेद-भाव को पुनः जाग्रत करते हैं, जो बुद्ध के उपदेश के विपरीत है। उनका तो उपदेश था मानव-मानव भाई-भाई हैं। आचरण ही से कोई छोटा-बड़ा होता है, जाति से नहीं।

11. तथागत बुद्ध के समकालीन

जिस समय तथागत बुद्ध ने भिक्षु वेष में होकर प्रव्रज्या ली थी देश में काफी मानसिक हलचल थी। वैदिक एवं ब्राह्मण दर्शन के अतिरिक्त कोई बासठ (62) दार्शनिक मत थे जो विलक्षण थे। उनमें छह मुख्य दर्शन ध्यान देने योग्य हैं—

12. पूर्णकाश्यप का अक्रियवाद

पूर्णकाश्यप कहते थे कि आत्मा पर कर्म का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। चाहे हत्या करे-करावे, चोरी करे-करावे, दान करे-करावे, इनका फल आत्मा पर कुछ नहीं। आदमी के मर जाने पर शरीर के तत्त्व अपने-अपने कारण में जा मिलते हैं, फिर कुछ नहीं।

13. मक्खलिगोशाल का नियतिवाद

मक्खलिगोशाल कहते थे कि जो कुछ है पूर्व से निश्चित है। न कोई कुछ कर सकता है और न करा सकता है। संसार तथा प्राणी पर जो घटनाएं घटनी हैं, घटकर रहेंगी। हम बिलकुल नियति के अधीन हैं। जैसे सूत की गोली फेंकने पर अपने आप खुलती जाती है, वैसे सब जीवों का जीवन है, पंडित और मूर्ख दौड़ते हुए आवागमन में पड़कर दुख की समाप्ति करेंगे। ये केवल भाग्यवादी थे।

14. अजित केशकम्बल का उच्छेदवाद

अजित केशकम्बल शायद अपना वेष कम्बल का रखते थे। वे मानते थे कि कर्म का कोई फल नहीं, यज्ञ-हवन बेकार हैं। मनुष्य दुखों के तत्त्वों से बना है। मूर्ख और पंडित मरने के बाद समाप्त हो जाते हैं, आगे कुछ नहीं।

15. प्रक्रुध कात्यायन का नित्यपदार्थवाद

ये विचारक कहते थे कि मनुष्य सात तत्त्वों से बना है—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, सुख, दुख और आत्मा। ये सुख-दुख को भी स्वतन्त्र तत्त्व मानते थे और कहते थे कि इस संसार में न कोई मारने वाला है, न मारा जानेवाला, न सुनने वाला, न सुनाने वाला है। सातों तत्त्व निर्विकार हैं, इसलिए किसी कर्म का कोई प्रभाव नहीं। यदि कोई तलवार लेकर किसी को मारे तो कोई मरता नहीं, वह तो तलवार सातों तत्त्वों से हटकर शून्य में गिर जाती है।

16. संजय बेलट्ठिपुत्र का अनेकान्तवाद

ये विचारक कहते थे कि यदि मुझसे कोई पूछे कि परलोक है कि नहीं, मुक्तात्मा रहता है कि नहीं, तो मैं न ऐसा कहता हूं न वैसा कहता हूं। यदि मैं इसको जानूं तो बताऊं। अतएव मैं ऐसा-वैसा कुछ नहीं कहता।

17. वर्धमान महावीर का सर्वज्ञतावाद

ये जैनधर्म के अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर हैं। ये तथागत बुद्ध से ज्येष्ठ थे और वैशाली (बिहार) में जन्में थे। ये राजपुत्र थे। इन्होंने तीस वर्ष की उम्र में वैराग्य धारण किया। ये अनेक आत्मा मानते थे और संयम से कर्मक्षय होकर मोक्ष मानते थे और मुक्तात्मा सर्वज्ञ हो जाता है, यह इनकी धारणा थी।

एक बार इन छहों (उक्त दार्शनिकों) तथा तथागत बुद्ध का राजगृह में एक साथ वर्षा में चौमासा निवास हुआ था। ये छहों दार्शनिक बुद्ध से उम्र बड़े थे।

18. तथागत बुद्ध के वर्षावास

महात्मा बुद्ध का जन्म लुम्बनी में ईसा पूर्व 563 में हुआ तथा गया में ईसा पूर्व 528 में वे बुद्धत्व प्राप्त किये और बुद्धत्व प्राप्ति के बाद वे तीन महीने वर्षा को छोड़कर सदैव विचरण करते हुए उपदेश देते रहे। इस बीच में वर्षा निम्न स्थलों पर बिताये—

	स्थान	ईसा पूर्व
1.	ऋषिपत्तन (सारनाथ-वाराणसी)	528
2-4.	राजगृह	527-525
5.	वैशाली	524

6.	मंकुल पर्वत (बिहार)	523
7.	त्रयस्रिं (त्रयस्रिंश?)	522
8.	संसुमारगिर (चुनार)	521
9.	कौशाम्बी (इलाहाबाद)	520
10.	पारिलेयक (मिर्जापुर)	519
11.	नाला (बिहार)	518
12.	वैरंजा (कन्नौज-मथुरा के बीच)	517
13.	चालिय पर्वत (बिहार)	516
14.	श्रावस्ती (गोंडा)	515
15.	कपिलवस्तु	514
16.	आलवी (अखल)	513
17.	राजगृह	512
18.	चालिय पर्वत	511
19.	चालिय पर्वत	510
20.	राजगृह	509
21-45.	श्रावस्ती (गोण्डा)	508-484
46.	वैशाली	483

[कुशीनारा (गोरखपुर) में निर्वाण 483]

(राहुल कृत दर्शन दिग्दर्शन, पृ0 509)

उक्त विवरण से ज्ञात होता है कि अन्य जगह 1-1 वर्षा, 5 वर्षा राजगृह, 2 वर्षा वैशाली, 3 वर्षा चालिय पर्वत और श्रावस्ती (गोण्डा) में 26 वर्षा व्यतीत किये। इस प्रकार तथागत बुद्ध अपना पूरा जीवन उत्तर प्रदेश तथा बिहार में ही व्यतीत किये, इसके बाहर वे कभी नहीं गये।

19. बुद्ध दर्शन

तथागत बुद्ध ने चार आर्य सत्य माना है। आर्यसत्य अर्थात श्रेष्ठ-सत्य। वे हैं—दुख आर्यसत्य, दुख समुदाय आर्यसत्य, दुखनिरोध आर्यसत्य तथा दुख निरोध की ओर ले जाने वाला आर्यसत्य।

दुख आर्यसत्य—जन्म, जरा, रोग, प्रियवियोग, अप्रिय-संयोग, मृत्यु आदि प्रत्यक्ष दुख हैं। वस्तुत; जीवन धारण ही दुख है। यह दुख ऐसा है जिसे झुठलाया नहीं जा सकता।

दुख समुदय आर्यसत्य—दुख जिससे उदय होता है वह कारण भी है। दुख के बारह कारण या शृंखलाएं हैं, वे इस प्रकार हैं—

1. अविद्या—तत्त्वज्ञानहीनता।
2. संस्कार—पूर्व जन्म या इस जन्म की शुभाशुभ वासनाएं।
3. विज्ञान—चैतन्यता, संसार का भान होना।
4. नाम-रूप—मन और शरीर की अवस्थाएं।
5. षडायतन—आंख, नाक, कान, जीभ, चमड़ी और मन।
6. स्पर्श—विषयों का भोग।
7. वेदना—सुख, दुख तथा उदासीनता का अनुभव।
8. तृष्णा—अधिक-अधिक लालसा।
9. उपादान—आसक्ति।
10. भव—जन्म।
11. जरा—बुढ़ापा।
12. मरण—प्राणान्त।

दुखनिरोध आर्यसत्य—अर्थात यह भी श्रेष्ठ सत्य है कि दुखों का निरोध एवं नाश होता है।

दुख निरोध की ओर ले जाने वाला आर्यसत्य—यह भी श्रेष्ठ सत्य है कि दुखों के निरोध के साधन या पथ हैं। दुखनिरोध के आठ क्रमिक मार्ग हैं, जो आर्य अष्टांगिक मार्ग भी कहलाते हैं—

1. सम्यकदृष्टि—पूर्णज्ञान।
2. सम्यक संकल्प—अपने और दूसरे के कल्याण के लिए पक्का निश्चय।
3. सम्यक वचन—असत्य, कटु, चुगुली तथा परनिंदा से दूर रहना।
4. सम्यक कर्मान्त—बुरे कर्मों का त्याग करके पवित्र कर्म करना।
5. सम्यक आजीव—जीवन निर्वाह का पवित्र धन्धा।
6. सम्यक व्यायाम—उचित पुरुषार्थ।
7. सम्यक स्मृति—पूर्ण विचार।
8. सम्यक समाधि—मन का पूर्ण शांत होना।

संक्षेप में कहें तो बौद्धदर्शन इतने में है—

1. प्रत्यीत्यसमुत्पाद—प्रत्यीत्य = इसके होने से, समुत्पाद = यह होता है। जैसे दुख के बारह कारण ऊपर दिये गये हैं वे क्रमिक है। पहले वाले के होने से दूसरे वाले होते हैं।

2. बन्धन—अविद्या, कर्म और तृष्णा।

3. निवृत्ति—प्रज्ञा, शील और समाधि।

तथागत बुद्ध ने कहा—यो भिक्खवे दुक्खं पस्सति दुक्खसमुदयं पि सो पस्सति, दुक्खनिरोधं पि पस्सति दुक्खनिरोधगामिनिपटिपदं पि पस्सति।

(संयुक्त निकाय 5/437)

अर्थात भिक्षुओ! जो दुखों को देखता है वह उसके समुदय (कारण) को भी देखता है, दुख निरोध को भी देखता है और देखता है दुखनिरोधगामी मार्ग को भी।

तथागत बुद्ध ने निर्वाण (मोक्ष) की स्थायी सत्ता मानी है। उन्होंने उसको शशाश्रृंगवत मिथ्या नहीं कहा है; यथा—

नत्थेव निब्बाणं ससविसाणमिव। (आचार्य बुद्धघोष)

अर्थात—निर्वाण खरगोश के सींग के समान अभावात्मक नहीं है। अपितु—

अत्थि भिक्खवे अजातं अभूतं अकतं असंखतं।

अर्थात—भिक्षुओ! निर्वाण अजन्मा, सत्य, अकृत्रिम और असंस्कृत (स्वाभाविक) है।

महान बौद्ध विद्वान नागार्जुन कहते हैं—

द्रष्टव्योपशमं शिवलक्षणं सर्वकल्पनाजालरहितं ज्ञानज्ञेयनिवृत्तिस्वभावं शिवं परमार्थस्वभावम्। परमार्थमजरममरमप्रपञ्चं निर्वाणं शून्यतास्वभावं ते न पश्यन्ति मन्दबुद्धितया अस्तित्वं नास्तित्वं चाभिनिविष्ठाः सन्त इति। (मूल माध्यमिक 5/8)

अर्थात—परमार्थ का स्वरूप है—दृश्यों का उपशमन, शिव स्वरूप, सर्व कल्पना जालरहित, ज्ञान-ज्ञेय-निवृत्ति स्वभाव, कल्याणमय। परमार्थ अजर, अमर, प्रपंचशून्य, निर्वाण शून्यता स्वभाव है। परन्तु मन्दबुद्धि वाले जो अस्तित्व-नास्तित्व के मतवाद में उलझे उनमें अभिनिविष्ट हैं, वे इसे नहीं समझ सकते।

यदि आप एक श्लोक में तथागत बुद्ध का शिक्षासार जानना चाहते हैं तो इसे याद कर लें—

सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्सुपसंपदा।
सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धानुसासनम्॥

अर्थात—सारी बुराइयों-पापों को न करना, भलाइयों को करना और अपने मन को अपने वश में करना, यही बुद्ध की शिक्षा है।

9
महापुरुष कनफ्यूशियस

कनफ्यूशियस विशाल व्यक्तित्व का परिचय है जिसने अपने विचारों तथा भावनाओं से करोड़ों लोगों को प्रभावित किया है। आइए, उस महापुरुष के विषय में हम कुछ परिचय प्राप्त करें।

1. जन्म और जीवन

आधुनिक चीन के 'किनफ्-हियेन' नामक कस्बे का नाम कई सौ वर्ष पूर्व 'त्सिउई' था। उसका 'शू-लिंग-ही' नाम का एक निवासी सम्माननीय सैनिक जीवन बिताकर मजिस्ट्रेट हुआ। उसको एक पुत्र तथा नौ पुत्रियां थीं। अचानक पुत्र मर गया। इस अभाव की पूर्ति के लिए उसने पुन: अपनी शादी की। इस दम्पती से ईसा से 550 वर्ष पूर्व एक पुत्र जन्म लिया जिसका नाम 'क्यू' रखा गया। उसे विद्यार्थी जीवन में 'चुङ्ग-नी' नाम से पुकारा गया और प्रौढ़ होने पर उसे 'कुङ्ग-फू-जी' कहा गया। चीनी लोग आज तक उसे 'कुङ्ग' नाम से पुकारते हैं और विश्व के लोग उसे कनफ्यूशियस के नाम से जानते हैं।

कनफ्यूशियस के जन्म के तीन साल बाद उसके वृद्ध पिता 'शू-लिंग-ही' का निधन हो गया। अत: वह माता की देख-रेख में पला-पुषा और पढ़ा-लिखा। कहा जाता है कि वह मेधासम्पन्न बालक चौदह वर्ष की उम्र तक सब कुछ पढ़ डाला जो उस समय वहां के अध्यापक पढ़ा सकते थे।

कनफ्यूशियस सत्रह वर्ष की उम्र तक पहुंचते ही राजाश्रय पा गया, और उसका धनधान्य बढ़ा। उसकी शादी हुई, बच्चे हुए। परन्तु उसकी चौबीस वर्ष की उम्र में ही माता के मर जाने से उसे बड़ा आघात लगा और वह विशेष एकांत तथा चिंतन में दिन बिताने लगा। इसके कुछ ही दिनों के बाद उसके जीवन में एक घटना और घटी और उसने अपनी सत्ताइस (27) वर्ष की उम्र में किसी कारणवश अपनी पत्नी को छोड़ दिया।

2. मन्त्री पद ग्रहण

'लू' का राजा पहले अपने साथियों के चक्कर में पड़कर कनफ्यूशियस का विरोध ही करता रहा। परन्तु दिनोंदिन जब उसकी राज्य व्यवस्था बिगड़ती ही गयी तब उसने उसके सुधार के लिए श्रेष्ठ विचारक कनफ्यूशियस का आधार लिया और उसे अपना प्रधानमंत्री बना दिया।

कनफ्यूशियस के मन्त्रित्व में देश की स्थिति बहुत सुधरी और अनेक लोकहिताय कार्य हुए। उन दिनों वहां मन्त्री पद के साथ न्यायाधीश का भी पद जुड़ा हुआ था। अतएव उन्हें शासन के साथ न्याय भी करना पड़ता था।

एक बार 'त्से' प्रदेश के राजा ने कनफ्यूशियस से पूछा था ''अच्छा शासन किसे कहते हैं?'' कनफ्यूशियस ने उत्तर दिया ''अच्छे शासन की सफलता उस स्वाभाविक सम्बन्ध को कायम रखने में है, जो मनुष्य-मनुष्य के बीच होना चाहिए। शासक में राजोचित चरित्र, प्रजा में राजभक्ति, माता-पिता में वात्सल्य और बच्चों में श्रद्धा होनी चाहिए।''

उन दिनों उच्च वर्ग के लोगों के बड़े अपराधों पर भी उनको कोमल दण्ड होता था और गरीबों को कड़ा। कनफ्यूशियस ने इसका विरोध किया, और उस समय के एक कुख्यात दुश्चरित्र सरदार को उन्होंने प्राणदण्ड दिया। इस अपूर्व बात को लेकर राज्य में बड़ा क्षोभ हुआ और कनफ्यूशियस के मित्रों तथा शिष्यों तक को इस पर आपत्ति हुई। कनफ्यूशियस ने समझाया कि ऐसे विध्वंसक को दण्ड मिलना ही प्रजारक्षा के निमित्त ठीक है।

परन्तु परम्परावादी लोगों का उक्त बातों से समाधान न हुआ और उनका क्षोभ बढ़ता गया। इधर 'लू' राज्य की सुख-समृद्धि देखकर 'त्से' का राज्याधीश ईर्ष्या से दग्ध होता जा रहा था और 'लू' राज्य के उन्नायक मन्त्री कनफ्यूशियस को हरसम्भव नीचा दिखाने का प्रयत्न करके हार गया। 'त्से' के राजा ने 'लू' राज्य को गिराने के लिए एक नयी युक्ति सोची और उसने चुनी हुई प्रशिक्षित सुन्दरियों का एक दल उपहार-स्वरूप 'लू' प्रदेश के राजा के पास भेजा।

उन सुन्दरियों ने जाते ही अपना प्रभाव दिखाया और उनमें आसक्त होकर 'लू' का राजा महल से निकलना और राजकाज देखना ही छोड़ दिया। कनफ्यूशियस ने राजा को सजग करके उसे कर्तव्य पथ पर लाना चाहा, परन्तु न ला सके। अन्त में वे हारकर मन्त्री पद से त्याग-पत्र देकर चल दिये।

3. मन्त्री पद त्यागकर धर्म और नीति का प्रचार

कनफ्यूशियस के लिए एक लेखक ने लिखा है—''उससे अधिक यह कोई आदमी नहीं जान पाया कि कब पद ग्रहण करना चाहिए, कब तक उस पर स्थिर रहना चाहिए और कब उसे त्याग देना चाहिए।''

वर्षों कनफ्यूशियस इधर-उधर भटककर अपने जन्म स्थान पर लौट आये। उनके लौट आने के एक वर्ष के भीतर ही उनका पुत्र मर गया। उनका शरीर अब वृद्ध हो चला था, अतएव वे कमजोर हो गये थे। उनके दर्शन एवं धर्म का प्रचार यद्यपि जोर-तोर पर था, परन्तु वे उससे और अधिक प्रचार चाह रहे थे। इसलिए उन्हें अन्त में अपने उद्देश्य में असफलता प्रतीत होकर दुख का

अनुभव हो रहा था। कनफ्यूशियस ने अपना कोई अलग धर्म नहीं चलाया, परन्तु उनका शरीर न रहने पर 'कनफ्यूशियस धर्म' नाम का एक मत निकल ही पड़ा। आज के चीन में लगभग एक तिहाई इसी मत के वंशज हैं।

उस समय के कनफ्यूशियस का जीवन-काल एक दर्दभरी कहानी है। वे अपने कुछ शिष्यों के साथ एक राज्य से दूसरे राज्य में भटकते हुए, दुखित मानव को सन्मार्ग का उपदेश देते हुए और एक आदर्श धार्मिक राज्य की कल्पना करते हुए भ्रमण करते रहे। उस समय के वहां के कुछ विरक्त सन्त उन्हें पागल समझते और कहते—''जो कभी बदल नहीं सकता उस संसार की दुष्ट प्रकृति और क्रूर बुद्धि को बदलने का प्रयास व्यर्थ चेष्टा और मूर्खता नहीं तो क्या है?''

यद्यपि कनफ्यूशियस का आदर्श-राज्य कभी स्थापित न हो सका, तथापि उनकी सुन्दर शिक्षा का प्रभाव आगे आने वाली पीढ़ियों पर पड़ा। वस्तुत: ढाई हजार वर्षों से करोड़ों व्यक्तियों के हृदयों पर उनका शासन चला आ रहा है जो बाह्य क्षणिक शासन से कहीं महत्तम है। सिकन्दर, चंगेज खां तथा नेपोलियन तो केवल इतिहास के पन्नों में ही हैं। परन्तु कनफ्यूशियस जैसे महापुरुष आज भी करोड़ों व्यक्तियों के श्रद्धाभाजन हैं। आज भी उनका ज्ञान करोड़ों का अन्धकार दूर करता है।

4. महात्मा लाओत्ज़े से भेंट

कनफ्यूशियस के समय में एक अन्य प्रसिद्ध और वृद्ध महात्मा थे जिनका तत्कालीन चीन की जनता पर काफी प्रभाव पड़ा था। उनका नाम था 'लाओत्ज़े'। इनका जन्म कनफ्यूशियस की तरह सम्पन्न परिवार में नहीं हुआ था। वे एक गरीब परिवार में जन्म ग्रहण किये थे।

कनफ्यूशियस और लाओत्जे दोनों महापुरुषों के विचारों में बड़ा भेद था। कनफ्यूशियस जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र से अलग न जाकर उसे अधिक सुगठित तथा सुखप्रद बनाने की चेष्टा में थे और संसार को वे सुख-समृद्धि से भरापूरा देखना चाहते थे, और लाओत्ज़े संसार से उदासीन होकर विरक्तिपूर्वक एकांत जीवन के पक्ष में थे।

ईसा के दो सौ वर्ष पूर्व 'सिज मा कियेन' नाम का एक चीनी इतिहासकार हुआ है। उसने लिखा है कि 517 ईसा पूर्व कनफ्यूशियस लाओत्ज़े से मिले थे। उस समय लाओत्ज़े अट्ठासी (88) वर्ष की अवस्था के थे और कनफ्यूशियस पैंतीस (35) वर्ष की अवस्था के।

संत लाओत्ज़े ने कनफ्यूशियस से कहा—''जिन महापुरुषों की बात तुम करते हो, वे मर चुके हैं, उनकी हड्डियां भी सड़ गयी हैं। केवल उनके शब्द

हैं। उनसे प्रेरणा लेकर स्वयं को सुधारो। विवेकवान मनुष्य अपनी रहनी ऊंची उठाता है और परिस्थिति अनुकूल न मिलने पर धैर्य से चलता है। समझदार धनी ऐसा रहता है मानो अकिंचन हो। सद्‌गुण संपन्न श्रेष्ठ मनुष्य साधारण जान पड़ता है। स्वयं के श्रेष्ठ होने का अहंकार और सारी इच्छाओं, मन की चालाकी और अनियंत्रित कामनाओं को त्यागकर ही कल्याण होगा। इन्हें रखकर किसी का हित नहीं हो सकता। तुम्हारे लिए मेरा इतना ही कहना है।''

कनफ्यूशियस ने लाओत्ज़े से मिलने के बाद अपने शिष्यों में आकर कहा—''थलचर, जलचर तथा नभचर जानवर फंस सकते हैं, परंतु 'ड्रैगन' आकाश के ऊपर हिस्से में रहता है। वह कभी नहीं फंस सकता। आज मैंने लाओत्ज़े नाम के वृद्ध दार्शनिक संत को देखा है। उनकी तुलना 'ड्रैगन'[1] से ही हो सकती है। वह संत कहीं नहीं फंस सकता है।''

5. कनफ्यूशियस की महानता

उपर्युक्त विवरण से हम यह समझ सकते हैं कि कनफ्यूशियस एक उदार तथा चरित्रनिष्ठ पुरुष थे और अपने आप को वे एक साधारण मनुष्य मानते थे। उन्होंने अपने आप को कभी अलौकिक एवं पैगम्बर होने का दावा नहीं किया। पीछे उनके अनुयायियों ने मन्दिर बनाकर उनकी पूजा अवश्य शुरू कर दी।

कनफ्यूशियस का ढाई हजार वर्ष पूर्व घोषित किया हुआ यह प्रसिद्ध वाक्य है ''दूसरों से तुम अपने प्रति जैसा बरताव की आशा करते हो, वैसा ही बरताव तुम स्वयं भी औरों के साथ करो।''

कनफ्यूशियस पुरानी मान्यताओं को बिलकुल मिटाकर अपने मत का भवन नहीं खड़ा करना चाहते थे। वे तो समाज के प्राचीन ढांचे को स्थायी रखते हुए उसको एक सुगठित रूप देना चाहते थे।

कनफ्यूशियस के बाद उनके मत के प्रचारक मेन्शियस नाम के तत्त्व-चिन्तक पुरुष हुए हैं जो 372-283 ई0 पूर्व हुए हैं। वे मानते थे कि मानव स्वभाव से शुद्ध है। वह गलत वातावरण में बिगड़ता है। अतः मनुष्य को अपनी जन्मजात शुद्धता को बनाये रखने के लिए अच्छा वातावरण तथा आत्मसंयम की बड़ी आवश्यकता है। आज विश्व में कनफ्यूशियस मत को मानने वाले लगभग 36, 50, 00, 000 (साढ़े छत्तीस करोड़) हैं।

---

1. **'ड्रैगन' चीन-देश का पौराणिक प्राणी है जो सर्पाकार है और उच्चतम आकाश में रहने वाला माना गया है।**

10

महात्मा सुकरात

महात्मा सुकरात एक स्वतन्त्र प्रतिभा का नाम है जिसने सत में रहना और सत कहना जाना। उनके लिए जीवन और मृत्यु समान थे। उनके व्यक्तित्व ने यूनान में ज्ञानियों की एक शृंखला ही पैदा कर दी।

जन्म

ईसा से लगभग पांच सौ वर्ष पूर्व यूनान देश के 'एथेंस' नामक शहर में सुकरात नाम के महापुरुष हो गये हैं। वे पहले एक सैनिक थे। कवायद के समय एक बार वे गिर पड़े और चौबीस घंटे बेहोश रहे। उसके बाद जगने पर उनमें विचित्र चेतना जगी।

1. सत्य का प्रचार

वे जीवन, मृत्यु, सत्य, विवेक, अमरता आदि के विषय में जानना चाहते थे। विचित्र जिज्ञासु थे। पथों, बाजारों, हाटों, चौपालों में लोगों से सत्य के विषय में प्रश्न कर-करके उन्हें झकझोरते रहते थे।

उन्हें समसामयिक रूढ़ियों में काफी अन्धकार दिखाई दिया; अत: वे पंडितों, पुरोहितों, सामन्तों और महन्तों को ललकारने लगे। उन्हें अन्धविश्वासों से कट्टर विरोध था। वे सत्य कहने में कभी दबते नहीं थे।

सुकरात शरीर से कोई सुन्दर नहीं थे। छोटा कद, बड़ा-सा बेढंगा सिर, बड़ी-बड़ी भीतर धंसी आंखें, चौड़ी दबी हुई नाक; परन्तु व्यक्तित्व विशाल था। वे कपड़ा सादा, ढीला-ढाला पहनते, एक बेढंगी लकड़ी हाथ में रखते तथा कंधे पर मोटी-सी गुदड़ी।

वे विवाहित थे। उनके तीन बच्चे थे। उनकी पत्नी का नाम 'झेन्टीप' था। पत्नी कर्कशा थी। सुकरात धन की परवाह नहीं करते थे। इसलिए उनकी कोई अच्छी कमाई नहीं थी। इन सबके कारण पत्नी अधिक नाराज रहती थी।

जिस 'एथेंस' शहर में वे रह रहे थे, उसमें उनकी काफी ख्याति हो गयी थी। परन्तु धनवान और महंत लोग उनके दुश्मन बन गये थे; क्योंकि सुकरात उनकी गलतियों को क्षमा न करके उन पर करारी चोट करते थे। 'एथेंस' वासी युवकों से प्रश्न कर-करके उन्होंने एक हलचल मचा दी थी। निष्पक्ष लोग उनके तर्कों से प्रभावित होकर उनके भक्त हो जाते थे और गद्दार लोग जल जाते थे।

एक बार डेल्फी के 'ओरेकल' (भविष्यवक्ता) ने सुकरात को उस समय का सर्वोच्च बुद्धिमान घोषित किया। यह सुनकर सुकरात जोर से हंसे और कहा कि मुझसे तो अधिक योग्य इसी शहर 'एथेंस' में ही कितने लोग हैं। ''मैं यही जानता हूं कि मैं बिलकुल बुद्धिमान नहीं हूं।''

सुकरात सत्य के अन्वेषक थे। ईश्वर के विषय में तत्कालीन फैली धारणा के वे एकदम विरुद्ध थे। वे कहते थे कि परम सत्य को मैं केवल सत्य कह सकता हूं। उसके विषय में तमाम बचकानी बातें करना बेकार है।

जब लोग सुकरात से पूछते—''पृथ्वी कैसे बनी? मनुष्य क्यों है? मृत्यु के बाद क्या होगा?'' तब वे कहते—''इन बातों में उलझने से क्या काम? तुम हो, यह परम सत्य है। तुम अपने और पराये का कल्याण कैसे कर सकते हो, यह मुख्य प्रश्न है।''

वे सदाचारी, निर्भय और सत्यव्रती थे। वे सत्ताधारियों, पुरोहितों, महंतों तथा भ्रष्ट लोगों के तीव्र आलोचक थे। उनके आकर्षक तर्कों से मुग्ध होकर जनता एवं युवकों का दल उन्हें हर समय घेरे रहता था। उनकी कठोर कसौटी में जो नहीं उतरता था उसे फटकारे बिना वे नहीं रहते थे।

धर्माधिकारी विलासी थे। वे सरल जनता से मोटी रकम लेकर उन्हें स्वर्ग का प्रमाण पत्र देते थे। धर्म अन्धविश्वासों से ढका था तथा राजनीति स्वार्थ से। इस बीच सुकरात भला चैन से कैसे रह सकते थे जो केवल सत्य के उपासक थे।

सत्ताधारी उनसे चिढ़ गये। उन्होंने सुकरात को बुलाकर कहा—''तुम युवकों से प्रश्न मत करो तथा किसी प्रकार का प्रचार न करो।'' इस बात का इस्तिहार भी शहर में लगवा दिया गया और मुनादी भी हुई। परन्तु सुकरात ने सत्ताधारियों से कहा—''क्या मैं अपने विचारों को व्यक्त करने में भी परतन्त्र हूं? क्या मैं उन मूर्ख और भ्रष्ट अधिकारियों के पीछे चलूंगा। यह असम्भव है।''

अधिकारियों ने सुकरात को पुनः सावधान किया कि यदि तुमने अपना प्रचार बन्द नहीं किया तो मौत के घाट उतार दिये जाओगे। परन्तु जो शरीर को अपना रूप नहीं समझता उसको मौत का क्या डर! वे अब भी युवकों को सत्य का खोजी होने की राय देते थे और कहते थे कि कभी किसी अन्धविश्वास में मत पड़ो। हर नागरिक का कर्तव्य है असत्य का भंडाफोड़ करना।

समसामयिक यूनान के दार्शनिक जो यह मानते थे कि हम संसार की रचना का मूलतत्त्व समझ लिये हैं; सुकरात ने अपने प्रबल तर्कों द्वारा उनकी पोलपट्टी खोलकर रख दी थी। वे अन्धभक्ति, अन्धपूजा तथा अन्धविश्वास के कट्टर विरोधी थे। अतः अहंकारी लोग जो समाज के द्वारा गलत ढंग से पुज रहे थे जल उठे और सुकरात की हत्या के विषय में योजनाएं बनाने लगे।

2. अपराध का आरोप

एक प्रात:काल नगरवासियों ने देखा कि सत्ता की ओर से नगर में इस्तिहार चिपकाया गया है—''सुकरात पर नीचे लिखा अपराध लगाया जाता है—वह मान्य देवी-देवताओं के विरुद्ध प्रचार करता है तथा युवा वर्ग को बहकाता है—इसकी सजा केवल प्राणदण्ड है।''

सुकरात सत्तर वर्ष के हो चुके थे। उन्होंने इस्तिहार पढ़ा; परन्तु वे द्वन्द्वातीत थे। नगर का सज्जन समुदाय दुखी था। खलसमुदाय प्रसन्न था। परन्तु पूरे नगर में निश्‍चिंत केवल एक व्यक्ति थे, वह थे 'सुकरात'। उन्हें अपने पर लगाये गये दोषों की सफाई देने की आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि उनका पूरा जीवन ही सफाई था।

सुकरात के अपराध का निर्णय करने के लिए बावन (52) नागरिकों की एक सभा बैठी। उसके बीच में सुकरात ने अपना गम्भीर भाषण दिया—''संसार को एक सिद्धान्त में बांधा नहीं जा सकता। हम इसकी एक झलक अपने अन्तर की गहराई में बैठ करके पा सकते हैं। मनुष्य का असली स्वरूप यह हाड़-मांस का ढांचा नहीं है। उसका सच्चा स्वरूप तो मैं के रूप में विद्यमान यह चेतन सत्ता है। हमें भौतिकता में न रमकर आध्यात्मिक सुख की अनुभूति करना चाहिए। हमें अपने आप को इन्द्रियों के भ्रम तथा शब्दों के जाल से मुक्त रखना चाहिए। हममें ईमानदारी तथा सत्य के लिए अविचल निष्ठा होनी चाहिए। भौतिक तथा नश्वर भोगों में फंसकर हमें अपने आत्म-सुख को नहीं खोना चाहिए। शरीर नाशवान है, आत्मा अजर-अमर है। आत्मा के सहारे ही देह चलती है। हमें वही वस्तुएं स्वीकार्य होनी चाहिए जिनसे हमारी आत्मा ऊपर उठे। भौतिक आकर्षणों के पीछे भटकता व्यक्ति व्यामोहित है। उसका विवेक सोया हुआ है। सही साधनों द्वारा सत्य का अन्वेषण ही मानव जीवन का लक्ष्य है। निष्पक्ष बनो। अपने को टटोलो कि हम सत्य पथ पर हैं कि नहीं! मैं सत्य का खोजी हूं। मुझे अपने विषय में पूर्ण होने का दावा नहीं है।''

3. मृत्युदण्ड

सुकरात के उपर्युक्त वक्तव्य से राजनीतिज्ञों को संतोष नहीं हुआ। उन लोगों ने पूछा कि तुम्हें कौन-सा दण्ड मान्य होगा? सुकरात ने कहा—''एथेंस की जनता को मेरा उपकार मानना चाहिए; क्योंकि मैंने उन्हें अन्धविश्‍वासों से मुक्त होने का रास्ता दिखाया है।'' इतना सुनकर अधिकारीगण अधिक जल गये, और सुकरात को जहर देकर मार डालने की आज्ञा दे दी गयी।

''कौन जानता है, मृत्यु और जीवन में कौन श्रेष्ठ है?''—यह कहकर सुकरात ने निश्‍चिंत भाव से आज्ञा सुन ली। उन्हें कारागार में ले जाया गया।

उनके भक्त भी उनके साथ गये, उन्हें घेरे रहे। सुकरात अपनी मस्ती में उस समय भी तत्त्व चर्चा में निमग्न थे।

सुकरात मृत्यु की महत्ता तथा आत्मा की अमरता पर भाषण दे रहे थे। उनके साथी उनके भाषण-श्रवण में तल्लीन थे। सुकरात कह रहे थे जीवन मुझे जितना प्रिय है, मृत्यु उतनी ही प्रिय है।

उनकी पत्नी 'झेन्टीप' आयी। वह सुकरात से सदा उलझी रही; परन्तु सुकरात के प्रति उसकी श्रद्धा कम नहीं थी। वह चिल्लाकर रो पड़ी। सुकरात ने उसे अपने शिष्यों द्वारा घर भेजवा दिया और सत्संग चर्चा में निमग्न हो गये।

उनके भक्तों ने उन्हें जेल से निकल भागने का प्रबन्ध कर दिया; सुकरात नहीं भागे। क्योंकि वे कोई अपराध नहीं किये थे।

वह घड़ी आ गयी। जेलर हलाहल विष (भयंकर जहर) का प्याला लेकर आया। सुकरात ने पूछा—"मुझे क्या करना चाहिए?" जेलर ने कहा—"इसे पी लें, और कुछ समय घूमते रहें। जब पैर लड़खड़ाने लगे तब लेट जायें।" जेलर विष का प्याला सुकरात को पकड़ाते समय मुख पीछे कर लिया और उसकी आंखें आंसुओं से तर हो गयीं। परन्तु सुकरात प्रसन्न-मुख होकर विष को एक ही बार में पी गये।

विष पीकर सुकरात घूम रहे थे और शिष्यों को अपना अमृतोपदेश सुना रहे थे "मैं अमर हूं। शरीर मरेगा, मैं नहीं मर सकता।" वे तत्त्वचर्चा कर रहे थे। अन्ततः उनके पैर लड़खड़ाने लगे। वे लेट गये। उन्होंने कहा—

"मैं इस संसार को छोड़ रहा हूं, परन्तु जो कुछ मैंने यहां देखा, उससे अधिक कुछ नहीं हो सकता। मेरा समय आ गया है। मुझे छुट्टी मिल चुकी है। मैं आशापूर्ण हृदय से जा रहा हूं। ऐ मेरी मृत्यु! तू मेरे जीवन की पूर्णता है। मैं तेरी प्रतीक्षा में हूं। तुझसे मिलने के लिए मेरी आत्मा छटपटा रही है"

एक शिष्य ने पूछा—"आपकी समाधि का क्या होगा?" उन्होंने कहा—"जो तुम्हारी इच्छा हो, केवल यदि तुम मुझे रोक सको।" महात्मा सुकरात इस दुनिया से अनासक्त थे। उन्होंने आंखें मूंद लीं और मौन हो गये।

4. सुकरात की महानता

जहर देने वाले मर गये। आज उनको कोई नहीं जानता, परन्तु जहर पीकर सुकरात करोड़ों लोगों के हृदयों में जी गये और वे आज भी जीते हैं तथा जब तक मानवता का इतिहास जीवित रहेगा, सुकरात जीते रहेंगे। उनके आत्मा की उत्तम गति हुई ही।

सुकरात एक महान व्यक्तित्व के पुरुष थे। वे चाहते तो जेल से निकलकर भाग सकते थे। परन्तु वे जेल में ही डटे रहे। उनके लिए जीवन तथा मरण

बराबर थे। ऐसे महान पुरुष संसार में कभी-कभी आते हैं। सुकरात के जीवन-दर्शन और विचारों ने यूनान का बौद्धिक तथा नैतिक स्तर ऊंचा उठा दिया। यूनान के महान दार्शनिक 'प्लेटो' सुकरात के चरण शिष्य थे। प्लेटो के बाद सुकरात के दूसरे शिष्य 'जेनोफन' थे। इन्होंने सुकरात के विषय में महत्त्वपूर्ण विवरण लिखकर संसार को दिया है।

सुकरात ने स्वयं कोई पुस्तक नहीं लिखी। सुकरात के विषय में जो कुछ लिखा वह प्लेटो तथा जेनोफन ने। वस्तुतः सुकरात का सच्चा जीवन ही उनके विचारों को पढ़ने की पोथी है। सत्य की वेदी पर जो उन्होंने अपना बलिदान किया इससे वे संसार में और अधिक चमक गये।

5. महात्मा सुकरात के कुछ उपदेश

1. मनुष्य का सर्वोच्च धर्म है आत्मा का पूर्णत्व प्राप्त करना।
2. आत्मा को प्राप्त करो फिर सब कुछ मिल जायेगा।
3. ज्ञान ही धर्म है और अज्ञान अधर्म।
4. धर्म केवल बाह्याचरण नहीं, ज्ञानमूलक है।
5. धन से जीवन धार्मिक नहीं होता, प्रत्युत धर्म से धन प्राप्त हो जाता है।
6. अपने अज्ञान को जानना ज्ञान का प्रभाव है।
7. अन्धे के समान मत जीयो, जीवन पर विचार करो।
8. धार्मिक व्यक्ति कभी नीचे नहीं गिरता।
9. मृत्यु से न डरकर अधर्म से डरो।
10. किसी काम में मृत्यु की चिन्ता छोड़कर उचित-अनुचित की चिन्ता करो।
11. हमारा वैरी अन्य कोई नहीं, हमारे बुरे कर्म हैं।
12. मृत्यु से बचने की चेष्टा मत करो, बुरे कर्मों से बचो।
13. बुराई का बदला बुराई से लेने को कभी मत सोचो।
14. सुख-दुख की परवाह न करनेवाला मृत्यु को जीत लेता है।
15. अपने आत्मा को शरीर से भिन्न समझने का एकरस प्रयास ही मृत्यु का अभ्यास है।
16. आत्मा अमर है, उसका पुनर्जन्म होता है और जन्मान्तर में कर्मफल भोग चलते हैं।

11
महात्मा ईसा

संत ईसा विश्व-विश्रुत नाम है, जिसने विश्व को प्रेम का पाठ पढ़ाया। अहिंसा के इस अद्‌भुत पुजारी ने अपना बलिदान देकर विश्व के सामने सत्य में स्थिर रहने का उच्चतम आदर्श स्थापित किया और विश्व के एक बहुत बड़े जनसमुदाय को प्रभावित किया।

1. जन्म और जीवन

महात्मा ईसा नाजरथ नाम के गांव में मरियम नाम की कुंवारी कन्या के गर्भ से पैदा हुए थे। जब ईसा गर्भ में आ गये तब मरियम की शादी यूसुफ नाम के एक युवक से हुई जो पेशे से बढ़ई थे। ईसा बड़ा होकर अपने पिता के साथ बसुला-रंदा चलाकर बढ़ई का काम करते थे।

जिस गांव में ईसा पैदा हुए थे गरीबों का था। ईसा स्वयं भी गरीब घर में जन्में तथा पले थे। ईसा स्वभाव से कोमल और गरीबों से प्रेम करने वाले थे। ईसा के तीस वर्ष कैसे बीते इसका कोई पता नहीं है। वे तीस वर्ष की उम्र के बाद प्रसिद्ध होते हैं।

कुछ विद्वान यह कल्पना करते हैं कि इन तीस वर्षों के भीतर ही भारतवर्ष के तक्षशिला नाम के विश्वविद्यालय में उन्होंने शिक्षा ग्रहण की थी, और उस समय भारत में फैले बौद्धमत से बहुत-सा उपदेश एवं ज्ञानतत्त्व ग्रहण किया था। इसीलिए ईसा के जीवन और उपदेशों में बौद्धमत के प्रतिबिंब हैं जैसे दया, अहिंसा, मानव-प्रेम, करुणा, समता, त्याग आदि। परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं है कि ईसा तक्षशिला आये थे।

महात्मा ईसा यहूदी परिवार में जन्में थे। उस समय उसमें बहुत पाखंड भर गया था। इसलिए वे उससे ऊबे हुए थे। वे धनियों के आडम्बरपूर्ण जीवन, पुरोहितों के पाखंडों तथा राजनेताओं के अहंकार तथा दुराचरणों से घृणा करते थे। वे अपने आप को ''मानव का पुत्र'' कहते थे तथा आम जनता को अपने उपदेश देते हुए घूमते थे। वे कहते थे—''स्वर्ग का राज्य निकट है।'' उनका यह कथन शायद जीवन की पवित्रता के लिए था। वे मानव-मात्र को पवित्र तथा सुखी देखना चाहते थे। इसलिए वे अधिकतम गरीबों में घूमकर उपदेश करते थे तथा कुलीनों द्वारा तुच्छ और अछूत कहे जाने वाले लोगों को श्रेय देते थे और उनके निमन्त्रण सहर्ष स्वीकार करते थे।

2. यहुन्ना से भेंट

यहुन्ना भी यहूदी घर में जन्में तथा ईसा की तरह ही नवजवान थे। उनके विचार रोमन-साम्राज्य के विरोध में था। वे जौर्डन नाम की नदी के तट पर रहते थे और अपने श्रोताओं से कहते थे कि रोमन-राज्य शीघ्र नष्ट होगा तथा ईश्वर का राज्य स्थापित होगा।

यहुन्ना के उपदेशों के प्रभाव को सुनकर लोग दूर-दूर से उनके पास आते थे और यहुन्ना उन्हें जौर्डन नदी के जल से अभिषिक्त कर बपतिस्मा (दीक्षा) देते थे। ईसा की तरह यहुन्ना भी धनी पुजारियों, ऊंचे कुल के कहलाने वाले यहूदियों तथा राजपुरुषों के खिलाफ थे। जौर्डन नदी पर जहां यहुन्ना रहते थे जूडिया नामक जगह थी। ईसा ने यहुन्ना की महिमा सुनी और वे अपने कुछ शिष्यों के साथ यहुन्ना के दर्शन तथा सत्संग-लाभ के लिए उनके पास आये।

ईसा तथा यहुन्ना के विचारों में समता थी। ईसा यहुन्ना के पास कुछ दिनों तक रह गये और उनके उपदेशों से उन्होंने काफी लाभ उठाया। उन्होंने यहुन्ना से बपतिस्मा (दीक्षा) भी ग्रहण की। पीछे ईसा भी बपतिस्मा देने लगे। इस प्रकार जौर्डन नदी के दोनों तटों पर बपतिस्मा देने की काफी गहमागहमी हो गयी।

यहुन्ना राज्याधिकारियों की बड़ी आलोचना करते थे। अतएव वे पकड़कर कारावास में डाल दिये गये।

3. ईसा की चालीस दिन की तपस्या

यहुन्ना के कैद हो जाने पर ईसा मृत्यु-सागर तथा जौर्डन नदी के क्षेत्र में घूम-घूमकर अपना उपदेश देते रहे। जूडिया के रेगिस्तान में उन्होंने उपवास तथा तप किया। लोगों में भ्रम था कि इस रेगिस्तान में भूत-प्रेतादि रहते हैं। जनता ने ईसा की बड़ी महिमा फैलाई कि ईसा ने इस रेगिस्तान के शैतानों से घोर संग्राम करके विजय पायी है।

इसके बाद ईसा गैलिली लौट आये। यहुन्ना के सत्संग तथा रेगिस्तान में चालीस दिन तप तथा चिंतन के परिणाम में ईसा का व्यक्तित्व उद्‌घाटित हो गया। ईसा ने यहुन्ना का सत्संग पाकर निर्भय होकर उपदेश करना सीखा। ईसा में क्रांति की भावना अधिक जग गयी। यहुन्ना की तरह ईसा ने भी "स्वर्ग का राज्य निकट है।" कहना शुरू किया।

4. संत ईसा के उपदेश

उन्होंने कहा "संसार में पाप का राज्य है। शैतान राजा है। उसी की आज्ञा में सब चल रहे हैं। राजा ज्ञानियों की हत्या करता है। भले लोगों को विवशता से दुख में पिसने के सिवा कोई चारा नहीं है। इसलिए यह समाज तथा संसार ईश्वर के भक्तों का शत्रु है। पाप का घड़ा भर गया है और वह फूटने वाला

है। इसके बाद ईश्वर का राज्य आयेगा। अभी तो अच्छे-बुरे सब प्रकार के लोग हैं। परन्तु ईश्वर का राज्य होने पर वह एक बड़ा जाल बिछायेगा। उसमें अच्छी-बुरी सारी मछलियां फंस जायेंगी। उसमें अच्छी लेकर बुरी को फेंक दिया जायेगा। पहले धीरे से बदलाव होगा। पीछे व्यापक हो जायेगा। यह बदलाव आटे में खमीर की तरह होगा, इत्यादि।'' इस प्रकार ईसा ने अपना उपदेश देना आरम्भ किया।

इस स्वर्गीय राज्य को स्थापित करने की जिम्मेदारी संत ईसा ने अपने ऊपर ली। यह समाज का बुरे से अच्छी दिशा में बदलाव था। उन्होंने राजनीति को अपने उपदेश तथा जीवनचर्या से दूर रखा। उन्होंने रोमन-साम्राज्य का तख्ता पलटने की बात नहीं सोची, किंतु अपना निर्विघ्न कार्य करने के लिए राज्य को कर (टैक्स) दिया।

उन्होंने संसार के भोगों को तुच्छ समझा। वे जीवनभर अविवाहित रहे। उन्होंने क्षणभंगुर दुनियादारी सुखों में जीवन नष्ट करना अनुचित समझा। गैलिली के भक्तों ने महात्मा ईसा को राजा बनाने का प्रस्ताव रखा। परन्तु यह बात सुनकर संत ईसा जंगल को भाग गये। यह उनका विवेक था। ईसा को राज्य की भूख न थी। वे तो मानवता के उन्नायक थे। उन्होंने यह दिखा दिया कि नागरिकता एवं राष्ट्रीयता से मानवता ऊंची है।

जब उन्होंने कहा ''स्वर्ग का राज्य निकट है'', तब उनके मन में यही था कि सत्य की विजय होती है। वैसे वे लौकिक राज्य को बुरा मानते थे। वे न्यायाधीश को आततायी समझते थे। जनता को उससे लड़ने के लिए उभाड़ते थे। उनका रास्ता हिंसा का नहीं था, किन्तु सत्य-अहिंसा का था। वे कहते थे कि विद्वान, पुरोहित तथा धनी ईश्वर के स्वर्गीय राज्य में प्रवेश नहीं पा सकते। उसमें तो साधारण लोग, निर्धन, स्त्रियों, विनयशील, बच्चे आदि निष्पाप लोग ही प्रवेश पायेंगे। वे जानते थे कि मेरे इस उपदेश से आभिजात्य तथा अधिकारी लोग मेरी जान के ग्राहक हो जायेंगे। परन्तु वे इससे निर्भय थे। उन्होंने सोचा गरीब, उपेक्षित तथा विनम्र लोग मेरी बातें सुनेंगे। वे ऊंच-नीच की भावना मिटाकर मानवमात्र में समता की स्थापना करना चाहते थे। उन्होंने कहा— जिसने अपने आत्मा को खो दिया, अर्थात अपना महत्त्व मिटा दिया, वह सारी दुनिया को भी पा गया, तो क्या हुआ।

संत ईसा ने ईश्वर को पिता कहा। अथवा उन्होंने अपने आप को ईश्वर का पुत्र कहा। इसे भारतीय भाषा में ''अमृतस्य पुत्रा'' अर्थात जीव को अमृत का पुत्र कहा गया है। इसका सरल अर्थ यही होगा कि जीव परम सत्य है। मनुष्य सत्य है, वह सत्य से प्रेम करे। संत ईसा ने कहा कि तुम दूसरों को केवल प्रेम दो, उनसे कुछ अपने लिए न चाहो। त्यागमय जीवन बनाओ। जब तुम्हारे ऊपर

मुकदमा चले तब तुम अपनी रक्षा के लिए कोई प्रमाण मत दो, इजरायल के नगरों में घूमो और मानव के सच्चे पुत्र बनो। यह निश्चय है कि इस तरह चलोगे तो मंदिरों में मारे जाओगे, जेलों में डाले जाओगे। भय छोड़ दो। तुम्हारी आत्मा अमर है। सत्य कहने में डर मत करो। सत्य के लिए माता, पिता, भाई, पत्नी, बच्चे सब छोड़ दो। जो ऐसा नहीं कर सकता वह मेरा शिष्य नहीं हो सकता। जो व्यक्ति अपने माता, पिता, पत्नी, बच्चे, भाई, बन्धु से मुझसे अधिक प्रेम करता है वह मेरा शिष्य नहीं हो सकता। हे लोगो! तुम बोझ से पीड़ित हो। मेरे पास आओ! मैं तुम्हें आराम दूंगा। मुझमें विश्वास करो, क्योंकि मैं विनम्र हूं।

अंतीपस नामक सरदार ने ही यहुन्ना को जेल में डाला था। उसके विरोध में ईसा ने भी बहुत कुछ कहा। हवा यह फैली कि अंतीपस ईसा को मार डालना चाहता है, परन्तु ईसा ने इसकी कोई चिंता नहीं की।

ईसा की अपनी जन्मभूमि नाजरथ में उनकी बात कोई नहीं सुनना चाहता था। इसको लेकर ईसा को निराशा हुई। उन्होंने कहा—लोमड़ियों के लिए जमीन में बिल है तथा पक्षियों के लिए घोसलें, परन्तु मानव-पुत्र के लिए सिर छुपाने के लिए भी जगह नहीं है।

यहूदी, जिसमें ईसा जन्में थे, ईसा के लिए कटु होते गये। यहूदियों का एक "फैरिसी" सम्प्रदाय था। वह बहुत ढोंगी था। उनमें बड़ा आडम्बर था। उनके अनेक आचरण उपहास-जनक थे। जो उनको आदर देते थे वे भी उनके आचरण से हंसे बिना नहीं रहते थे। "फैरिसी" में निम्न आचरण थे—

1. तिक्फी—ये रास्ते में चलते समय पैर घसीटते तथा पत्थरों पर ठोकर मारते हुए चलते थे।
2. किजाई—ये इसलिए आंखें बन्द करके चलते थे कि जिससे स्त्री पर नजर न पड़ जाय। ये दीवारों से अपने सिर इस तरह टकराते थे कि इनके मस्तक रक्तरंजित हो जाते थे।
3. मदिन्किया—ये कमर दोहरी करके चलते थे।
4. शिकमी—ये पीठ झुकाकर चलते थे कि मानो हजरत मूसा के सारे आदेश तथा नियम इन्हीं की पीठ पर लदे हैं।
5. रंगे सियार—अनेक पाखंड तथा बाह्याचार करने वाले।

शायद ये नाम उनको जनता ने दे रखे थे। संत ईसा को इस फैरिसी सम्प्रदाय से बड़ी चिढ़ थी। फैरिसी लोग अपने को संभ्रांत, उच्च तथा धार्मिक मानते थे। ईसा गरीबों तथा सरल लोगों को उपदेश देते थे। इसलिए फैरिसी लोग इससे अपना अपमान समझते थे। इससे संत ईसा से फैरिसी लोग घृणा बढ़ाते गये।

एक बार यहूदियों के मंदिर में पशुबलि के लिए पशुओं की खरीद-बिक्री की ईसा ने बड़ी निंदा की, पुरोहितों को बहुत फटकारा और व्यापारियों को मंदिर से बाहर निकाल दिया। ईसा तथा उनके शिष्य निर्भय होकर यहूदियों के सम्प्रदाय में घुसे हुए पाखंड तथा अत्याचार को विनष्ट कर देना चाहते थे।

एक बार संत ईसा ने कहा—"मैंने दो मनुष्यों को पूजा हेतु मन्दिर में जाते हुए देखा। उनमें से एक फैरिसी था, दूसरा अछूत। फैरिसी ने इस प्रकार प्रार्थना करना आरम्भ किया "हे ईश्वर, मैं तुझे धन्यवाद देता हूं कि मैं औरों की तरह रुपया ऐंठने वाला अन्यायी या व्यभिचारी नहीं हूं और न मैं इस अछूत-सा ही हूं। मैं सप्ताह में दो बार उपवास करता हूं और अपने धन का दसवां हिस्सा दान कर देता हूं।" और अछूत ने दूर खड़े होकर बिना आसमान की ओर आंख उठाये, छाती पीटते हुए कहा—"हे ईश्वर, मुझ पापी पर दया कर।" ईसा ने कहा—"मैं कहता हूं कि अछूत फैरिसी की अपेक्षा अधिक अच्छा था।"[1]

संत ईसा यहूदी परिवार में पैदा अवश्य हुए थे, परन्तु उनके विचार उससे स्वतन्त्र थे। ईसा के व्यंग्य भरे वचनों से यहूदी उनके शत्रु बन गये और उनकी जान के भूखे हो गये।

5. गैलिली से जूड़िया प्रस्थान

कहा जाता है कि यदि ईसा जीवनभर गैलिली में ही रहते तो उनके ऊपर कोई आंच न आतीं, परन्तु उन्होंने सोचा कि अपनी बातें दूसरी जगहों में भी फैलाऊं। एक उत्सव में लोग गैलिली से जूड़िया गये, तो ईसा भी बिना किसी से कुछ कहे-सुने अकेला वहां के लिए चल दिये।

जूड़िया पहुंचने पर ईसा के शिष्य उनसे मिले, परन्तु उन्होंने अपने शिष्यों में बड़ा बदलाव पाया। वे सब अपरिचित से लग रहे थे। जनता ईसा की बातों को नहीं सुन रही थीं। गैलिली-निवासी होने के कारण भी जूड़िया में उनका निरादर हो रहा था।

एक दिन वे वहां के मन्दिर में गये। उनके शिष्यों ने उनकी दृष्टि मन्दिर के ऐश्वर्य पर आकृष्ट किया। ईसा ने कहा "तुम इन इमारतों की ओर देखते हो! इनकी एक-एक ईंट का भी पता नहीं रहेगा। देखना चाहते हो तो इस गरीब विधवा की ओर देखो। इसने दान-संदूकचे में जो पाई डाली है वही उसका सर्वस्व था। धनियों के दान से इसके दान का अधिक महत्त्व है।" ऐसी बात मन्दिर के पुरोहितों को बहुत बुरी लगी।[2]

---

1. **हिन्दी विश्वभारती, पृष्ठ 798।**
2. **हिन्दी विश्वभारती, पृष्ठ 798।**

यरूशलम में ईसा ने अपने लिए कटुता का अनुभव किया। इसलिए वे वहां से डेढ़ घंटे चलकर बैथनी नाम की जगह में चले जाते थे। वहां एक अच्छा परिवार था। यहां मार्था और मैरी नाम की दो बहनें तथा लैजेरस नाम का भाई रहते थे। इनके यहां ईसा को शांति मिलती थी।

ईसा के उपदेशों से यहूदी एकदम भड़क गये थे। वे अधिकारियों को उनके विरोध में भड़काने के लिए तत्पर हो गये थे।

एक दिन आवेश में आकर ईसा ने कह ही डाला—"हाथों से बनाये इस मन्दिर को मैं नष्ट कर दूंगा और बिना हाथों के तीन दिन के अन्दर दूसरा मन्दिर बना दूंगा।" इसका अर्थ लोगों ने बहुत लगाया पर समझ न सके। बाद में ईसा का यही कथन उस अपराध-पत्र पर उद्‌धृत किया गया था, जिसे सुनाकर अन्त में उन्हें क्रूस पर लटकाया गया।"[1]

संत ईसा की उक्त बात से पुरोहित-वर्ग चिढ़ गया। यहूदी एवं फैरिसियों ने ईसा पर पत्थर फेंके, क्योंकि पैगम्बर मूसा के आदेश हैं—"यदि कोई तुम्हें प्राचीन पंथ से विचलित करे, तो उसकी सुने बगैर उसे पत्थर मारो।"[2] लोगों ने ईसा को पागल करार दे दिया।

संत ईसा ठंडी के चार महीने यरूशलम में रहे। इसके बाद वे जौर्डन नदी तट पर गये। इस बीच एक घटना घटी। जाकियस नाम का एक अपराधी था। ईसा ने उसका आतिथ्य स्वीकार किया। इससे प्रभावित होकर वह ईसा का शिष्य बन गया और अपना आधा धन गरीबों तथा अपंगों में बांट दिया। उसने पहले जिनके धन अन्यायपूर्वक लिए थे, उन्हें उसका चौगुना लौटा दिया। इसी समय कहा जाता है कि ईसा ने एक मृत व्यक्ति को जिला दिया। परन्तु यह पीछे का उनके शिष्यों द्वारा प्रचार लगता है, क्योंकि मृत को कोई जिला नहीं सकता ।

यहूदियों ने तय किया कि ईसा हमारे सम्प्रदाय के लिए खतरनाक है। अतएव सम्प्रदाय की रक्षा के लिए एक व्यक्ति की हत्या करवा देना अच्छा है। पुरोहित समझ रहे थे कि ईसा के प्रचार से मन्दिर की आमदनी घटेगी। अतएव यरूशलम के मन्दिर का प्रधान पुरोहित "काइआफा" ने ईसा को कैद कर लेने की आज्ञा दे दी।

यरूशलम में अगले दिनों एक उत्सव था। लोग सोचते थे कि ईसा उसमें आयेंगे तब उन्हें कैद कर लिया जायेगा। ईसा उत्सव के छह दिन पहले बैथनी गये। उनकी शिष्या मैरी ने एक इत्रदान फोड़कर सारा इत्र ईसा के पैरों पर

---

1. **वही, पृष्ठ 798।**
2. **वही, पृष्ठ 798।**

उड़ेल दिया और अपने सिर के बालों से उनके पैर पोछे। घर सुगन्धी से भर गया। परन्तु ईसा के एक शिष्य जूड़ास को यह व्यर्थ का खर्च अच्छा न लगा।

दूसरे दिन ईसा बैथनी से यरूशलम गये। गैलिली के लोगों ने ईसा के विचारों की विजय के उपलक्ष्य में एक जुलूस निकाला। एक गधे को सजाकर ईसा को उस पर बैठाया गया और सड़क पर जुलूस लेकर चले। लोगों ने रास्ते में कपड़े बिछाये। भीड़ में से अनेकों ने ईसा को यहूदियों का राजा कहकर नारा लगाया। इसे संभ्रात तथा कुलीन यहूदियों ने बुरा माना और उन्होंने ईसा से कहा कि ऐसा नारा लगाने से अपने अनुयायियों को रोक दो। ईसा ने कहा यदि ये चुप हो जायेंगे तो सड़क की एक-एक ईंट बोल पड़ेगी। इस उत्सव के बाद संत ईसा पुन: बैथनी चले गये।

इसके बाद यहूदी बहुत उत्तेजित हो गये। प्रधान पुरोहित ''काइआफा'' के घर पर बैठक हुई, और निर्णय लिया गया कि बिना प्रचार किये, चुपचाप ईसा को कैद कर लिया जाये। ईसा का एक शिष्य जूड़ास पुरोहितों के हाथों फूट गया। वह थोड़े पैसे के प्रलोभन में पड़ गया।

ईसा ने अपने सभी शिष्यों के साथ भोजन करते समय उनकी तरफ इशारा करके कहा कि इनमें एक मुझे धोखा देगा। जूड़ास का रवैया पहले से भी अच्छा नहीं था। वह चौंक गया और कहा—क्या प्रभु, आपका सन्देह मेरे ऊपर है!

जुड़ास ने ईसा को पकड़ने वालों से कह रखा था कि मैं जिसका हाथ चूम लूंगा उसको समझ लेना कि ईसा है। जूड़ास जानता था कि ईसा अपने शिष्यों के साथ कहां प्रार्थना करते हैं। जब यहूदियों को लेकर जूड़ास ईसा के पास पहुंचा तब ईसा के अन्य सारे शिष्य भी ईसा को छोड़कर भाग खड़े हुए और बिना कठिनाई के ही ईसा बन्दी बना लिये गये।

ईसा को यहूदी रोमन न्यायाधीश पाइलेट के पास ले गये। न्यायाधीश नहीं चाहता था कि ईसा को मृत्युदण्ड दिया जाये, परन्तु यहूदियों तथा उनके पुरोहितों के जोर देने पर उसने संत ईसा को क्रूस पर चढ़ाने की आज्ञा दी।

ईसा की हत्या करने वाला यहूदी-समाज संसार में नाना ठोकर खाया और थोड़ा रह गया, परन्तु ईसा की परम्परा विश्वव्यापी हो गयी। सचमुच सत्य की हत्या नहीं की जा सकती। ईसा एक निर्मल संत थे। समसामयिक यहूदियों ने उन्हें नहीं समझा।

12
हजरत मुहम्मद

हजरत मुहम्मद संसार के महान पुरुषों में से एक हैं, जिनके मजहब ने मनुष्य के एक बड़े समुदाय को प्रभावित किया है। आप अपने लक्ष्य के लिए समर्पित, पक्के इरादे के तथा लौहपुरुष थे। आपका जीवन संघर्षमय था, परन्तु आप उसमें से खरे सोने के समान उत्तीर्ण होकर इतिहास में अमर हो गये।

1. जन्म स्थान और जन्म

अरब देश में मक्का एक नगर है। उसमें एक कुरैश वंश था। इस वंश में पिता 'अब्दुल्ला' माता 'आमिना' से आपका जन्म हुआ। आपके जन्म की तारीख 11 नवम्बर सन् 569 ई० है। आपके पितामह का नाम अब्दुल मुत्तलिब था। अब्दुल मुत्तलिब के बारह पुत्र थे। उनमें पांच प्रसिद्ध हुए। एक अब्दुल्ला, जो हजरत मुहम्मद के पिता थे। दूसरे अबूतालिब जिन्होंने हजरत मुहम्मद का चलाया इसलाम मजहब तो नहीं स्वीकार किया, परन्तु अपने जीवन भर उनके विरोधियों से उनकी रक्षा की। तीसरे तथा चौथे 'हमजा' और 'अब्बास' थे, जिन्होंने इसलाम स्वीकारा था। और पांचवें थे 'अबूलहब' जो इसलाम के कट्टर विरोधी थे। कहा जाता है कि हजरत मुहम्मद हजरत इब्राहीम के पुत्र इस्माईल के बाद करीब साठवीं पीढ़ी[1] में पड़ते हैं। ये वही 'इब्राहीम' तथा 'इस्माईल' हैं जिनसे ईश्वर के नाम पर कुर्बानी (जीववध) चली। कहा जाता है कि इब्राहीम ने ईश्वर को खुश करने के लिए अपने पुत्र इस्माईल का वध करना चाहा, परन्तु उनका कुछ न होकर एक भेड़ा का वध हो गया। फिर कुर्बानी चल पड़ी।

अब्दुल्ला की जब आमिना से शादी हुई तब अब्दुल्ला सत्तरह वर्ष के थे। वे शादी के बाद अपनी कुलरीति के अनुसार ससुराल में तीन दिन रहे। उसके बाद वे व्यापार के लिए शाम (सीरिया) चले गये। शाम अरब के उत्तर है। वे शाम से लौटकर जब मदीना नगर में पहुंचे, तो बीमार पड़ गये और वहीं

---

1. बाइबिल के नये नियम के अनुसार संत ईसा हजरत इब्राहीम के बयालिस (42) वीं पीढ़ी में पैदा होते हैं। (मत्ती, 1/17)। और सन्त ईसा के 569 वर्ष बाद हजरत मुहम्मद जन्म लेते हैं। जिसमें हर पीढ़ी, पच्चीस वर्ष की मानने पर बाईस पीढ़ी होती है। अतः इस उदाहरण के अनुसार हजरत इब्राहीम के बाद चौसठ (64) वीं पीढ़ी में हजरत मुहम्मद जन्म लेते हैं। यह कोई खास अन्तर नहीं है।

उनका देहांत हो गया। इस समय मक्का में आमिना गर्भवती थीं और समय आने पर उन्होंने हजरत मुहम्मद को जन्म दिया। इस प्रकार हजरत मुहम्मद अपने पिता का मुख भी नहीं देख सके थे।

2. पालन-पोषण

माता आमिना ने आपको पाला-पोषा, परन्तु जब आपकी उम्र छह वर्ष की हुई तब उनकी मृत्यु हो गयी। इस प्रकार आप अपने बचपन में ही अपनी माता की छाया से वंचित हो गये। इसके बाद आपके पालन-पोषण का भार आपके पितामह अब्दुल मुत्तलिब पर आ गया। जब हजरत मुहम्मद आठ वर्ष के हुए तब आपके पितामह भी मर गये। इसके बाद आपके चचा अबूतालिब ने आपको अपनी रक्षा में लिया और कुशलतापूर्वक उन्होंने आपका पालन-पोषण किया। दस-बारह वर्ष की उम्र में हजरत मुहम्मद बकरियां चराते तथा घर के अन्य काम-काज में हाथ बटाते रहे। जब हजरत मुहम्मद की उम्र बारह वर्ष की थी, वे अपने चचा अबूतालिब के साथ व्यापार के सिलसिले में शाम देश गये। इस प्रकार वे व्यापार का काम सीखने लगे।

3. व्यापार और पहली शादी

हजरत मुहम्मद व्यापार करने लगे। उनका काम ईमानदारी का होता था। वे स्वभाव में गम्भीर, मितभाषी तथा नेक थे। उन्होंने 'खदीजा' नाम की एक धनवान विधवा के यहां नौकरी कर ली। आपकी उम्र इस समय पचीस वर्ष की थी और खदीजा की चालीस वर्ष। उसने आपसे अपने विवाह का प्रस्ताव रखा। आपने उसे स्वीकार लिया। खदीजा भी कुरैश-कुल की थी तथा आपकी चचेरी बहन लगती थी। अंतत: आपकी शादी उससे हो गयी। कहा जाता है कि खदीजा ने विवाह के समय आपको पांच सौ सोने के सिक्के दिये।

4. कुछ घटनाएं और काबे का पुनर्निर्माण

अरब के अधिक लोग काफी उद्दण्ड एवं लड़ाकू थे। वहां कबीलों में बराबर युद्ध चलता रहता था। एक युद्ध कुरैश और कैस वंश के कबीलों में हुआ। बहुत रक्तपात के बाद समझौता हुआ कि "1. देश से अशांति दूर करेंगे, 2. यात्रियों की सुरक्षा किया करेंगे, 3. पीड़ितों की सहायता किया करेंगे, 4. निर्धनों का पक्ष लेंगे तथा 5. किसी अत्याचारी को मक्का में नहीं रहने देंगे।"[1] इस युद्ध तथा समझौते में हजरत मुहम्मद सम्मिलित थे। कहा जाता है

---

1. **हजरत मुहम्मद की पवित्र जीवनी तथा संदेश, पृ० 31। लेखक अबूसलीम मुहम्मद अब्दुल हई। प्रकाशक-मकतबा अलह सनात, रामपुर, उत्तर प्रदेश। इसी ग्रंथ के आधार पर यह लेख लिखा गया है।**

कि हजरत मुहम्मद ने इस युद्ध में कुरैश कबीले को अपना योगदान किया, परन्तु उन्होंने किसी पर अपना हाथ नहीं उठाया। युद्ध के बाद जो समझौता हुआ उसमें हजरत की बड़ी रुचि थी।

कहा जाता है कि हजरत मुहम्मद की करीब साठ पीढ़ी के पहले जिसे करीब डेढ़ हजार वर्ष पूर्व माना जा सकता है हजरत इब्राहीम तथा उनके पुत्र हजरत इस्माईल ने काबा का प्रथम निर्माण किया था।

हजरत मुहम्मद के आरम्भिक काल में काबा की दशा दयनीय थी। काबा में एक नीची चारदीवारी मात्र थी। वर्षा में नगर का पानी जाकर उसमें भर जाता था। मक्का वालों ने निश्चय किया कि इसे गिराकर पुन: बनाया जाय। मक्का के प्राय: सभी कबीलों ने मिलकर इसका पुनर्निर्माण किया। अन्त में बात आयी 'हजरे असवद' (एक काला पत्थर) की स्थापना की। हर कबीला चाहता था कि इसकी स्थापना हमारे कबीले का सरदार करेगा। इस बात को लेकर आपस में वातावरण गरम हो गया। तलवार उठने की बात आ गयी। अन्त में एक वृद्ध ने कहा कि कल प्रात: काल पहले जो व्यक्ति काबा में दिखाई दे उसी को पंच माना जाय, और उसका निर्णय सर्वमान्य किया जाय।

दूसरे दिन प्रात: हजरत मुहम्मद ही काबा में दिखाई दिये। अत: उन्हें पंच माना गया। उन्होंने एक चद्दर बिछायी और उस पर 'हजरे असवद' रखा तथा सभी कबीले के सरदारों को कहा कि वे चद्दर के कोने को पकड़ें और ऐसा ही किया गया। जब उसे स्थापित करने के स्थान पर ले गये, तब हजरत ने उस पत्थर को निश्चित स्थान पर रख दिया और उसकी स्थापना हो गयी। इस प्रकार एक रक्तपात टल गया।

इस समय काबा मूर्तिपूजा का केंद्र था। यहां पर 360 मूर्तियां थीं। हजरत मुहम्मद का वंश कुरैश ही काबा का पुजारी तथा प्रबन्धक था। परन्तु हजरत मुहम्मद को यह अच्छा नहीं लगता था। अतएव वे न मूर्तियों का नमस्कार करते थे और न उनकी पूजा। वे इसके लिए अपने वंश वालों का भी साथ नहीं देते थे।

5. ईश्वरोपासना और एकांतचिंतन

हजरत मुहम्मद अपने वंश तथा मक्का वालों की पतन-दशा, उनकी परस्पर फूट, मूर्तिपूजा, बहुदेववाद, चरित्रहीनता और अनेक भ्रष्टाचारों को देखकर उद्वेगित थे। वे मक्का से करीब पांच किलोमीटर की दूरी पर स्थित एक छोटी पहाड़ी के 'हिरा' नाम की गुफा में जाकर मक्का वालों के कल्याण के लिए विचार करते और ईश्वर से दुआ मांगते कि वह उन्हें सामर्थ्य दे जिससे जाति वालों के लिए कल्याण का काम कर सकें। वे अपने साथ कुछ खाने-पीने की

चीजें ले जाते और उसी गुफा में रहते। जब सामान समाप्त हो जाता तब पुनः घर से ले जाते। कभी-कभी उनकी पत्नी खदीजा खाना-पानी पहुंचा जातीं।

एक दिन गुफा में उपासना में बैठे हुए हजरत मुहम्मद को भावावेश आ गया और लगा कि मानो उन्हें कोई भींच एवं झकझोर रहा है और बारम्बार उनसे पढ़ने के लिए कह रहा है, परन्तु वे उसे बारम्बार उत्तर दे रहे हैं कि मैं पढ़ा-लिखा नहीं हूं। इसी के बाद उनके हृदय में एक कविता प्रस्फुटित हुई। वह इस प्रकार है—

इकरा बिसमि् रब्बिकल्ल जी ख़लक
ख़लक़ल इनसान मिन अलक़
इक़रा वरब्बुकल अकरमु-
ल्लज़ी अल्लमा विलक़लम
अल्लमल इनसाना मा-लम यलम।

अर्थात—अपने रब के नाम से पढ़, जिसने मनुष्य को जमे हुए खून से उत्पन्न किया। पढ़ तेरा रब बहुत महान है जिसने कलम के द्वारा लिखाया और मनुष्य को वह सब सिखाया जिससे वह अनभिज्ञ था।[1]

इसके बाद हजरत कांपते हुए घर गये। उन्हें लगा कि हमारे प्राण पर संकट है। खदीजा ने समझाया कि ऐसी बात नहीं है। खदीजा उन्हें एक वृद्ध ईसाई पादरी के पास ले गयीं। पादरी ने सांत्वना दी। कहा जाता है कि हजरत को गुफा में भींचने तथा पढ़ने की आज्ञा देने वाला ईश्वर का प्रमुख फरिश्ता जिबराइल था जो ईश्वर की ओर से आया था और उसी ने उक्त कविता हजरत के ऊपर उतारी थी।

इसके बाद भी हजरत मुहम्मद 'गारे हिरा' अर्थात हिरा नाम की गुफा में जाते रहे। आपका आत्मविश्वास दिनोंदिन बढ़ता गया। कहा जाता है कि जिबराइल फरिश्ता गुफा में आ-आकर आपको संतोष देता रहा और कहता रहा कि आपका नबी होना ईश्वर ने स्वीकार लिया है।

6. इसलामी आन्दोलन

इसलामी आंदोलन को दो भागों में बांटा जा सकता है, एक 'मक्की दौर' तथा दूसरा 'मदीनी दौर'। अर्थात हजरत मुहम्मद ने पहले मक्का में, और फिर मदीना में यह आंदोलन चलाया।

अपने ही लोगों में बुजुर्गों की मान्यता के विपरीत एक नये मजहब का चलाना बड़ा कठिन काम है। हजरत मुहम्मद ने जब अपना मत पक्का कर लिया, तब उन्होंने उसका प्रसार करना चाहा। उन्होंने पहले पहल अपनी पत्नी

---

1. **वही, पृष्ठ 37।**

'खदीजा' को इसलाम में दीक्षित किया। इसके बाद अपने चचेरे भाई 'अली' को, गुलाम 'जैद' को तथा मित्र 'अबूबक्र' को। इसके बाद दस-पांच लोग और इसलाम में दीक्षित हुए।

7. गुप्त नमाजें

यह ध्यान रखा जाता था कि जो इसलाम के सदस्य हैं उनके बाहर बात न जाने पाये। हजरत मुहम्मद पहाड़ की घाटी में जाकर नमाज पढ़ते। एक बार वे एक पहाड़ की आड़ में नमाज पढ़ रहे थे। संयोग से उधर से चचा अबूतालिब आ निकले। वे हजरत के एक नये ढंग की उपासना का प्रकार देखकर चकित रह गये और नमाज खत्म होने पर उन्होंने पूछा 'यह कौन-सा धर्म है?' हजरत ने कहा 'यह पितामह इब्राहीम का धर्म है।' चचा अबूतालिब ने हजरत के धर्म को तो नहीं अपनाया, किन्तु अपने जीवन भर उनकी रक्षा करते रहे। लगभग तीन वर्षों तक इसलाम के सदस्य गुप्त रूप से बढ़ते रहे तथा उनकी गुप्त नमाजें चलती रहीं।

8. इसलाम का खुला निमत्रंण

हजरत मुहम्मद ने सोचा कि अब अपनी बातें खुलकर कहनी हैं। अरब में यह प्रचलन था कि जब कोई संकट की घड़ी आती थी, तब एक व्यक्ति किसी ऊंची जगह पर खड़ा होकर 'या सबाहा' कहकर पुकारता था। हजरत मुहम्मद ने 'सफा' की पहाड़ी पर चढ़कर पुकारा 'या सबाहा'। यह आवाज सुनकर नगर से बहुत लोग आ गये और वे जानना चाहे कि बात क्या है। हजरत ने कहा— ''मूर्तिपूजा छोड़ो, एक ईश्वर की उपासना करो। यदि इसे नहीं मानते हो तो आप लोगों पर भयंकर आफत आने वाली है।'' हजरत की इन बातों को सुनकर भीड़ क्रुद्ध हो गयी। उनके चचा 'अबूलहब' भी आ चुके थे। वे बहुत भड़के और उन्होंने कहा—''क्या तुमने हम लोगों को इसीलिए पुकारा है?'' सब लोग उलटा-पलटा कहते हुए लौट गये।

एक दिन हजरत ने मक्का के बहुत-से लोगों को भोजन के लिए निमंत्रित किया। भोजन के बाद हजरत ने सभा में अपने दीन के प्रचार की बात रखी। सभा में सन्नाटा छा गया। हजरत की बात मानने का मतलब यह था कि पूरे अरब के लोगों से शत्रुता मोल लेना। परन्तु इस सन्नाटा का भंग किया 'अली' ने। उन्होंने कहा—''मैं कमजोर तथा कम उम्र का हूं, परन्तु मैं आपका साथ दूंगा।'' सभा को अली पर आश्चर्य हुआ।

9. काबा में इसलाम की घोषणा

हजरत मुहम्मद के मार्ग में अब तक चालीस लोग सम्मिलित हो गये थे। उन्होंने सोचा कि अब काबा में इसकी घोषणा करनी है। हजरत ने जाकर

काबा में मूर्तिपूजा का विरोध और एकेश्वरवाद की घोषणा की। मूर्तिपूजक अरब वालों के लिए यह घोर अपमान था। वे भड़क उठे और चारों ओर से तलवार लेकर आप पर टूट पड़े। 'हारोस बिन अबी हाला' नाम के सज्जन आपको बचाने के लिए दौड़ पड़े, परन्तु उन पर चारों ओर से तलवारों के इतने वार पड़े कि वे वहीं शहीद हो गये। इसलाम-प्रचार में यह पहली कुर्बानी थी। हजरत मुहम्मद बच गये।

काबा अरब वालों का तीर्थस्थल था। मक्का की प्रतिष्ठा काबा के कारण थी। हजरत मुहम्मद का कुरैश-वंश इसका पुजारी तथा प्रबन्धक था। इसलिए कुरैश-वंश अरब में अपना धार्मिक-शासन रखता था। मूर्तिपूजा का विरोध करना कुरैश-वंश का अपमान करना था। कुरैश-वंश के अधिकतर लोगों में नैतिकता में शिथिलता आ गयी थी, परन्तु अपने मजहबी दबदबा से यह वंश पूजा जाता था। हजरत मुहम्मद मूर्तिपूजा का खंडन करते, ऐकेश्वरवाद का उपदेश करते और नैतिक बुराइयों का पर्दाफाश करके अच्छे आचरण से चलने की राय देते। इन सब बातों को लेकर हजरत के अपने कुरैश-वंश के लोग ही उनके शत्रु बन गये।

हर आंदोलन का पहले उपहास होता है। इसके बाद विरोध होता है। तत्पश्चात स्वीकार। इसलाम के लिए अब केवल उपहास नहीं, विरोध शुरू हो गया। पहले हजरत मुहम्मद को जादूगर, कवि, मजनू एवं पागल कहा गया। जनता को रोका गया कि मुहम्मद के पास मत जाओ। उनकी बातें मत सुनो।

हजरत मुहम्मद दृढ़ और लगनशील थे। हर कठिनाई पर उनके हृदय में एक नया प्रकाश होता और कुरान की आयतें बनती रहतीं और उन्हें आम लोगों को सुनाते रहते।

आम जनता में इसलाम के प्रति आकर्षण बढ़ता गया और उधर बड़े लोगों का विरोध बढ़ता गया। एक दिन चचा अबूतालिब ने हजरत से कहा कि भतीजे! तुम इतना बोझा मुझ पर न लादो कि मैं उसे उठा न सकूं। चारों तरफ से सबका विरोध कब तक सहूंगा। हजरत ने कहा कि हे चचा! यदि कोई हमारे हाथों पर चांद तथा सूरज जितना वजन रख दे, तो भी मैं अपना प्रचार न छोड़ूंगा। हजरत की यह दृढ़ता देखकर चचा ने उन्हें अभयदान दिया कि मैं तुम्हारी अपने जीवन भर रक्षा करूंगा।

हजरत की दृढ़ता देखकर कुरैश-वंश की तरफ से नम्रतापूर्वक उनका दिल भी टटोला गया कि यदि मुहम्मद मक्का का शासन चाहते, धन चाहते तथा सुन्दरी स्त्री चाहते हैं, तो उन्हें यह सब दिया जायेगा, परन्तु अपना यह झूठा प्रचार छोड़ दें। कुरैश की तरफ से यह प्रस्ताव लेकर 'उतबा बिन रबिआ'

हजरत के पास गया था। वह हजरत का दृढ़ विचार सुनकर बहुत प्रभावित हुआ और कुरैश-वंश को समझाया, परन्तु उसकी बात वे लोग नहीं माने।

10. कठिन अग्नि परीक्षा

मक्का के कुछ बड़े घराने के लोग भी इसलाम स्वीकार कर लिये और यह प्रचार अब मक्का के बाहर भी फैलने लगा। जो इसलाम स्वीकार करते, वे इसे फैलाना चाहते और इसके विरोधी इसका दमन करना चाहते। इसलाम-विरोधी कुरैश लोग मुसलमानों को गरम रेत पर लिटाकर उनकी छाती पर बड़े-बड़े पत्थर रखते, गरम लोहे से दागते, पानी में डुबकियां दिलाते, जलते अंगार पर लेटाते, डंडे से पीटते। 'उमर' इसलाम स्वीकार करने के पूर्व अपनी दासी को, जिसने इसलाम स्वीकार कर लिया था, इतना मारते कि मारते-मारते स्वयं थककर बैठ जाते।

उन दिनों उन मुसलमानों का केवल यही दोष था कि वे कहते "हम एक ईश्वर को मानते हैं, उसके अलावा किसी दूसरे देव को नहीं मानते हैं।" यह सब देखकर जनता इसलाम की तरफ प्रभावित होती थी। पीड़ित मुसलमानों के लिए जनता के मन में सहानुभूति का उदय होना सहज बात थी। इसका फल यह हुआ कि अब तक मक्का नगर के हर घर का कोई-न-कोई मुसलमान बन गया था। नवोदित प्रचार होने से जो मुसलमान बनता था वह अन्य से प्राय: अधिक सदाचारी भी बन जाता था। इसका भी प्रभाव जनता पर पड़ता था।

11. कुछ मुसलमानों का बहिर्गमन

हजरत ने देखा कि मुसलमान बहुत सताये जा रहे हैं। अत: उन्होंने उनमें से कुछ को 'हबशा' नाम के देश में भेजने का इरादा किया। हबशा अफ्रीका का एक देश था जिसमें एक दयालु इसाई राजा राज्य करता था। हजरत ने सोचा कि जो लोग मक्का से चले जायेंगे वे यातना से छुट्टी पा जायेंगे और उस देश में इसलाम का प्रचार भी होगा। अत: ग्यारह पुरुष और चार स्त्रियां हबशा भेज दिये गये। कुरैश जब यह जाने तब उन्होंने उनका पीछा किये, परन्तु तब तक जल-जहाज छूट चुका था।

वे पन्द्रह सदस्य हबशा पहुंचकर आराम से रहने लगे। इधर कुरैश लोगों ने दो व्यक्तियों को हबशा के राजा के पास भेजकर उन्हें मक्का लौटाने के लिए प्रयत्न किया। इन दोनों व्यक्तियों ने हबशा के राजा से कहा कि हमारे देश अरब में एक नया मजहब चला है। उसके अपराध में ये व्यक्ति यहां भाग आये हैं। अत: इन्हें अरब वापस करने की कृपा करें। राजा ने उन मुसलमानों को बुलाकर उनसे उनके मजहब का बयान लिया तो उन्हें वह अच्छा लगा। अतएव राजा ने मुसलमानों को वापस करने से इंकार कर दिया। दूसरे दिन उन

दोनों ने एक दूसरा उपाय सोचा और उन्होंने जाकर राजा से कहा—''इन मुसलमानों से हजरत ईसा के विषय में पूछने की कृपा करें कि उनके विषय में इनकी क्या धारणा है।'' वस्तुतः हजरत मुहम्मद इसाइयों की टिप्पणी करते थे और स्वयं को खत्मा नबी बताकर संत ईसा के उपदेशों को भी परोक्ष रूप से निरस्त करते थे। राजा ने मुसलमानों को बुलाकर हजरत ईसा के विषय में पूछा, तो उनके प्रतिनिधि ने केवल इतना कहा कि हमारे नबी ने हमें बताया है कि हजरत ईसा ईश्वर के बन्दे तथा उनके रसूल थे। इतनी बात सुनकर राजा खुश हुआ, और मुसलमानों को अरब लौटाने की बात को कुरैश-दूतों से इंकार कर दिया। फिर पीछे उन पन्द्रह मुसलमानों से बढ़कर वहां तिरासी हो गये।

12. अबीतालिब की घाटी में तीन वर्ष

इसलाम-प्रचार से कुरैश-सरदार क्रुद्ध थे। उन सबने मिलकर यह प्रस्ताव पास किया कि मुहम्मद के पूरे परिवार 'बनी हाशिम' से अन्य कोई शादी, मुलाकात, व्यवहार तथा किसी प्रकार का लेन-देन न करे। जब तक मुहम्मद की हत्या करने के लिए वे हमें उन्हें सौंप नहीं देते हैं, तब तक उनका पूरा बहिष्कार रहेगा। यह प्रस्ताव लिखकर काबा में टांग दिया गया।

उक्त संकट में अबूतालिब ने अपने पूरे वंश 'बनी हाशिम' के साथ और हजरत मुहम्मद के सहित मक्का छोड़कर एक घाटी में तीन वर्ष बिताया जो उनकी पैतृक संपत्ति थी।

इन लोगों को जीवन-निर्वाह में इतना संकट पड़ा कि कई बार इन्हें पेड़ के पत्ते खाकर रहना पड़ा। यहां तक कि अनेक बार इन्हें सूखे चमड़े उबालकर और उसे खाकर पेट की आग शांत करनी पड़ी। उनके इस कष्ट से कुरैश के सरदार धीरे-धीरे पसीजने लगे और उन्होंने उन्हें घाटी से मक्का आकर रहने की अनुमति दी।

13. घोर संकट के दिन

हजरत मुहम्मद के रक्षक और उनके चचा अबूतालिब का देहांत हो गया और पत्नी खदीजा[1] का भी देहांत हो गया। इससे हजरत को काफी धक्का लगा।

परन्तु उन्हें अपने इसलाम-प्रचार में बल की कमी नहीं लगी। वे साहस के साथ उसके प्रचार में लगे रहे। एक बार हजरत ''ताइफा'' गये। वहां धनी लोग

---

1. **हजरत मुहम्मद की अन्य पत्नियां भी बतायी जाती हैं, जो देश, काल और परिस्थिति की उपज थीं। हजरत विलासी नहीं थे। उनके जीवन में विरोधाभास दिख सकता है, परन्तु वे तपस्वी थे। उनका जीवन सादा और सदाचारनिष्ठ था।**

रहते थे। उस नगर में हजरत ने उन्हें इसलाम में दीक्षित होने का निमंत्रण दिया और बताया कि मैं ईश्वर का दूत हूं। उन लोगों ने व्यंग्य किया—"क्या ईश्वर ने तुम्हीं को पाया था, उसे दूसरा दूत नहीं मिला।" वहां के लोगों ने आपका अपमान किया और आपको परेशान करने के लिए गुंडों को लगा दिया। गुंडों ने आपको पत्थरों से मारा। आप घायल हो गये। शरीर का खून बह-बह कर आपके जूतों में भर गया। आपने जाकर एक बाग में विश्राम किया। हजरत इस प्रकार अकेले ही प्रचार में निकल जाते और प्राणों की बाजी लगा देते। जहां आप प्रचार में जाते, वहां आपके चचा 'अबूलहब' जो आपके घोर विरोधी थे, जाकर लोगों से कहते कि इसकी बात मत सुनो। यह धर्मभ्रष्ट है।

आपके ही वंश कुरैश के लोग आपको सताते रहते थे। जब हजरत नमाज पढ़ते समय सजदे में होते तो लोग आपके गले पर पशुओं की आंतें डाल देते और गले में कपड़े डालकर बेरहमी से खींचते और आपके गले में निशान पड़ जाते। बच्चों को पीछे लगा देते जो आपका उपहास करते, ताली पीटते और आपके भाषण में गड़बड़ी करते तथा कहते कि मुहम्मद मिथ्यावादी है।

14. चमत्कार एवं मेराज (ऊपर चढ़ना)

यह भी कहा गया है कि हजरत मुहम्मद ने लोगों को इसलाम में लाने के लिए चमत्कार भी दिखाये, जैसे रोगियों को अच्छा करना, थोड़ी वस्तुओं को बढ़ा देना, वर्षा करा देना। एक बार तो उन्होंने अपनी अंगुली के संकेत से एक क्षण के लिए चांद के दो टुकड़े कर दिये और कहा कि यह संसार क्षण में ही इसी तरह नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगा, कयामत (प्रलय) के दिन नजदीक हैं।

हजरत मुहम्मद के निधन के डेढ़ सौ वर्ष बाद पैदा हुए इमाम बुखारी तथा इमाम मुसलिम जो हदीसों के संपादकों में प्रमुख हैं, उन्होंने बयान किया है कि एक प्रात:काल हजरत मुहम्मद जब सोकर उठे तब उन्होंने बताया कि आज मुझे बड़ा सम्मान प्राप्त हुआ है। ईश्वर के मुख्य फरिश्ता जिबराइल आये और वे मुझे काबे में ले गये। वहां उन्होंने मेरी छाती चीरी और उसे जमजम[1] के पानी से धोया। फिर उसे श्रद्धा और ज्ञान से भरकर बन्द कर दिया, इसके बाद एक खच्चर से भी छोटा सफेद रंग के पशु पर मुझे बैठाया। इस पशु का नाम 'बुराक' था। यह अत्यन्त तीव्रगामी था। इससे हम शीघ्र ही 'बैतुल मकदिस' पहुंच गये। वहां मसजिद में नमाज पढ़ी। जिबराइल ने मेरे सामने दो प्याले रखे, एक दूध का और दूसरा शराब का। मैंने दूध पी लिया और शराब लौटा दी। जिबराइल ने कहा कि आपने दूध पीकर मानवधर्म का पालन किया जो उसके प्रकृतिसंगत है।

---

1. **जमजम नाम का एक कुआं है जो काबे में स्थित है।**

पुन: बुराक पर बैठकर यात्रा शुरू हुई। हम पहले आकाश पर पहुंचे। जिबराइल ने द्वारपाल से फाटक खोलने की बात कही। द्वारपाल ने कहा कि तुम्हारे साथ कौन है? जिबराइल ने कहा 'मुहम्मद'। द्वारपाल ने पूछा—''क्या उन्हें बुलाया गया है?'' जिबराइल ने कहा—'हां।' यह सुनकर द्वारपाल ने फाटक खोल दिया और कहा कि ऐसे महापुरुष का आगमन धन्य है। जब हम भीतर गये, तब हजरत आदम से भेंट हुई। जिबराइल ने कहा कि तुम इनका नमस्कार करो। ये तुम्हारे पितामह तथा मानवमात्र के आदि पुरुष हैं। मैंने नमस्कार किया। हजरत आदम ने कहा—''स्वागतम् है नेक बेटे और नेक नबी।'' इसके बाद अन्य फाटकों पर भी द्वारपाल से इसी प्रकार बात करने पर फाटक खुलते रहे। दूसरे फाटक के भीतर 'याहया' और 'हजरत ईसा' से, तीसरे फाटक के भीतर 'यूसुफ' से, चौथे में 'हदरीस' से, पाचवें में 'हारून' से, छठें में 'हजरत मूसा' से मुलाकात हुई, सलाम एवं स्वागत-सत्कार हुए। इसके आगे सातवें आसमान पर सातवां फाटक खुला, जो 'सिदरे तुलमंतहा' है, अर्थात इससे आगे कोई नहीं जा सकता। वहां एक बेर के पेड़ पर असंख्य फरिश्ते जुगुनू की तरह चमक रहे थे।

यहां अल्लाहतआला के धाम में पहुंचकर हजरत मुहम्मद ने बहुत बातों का ज्ञान प्राप्त किया। ईश्वर से खुलकर वार्तालाप हुआ। अंतत: ईश्वर ने मुसलमानों को रात-दिन के चौबीस घंटों में पचास बार नमाज पढ़ने का फर्ज बताया। जब हजरत मुहम्मद खुदा से आज्ञा पाकर वापस लौटे तो छठें द्वार पर पुन: हजरत मूसा मिले। उन्होंने हजरत मुहम्मद से पूछा कि अल्लाह से क्या प्रसाद मिला? हजरत मुहम्मद ने बताया कि मुसलमानों के लिए चौबीस घंटें में पचास बार नमाज पढ़ना। हजरत मूसा ने कहा—क्या यह भार मुसलमान ढो पायेंगे? जाकर ईश्वर से इसमें कमी कराओ। हजरत पुन: ईश्वर के पास गये। ईश्वर ने नमाजें कुछ कम कर दीं। किन्तु हजरत मूसा के पास पुन: पहुंचने पर उन्होंने हजरत मुहम्मद को पुन: ईश्वर के पास भेजा कि और कम कराओ। अंतत: कई बार के वापस भेजने पर ईश्वर ने केवल पांच नमाजें रखीं और हजरत से कहा कि यदि मुसलमान पांच नमाजें पढ़ते हैं तो मैं उन्हें पचास का फल दूंगा।

इसके आगे ईश्वर ने दो बातें और कहीं कि मुसलमान अपने मजहब में दृढ़ रहें तथा जो मुहम्मद के अनुयायी शिर्क 'बहुदेववाद' से बचे रहेंगे, उनको मोक्ष-लाभ मिलेगा।

इसके बाद आपने वहां जन्नत और जहन्नुम अर्थात स्वर्ग और नरक के दृश्य देखे और यह देखा कि किस प्रकार जीव को मृत्यु के बाद अपने-अपने कर्मों के फल भोगने पड़ते हैं।

इसके बाद हजरत मुहम्मद पुनः अंतरिक्ष-यात्रा करते हुए 'बैतुल मकदिस' लौट आये, और उन्होंने वहां देखा कि अल्लाह के नबी इकट्ठे हैं। हजरत मुहम्मद ने नमाज पढ़ी, और आपके पीछे सब ने नमाज पढ़ी। इसके बाद हजरत मुहम्मद जहां सोये थे, वहां से जग गये।

15. मक्का से मदीना हिजरत (स्थानांतरण)

इसलाम-दीन के पालन के लिए अपने देश को छोड़कर कहीं चले जाना 'हिजरत' कहलाता है। हजरत मुहम्मद का मक्का में रहना अब कठिन हो गया। उनकी हत्या करने के लिए मक्का वालों ने योजना बना ली थी। तब तक मदीने में इसलाम का प्रचार हो गया था। मक्का से मदीना उत्तर तरफ है। हजरत मुहम्मद ने एक रात 'अली' को बुलाकर कहा कि मैं आज घर से निकल जाऊंगा। घर में बहुत लोगों की थातियां रखी हैं। तुम उन लोगों को बुलाकर दे देना और आज रात तुम मेरे बिस्तर पर सो जाओ, जिससे नगर वाले समझें कि मुहम्मद घर में हैं।

हजरत मुहम्मद की हत्या करने के लिए नगर के लोग आकर उनका घर घेर लिये और वे तय किये कि जब मुहम्मद प्रातःकाल घर से निकलें, तब उन्हें मार दिया जाये। अरबवालों में यह अच्छाई थी कि वे रात की बेसुधी अवस्था में किसी के घर में नहीं घुसते थे। जब रात ज्यादा बीती, तब हजरत मुहम्मद घेरा डालने वालों की नजरों से छुपकर निकल गये। शायद घेरा वाले सो गये थे। हजरत अबूबक्र के घर गये और उनके साथ मक्का से निकल गये।

मक्का से निकलकर एक गुफा में छिप गये जिसे 'ग़ारे सौर' अर्थात सौर की गुफा कहा जाता था। हजरत गुफा में तीन दिन छिपे रहे। कुछ भक्त उन्हें छिपकर खाना-पानी पहुंचाते रहे। उधर कुरैश के लोग हजरत की खोज करने लगे। सरदारों ने कहा कि मुहम्मद को जीवित या मृत अवस्था में जो ला दे उसे सौ ऊंट पुरस्कार में दिये जायेंगे। कुछ लोग एक दिन गुफा के पास आ गये, परन्तु गुफा के द्वार से ही वे इसलिए लौट गये कि द्वार पर मकड़ियों का जाला लगा था। अतः दुश्मनों ने समझा कि इसमें कोई जाकर छिपा होता तो मकड़ियों का जाला टूट जाता।

हजरत मुहम्मद चौथे दिन गुफा से निकलकर और ऊंटनी पर बैठकर मदीने के लिए चल दिये, साथ में एक दूसरी ऊंटनी पर अबूबक्र थे। हजरत ने करीब बारह वर्षों तक मक्का में इसलाम का प्रचार कर तेरहवें वर्ष 22 नवंबर सन् 622 ई० में मदीना पदार्पण किया। मदीना में जो मुसलमान हो चुके थे, उनके यहां आपका प्रवास हुआ। कुछ दिनों में हजरत की पत्नियां तथा परिवार के लोग भी मदीना चले गये। वहां एक मसजिद बनवायी गयी। उसके पास

हुजरों (कुटियों) का निर्माण हुआ। उन्हीं में सब रहने लगे। मक्का से बहुत मुसलमान मदीना पहुंच गये थे। मदीना के मुसलमानों ने उनको आश्रय दिया।

16. मदीना में प्रवास

मदीना के चारों तरफ यहूदी रहते थे। हजरत मुहम्मद ने उनसे एक समझौता किया कि आप सब हमारे ऊपर विपत्ति आने पर हमारा सहयोग करें। सहयोग न कर सकें तो तटस्थ रहें।

मदीना के मुसलमानों में ऐसे लोग भी काफी थे जिन्हें इसलाम से संतोष नहीं था, या उनका कपट से मुसलमान बनकर उसे तोड़ने का विचार था, या किसी मजबूरी से मुसलमान बन गये थे, ये लोग इसलाम-आन्दोलन के लिए विष थे।

17. बैतुल मकदिस से बदलकर काबा किबला

'बैतुल मकदिस' एक पवित्र उपासना गृह था। इसी तरफ मुख करके यहूदी नमाज पढ़ते थे तथा मुसलमान भी। हजरत मुहम्मद ने फरवरी 624 ई० में नमाज पढ़ते समय बैतुल मकदिस से मुख घुमाकर काबा की तरफ कर लिया। इसी दिन से मुसलमान काबा की तरफ मुखकर नमाज पढ़ने लगे। 'किबला' का अर्थ है 'जो सामने हो'। परन्तु परिभाषा में इसका अर्थ है जिधर मुख करके नमाज पढ़ी जाये।

18. मक्का के विरोधी उत्तेजित

मदीना नगर उस व्यापारिक-पथ पर विद्यमान था जो लाल सागर के तट के किनारे-किनारे होकर यमन से शाम की ओर जाता था। अरब का व्यापार शाम से चलता था। यदि मदीना में मुसलमान बलवान बन गये, तो मक्का वालों को बीच में लूट सकते थे, यह मक्का वालों को भय हो गया।

इस पथ पर चलने वाले काफिलों को मदीना के मुसलमान जा-जा कर रोब दिखाने लगे। इसमें उद्देश्य था उन्हें इसलाम के प्रभाव में लाना। इससे मक्का वाले और उत्तेजित हो गये। एक दिन हजरत का एक साथी जो बारह लोगों के साथ मक्का वालों की निगरानी के लिए भेजा गया था, नाम था 'अब्दुल्लाह बिन जहश' उसने मक्का के एक व्यापारी के माल को लूट लिया, एक को मार डाला तथा दो को बन्दी बनाकर हजरत के पास ले आया। हजरत को यह सब देख-सुनकर बड़ा कष्ट हुआ। उन्होंने कहा कि मैंने न किसी को लूटने के लिए कहा था और न मारने के लिए। मैंने तो केवल इसलिए भेजा था कि मक्का वालों के रवैये का पता लगाकर समाचार दो। तुमने बहुत गलत किया। उन्होंने लूट का माल नहीं स्वीकार किया। इस घटना में जो मक्का का

आदमी मारा गया था एक कुलीन-वंश का था। इससे मक्का वाले ज्यादा नाराज हो गये।

19. युद्ध

मक्का के कुछ व्यापारी पचास हजार असर्फियों के साथ शाम से मक्का लौटे थे। बीच में मदीना पड़ता ही था। मक्का वालों को उसके लुट जाने का अन्देशा हुआ, क्योंकि किसी ने जाकर मक्का में अफवाह फैला दिया कि मदीना वाले मक्का के व्यापारियों को लूट लेंगे। परन्तु मदीना वाले उन्हें लूटे नहीं किन्तु मक्का वाले करीब एक हजार की सेना लेकर मदीना की तरफ चल पड़े। मदीना में इसका पता लग गया। अतः इधर से भी हजरत ने अपनी तीन सौ की सेना लेकर सामना किया। मदीना के बाहर 'बदर' नाम की जगह में यह युद्ध हुआ। मक्का वाले हारकर भाग गये। इसमें मक्का के सत्तर तथा मदीना के चौदह लोग मारे गये। इसलाम का युद्ध परस्पर भाई-भतीजों का ही था।

मक्का वाले हारकर भाग गये, इसलिए मदीना वालों ने उनका माल भी लूटा। जो लोग शत्रुओं का पीछा करने तथा हजरत की रक्षा करने में थे उनके हाथ में कुछ नहीं आया। बाकी लोग शत्रुओं के छोड़े हुए माल को लूटकर प्रसन्न हुए। इन बातों को लेकर पीछे आपस में मनमुटाव चला। अतएव हजरत ने आज्ञा दी कि विजित का लूटा हुआ माल कोई अपना व्यक्तिगत न मानकर उसे जमआत में जमा करे।

इसके बाद मक्का तथा मदीना वालों के बीच मदीना के ही पास 'जोहद' नामक जगह में एक वर्ष बाद पुनः दूसरा युद्ध हुआ। इस बार भी मक्का वालों ने ही आक्रमण किया था। मक्का वाले इतने लड़ाकू थे कि उनका एक व्यक्ति भी यदि कभी मारा गया हो तो उसका बदला लेने के लिए वे वर्षों प्रतीक्षा करते थे। बदर के युद्ध में उनके सत्तर लोग मारे जा चुके थे। अतः उसका बदला लेने के लिए उन्होंने पुनः हमला बोला। इस युद्ध में मक्का से स्त्रियां भी लड़ने आयीं थीं। स्त्रियों ने पहले युद्ध भड़काने के लिए गीत गाये और इसके बाद युद्ध शुरू हुआ। अब की बार मदीना वालों की पराजय हुई। हजरत की सेना अब की एक हजार थी। परन्तु कुछ दूर चलकर 'अब्दुल इबने उबई' नाम का मुसलिम सरदार तीन सौ लोगों को लेकर युद्ध से अलग हो गया। यह हजरत के साथ खास समय पर धोखा हुआ। इस युद्ध में हजरत की सेना के सत्तर लोगों की मौत हुई। इससे मदीना में शोक की लहर छा गयी।

20. इसलाम में ब्याज लेना बन्द

उपर्युक्त युद्ध में भी पहले मुसलमानों की ही विजय हुई थी। परन्तु वे शत्रुदल को भागते देखकर उनका माल लूटने के चक्कर में पड़ गये और

इसका लाभ उठाकर मक्का वालों ने मुसलमानों को धरदबोचा। इससे हजरत को एक झटका लगा। उन्होंने सोचा कि धन का लोभ पतन का कारण है। वे पहले से देख रहे थे कि कैसे धनी लोग गरीब जनता को ब्याज के चक्कर में डालकर उन्हें चूसते हैं। अत: हजरत ने इसी समय घोषणा की कि मुसलमान कभी ब्याज नहीं लेगा।

21. पुनः युद्ध

इसके बाद युद्ध का क्रम चलता रहा। यहूदी विद्वानों और पीरों का मुसलमानों के लिए विरोध चला। हजरत ने फौज लेकर यहूदियों को उनके किले में ही घेर लिया। फिर समझौता हुआ और यहूदी अपना धन लादकर मदीना से चले गये।

कुछ यहूदी तथा मक्का के लोग मिलकर मदीना पर करीब दस हजार सेना लेकर हमला किये। इस युद्ध के लिए हजरत ने पहले से पांच गज गहरी खाई खोदवा रखी थी जिसे तीन हजार लोगों ने बीस दिन में तैयार किया था। इस युद्ध में विशेष मारकाट हुए बिना मक्का वाले भाग गये।

यहूदी लोग हजरत से एक समझौता किये थे। उन्होंने उसे तोड़ दिया और वे विरोधी पक्ष से जा मिले। इसलिए युद्ध के बाद हजरत ने उन्हें घेर लेने के लिए धावा बोल दिया और चार सौ ऐसे यहूदियों को मार डाला गया जो युद्ध करने लायक थे जिसमें एक औरत भी थी। उस औरत को इसलिए मारा गया कि उसने एक पत्थर गिराकर एक मुसलमान को मार दिया था।

22. काबा की तीर्थयात्रा

अरब वाले हर समय आपस में लड़ते रहते थे, परन्तु हज के समय लड़ाई बन्द कर देते थे जिससे लोग शांतिपूर्वक मक्का की यात्रा कर सकें। अत: हजरत मुहम्मद ने सोचा कि काबा की यात्रा मुसलमानों का फर्ज है। हमें यह करना चाहिए। मदीना के मुसलमान इस समाचार से खुश हो गये। हजरत के साथ चौदह सौ लोग मदीना से मक्का चले। सबने जाकर कुर्बानी, काबा की परिक्रमा आदि की। मक्का वालों को युद्ध की चढ़ाई का भ्रम हुआ था, परन्तु हजरत ने अपना दूत भेजकर बता दिया था कि हम केवल हज करने आये हैं। फिर हजरत मुहम्मद तथा मक्का के सरदारों से संधि हुई, जिससे आपस से आना-जाना तथा काबा की यात्रा सुलभ हुई।

23. हजरत का कुछ सम्राटों के नाम पत्र

हजरत मुहम्मद ने कुछ सम्राटों के नाम पत्र भेजकर उन्हें इसलाम स्वीकार करने का आग्रह किया जिनके नाम पत्र भेजा गया, वे हैं रोम, ईरान, मिश्र तथा हबशा के सम्राट। केवल एक पत्र का नमूना लें—

"आरम्भ करता हूं ईश्वर के नाम से जो अत्यन्त कृपाशील और दयावान है। (बिसमिल्ला हिर रहमानिर्रहीम) मुहम्मद की ओर से जो खुदा का बंदा और उसका रसूल है, हिरक्ल के नाम जो रोम का सम्राट है।

"जो कोई ईश्वरीय उपदेश का अनुसरण करे उसको ईश्वर की ओर से शांति प्राप्त हो। इसके पश्चात मैं तुम्हें इसलाम स्वीकार करने का निमन्त्रण देता हूं।

"अल्लाह तआला का आज्ञापालन तथा अधीनता स्वीकार कर लो तो तुम्हारा कल्याण होगा। अल्लाह तुम्हें दुगुना प्रतिफल देगा। परन्तु यदि तुमने अल्लाह के आज्ञा-पालन से मुंह मोड़ा तो तुम्हारे देश की जनता का पाप भी तुम्हारे ऊपर होगा। क्योंकि तुम्हारी अस्वीकृति के कारण उन्हें भी इसलाम का निमन्त्रण न पहुंच सकेगा।

"हे किताब वालो![1] आओ एक ऐसी बात की ओर जो हमारे और तुम्हारे मध्य एक समान है।" ये कि हम अल्लाह के अतिरिक्त किसी और की बंदगी (उपासना) न करें। किसी को उसका सहभागी न बनायें तथा हम कोई अल्लाह के अतिरिक्त किसी को अपना 'रब' न बनायें, परन्तु यदि तुम इस बात को न मानो और इससे मुंह मोड़ो तो हम साफ कह देते हैं तुम साक्षी रहो कि हम तो मुसलिम हैं। अर्थात केवल अल्लाह का आज्ञा-पालन तथा बंदगी (उपासना) करने वाले हैं।"[2]

लगभग इसी प्रकार चारों पत्र हैं।

24. सुरक्षा के लिए आक्रमण

अभी तक हजरत तब लड़ने के लिए तैयार होते थे जब कोई उनके काफिले पर हमला करता था, परन्तु अब स्थिति बदल गयी थी। मुसलमान बलवान हो गये थे। अतएव हजरत ने अब यह नीति बनायी कि अब शत्रु पर चढ़कर उसे परास्त किया जाये। मदीना के करीब तीन सौ किलोमीटर उत्तर-पश्चिम में खैबर एक जगह है। यहां यहूदियों का गढ़ था। ये लोग मक्का के कुरैश तथा मदीना के कपटी मुसलामनों को मुहम्मद के विरोध में उभाड़कर इसलाम-आंदोलन को एकदम नष्ट कर देना चाहते थे। हजरत मुहम्मद ने उनसे संधि चाही जिससे वे विरोधी काम छोड़ दें, परन्तु वे लोग इस राय को नहीं

---

1. **किताब वालों का अर्थ है जिनके पास ईश्वर की किताब आयी है। इसके संकेत हैं यहूदी तथा इसाई। इनके पास क्रमशः तौरेत तथा इंजील हजरत मूसा तथा हजरत ईसा द्वारा आये हैं जो ईश्वर के भेजे माने जाते हैं।**
2. **हजरत मुहम्मद : पवित्र जीवनी तथा संदेश, पृष्ठ 146-147।**

माने। अतः हजरत मुहम्मद अपनी सेना लेकर उन पर चढ़ गये और उन्होंने बीस दिन के घेराव तथा युद्ध में उन पर विजय प्राप्त कर ली। इसमें तिरानबे यहूदी तथा पंद्रह मुसलमान मारे गये।

25. मक्का पर आक्रमण

मक्का के काबा में तीन सौ साठ (360) मूर्तियां थीं और दीवारों पर चित्र खुदे हुए थे। हजरत मुहम्मद चाहते थे कि यह सब झंझट वहां से हट जाय और वहां शुद्ध ऐकेश्वरवाद के अनुसार उपासना हो। अतः हजरत मुहम्मद ने लगभग दस हजार की सेना लेकर सन् 630 ई० के मई महीने में मक्का की तरफ प्रस्थान किया। मक्का के पास उनकी सेना का पता लगाने के लिए मक्का का एक 'अबू सफियान' नाम का सरदार छिपकर आया। इसने हजरत की हत्या करने का भी कई बार प्रयास किया था। इसलाम का घोर विरोधी था। यह मुसलमानों द्वारा पकड़ लिया गया और हजरत मुहम्मद के पास उपस्थित किया गया। हजरत ने उसे क्षमा कर दी। इसका प्रभाव उसके ऊपर बहुत गहरा पड़ा और वह पुनः न लौटकर हजरत का शिष्य हो गया और उनकी सेना का सिपाही बन गया।

हजरत मुहम्मद ने अपने एक सरदार 'खालिद बिन वलीद' को आज्ञा दी कि तुम सेना की एक टुकड़ी लेकर मक्का में एक तरफ से प्रवेश करो, परन्तु किसी की हत्या नहीं करना। यदि तुम्हारे ऊपर कोई वार करे तो अपनी रक्षा करना। इधर हजरत ने स्वयं बड़ी सेना लेकर मक्का में दूसरी तरफ से प्रवेश किया। खालिद की सेना के विरुद्ध कुरैश-वंश के लोगों ने तीरों से वार किया, तो इनकी सेना ने भी उत्तर में वार किया। इसमें तीन मुसलमान तथा तेरह कुरैश मारे गये। जब हजरत को इसका पता चला, तो उन्होंने 'खालिद' से इस घटना के विषय में पूछा। जब यह पता चला कि विरोधियों ने पहले वार किया था, तब हजरत को संतोष हुआ। इधर हजरत मुहम्मद के सामने कोई विरोध करने नहीं आया। अतः वे मक्का में सरलता से प्रवेश कर गये और उनके तथा उनकी सेना के हाथों से किसी की हत्या नहीं हुई।

मक्का में प्रवेश कर हजरत ने तीन बातों की घोषणा की—1. जो व्यक्ति अपने घर में फाटक बन्द कर बैठ जायेगा वह सुरक्षित रहेगा, 2. जो व्यक्ति 'अबू सफियान' के घर में शरण लेगा, वह सुरक्षित रहेगा तथा 3. जो व्यक्ति काबा में शरण लेगा वह भी सुरक्षित रहेगा। परन्तु इस घोषणा से मक्का के करीब सात व्यक्तियों को अलग कर दिया गया था जो इसलाम के घोर शत्रु थे, क्योंकि इनकी हत्या कर देना उचित माना जा रहा था।

इस समय हजरत मुहम्मद की सेना की पताका सफेद रंग की थी और उसमें ध्वजा (डंडा) काले रंग की थी। आपने सिर पर मगफर (लोहे की

टोपी) पहन रखी थी और उस पर काली पगड़ी बांध रखी थी। आप ऊंट पर सवार थे तथा ईश्वर की प्रार्थना में आप विनीत भाव से इतना झुक-झुक जाते थे कि आपका मुख ऊंट की पीठ तक पहुंच जाता था।

आपने काबा में प्रवेश किया और सेना को आज्ञा दी कि सारी मूर्तियां यहां से निकालकर बाहर करो और दीवार पर बने देवी-देवताओं के सारे चित्र खुरचकर मिटा दो। यह सब किया गया और इसके बाद नमाज पढ़ी गयी।

इसके बाद हजरत ने एक ऐतिहासिक भाषण दिया जिसका कुछ अंश हदीस में अंकित है। उन्होंने उसमें एक ईश्वर ही उपासना बतायी और कहा कि उसके अलावा अन्य किसी की पूजा मत करो। कुल एवं वंश का गर्व न करो। सब इंसान बराबर हैं, इत्यादि।

इस अवसर पर कुरैश के वे लोग भी थे जो इसलाम के घोर शत्रु थे। उनमें वे लोग भी थे जिन्होंने अनेक मुसलमानों की हत्याएं की थीं और यहां तक कि हजरत मुहम्मद के चचा की हत्या करके उनके कलेजे को चबा गये थे। यह सब इसलिए किया गया था कि मुसलमान लोग देवी-देवताओं का खण्डन कर एक ईश्वर उपासना की पक्षधरता करते हैं।

हजरत मुहम्मद ने उन सब पर अपनी दृष्टि फेरी और पूछा कि तुम लोग जानते हो कि हम तुम्हारे साथ क्या व्यवहार करने वाले हैं? उन लोगों ने कहा—"आप एक सज्जन भाई हैं तथा सज्जन भाई के पुत्र हैं।" यह सुनकर हजरत मुहम्मद ने उन सबसे कहा "जाओ, अब तुम लोगों पर कोई आरोप नहीं है। तुम लोग स्वतन्त्र हो।" इस प्रकार बिना खून-खराबा के मक्का पर हजरत की विजय हुई और घोर शत्रु भी पानी-पानी हो गये।

26. इसके बाद के युद्ध

इसके बाद भी कई युद्ध हुए। एक 'हुनैन' नामक जगह में युद्ध हुआ। यह एक घाटी है जो 'मक्का' और 'ताइफ' के बीच में पड़ती है। विरोध में 'हवाजिन' तथा 'सकीफ' नामक दो कबीले थे। इसमें विरोधियों के करीब सत्तर लोग मारे गये। मुसलमान कितने मारे गये, इसका पता नहीं है।

अरब के उत्तर रोम साम्राज्य था। इसमें ज्यादा इसाई थे। इसमें हजरत ने पन्द्रह मुसलमान भेजे थे। इसलाम का प्रचार करना उद्देश्य था। इसाइयों ने इन पन्द्रहों मुसलमानों की हत्या कर दी। इसके विरोध में हजरत ने सेना भेजकर वहां लड़ाई लड़ी थीं। रोम के राजा 'कैसर' से दो बार युद्ध करना पड़ा। मदीना के कुछ मुसलमान भीतर-भीतर इसलाम से विरुद्ध थे। उन्होंने अलग मसजिद बना ली थी। वे कैस के विरुद्ध हुए युद्ध में सम्मिलित भी नहीं हुए। युद्ध से लौटने के बाद हजरत ने विरोधी मुसलमानों की मसजिद गिरवा दी।

हजरत के मदीना आने के पहले ही मदीना में एक इसाई संन्यासी थे जिनका नाम 'अबू आमिर' था जिनकी तपस्या एवं सद्गुणों की मदीना में प्रसिद्धि थी, उन्होंने भी मुसलमानों का विरोध किया था।

27. मानने वालों को ही सुधार के लिए दण्ड देना उचित

रोम के युद्ध से लौटने के बाद हजरत ने मदीना के उन कपटी मुसलमानों से पूछा कि तुम लोग रोम के युद्ध में हमारा साथ क्यों नहीं दिये? उन लोगों ने इधर-उधर की बातें बना दीं। हजरत ने उनकी बातें ईश्वर पर छोड़ दीं और उन्हें कुछ नहीं कहा। परन्तु युद्ध में न जाने वालों में तीन ऐसे थे जो निष्कपट मुसलमान थे और हजरत के आज्ञाकारी थे। परन्तु उनसे तात्कालिक मानसिक दुर्बलता एवं आलस्य-वश भूल हो गयी थी और वे युद्ध में नहीं जा सके थे। इनके नाम थे 'काअब बिन मालिक', 'हलाल बिन उमैया' तथा 'मुरारा बिन रबी'।

हजरत के पूछने पर उक्त तीनों ने निष्कपट होकर अपनी गलती स्वीकार ली। अत: हजरत ने इन तीनों को पक्का बनाने के लिए इन्हें यह दण्ड दिया कि पूरा मुसलमान-समाज इनसे पचास दिनों तक दुआ-सलाम एवं बातचीत न करे और चालीस दिनों के बाद इससे इनकी बीबियों को भी अलग रहने का आदेश दे दिया जाये। उक्त तीनों ने यह दंड सहर्ष स्वीकार किया। फिर पचासवें दिन उन्हें क्षमा कर जमात में मिला लिया गया।

28. तात्कालिक इसलामी-नीतियों की घोषणा

हजरत मुहम्मद ने हजरत अली के द्वारा हाजियों के समूह में काबा में घोषणा करवायी—

1. इसलाम न स्वीकारने वाला स्वर्ग में प्रवेश नहीं पायेगा।

2. इस वर्ष के बाद कोई मूर्तिपूजक काबा के हज के लिए न आवे।

3. बैतुल्लाह की परिक्रमा कोई नंगा होकर नहीं कर सकेगा।

4. जो समझौते के तोड़ने वाले हैं और इसलाम के विरोध में षड्यंत्र रचते हैं उनके लिए आगे चार महीने का समय है। इस अवधि में वे चाहे मुसलमानों से लड़कर अपने भाग्य का फैसला कर लें, चाहे देश छोड़कर चले जायें और चाहे मुसलमान बन जायें।

5. काबा का प्रबन्ध और इसका संरक्षण पूर्णरूप से ऐकेश्वरवादियों के हाथों में रहेगा। मूर्तिपूजक का इसमें कोई हस्तक्षेप न होगा और अब काबा में कोई मूर्तिपूजक-रस्म अदा न होने पायेगी। बल्कि अब मूर्तिपूजक इस पवित्र घर

के निकट भी न आने पायेंगे।''[1]

29. अन्तिम हज यात्रा

हजरत मुहम्मद ने सन् 632 में हज करने का निश्चय कर उसकी घोषणा की। अबकी बार सारा अरब देश मक्का में उमड़ पड़ा। आप मदीना से चलकर 28 फरवरी 632 ई० को मक्का पहुंचे।

आपने पहले काबा की परिक्रमा की, फिर हजरत इब्राहीम के मुकाम पर नमाज पढ़ी। इसके बाद 'सुफा' की पहाड़ी पर गये। पहाड़ी से उतरकर 'मरवा' पर आये इसके बाद 'मिना' में ठहरे। इसके बाद 'अरफात' पहुंचे। वहां आपने ऐतिहासिक भाषण दिया। उन्होंने अपने भाषण में बताया कि अज्ञान का त्याग करो, विनम्र रहो, सब मुसलमानों को भाई समझो, गुलामों को अपनी तरह खिलाओ-पहनाओ, किसी का खून न करो, वैर-विरोध छोड़कर रहो, ब्याज कभी न लो, तुम्हारा अधिकार औरतों पर है तथा औरतों का अधिकार तुम पर है, कुरान को पढ़ो।

30. रुग्णावस्था और देहावसान

15 मई, 632 ई० को आपका स्वास्थ्य खराब हो गया। जब तक बल था आप मसजिद में जाकर नमाज पढ़ते रहे। एक दिन सिरदर्द होने पर भी सिर में रूमाल बांधकर मसजिद में नमाज पढ़ी तथा पढ़ायी। शरीर की हालत जब ज्यादा बिगड़ गयी तब मसजिद जाना छूट गया। एक दिन शरीर में अधिक कष्ट था। आप कभी मुख पर चादर डाल लेते और कभी हटा देते।

अन्त में हजरत मुहम्मद ने कहा—मैं सबसे अधिक आभारी अबूबक्र का हूं जिसने धन और मित्रता से मेरी रक्षा की।

यहूद और नसरा (इसाई) एवं पहले की जातियों ने अपने पैगम्बरों की कब्रों को पूज्य बना लिया है। उन्हें धिक्कार है। तुम लोग ऐसा नहीं करना।

उन्होंने अपनी फूफी सफिया तथा पुत्री फातिमा से कहा कि तुम लोग कुछ ऐसा कर लो जो खुदा के यहां काम आवे। मैं तुम लोगों को खुदा से नहीं बचा सकता।

हजरत ने अपनी एक पत्नी 'अयशा' के पास कुछ अशरफियां रखवा दी थीं। बीमारी की व्यग्रता की अवस्था में उन्होंने कहा कि ऐ अयशा, अशरफियां कहां हैं! क्या मुहम्मद ईश्वर से अविश्वासी की भांति मिलेगा। उन्हें लाकर ईश्वर के नाम पर दान कर दो।

---

1. **वही, पृष्ठ 182-183।**

बारम्बार मूर्च्छा आती रही और एक बार उन्होंने कहा—अब अन्य का नहीं, केवल उस महान मित्र की आवश्यकता है, और सोमवार दिन, 8 जून, 632 को उनका शरीरांत हो गया। यह समय हिजरी सन 11 का है।[1]

दूसरे दिन उसी हुजरे (कुटी) में आपका दफन किया गया जहां आपका देहावसान हुआ था। यह घटना मदीना में ही घटी। कहा जाता है कि आज उनकी कब्र का पता नहीं चलता। वह खो गयी है।

31. उपसंहार

हजरत मुहम्मद एक दृढ़ निश्चयी लौह पुरुष थे। उन्होंने तात्कालिक अरब, मक्का तथा काबा की अव्यवस्था देखकर उनके सुधार के लिए बीड़ा उठाया और अपना पूरा जीवन उसमें समर्पित कर दिया।

उन्होंने अपनी ओर से लड़ाई लड़ने की कभी नहीं सोची। वे इंसान का खून बहाना पाप समझते थे, परन्तु जाति-भाइयों एवं अरबवालों ने उन्हें चैन से बैठने नहीं दिया। उन पर बराबर हमला किया गया, इसलिए वे अपनी तथा अपने समाज की रक्षा करने के लिए विवश हुए और उन्होंने अस्त्र-शस्त्र उठाये। परन्तु उन्होंने जीवन में जितनी लड़ाइयां लड़ीं सब मिलाकर उनमें कुल एक हजार से भी कम लोग मारे गये।

जहां तक पैगम्बरवाद तथा चमत्कार की बातें हैं, पीछे वालों ने भावावेश में कितना लिखा-पढ़ा, कुछ कहा नहीं जा सकता। प्राय: मजहबी लोग अपने मजहब को फैलाने के लिए ऐसी अलीक कल्पनाएं करते हैं। खास बात है उनके ज्योतित व्यक्तित्व एवं कृतित्व से रचनात्मक दिशा में प्रेरणा लेना। हजरत मुहम्मद जैसे महापुरुष का यश:शरीर संसार में अमर रहता है।

---

1. हजरत मुहम्मद जब मक्का से मदीना हिजरत कर गये तब से हिजरी सन चला। हिजरत का अर्थ है स्वदेश त्याग या धर्म के नाम पर अपना देश छोड़कर कहीं अलग चले जाना।

13
स्वामी शंकराचार्य

स्वामी शंकराचार्य एक अद्‌भुत संन्यासी थे। उन्होंने जैसे ध्यान की गहराई में डूबकर समाधि-लाभ लिया, वैसे लोकमंगल के जुझारू कर्म किये। वे एक साथ पंडित, ज्ञानी, वाक-पटु, शास्त्रार्थ-महारथी, कवि, कर्मशील, योगी और निवृत्ति-परायण थे। इतनी बहुमुखी प्रतिभा लेकर कभी-कभी कोई-कोई जन्म लेता है। स्वामी शंकर की विशालता को समझकर कौन उनके सामने नतमस्तक नहीं होगा!

1. जन्म और जीवन

कहा जाता है दक्षिण भारत केरल के चिदंबरम् में एक नंबूदरी ब्राह्मण-दंपती रहते थे। ब्राह्मणदेव समय से संन्यासी होकर बाहर चले गये। उनकी पत्नी बहुत दिनों तक चिदंबरम् के अधिष्ठाता देवता की आराधना करती रहीं, फिर देवता ने कृपाकर रहस्यात्मक तथा चमत्कारी ढंग से ब्राह्मणी को गर्भवती कर दिया। इस प्रकार जो बच्चा जन्म लिया वह शंकर है।[1]

दूसरा मत है कि एक विधवा ब्राह्मणी तपस्विनी से बच्चा जन्म लिया, वह शंकर हैं।[2] शंकर का जन्म 788 ई० माना जाता है।

जो हो, इतना साफ है कि स्वामी शंकर ने केरल प्रदेश के एक ब्राह्मणी माता से जन्म लिया। महापुरुष का महत्त्व इसमें नहीं है कि उन्होंने किस माता-पिता एवं किस वर्ण-जाति से तथा किस देश-प्रदेश में जन्म लिया; अपितु उनका महत्त्व उनके आत्म तथा लोक-मंगलकारी कामों से है।

शंकर की प्रतिभा बचपन से ही आलोक बिखेरने लगी थी। उन्होंने अपनी थोड़ी उम्र में ही व्याकरण का ज्ञान प्राप्त कर लिया और वेद-शास्त्र का स्वाध्याय कर डाला।

---

1. **आनन्दगिरि के 'शंकरविजय' के आधार पर लिखित सी० एन० कृष्णा स्वामी अय्यर, एम० ए० एल० टी० असिसटेंट नेटिव कालेज कोइंबटोर के द्वारा 'लाइफ एंड टाइम ऑफ शंकर' पृष्ठ 12।**
2. **नारायणाचार्य कृत 'मणिमंजरी' के आधार पर सी० एन० कृष्णा स्वामी अय्यर...। विद्यावारिधि पं० रजनीकांत शास्त्री कृत 'मानस-मीमांसा', पृष्ठ 13-14 से उद्‌धृत।**

शंकर व्यवहारकुशल और सहृदय भी थे। एक बार जबकि वे छात्र थे भिक्षा के लिए गये और उन्होंने एक ब्राह्मण के द्वार पर 'भिक्षां देहि' कहकर पुकारा। वह ब्राह्मण का घर बड़ा गरीब था। उस दिन घर में कुछ नहीं था। ब्राह्मणी घर में से आंसू बहाते हुए निकली तथा उसने शंकर के हाथ में एक आंवला रख दिया। शंकर को उस गरीब परिवार पर बड़ी दया आयी और पास के धनी घर के दरवाजे पर गये और वहां भी उन्होंने भिक्षा मांगी 'भिक्षां देहि'। जब घर में से सेठानी भिक्षा लेकर निकली और शंकर के पात्र में डालना चाही, तुरन्त उन्होंने अपना हाथ खींच लिया और कहा—आपकी भिक्षा त्याज्य है; क्योंकि आपके घर के पास में ही ऐसा गरीब परिवार रहता है जिसके खाने के लिए अन्न तक नहीं है। कहा जाता है उस सेठ ने उस गरीब ब्राह्मण का घर सोने के आंवलों से भरा दिया। सार इतना ही है कि सेठ ने उस ब्राह्मण-परिवार को धन की सहायता की।

गुरुकुल से जब शंकर घर लौटे तब माता चाहती थीं कि शंकर का शीघ्रतापूर्वक विवाह कर दिया जाये, नहीं तो यह साधु न हो जाय। परन्तु शंकर के मन में तो कुछ और था। वे संन्यासी होना चाहते थे। इसके लिए माता आज्ञा देने वाली नहीं थीं।

कहा जाता है शंकर ने एक योजना बनायी। मां-बेटे नदी में स्नान करने गये। शंकर ने कहा—मां, तुम नहा लो, तब मैं स्नान करूं। मां के स्नान कर लेने के बाद जब शंकर पानी में गये तब जोर से रुदन करने लगे 'मां, मां, मुझे मगर ने पकड़ लिया।' मां व्याकुल हो गयीं। शंकर ने कहा—'मां, यदि आप मुझे संन्यासी होने की आज्ञा दे दें, तो यह छोड़ देगा, अन्यथा नहीं छोड़ेगा।' मर जाने की अपेक्षा संन्यासी होना अच्छा था ही। मां ने कहा—'बेटा, मैं आज्ञा देती हूं कि तुम संन्यासी हो जाओ, किन्तु मगर से छूट जाओ।' पीछे से माता ने कहा, हां, एक शर्त है, तुम मेरी मृत्यु के समय मेरे पास आ जाना। शंकर ने स्वीकार कर लिया।

2. गृहत्याग तथा गुरुशरण

शंकर माता का चरण-स्पर्श कर गुरु की खोज में चल पड़े। वे पूर्ण युवक भी न हुए थे; किन्तु वे अनेक जन्मों के शुद्ध संस्कार, पौरुष, अपार साहस, वीरता और कार्य करने की क्षमता लेकर प्रकट हुए थे। वे वनों, गिरिगुहों तथा संतमंडलियों में खोज करते हुए नर्मदा नदी के तट पर अमरकंटक में पहुंचे और वहां उनको योग्य गुरु गोविन्दपाद जी महाराज मिल गये। गुरु ने भी जब शिष्य शंकर को देखा तो समझ गये कि दिव्य संस्कारी पुरुष है और यह संसार में कुछ कर दिखायेगा। गुरु ने शंकर को दीक्षा दी और असली संन्यासी शंकर

को ऊपर से भी संन्यासी का वेष दे दिया। शंकर ने गुरु से विधिवत शास्त्रों का अध्ययन किया।

कहा जाता है कि शंकर के गुरु गोविन्दपाद के गुरु गौड़पाद थे। किन्तु गौड़पाद का समय विद्वान लोग ईसा की पांचवीं शताब्दी या छठी शताब्दी का आरम्भ मानते हैं। जो लोग मानते हैं कि गोविन्दपाद के गुरु गौड़पाद थे वे कहते हैं कि गौड़पाद बदरिकाश्रम में रहते थे। अतएव गोविन्दपाद शंकर की विशाल प्रतिभा देखकर उन्हें अपने साथ अमरकंटक से बदरिकाश्रम ले गये। बदरिकाश्रम में गौड़पाद का साहचर्य पाकर शंकर की विद्वता और खिल गयी। फिर तो गौड़पाद अपने गुरु शुकदेव तथा दादागुरु वेदव्यास के दर्शन कराने के लिए शंकर को कैलाश में ले गये। परन्तु ये सारी बातें भावुकता मात्र हैं।

यह सच है कि स्वामी शंकराचार्य के सिद्धांत पर गौड़पाद का गहरा प्रभाव है, परन्तु यह तो उनसे मिले बिना उनके ग्रन्थों से सहज ही लिया जा सका होगा। स्वामी शंकराचार्य के सिद्धान्त को जानने वाला यह सहज समझ सकता है कि उनके सिद्धांत का उपादान गौड़पाद का 'मांडूक्यकारिका' ग्रंथ है।

3. माता का अंत्येष्टि-संस्कार

स्वामी शंकराचार्य को संदेश मिला कि उनकी माता अस्वस्थ हैं। वे लम्बी यात्रा करके केरल प्रदेश जन्म-स्थान पर पहुंचे। उन्होंने उनकी सेवा की।

उन्होंने माता को अद्वैततत्त्वबोध देने के लिए एक 'तत्त्वबोध' नाम की सरल पुस्तक लिखी; माता ने कितना समझा कितना नहीं, परन्तु उन्होंने कहा कि मुझे कृष्ण के विषय में कुछ सुनाओ। तब शंकर ने कृष्णाष्टक नामक छन्द रचकर उनको सुनाया। सच है, साधारण कोटि के लोगों की केवल ज्ञान से तृप्ति नहीं होती, उन्हें भक्तिरस की भी आवश्यकता होती है।

माता का शरीर छूट गया। शंकर ने माता का दाह-संस्कार करना चाहा। समाज ने विरोध किया, क्योंकि संन्यासी को किसी के दाह-संस्कार करने का विधान शास्त्र में नहीं है। परन्तु शंकर ने नहीं माना। उन्होंने घर के आंगन में ही लकड़ी की चिता बनायी और अपने हाथों माता के शव का दाह-संस्कार किया। यह ठीक है कि यह कार्य संन्यास-धर्म के अनुकूल नहीं है; परन्तु शंकर स्वामी जैसा संन्यासी कहां मिलेगा! यही तो कहीं-कहीं नियम का अपवाद होता है और वह महत्तम पुरुषों में।

उधर अमरकंटक में गुरु गोविन्दपाद अस्वस्थ चल रहे थे, वृद्ध थे ही। स्वामी शंकर ने आकर उनकी भी सेवा की। थोड़े ही दिनों में गोविंदपाद का शरीरांत हो गया।

4. प्रचार कार्य

गुरु के शरीरांत होने पर स्वामी शंकराचार्य काशी आये और वहां वे कुछ दिनों निवास किये। तत्पश्चात वे अपना प्रचार अभियान आरम्भ किये।

यह वह समय था जब बौद्धमतावलम्बियों की अस्ताचल की ओर गति होते हुए भी उनका समाज के बहुत बड़े भाग पर बोलबाला था। दूसरी ओर वैदिक कर्मकांडियों का जोर था, तो किसी ओर तांत्रिक एवं कापालिकों का प्राबल्य था।

शंकर ने सोचा कि पहले कर्मकांडी हिन्दू अपने केवल 'स्वाहा, स्वाहा' के घरौंदे से निकलकर उदार तथा ज्ञानी हों; अत: उन्होंने पहले कर्मकांडियों को समझाकर, शास्त्रार्थ में परास्तकर और अपने प्रेम तथा प्रतिभा के बल से उन्हें अपनी ओर लाकर अपना दल मजबूत करने का प्रयास किया।

उस काल के वेद तथा कर्मकांड के प्रकांड पंडित कुमारिलभट्ट थे। उन्होंने अपनी थोड़ी उम्र में ही वैदिक धर्म के प्रचार के लिए बीड़ा उठाया था और देश के एक कोने से दूसरे कोने तक यात्रा करके वैदिक कर्मकांड की स्थापना की थी। उन्होंने पहले बौद्ध गुरुओं से बौद्धधर्म की शिक्षा ली और उनके वेष में छिपकर उनके सारे रहस्यों को जाना और फिर पीछे बौद्धों का खंडन करके उनको परास्त करना तथा कर्मकांड का विस्तार करना अपना कर्तव्य माना। किन्तु बौद्ध गुरुओं के प्रति ऐसा छलयुक्त व्यवहार करने से कुमारिल को सदा मन में संताप होता रहा और अंतत: वे अपने इस घिनौने कार्य से अनुतापित होकर उसके प्रायश्चित में आग में कूदकर जल मरे। उन्होंने यह आत्मदाह त्रिवेणीसंगम प्रयाग पर किया था।

कुमारिलभट्ट के कई अच्छे पंडित शिष्य देश में बिखरे थे। उनमें एक थे भास्कराचार्य जो प्रयाग के पास प्रतिष्ठानपुर (झूंसी) में उस समय विराज रहे थे। स्वामी शंकर ने उनके पास आकर उन्हें समझा-बुझाकर अपने मत में दीक्षित किया और इस प्रकार उनको एक धुरंधर शिष्य मिला जो वेदांत प्रचार का एक महान नेता हुआ।

कुमारिलभट्ट के दूसरे महान पंडित शिष्य मंडनमिश्र थे। ये मिथिला में रहते थे। शंकर इनके पास भी गये और दोनों में कई दिनों तक शास्त्रार्थ हुआ तथा शंकर स्वामी के आगे मंडनमिश्र को चुप हो जाना पड़ा। उसके पश्चात मिश्र जी की पत्नी 'भारती' ने शंकर स्वामी से शास्त्रार्थ किया। भारती के सारे तर्कों का उत्तर तो शंकर स्वामी ने दे दिये; परन्तु जब उसने काम-शास्त्र सम्बन्धी प्रश्न किये, तब बाल ब्रह्मचारी शंकर उत्तर न दे सके तथा 'भारती' से कुछ दिन का अवसर मांगकर एक मृत राजा के शरीर में प्रवेश कर उसकी अनेक रानियों में कुछ दिनों तक रहकर तथा गृहस्थी जीवन का अनुभव करके

तत्पश्चात भारती का उत्तर दिये और भारती को भी परास्त कर दिये तथा इस प्रकार भारती और मंडनमिश्र दोनों स्वामी शंकर के शिष्य हो गये तथा मंडनमिश्र संन्यासी हुए और उनका नाम पड़ा सुरेश्वराचार्य। इस प्रकार स्वामी जी को एक दूसरा महान धर्म प्रचारक मिल गया।

यहां स्वामी शंकराचार्य का भारती को परास्त करने के लिए जो गृहस्थी जीवन का अनुभव करने की बात आयी है, ऊटपटांग लगती है। अद्वैत-ज्ञान कराने के लिए कामकला की चर्चा की कोई आवश्यकता ही नहीं है। और यदि भारती न भी परास्त होती तो क्या बिगड़ जाता! वस्तुतः यह स्वामी शंकराचार्य पर परकाया-प्रवेश और कामभोग का आरोप अनुगामियों की मिथ्या कल्पना है। अखंड वैराग्यवान स्वामी शंकराचार्य स्त्री-संपर्क कर ही नहीं सकते। अद्वैतवेदान्त में प्रायः अंततः भोग-योग में अन्तर नहीं मानते, इस कथा का यही मूल हो सकता है या 'परकाया प्रवेश' जैसी मिथ्या धारणा का प्रचार करने के लिए यह कथा गढ़ी गयी है।

स्वामी शंकराचार्य की शिष्य मंडली विशाल हो गयी थी। वे पूरे भारत में घूम-घूमकर अद्वैतवेदान्त का प्रचार करने लगे। उनके ख्याल से एक आत्मा के अलावा कुछ नहीं था; परन्तु उन्होंने हिन्दू समाज में फैले नाना देवी-देवताओं का खंडन नहीं किया और सबको समेटकर हिन्दू समाज का एक सुन्दर संघटन करना चाहा। कहा जाता है उन्होंने ही 'पंचायतन' की उपासना प्रणाली चलायी। जैसे 'शिवपंचायतन' एवं 'रामपंचायतन' आदि। शंकराचार्य का ही असर था जो हिन्दुओं ने जगन्नाथ के बौद्ध मन्दिर को अपना बना लिया; किन्तु बौद्ध के छुआछूत-विरोधी विचारों को न हटा सके और आज भी जगन्नाथ में सबका छुआ सब खाते हैं।

स्वामी जी देश में जगह-जगह मठ स्थापित करने लगे जिससे वहां शिक्षा पाकर युवक संन्यासी देश में प्रचार कर सकें। उन्होंने पहले दक्षिण भारत कांची में मठ स्थापित किया। पीछे चलकर शृंगेरी मठ में वह काम होने लगा। उसके प्रथम अधीश्वर सुरेश्वराचार्य (मंडनमिश्र) हुए। फिर स्वामी जी जगन्नाथ पहुंचे और वहां गोवर्धन मठ की स्थापना की। फिर काशी आदि घूमते हुए पश्चिमी भारत में पहुंचे और द्वारकापुरी में उन्होंने शारदापीठ नामक मठ स्थापित किया। वहां से पंजाब होते हुए बौद्धों के गढ़ तक्षशिला पहुंचे, वहां बौद्धाचार्यों से शास्त्रार्थ हुआ।

वहीं से वे महर्षि कश्यप की भूमि कश्मीर गये। वहां शारदा के पुजारियों से शास्त्रार्थ हुआ। तत्पश्चात पूर्व प्राग्ज्योतिष प्रान्त की ओर गये जहां तांत्रिक वाममार्गी अपने दुराचरण को धर्म मानकर उसी में व्यस्त थे। वे शंकर स्वामी के शास्त्रार्थ को मानने वाले नहीं थे। अतएव स्वामी जी ने अपना प्रचार वहां

जनसाधारण में किया, किन्तु वामाचार्यों की भ्रांतियों का भंडाफोड़ होने से वे स्वामी जी पर क्रुद्ध हो गये। फलत: स्वामी जी की मृत्यु के लिए कापालिकों द्वारा षड्यंत्र रचे जाने लगे। अभिनव गुप्त बहुत दिनों तक स्वामी जी की हत्या करने के फेर में पड़ा रहा। कहा जाता है कि किसी विरोधी के द्वारा विष देने से स्वामी जी के शरीर में रोग हो गया और कुछ लोगों का मत है कि स्वाभाविक ही उन्हें भगंदर का भयंकर रोग हो गया था।

स्वामी जी रुग्णावस्था में बदरिकाश्रम चले गये। वहां कुछ दिन निवास किये। उसके पश्चात वे केदारनाथ की यात्रा का विचार किये। वे उस तरफ गये तो सदा के लिए चले गये और उन्होंने अपनी 32 वर्ष की थोड़ी आयु में सन् 820 ई० में शरीर का त्याग कर दिया।

स्वामी शंकराचार्य की पूरी आयु 32 वर्ष की थी; परन्तु उन्होंने उतने ही थोड़े दिनों में जितना काम कर दिखाया, बहुत विशाल था। उन्होंने दस मठ स्थापित किये जिनमें चार आज भी भारत के चारों कोनों पर विराजमान हैं। उन्होंने प्रस्थानत्रयी—मुख्य उपनिषदें, गीता तथा ब्रह्मसूत्र पर बृहत भाष्य लिखा। अनेक मौलिक पुस्तकें रचीं। रेल, मोटर आदि यातायात साधन के बिना आज से 12 सौ वर्ष पूर्व पूरे भारत का भ्रमण कर प्रचार किया। त्यागी शिष्य मंडली का संघटन कर उनके साथ प्रसन्नतापूर्ण गुरु-शिष्य का सम्बन्ध निभाया। निश्चित है स्वामी शंकराचार्य अनेक जन्मों के दिव्य संस्कारी और वर्तमान के महान कर्मठ पुरुष थे। जैसे उनमें संगठन की शक्ति महान थी वैसे उनकी एक-एक वाणी से वैराग्य तथा आत्मज्ञान टपकता है। वेदांत-परम्परा को जिस तरह उन्होंने प्रभावित किया, बेजोड़ है।

14

सद्गुरु कबीर साहेब

'कबीर' शब्द का भाषागत अर्थ जैसे महान है, वैसे 'संत कबीर साहेब' नाम एक उच्चतम संत, निर्भीक, प्रातिभ एवं विशाल व्यक्तित्व का द्योतक है। जिसका कोई संप्रदाय नहीं, सांप्रदायिक रूढ़ ईश्वर नहीं, कोई ईश्वरीय किताब नहीं, कोई अवतार, पैगम्बर एवं ईश्वर-पुत्र नहीं, जिसने स्वयं भी अवतार, पैगम्बर एवं ईश्वर-पुत्र बनने का दंभ नहीं किया, जिसने अपने आप को किसी जाति, वर्ण एवं मजहब से नहीं जोड़ा, ऐसा भीतर-बाहर सम्पूर्ण निष्पक्ष व्यक्तित्व लेकर जिस प्रकार संत कबीर साहेब आये, अपने आप में अनोखा है।

जो किसी एक का नहीं होता, वह सबका होता है। कबीर साहेब किसी में चिपके नहीं थे, इसलिए वे सबकी कसर-खोट को निर्भीकतापूर्वक कह सके और सबके लिए प्रेम की गंगा बहा सके। यहां हम उसी महापुरुष के विषय में कुछ निवेदन करेंगे।

1. जन्मकाल और माता-पिता

विक्रम संवत् 1456, ज्येष्ठ पूर्णिमा को उनका जन्मदिन माना जाता है। नीरू और नीमा नाम के जोलाहा दंपति जो काशी में रहते थे लहरतारा नाम के तालाब पर संयोगवश पहुंच गये। उन्होंने एक नवजात शिशु के रोने की आवाज सुनी। निकट पहुंचकर उन्होंने बच्चे को उठा लिया और पाला-पोषा। यह बच्चा ही आगे चलकर संत एवं सद्गुरु कबीर नाम से प्रख्यात हुआ। यह कथा बहुत प्रसिद्ध है।

जिस बच्चे के जन्मदाता माता-पिता का पता न हो, और वह आगे चलकर महान हो जाय तो उसके लिए श्रद्धालु लोग चमत्कारी प्रसंग जोड़ते हैं, क्योंकि माता-पिता का पता न होना लोक-मर्यादा के विरुद्ध माना जाता है। इस क्रम में श्रद्धेया मां सीता, आदि शंकराचार्य, संत ईसा जैसे अनेक नाम लिये जा सकते हैं। मां सीता को जनक जी ने खेत में हल चलाते समय नवजात शिशु के रूप में पाया था,[1] तो पीछे यह प्रसिद्धि की गयी कि सीताजी जमीन से पैदा हुईं

---

1. **वाल्मीकीय रामायण, 1/66/13-14; 2/118/28-31; तथा 5/16/16।**

और अन्ततः जमीन में समा गईं। एक ब्राह्मणी ने अपने बहुतकाल के विधवापने के बीच में एक पुत्र को जन्म दिया जो संसार में शंकराचार्य के नाम से एक विद्वान एवं दिव्य संन्यासी के रूप में प्रख्यात हुआ; अतएव शिवजी के आशीर्वाद से इसका जन्म मान लिया गया।[1] कुमारी मरियम ने संत ईसा को अपने विवाह पूर्व ही गर्भ में धारण किया, तो प्रसिद्धि की गयी कि ईश्वर की कृपा से यह गर्भधारण हुआ। अतएव ईसा ईश्वर के पुत्र थे।

ऊपर निवेदन किया गया है कि कबीर साहेब भी नवजात शिशु के रूप में लहरतारा में पाये गये, तो इसके समाधान के लिए भक्तों ने अनेक कहानियां गढ़ीं। किसी ने लिखा कि स्वामी रामानन्द ने एक विधवा ब्राह्मणी अथवा कुमारी कन्या को अंजान में 'पुत्रवती भव' कहकर आशीर्वाद दे दिया था; उसको गर्भ रह गया। बच्चा पैदा होने पर वह लोकलाज-वश लहरतारा तालाब पर छोड़ गयी। किसी ने लिखा कि आकाश से लहरतारा-तालाब पर एक ज्योति उतरी और वही शिशु बनकर कमलफूल पर खेलने लगी। वही कबीर साहेब हैं। पौराणिक कबीरपंथी भक्तों में इस दूसरी बात की ही अधिक प्रसिद्धि है।

कोई भावुकता में कुछ भी कहे; बिना माता-पिता के किसी का जन्म नहीं होता। रामचरित मानस में जनकपुर की एक मनोरंजक कथा है। भले ही वह प्रक्षिप्त हो, परन्तु सत्य का मार्मिक उद्घाटन करने वाली है।

श्रीराम आदि चारों भाइयों का विवाह हो चुका है। बरात जनकपुर में विद्यमान है। राजभवन की नारियों ने श्रीराम चारों भाइयों को रंगमहल में बुलाकर उनका स्वागत-सत्कार किया। इसके बाद परस्पर हंसी-विनोद आरम्भ हो गया। एक सखी श्रीराम आदि चारों भाइयों की पैदाइश पर व्यंग्य करते हुए कहती है "अयोध्या की नारियां अत्यन्त उदार एवं चमत्कारी काम करने वाली हैं। वे तो खीर खाकर बच्चा पैदा कर देती हैं। उन्हें गर्भधारण करने के लिए पति की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।"[2]

उक्त बातें सुनकर श्रीराम ने मुस्कराते हुए कहा "हे प्यारी, अपनी चाल छिपाकर केवल दूसरे की मार्मिक बातें कह रही हो। कोई भी व्यक्ति बिना माता-पिता के नहीं पैदा होता; क्योंकि यह प्रकृति का नियम है। हां, आपके

---

1. **मणिमंजरी, लेखक पं० नारायणाचार्य। सी० एन० कृष्णा स्वामी अय्यर (असिसटेंट नेटिव कालेज कोइंबटोर) कृत लाइफ एण्ड टाइम ऑफ शंकर। मानसमीमांसा, पृ० 13-14।**
2. **अति उदार करतूतिदार सब, अवधपुरी की बामा।**
   खीर खाय पैदा सुत करतीं, पतिकर कछु नहिं कामा॥

यहां सुनता हूं कि जनकपुर में तो सब पृथ्वी फोड़कर पैदा होते हैं। हमारी अयोध्या में ऐसी पैदाइश की रीति नहीं है।''[1]

2. जाति की जड़ता

नीरू-नीमा दंपति जोलाहे मुसलमान थे। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने विस्तृत शोध से यह निष्कर्ष निकाला है कि वे एक-दो पीढ़ी पूर्व में ही हिन्दू से मुसलमान बने थे। इसलिए इस परिवार में हिन्दू-संस्कार भी विद्यमान थे। हजारों वर्षों से भारतीय परम्परा में यह बीमारी घुस गयी है कि तथाकथित अमुक जाति का आदमी बड़ा होता है तथा अमुक जाति का छोटा। इस धारणा ने मनुष्यों के मन में या तो मिथ्या अहंकार भर दिया है या तो हीन-भावना। परन्तु यह मानसिक कोढ़ भारतीयों एवं आर्यों में पुराकाल में नहीं था।

'सत्यकाम' के पिता का पता नहीं था। इसीलिए उनका नाम माता जबाला के नाम के साथ जुड़ा था 'सत्यकाम जाबाल', परन्तु उन्हें गुरु-गौतम ने ब्राह्मण कहकर पुकारा और अपनी शिष्यता दी।[2] जगत-प्रसिद्ध महर्षि वेदव्यास धीवरी के पुत्र थे, परन्तु वे हिन्दू-परम्परा की नस-नस में व्याप्त हैं। उन्हीं के नाम से जुड़े महाभारत, गीता, भागवत, पुराण आदि धर्मग्रन्थ पण्डितों के धर्म-व्यवसाय के साधन हैं। प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य शठकोपाचार्य, तिरुभंगै, गोदा आदि अछूत कही जाने वाली जाति में जन्में थे।[3]

परन्तु उन तपःपूतों ने ही वैष्णवभक्ति की गंगा बहाई थी। वानर-गोत्रिय आदिवासी परिवार में जन्में हनुमान जी आज घर-घर पूज्य हैं। हिन्दू-पण्डित तो इतना उदार है कि वह मत्स्यावतार, कच्छपावतार, शूकरावतार, नृसिंहावतार आदि के नाम लेकर मछली, कछुआ, शूअर तथा नरपशु को भी भगवान मानकर पूजता है, फिर संत की पूजा तो सहज ही है।

संत कबीर साहेब ब्राह्मणी से पैदा हुए कि मुसलमानिन से या जुग्गी-जाति से और उन्हें किसने पाला-पोषा इन सब बातों का कोई महत्त्व नहीं है। कीचड़ और पानीभरे सरोवर में विकसित कमल की भांति वे खड़े हैं और उनसे सत्यज्ञान, निष्पक्षविचार, पवित्र रहनी और सार्वभौमिक चेतना की सुगंधी निकलकर दिग्दिगंत व्याप्त हो रही है।

---

1. **सखी वचन सुन कर रघुनन्दन, बोले मृदु मुस्काते।**
   आपन चाल छिपावहु प्यारी, कहहु आन की बातें॥
   कोइ नहिं जनमें मात-पिता बिनु, बांधी वेद की नीती।
   तुम्हरे तो सब महि से उपजे, अस हमरे नहिं रीती॥
2. **छांदोग्य उपनिषद्, 4/4।**
3. **भारतीय दर्शन, पृष्ठ 469-470, षष्टम संस्करण, शारदामंदिर काशी, पंडित बलदेव उपाध्याय।**

स्वामी विवेकानन्द लिखते हैं—ये ऋषिगण कौन थे? वात्स्यायन ने लिखा है कि जिसने यथाविहित धर्म की अनुभूति की है, वह म्लेक्ष होने पर भी ऋषि हो सकता है। इसीलिए प्राचीन काल में वेश्यापुत्र वसिष्ठ, धीवरी-तनय व्यास, दासीपुत्र नारद प्रभृति ऋषि कहलाये थे। सच्ची बात यह है कि धर्म का साक्षात्कार होने पर किसी प्रकार का भेद नहीं रह जाता।''[1]

जो लोग मानव का मूल्य नहीं समझते, वे कबीर साहेब को तथाकथित ब्राह्मण-जाति से जोड़ने का प्रयास करते हैं। यदि इस जन्म से फिट नहीं बैठता, तो पिछले जन्म से जोड़ते हैं। किसी ने तो एक दोहा बनाकर कबीर साहेब के मुख से ही कहलवा दिया है ''पाछे जन्म हम बाह्मन होते, ओछे कर्म तपहीना। रामदेव की सेवा चुकी, पकरि जोलाहा कीन्हा॥'' इसका भाव है कि मैं पहले जन्म में ब्राह्मण था, परन्तु मेरे कर्म ओछे थे, मैं तपहीन था, राम की सेवा से चूक गया था, इसलिए इस जन्म में जोलाहा बना दिया गया। परंतु ऐसे वचन कबीर साहेब के मुख से निकल ही नहीं सकते। वे कच्चे धागे से नहीं बने थे। वे ब्राह्मण-शूद्र एवं हिन्दू-मुसलमान आदि के शब्द-जाल में फंसने वाले नहीं थे।

मुसलमान-मुल्ला जैसा कि आज भी मानते हैं, मान रहे थे कि इसलाम ही स्वर्ग एवं मोक्ष का पथ है। केवल मुसलमान स्वर्ग में पहुंचेगा। बाकी सब लोग सदा के लिए नरक की आग में डाल दिये जायेंगे। परन्तु इस शब्द-जाल में भी कबीर साहेब नहीं पड़े। प्रत्युत उन्होंने इस चालभरी बात का मजाक उड़ाया और अपने पैने तर्क मुल्लाओं के सामने पेश किये। यदि कबीर साहेब मुसलिम मत स्वीकार कर लिये होते तो मुल्ला एवं मुसलिम-समाज उन्हें सर-आंखों पर बिठा लेता। परन्तु कबीर साहेब ने मुल्लाओं और ब्राह्मण-पुरोहितों दोनों के मिथ्या दंभों पर घृणा की। कबीर साहेब जाति-वर्ण जैसी झूठी बातों से कभी प्रभावित होने वाले नहीं थे। उनमें हीन-भावना नाम की चीज ही नहीं थी।

अतएव कबीर मानव के पुत्र और मानव थे। इसके अलावा उन्हें ईश्वर, ईश्वर के अवतार तथा पैगम्बर जैसे झूठे विशेषणों से सम्पन्न एवं सिद्ध करना बेमानी है। ईश्वर ही काल्पनिक है और अवतार-पैगम्बर तो घोर काल्पनिक हैं।

3. वे कर्मकरों के पक्षधर थे

संत कबीर साहेब के पोषक माता-पिता बुनकर एवं जोलाहे थे, तो बच्चे का पैतृक काम करना स्वाभाविक है। कबीर साहेब कपड़ा बुनना हीन काम नहीं, किन्तु गर्व का विषय समझते थे। लोग शरीर से करने वाले काम को मोटा काम समझते है, इसलिए उन्हें छोटा समझते हैं और ऐसे काम को वे

---

1. **हिन्दू धर्म, पृष्ठ 41-42।**

छिपाते हैं। परन्तु कबीर साहेब का दृष्टिकोण इससे बिलकुल भिन्न है। वे बीजक में अपने आप को स्वयं जोलाहा कहने में गर्व का अनुभव करते हैं। भोजन, वस्त्र और आवास, जीवन के लिए तीनों मुख्य आवश्यकताएं हैं। यदि जीवन में इनका उपयोग करना पाप तथा हीनकर्म नहीं है तो इनके लिए श्रम करना पाप या हीनकर्म कैसे है! यह तो पुनीत काम है।

हमारी पुरानी आर्य-परम्परा कर्मों में निष्ठा रखती थी। हमारे वैदिक ऋषि अधिकतम चरवाहे थे। वे कपड़े भी बुनते थे,[1] वेदों के मंत्रों की रचना करते थे, दवाई बनाते थे और जौ भूनते थे।[2] महाराज श्रीकृष्ण प्रसिद्ध चरवाहे थे, उनके बड़े भाई बलराम हलधर एवं हलवाहक थे। सत्यकाम जाबाल गुरु-गौतम की गायें चराकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त करते हैं।[3] 'आरुणि-उद्दालक' गुरु के धान के खेत के पानी रोकने के लिए मिट्टी से मेड़ बांधते हैं। पानी के बहाव के जोर से मिट्टी बारम्बार बह जाती है, तो आरुणि उसकी जगह पर स्वयं लेटकर पानी रोकते हैं। 'उपमन्यु' तपस्यापूर्वक गुरु की गायें चराते हैं और ब्रह्मचारी 'वेद' बैल के समान गुरु के बोझा ढोकर आत्मज्ञान प्राप्त करते हैं।[4] ऐतरेय महीदास, वेदव्यास, सूत—सब श्रमिक-परिवार में पैदा होते हैं।

जब से वर्णव्यवस्था बनी और वह उत्तरोत्तर अधिक रूढ़ तथा जड़ हुई, तब से धीरे-धीरे मोटा काम करनेवालों को शूद्र कहकर उन्हें हेयदृष्टि से देखा जाने लगा और उसका परिणाम यह हुआ कि पूरे भारतीय कर्मकरों को नीच मान लिया गया।

संत कबीर साहेब को यह बहुत बुरा लगा। उन्होंने स्वयं कपड़ा बुना और उनसे ऐसी निर्गुण धारा नाम से संत-परम्परा निकली जिसमें नानक साहेब, दादू साहेब, दरिया साहेब, घीसा साहेब, गुलाल साहेब, पलटू साहेब आदि दर्जनों संत मतप्रवर्तक हुए और सब कर्मकर थे तथा कर्मकरों के पक्षधर थे। यह सच है कि श्रीकृष्ण जीवन के प्रथम पक्ष में ही गायें चराने का अवसर पाये। उसके बाद वे राजनीति में लग गये। इसी प्रकार कबीर साहेब अपने जीवन के कैशोर तक ही कपड़े बुनने का अवसर पाये। उसके बाद धर्म-आंदोलन में देश के कोने-कोने में भ्रमण करने लगे; परन्तु वे कर्म को आदर देते थे। और उन्होंने जीवनभर कर्मकरों को उच्च दृष्टि से देखा।

---

1. ऋग्वेद 2/28/5।
2. ऋग्वेद 9/112/3।
3. छांदोग्य उपनिषद्, चतुर्थ प्रपाठक।
4. महाभारत, आदि पर्व, अध्याय 3।

4. गुरु : स्वामी रामानन्द

संत कबीर साहेब के समय में काशी में स्वामी रामानन्द एक योग्य वैराग्यवान, विद्वान एवं उदार संत थे। अनेक साक्ष्यों से यह सिद्ध होता है कि कबीर साहेब ने उन्हें अपना गुरु चुना। भक्तकवि व्यास, परम वैष्णव नाभादास, अनंतदास, सूरत के संत निर्वाण साहेब आदि ने माना है कि कबीर साहेब के गुरु रामानन्द थे।

कुछ विद्वान मानते हैं कि स्वामी रामानन्द का शरीर छूट चुका था तब कबीर साहेब का जन्म हुआ है। कुछ विद्वान मानते हैं कि कबीर साहेब का गुरु उनका विवेक ही था। कोई मनुष्य उनका गुरु नहीं था। कबीरपंथ मानता है कि कबीर साहेब ने स्वामी रामानन्द को अपना गुरु चुना था केवल गुरुमर्यादा रखने के लिए।

कबीर साहेब की वाणी में गुरु की महिमा का बहुत गायन किया गया है। अतएव उन्होंने किसी को अपना गुरु स्वीकारा हो तो यह स्वाभाविक ही है। यदि स्वामी रामानन्द उस समय जीवित थे तो वे ही कबीर साहेब के गुरु हो सकते हैं, क्योंकि अनेक संतों ने उन्हीं को स्पष्ट रूप से लिखा है। सूरत के निर्वाण साहेब कबीर साहेब के समसामयिक थे और उन्होंने इसकी स्वीकृति की है। चाहे कोई कितना ही तेजवान पुरुष हो, आरम्भ में तो उसको भी दूसरे के सहारे की आवश्यकता पड़ती है।

यह निश्चित है कि कबीर साहेब अपने बचपन से ही अत्यन्त पैनी दृष्टि वाले थे। गरीबदासजी साहेब कहते हैं ''जब कबीर साहेब पांच वर्ष के थे तभी उनमें आश्चर्यजनक विशेषता थी। वे उसी समय से ज्ञान, ध्यान और सद्‌गुणों में सिरमुकुट हो गये थे।''[1] इस कथन में अतिशयोक्ति हो सकती है, परन्तु यह निश्चित है कि कबीर साहेब अपनी थोड़ी उम्र से ही तीव्र बुद्धि के अत्यंत संवेदनशील पुरुष थे।

यदि कबीर साहेब ने स्वामी रामानन्द की शिष्यता स्वीकारी होगी तो उनके वैराग्य, संत-स्वभाव एवं सद्‌गुणों से ही ज्यादा प्रेरणा ली होगी। ज्ञान के क्षेत्र में उनसे उनकी दूरी बनी रही होगी। स्वामी रामानन्द परोक्ष ईश्वर के उपासक थे, कबीर साहेब अपरोक्ष स्व-स्वरूप-विवेकी एवं आत्मानुभूति के पक्षधर थे। स्वामी रामानन्द अवतारवादी एवं मूर्तिपूजक थे, कबीर साहेब इन दोनों बातों से परे थे।

---

1. **पांच बरस के जब भये, काशी मांझ कबीर।**
   गरीब दास अजब कला, ज्ञान ध्यान गुण सीर॥

किंवदंतियां भी उक्त बातों की साक्षी हैं। कहा जाता है कि एक बार स्वामी रामानन्द ने कबीर साहेब से कहा कि जाकर कहीं से गाय का दूध ले आओ, भगवान का भोग लगाना है। कबीर साहेब लोटा लिये और एक मैदान में चले गये जहां एक गाय का कंकाल पड़ा था। कबीर साहेब ने उस कंकाल के मुख के सामने थोड़ी घास रख दी और उससे बारंबार कहने लगे कि माता उठो, दूध दो।

जब काफी देर हो गयी, तब स्वामी जी ने किसी दूसरे साधु को भेजा कि भई, देखो कबीर दूध लेने गया और अभी तक नहीं आया। उस साधु ने कबीर साहेब की दशा देखकर सब बातें स्वामी रामानन्द को बता दीं। स्वामी जी ने खड़ाऊ पहनी और जल्दी-जल्दी चले कबीर साहेब के पास और पहुंचकर झटके से कहा—कबीर! तुम क्या तमाशा करते हो? क्या यह मरी गाय का कंकाल दूध देगा?

कबीर साहेब ने विनम्रता से कहा—गुरुदेव, जिस भगवान का आप भोग लगाना चाहते हैं क्या वे दूध पीने की शक्ति रखते हैं!

स्वामी जी निरुत्तर रह गये। उनके पास कोई जवाब नहीं था। धीरे-धीरे स्वामी रामानन्द ने स्वयं समझ लिया था कि कबीर महान हैं।

कबीर साहेब की प्रामाणिक कृति बीजक में केवल एक जगह स्वामी रामानन्द का नाम आया है। उसमें एक उलाहना है। वे कहते हैं "स्वामी रामानन्द रामरस में माते रहे, मैं उन्हें कह-कह कर थक गया।"[1] इस पंक्ति में दो बातें ध्यातव्य हैं—रामरस में मस्त होना तथा कह-कहकर थकना। रामरस में तो कबीर साहेब भी डूबे रहते थे; परन्तु उनका राम निज स्वरूप चेतन था। आत्मानुभूति ही उनका रामरस में डूबना था। परन्तु स्वामी रामानन्द अपने आत्मा से परे परोक्ष राम मानकर या दाशरथी राम में मस्त थे। कबीर साहेब को यह खटकता था। इसलिए वे बारम्बार स्वामी जी से निवेदन करते रहे होंगे कि स्वामी जी! बाहर राम की कल्पना तो व्यर्थ ही है। स्वात्माराम की स्थिति ही अपना प्राप्तव्य हो सकती है। परन्तु बारंबार कहने पर भी जब स्वामी जी ने इधर ध्यान नहीं दिया होगा, तब कबीर साहेब ने मानो उलाहना में कहा कि मैं कह-कह कर थक गया, परन्तु स्वामी जी मेरी बातों पर ध्यान नहीं दे सके।

इस विचार से स्वामी रामानन्द और कबीर साहेब का घनिष्ठ सम्बन्ध सिद्ध होता है। लोग अपनों को ही ऐसा शब्द कहते हैं। जिसे बहुत अपना माना जाता है जब बारंबार उसे किसी बात का सुझाव दिया जाता है और वह उसकी

---

1. **रामानन्द रामरस माते, कहहिं कबीर हम कहि-कहि थाके ॥ बीजक, शब्द 77 ॥**

बराबर उपेक्षा कर देता है, तब विवश होकर कहा जाता है "मैं कह-कह कर थक गया, परन्तु आपने मेरी बातों पर ध्यान नहीं दिया।"

यद्यपि तेजवान-से-तेजवान पुरुष को भी अनेक संतों, विद्वानों, सामान्य लोगों, साहित्यों, संसार की घटनाओं आदि से बहुत-कुछ सीखने को मिलता है, बिना आधार के कोई कुछ नहीं हो सकता; तथापि इस संसार में कभी-कभी ऐसे महापुरुष होते हैं जो संसार की अनेक घटनाओं, मत-मजहबों आदि को देखकर स्वयं के विवेक-मंथन से सत्य का शोधन कर लेते हैं। कबीरपंथ के महान संत परम पारखी श्री रामरहस साहेब ने अपने महान ग्रंथ पंचग्रंथी में इस तरह साफ-साफ निर्देश किया है। उन्होंने कबीर साहेब की तरफ संकेत करके पंचग्रन्थी में कई जगह इसका वर्णन किया है।[1]

सार यह है कि कबीर साहेब ने मर्यादा के लिए स्वामी रामानंद को गुरु माना होगा इसमें कोई आश्चर्य नहीं। किन्तु उनका असली गुरु स्वयं का विवेक था। इन दोनों बातों का समर्थन सभी संत एवं विद्वान करते हैं।

5. वे आजीवन विरक्त संत थे

विद्वानों ने कबीर साहेब को समझने में गहरी भूलें की हैं। उन्होंने कुछ इधर-उधर की उड़ी-उड़ी बातें लेकर कबीर साहेब को गृहस्थ सिद्ध करने का असफल प्रयास किया है और खेद है यही सब स्कूलों, कालेजों एवं विश्वविद्यालयों के छात्रों को पढ़ाया जाता है।

किसी महापुरुष को समझने के लिए दो माध्यम होते हैं—अंतस्साक्ष्य एवं बहिस्साक्ष्य। अंतस्साक्ष्य उनकी वाणी होती है और बहिस्साक्ष्य उनकी परंपरा तथा अन्य प्रामाणिक सामग्री। हम पहले बहिस्साक्ष्य को लें। पूरे कबीरपंथ में, चाहे भारत हो या भारत के बाहर, कबीर साहेब को आजीवन विरक्त माना जाता है। काशी कबीरचौरा में जो कबीर साहेब की साधना एवं कार्य स्थली है, शुरू से लेकर आज तक विरक्त महंत होते आये हैं। यह परम्परा कबीर साहेब को विरक्त मानती है। इसके अलावा जागू साहेब तथा भगवान साहेब की परम्परा जो विरक्त-गद्दियां हैं और कबीर साहेब के काल से हैं, कबीर साहेब

---

1. **केवल एक जगह की थोड़ी पंक्तियां लें-**

देखि अनेक रीति अकुलाना। निज शोधन तब कियो सुजाना॥
सत्य विचार धीरता पाई। दया शील उर बसो सहाई॥
प्रेम गोहार स्वतः पद देखा। इन्ह के लहत सब मिटै अलेखा॥
ठहरि यथारथ पारख कीन्हा। लहत प्रकाश स्वतः पद चीन्हा॥
स्वतः दृष्टि जब जेहि भई भाई। सोई गुरुपद ठहर परखाई॥

(पंचग्रंथी, गुरुबोध, प्रश्नोत्तर 6)

को विरक्त मानती हैं। इनके बाद धर्म साहेब की शाखा है। इसमें गृहस्थ तथा विरक्त दोनों प्रकार के महंत होते हैं। परन्तु ये भी कबीर साहेब को आजीवन विरक्त मानते हैं।

गृहस्थ-आश्रम में भी महान-से-महान संत हो सकते हैं। यदि कबीर साहेब-जैसे संतशिरोमणि पुरुष गृहस्थी में ही रहे हों, तो वे छोटे तो नहीं हो जायेंगे कि कबीरपंथी लोग उनको बलात विरक्त सिद्ध करने लग गये हों। कबीर-जैसे सर्वत्र अनासक्त एवं उच्चतम संत गृहस्थ-आश्रम में रहें या विरक्त-आश्रम में, इसका कोई मूल्य नहीं है। वे इन दोनों आश्रमों से ऊपर हैं। परन्तु एक तथ्य को अनदेखा नहीं करना चाहिए। पूरा कबीरपंथ उनको विरक्त मानता है। तब दूसरों को भी इस बात पर ध्यान देकर विचार करना चाहिए।

कबीर साहेब के समय में सूरत के निर्वाण साहेब एक योग्य संत एवं कवि थे। उन्होंने कबीर साहेब को युगनयुगन का योगी और अवधूत विरक्त लिखा है।[1] मोहसिनफानी (1670) ने लिखा है कबीर एक वैरागी थे।[2] सबसे बलवान प्रमाण तो कबीरपंथ अपने आप है जो शुरू से ही कबीर साहेब को विरक्त मानता है।

अंतस्साक्ष्य में कबीर साहेब का प्रामाणिक ग्रंथ बीजक है। पूरा बीजक पढ़ जाने पर कोई निष्पक्ष विवेकी उसके रचयिता को गृहस्थ नहीं मान सकता। बीजक का उनका प्रसिद्ध शब्द "माया महा ठगिनी हम जानी।" में उन्होंने "केशव के कमला ह्वै बैठी, शिव के भवन भवानी" तथा "ब्रह्मा के ब्रह्मानी" कहकर ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेव को इसलिए मायालिप्त या माया द्वारा ठगे गये बताया है क्योंकि ये तीनों सरस्वती, लक्ष्मी तथा पार्वती से संबद्ध थे। क्या जो स्वयं किसी स्त्री से संयुक्त हो वह दूसरे स्त्री वाले को माया द्वारा ठग लिया गया कह सकता है! "जहां जराई सुन्दरी, तू जनि जाय कबीर। उड़ि के भसम जो लागई, सूना होय सरीर।" जो इस प्रकार स्त्री की याद भी साधकों के पथ का बंधन समझता है वह क्या स्त्रीयुत हो सकता है?

कबीर साहेब बीजक में कहते हैं—

माया के झक जग जरे, कनक कामिनी लाग।
कहहिं कबीर कस बाँचिहो, रूई लपेटी आग॥
माया जग साँपिनि भई, विष ले पैठि पताल।
सब जग फन्दे फन्दिया, चले कबीरू काछ॥

---

1. **कबीरा जुगन-जुगन का जोगी, अवधू को पिछनायो।**
2. **कबीर : एक अनुशीलन, पृष्ठ 22, डॉ० रामकुमार वर्मा।**

साँप बिच्छू का मंत्र है, माहुरहू झारा जाय।
विकट नारि के पाले परे, काढ़ि कलेजा खाय॥
कनक कामिनी देखि के, तू मत भूल सुरंग।
मिलन बिछुरन दुहेलरा, जस केंचुलि तजत भुवंग॥

(बीजक, साखी 141, 142, 143, 148)

स्वनामधन्य डॉ० रामकुमार वर्मा ने अपने ढंग से कबीर साहेब पर बहुत काम किया है, परन्तु इस दिशा में तो उन्होंने अनर्थ कर डाला है। उन्होंने गुरुग्रन्थ में जो कबीर साहेब के नाम से वाणियां हैं उन्हीं का संग्रह करके 'संत-कबीर' नाम से प्रकाशित किया है और उसके आरम्भ में एक लम्बी प्रस्तावना लिखी है। अपने संग्रह से उन्होंने कुछ पंक्तियां उद्धृत कर तथा उसका स्थूल अर्थ कर बड़ी बहादुरी के साथ कबीर की दो पत्नियों की खोज कर डाली है। उनकी पंक्तियां ये हैं—

मेरी बहुरिया को धनिया नाऊ। लै राखियो रमजनिया नाऊ॥
पहली कुरूपि कुजाति कुलखनी। अबकी सरूपि सुजाति सुलखनी॥

उक्त पंक्तियां बीजक की नहीं हैं, परन्तु उनका अर्थ उत्तम है। डॉ० साहेब उक्त पंक्तियों के आधार पर कहते हैं "कबीर की पहली पत्नी लोई नाम की थी और दूसरी 'धनिया' नाम की। जिसका दूसरा नाम 'रमजनिया' था। यह संभवत: वेश्या थी, किन्तु कबीर की दृष्टि में वेश्या किसी भांति हीन न समझी गयी हो।"[1]

कबीर साहेब की वाणियां रूपकों, प्रतीकों आदि से भरी हैं। उनके आध्यात्मिक अर्थ होते हैं। यहां पर बहुरिया मनोवृत्ति है जो पहले धनिया रहती है अर्थात धन-दौलत एवं माया में आसक्त रहती है। परन्तु जब साधक साधना में परिपक्व हो जाता है तब उसकी वह मनोवृत्ति रमजनिया हो जाती है अर्थात राम में रमने वाली हो जाती है। पहली मनोवृत्ति जो मायासक्त थी कुरूप, कुजाति और कुलक्षण वाली थी, अर्थात विकारी थी। परन्तु अब बोधज्ञान हो जाने पर वह सुरूप, सुजाति एवं सुलक्षण वाली, अर्थात निर्मल हो गयी।

यह स्वाभाविक बात है कि साधक का मन पहले मलिन होता है। आगे साधना द्वारा शुद्ध होकर आत्मपरायण हो जाता है। इस क्रम में दो पंक्तियां लें—

पहली को घाल्यों भरमत डोल्यो, संचु कबहुं नहिं पायो।
अबकी घरनि धरी जा दिन थै, सगलों भरम गवांयो॥

(बानी, पद 229)

---

1. **संत कबीर, डॉ० रामकुमार वर्मा।**

उक्त पंक्तियों का सरल अर्थ होगा कि पहली पत्नी के चक्कर में मैं भटकता फिरता था और मुझे कभी सुख नहीं मिला, परन्तु अबकी पत्नी को जब से पाया तब से सारी भ्रांतियां मिट गयीं।

इसमें भी मलिन मनोवृत्ति तथा पवित्र मनोवृत्ति की ही चर्चा है। साधक पहली मलिन मनोवृत्ति के चक्कर में पड़कर भटकता है, परन्तु साधना द्वारा शुद्ध मनोवृत्ति पाकर उसका सारा भटकना बंद हो जाता है। उसके सारे भ्रम मिट जाते हैं। ''सगलों भरम गवांयो'' पर ध्यान दीजिए। किसी व्यक्ति को जब अच्छी पत्नी मिल जाती है तब क्या उसके सारे भ्रम मिट जाते हैं? सारे भ्रम मिटने का मतलब है अविद्या की पूर्ण निवृत्ति।

उक्त जैसी दो पंक्तियां लें—

मुई मेरी माई, हऊ खरा सुखाला।
पहरिऊ नहिं दगली, लगे न पाला॥

अर्थात—मेरी माता मर गयी, इसलिए मैं बहुत सुखी हो गया। अब न अंगरखा पहनूंगा और न ठण्डी लगेगी।

इसका ऊपरी अभिप्राय यही है कि कबीर साहेब की माता उन्हें अंगरखा पहनाती थीं, परन्तु वे उसे नहीं पहनना चाहते थे और इसको लेकर कबीर साहेब अपनी माता से बहुत दुखी थे। जब एक दिन उनकी माता मर गयीं, तब वे बहुत सुखी हो गये और कहने लगे कि अब आगे कभी न अंगरखा पहनूंगा और न ठण्डी लगेगी।

क्या ऊपर का शाब्दिक अर्थ एक पागलखाने की बात नहीं है! क्या कबीर साहेब-जैसे उच्च ज्ञानी संत-पुरुष अपनी माता की इसलिए मरण-कामना कर रहे थे कि वे मुझे अंगरखा पहनाती हैं और माता के मरते ही कबीर साहेब आनंद-विभोर हो गये! विशेषता तो यह कि अब आगे अंगरखा न पहनने से ठण्डी नहीं लगेगी। क्या अंगरखा पहनने से ठण्डी लगती है और न पहनने से ठण्डी नहीं लगती है?

वस्तुत: उक्त पंक्तियों का आध्यात्मिक अर्थ है कि मेरी ममता-माया रूपी माता मर गयी इसलिए मैं सच्चे अर्थ में सुखी हो गया। अब आगे शरीर रूपी अंगरखा नहीं पहनूंगा और इसलिए सांसारिकता की ठण्डी नहीं लगेगी।

डॉ० रामकुमार वर्मा की उक्त मिथ्या धारणा पर असहमति प्रकट करते हुए श्री पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव लिखते हैं—''अब यह अपनी रुचि है कि हम ऐसे पदों में आये हुए कुल सम्बन्ध सूचक शब्दों का मुख्यार्थ लेकर कबीर की पत्नी के देवर, जेठ, ननद, बाप, सगे भइया (बानी पद 230) आदि का इतिहास ढूंढ़ निकलने में माथापच्ची करें या उनके सांकेतिक अर्थ लेकर संगति

बैठायें। हम नहीं समझते कि अपने कुल वालों का यह असंगत पचड़ा सुनाने में कबीर का क्या उद्देश्य हो सकता था। हां, सांकेतिक अर्थ से अवश्य उनके भाव पूर्णतया स्पष्ट हो जाते हैं। कबीर ने राम को भुलवाने वाली "बौरी मति" और राम में रमने वाली "सुन्दरमति" का उल्लेख अन्यत्र किया भी है।"[1]

डॉ० युगेश्वर लिखते हैं—"कबीर की दो पत्नियों की कल्पना और उस पर यह पहली दूसरी का अनुमान हिन्दी कविता के अध्ययन का अच्छा उदाहरण है। इस प्रकार की कल्पनाएं बिलकुल छिछिली और सतही हैं। आश्चर्य तब होता है जब यह प्रसिद्ध विद्वानों द्वारा कही जाती है। इसमें पहली बात तो यह है कि कबीर रूपकों में बात करते हैं। उन्होंने कहीं भी अपनी पत्नी का नाम लोई नहीं कहा है। हां, धनिया अवश्य कहा है। किन्तु धनिया और रमजनिया केवल तुक के लिए है। ध्यान रखना होगा कि कबीर अपने को भक्त और भगवान दोनों मानते हैं। इसलिए स्त्री मात्र का पर्याय 'धन्या' का तद्भव 'धनिया' अपनी पत्नी का नाम बताते हैं। 'धनिया' और 'रमजनिया' केवल प्रतीक हैं। यहां न तो उनकी कोई पहली पत्नी थी न कोई दूसरी। जिसे वे पहली कहते हैं वह माया है और दूसरी है भक्ति।"[2]

कबीर साहेब ने बीजक में कहा है "माया मोह बंधा सब लोई" (रमैनी 84) "तुम यहि विधि समझो लोई" (शब्द 82) तथा "कहहिं कबीर सुनो नर लोई" (शब्द 104)। बीजक के बाहर की वाणियों में, जो कबीर साहेब के नाम से प्रसिद्ध हैं, आता है "माया मोह धन जोबन, इन बंधे सब लोई" (क० ग्रन्थ पृष्ठ 229) "बे अकली अकलि न जानहीं, भूले फिरै ए लोई" (वही 239) "रंग न चीन्हें मूरख लोई। जिहि रंग रंगि रह्या सब लोई" (बानी, पद 27) "सरग के पथि जात सब लोई" (वही 239)।

उपर्युक्त प्रकार से जहां भी कबीर साहेब ने लोई कहा है वह सब लोगों के अर्थ में है। जैसे "माया मोह बंधा सब लोई" का अर्थ है कि सब लोग माया के मोह में बंधे हैं। परन्तु कुछ विद्वान लोई शब्द को घसीटकर उसे स्त्री बना देते हैं।

डॉ० युगेश्वर लिखते हैं—"डॉ० माता प्रसाद गुप्त द्वारा संपादित 'मधुमालती' में लोई का प्रयोग लोग के अर्थ में आया है—

कलि अवतरिभा अमर न कोई, अंत हाथ पछितावा लोई।

---

1. **कबीर साहित्य का अध्ययन, पृष्ठ 341, साहित्य रत्नमाला कार्यालय, बनारस, वि० सं० 2008।**
2. **कबीर समग्र, पृष्ठ 96।**

शेष अब्दुल कुद्दूष गंगोही की 'अलख बानी' में लोई शब्द के प्रयोग अनेक बार हुए हैं—

अलख दास आखे सुन लोई।
चरपट कहै सुनो रे लोई॥

गोरख बानी में लोई शब्द—

बंदत गोरखनाथ सुनो नर लोई।

"साफ है कि कबीर कहीं भी लोई को अपनी स्त्री नहीं कहते। लोई को कबीर की स्त्री कहना किसी पंडित की भाषा-विज्ञानी भूल थी। किसी प्रभावशाली पंडित के कारण लोई कबीर की पत्नी के रूप में जनश्रुति बन गयी। यह भी हो सकता है कि कभी किसी ने इसका दार्शनिक प्रयोग किया हो। कबीर पुरुष है और पूरी सृष्टि उनकी स्त्री है, ऐसा दार्शनिक प्रयोग किया हो। कबीर ईश्वर पुरुष है। इस जनश्रुति की खोज आवश्यक है। अभी इतना ही। कबीर ग्रन्थावली और प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर लोई व्यक्तिवाचक नाम नहीं है। इसलिए कबीर की पत्नी होने का सवाल नहीं उठता।...कबीर की पत्नी का नाम लोई बिलकुल ही काल्पनिक और भ्रममूलक आधारों पर प्रचलित है।"[1]

कबीर साहेब की वाणियों में आये हुए रूपकों के यदि लक्षणा अर्थ न समझे गये और उनके अभिधा (शाब्दिक) अर्थ ही किये गये, तो घोर अनर्थ होगा। यहां बीजक के दो शब्द दिये जा रहे हैं। ध्यान से मनन करें—

माई मैं दूनों कुल उजियारी।
सासु ननद पटिया मिलि बँधलो, भसुरहि परलों गारी।
जारों माँग मैं तासु नारि की, जिन सरवर रचल धमारी॥
जना पाँच कोखिया मिलि रखलों, और दूई औ चारी।
पार परोसिनि करों कलेवा, संगहिं बुधि महतारी॥
सहजे बपुरे सेज बिछावल, सुतलिउँ मैं पाँव पसारी।
आवों न जावों मरों नहि जीवों, साहेब मेट लगारी॥
एक नाम मैं निजु कै गहलौं, ते छूटल संसारी।
एक नाम मैं बदि कै लेखों, कहहिं कबीर पुकारी॥ (शब्द 62)

×× ×× ××

ननदी गे तैं बिषम सोहागिनि, तैं निन्दले संसारा गे।
आवत देखि मैं एक संग सूती, तैं औ खसम हमारा गे॥

---

1. **कबीर समग्र, पृष्ठ 99।**

मोरे बाप के दुई मेहररुआ, मैं अरु मोर जेठानी गे।
जब हम रहलि रसिक के जगमें, तबहि बात जग जानी गे॥
माई मोरि मुवलि पिता के संगे, सरा रचि मुवल सँगाती गे।
आपुहि मुवलि और ले मुवली, लोग कुटुम संग साथी गे॥
जौं लौं श्वास रहे घट भीतर, तौं लौं कुशल परी हैं गे।
कहहिं कबीर जब श्वास निकरिगौ, मन्दिर अनल जरी हैं गे॥ (कहरा 11)

उक्त पदों का क्रमशः शाब्दिक अर्थ होगा—हे मां! मैं दोनों कुलों की प्रकाशिका हूं। जब मैं ससुराल में गयी तब सासु और ननद को अपनी खाट की पाटी में बांध दिया और जेठ को खूब गाली दी। उस नारी की मैंने मांग जला दी, उसे विधवा कर दिया, जिसने सरोवर में उछल-कूद मचा रखा था। पांच लोगों को मैंने अपने बगल में दबा लिया तथा दो-चार और को दे रगड़ा। पार-पड़ोसिनों को जलपान में खा गयी इत्यादि (शब्द 62)। हे ननदी! तू बलवान अहिवाती है। तूने सारे संसार को नींद में सुला रखा है। जब मैं आती हूं तब देखती हूं कि तू मेरे पति को लेकर एक साथ सोई है। मेरे पिता की दो पत्नियां हैं एक मैं तथा दूसरी मेरी जेठानी। जब मैं रसिक के जगत में थी तभी लोग यह बात जान गये थे। मेरी माता मेरे पिता के साथ में मर गयी और वह चिता बनाकर अपने साथियों को लेकर जल मरी इत्यादि (कहरा 11)।

यदि उपर्युक्त पदों का इसी प्रकार शाब्दिक अर्थ किया जाये तो एक पागलपन का प्रलाप मात्र होगा।

पहले पद (शब्द 62) का अर्थ है—स्वरूपस्थ वृत्ति चेतना शक्ति से कहती है कि हे माता! मैं स्वार्थ-परमार्थ—दोनों कुलों की प्रकाशिका हूं। मैंने संशय-सासु तथा कुमति-ननद को अपनी स्थिति-शय्या की पाटी में बांध रखा है और अहंकार-जेठ का तिरस्कार कर दिया है। जिसने हृदय-सरोवर में उधमबान मचा रखा था उस अविद्या-नारी की मांग जला दी, उसे नष्ट कर दिया है। पांच ज्ञानेन्द्रियों, शुभाशुभ वृत्तियों एवं चतुष्टय अंतःकरण को अपने वश में कर लिया। दुर्वासनाएं रूपी पार-परोसिन का जलपान कर गयी, किन्तु सद्बुद्धि रूपी माता को सदैव साथ रखती हूं। बेचारे स्वरूपज्ञान रूपी पति ने सहज समाधि की शय्या बिछा दी और मैं उस पर पांव पसारकर सो रही हूं। अब मेरा आने-जाने तथा जन्मने-मरने का भय मिट गया, क्योंकि गुरु साहेब ने सारी ममता छुड़ा दी। जिसका नाम चेतन या राम है उस निज स्वरूप को ही मैंने ग्रहण कर लिया है जिससे मेरी सांसारिकता छूट गयी। कबीर साहेब जोर देकर कहते हैं कि मैंने निश्चयपूर्वक एक नाम की परख कर ली है।

दूसरे पद (कहरा 11) का अर्थ है—विद्या-वृत्ति कहती है "अगे, कुमति-ननदी, तू अत्यन्त सौभाग्यवती है। तूने सारे संसार को मोह-नींद में सुला लिया

है। मैं जब देखती हूं तब मेरा पति जीव तेरे साथ सोया है। मेरे अहंकार-पिता की दो पत्नियां हैं, एक मैं (विद्या) तथा दूसरी मेरी जेठानी (अविद्या)। जब मैं अधिक संसारी थी, तभी लोग यह बात जान गये थे। मेरी ममता-माता अहंकार-पिता के साथ मर गयी। उसके संगी-साथी अविद्या के परिवार भी ज्ञान-चिता में जल मरे। इस प्रकार ममता-माता स्वयं तो मरी ही, वह अपने लोग-कुटुम्ब, संगी-साथियों को लेकर भी समाप्त हो गयी। जब तक शरीर में श्वास है, तब तक अविद्या को नष्ट कर कुशल-कल्याण करने का अवसर है। कबीर साहेब कहते हैं कि जब श्वास निकल जायेगा, तब शरीर-मंदिर जल जायेगा। फिर कुछ करना संभव नहीं।

उपर्युक्त दोनों पदों का अर्थ कितना सुन्दर, मनोरम एवं कल्याणकारी है, सोचते ही बनता है। इनका कोई स्थूल अर्थ करेगा तो अनर्थ ही होगा।

ऋग्वेद (8/85/13-16)[1], छांदोग्य उपनिषद् (3/17/6) तथा महाभारत में जहां श्रीकृष्ण की चर्चा है, वे कहीं भी पर-स्त्रियों को लेकर रास नहीं करते हैं और न राधा ही कहीं उनकी प्रेमिका है। परन्तु हरिवंश में संक्षिप्त रास आ गयी, भागवत में रास का बड़ा रूप हो गया और ब्रह्मवैवर्त में और अश्लील हो गया तथा वहां राधा भी आ गयीं और गर्गसंहिता में श्रीकृष्ण की अरबों-खरबों पत्नियां हो गयीं। इसी प्रकार आदि काव्य वाल्मीकि रामायण में श्रीराम केवल एक पत्नीव्रती हैं, परन्तु पीछे रसिक पंडितों ने हनुमत संहिता, काकभुशुंडि रामायण, महा रामायण, बृहत कौशल खण्ड आदि में उन्हें हजारों पर-नारियों से जोड़कर उनके चरित्र का हनन कर दिया। फिर बालब्रह्मचारी परम विरक्त कबीर साहेब को ये लेखक लोग एक-दो स्त्रियों से जोड़ दें, तो क्या आश्चर्य!

कबीर साहेब परम विरक्त संत थे। इसकी घोषणा उनकी वाणियां ही कर रही हैं तथा उनके नाम पर प्रचलित पंथ एक स्वर से उन्हें विरक्त संत मानता है, इस बात का आदर विद्वानों को भी करना चाहिए और उन्हें अपना पूर्वग्रह छोड़कर कबीर साहेब का पुनर्मूल्यांकन करना चाहिए। सरकार को यही बात विद्यालयों में पाठ्यक्रम में रखनी चाहिए।

6. विरोध और सम्मान

सद्‌गुरु कबीर के शरीरांत (वि० सं० 1575) के कोई पचास वर्ष बाद एक "कबीर परिचई" लिखी गयी, जिसके लेखक अनंतदास जी थे, जो संभवत: एक वैष्णव संत थे। यह 'कबीर परिचई' तीन सौ सत्तासी (387) चौपाइयों तथा तेरह (13) दोहों में है।

---

1. **जहां खिल भाग है वहां यह अंश 85/96/13-16 में पड़ता है।**

इस ग्रन्थ में यह चित्रित किया गया है कि कबीर साहेब शरीर के सांवले और बहुत सुन्दर थे। वे माया-मोह एवं लोभ के त्यागी थे। वे उदार थे और अपनी वस्तु दूसरे की सेवा में लगा देते थे। उनकी सुकीर्ति काशी में बहुत बढ़ गयी थी। इससे कुछ ब्राह्मण, संन्यासी और मुल्ला ईर्ष्या से क्षुब्ध हो गये थे। इन लोगों ने तात्कालिक बादशाह सिकंदर लोदी से शिकायत की कि कबीर हिन्दू और मुसलमान दोनों के धर्मों का खंडन करके अपने नये विचार फैला रहे हैं।

उक्त बातें सुनकर सिंकदर लोदी कबीर साहेब पर बहुत क्रुद्ध हो गया। उसने अनेक प्रकार से दण्ड देना चाहा। सिकंदर लोदी ने कबीर साहेब को जंजीर में बंधवाकर गंगा में फेंकवा दिया, परन्तु जंजीर टूट गयी और कबीर साहेब पानी पर बैठ गये। उन्हें मारने के लिए हाथी छोड़ा गया, परन्तु हाथी कबीर साहेब से दूर भाग खड़ा हुआ। इसके बाद उन्हें कुआं में डालकर ऊपर से मिट्टी पाट दी गयी, परन्तु वे बाहर घूमते हुए दिखाई दिये। फिर कबीर साहेब को एक मकान में बंदकर आग लगा दी गयी, परन्तु उन्हें मकान के बाहर टहलते हुए पाया गया। इसी प्रकार अनेक उपाय किये गये, परन्तु कबीर साहेब का बाल भी बांका न हुआ। इन अतिरंजनापूर्ण कथनों का सार यही है कि कबीर साहेब सत्य के कारण और उनके साथ आम जनता होने के कारण पुरोहितवर्ग तथा शासन उन्हें कष्ट न दे सका। मुल्ला, पंडित तथा सिकंदर लोदी द्वारा इतना विरोध पाकर भी कबीर साहेब ने उनके प्रति दयापूर्ण एवं क्षमाभाव का बरताव किया। इन सबके कारण सिकंदर लोदी कबीर साहेब के सामने विनम्र हो गया। वह कबीर साहेब को धन, जागीर एवं गांव देने लगा। कबीर साहेब ने कुछ भी लेने से इंकार कर दिया। इस घटना के बाद कबीर साहेब की सुकीर्ति अधिक फैल गयी और काशी के पंडित तथा मुल्ला भी उन्हें सम्मान देने लगे।

वैसे संसार के महान-से-महान पुरुष को सर्वत्र सब समय सबसे सम्मान नहीं मिलता। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य, नानक, दयानन्द, विवेकानन्द, ईसा, मुहम्मद या इसी ढंग से पचासों महापुरुषों के नाम ले लिये जायें, उनके जीवन भर उनके अनेक विरोधी भी रहे हैं। फिर इसका अपवाद कबीर साहेब कैसे हो सकते हैं जो सबके बाह्याडम्बर से हटकर केवल अपने ढंग के थे। परन्तु उनके सत्यज्ञान एवं सत्य व्यवहार की सुकीर्ति इतनी छा गयी थी कि अपनी तीस वर्ष की उम्र तक पहुंचते-पहुंचते वे पूरे उत्तरी भारत में शुभ-चर्चा के विषय बन गये।

किसी सत्य से चिढ़कर कुछ स्वार्थी तथा अहंकारी लोग भले उस पर धूल उड़ाएं और लगे कि वह ढक गया, परन्तु यह स्थिति बहुत क्षणिक होती है। अंतत: सत्य का सूर्य चमक उठता है। सत्य पथ पर चलने वाला विजयी होता

है। सत्य ही भगवान है और उसको ऊपर आना ही है। दिन जितने बीतते गये कबीर साहेब की सत्यता प्रकट होती गयी।

7. चमत्कार

बिना उपयुक्त कारण के ही कार्य का हो जाना चमत्कार कहलाता है। अथवा जो संसार की कारण-कार्य-व्यवस्था में नहीं है वह किसी महापुरुष के इच्छामात्र से या कह देने मात्र से हो जाना चमत्कार कहलाता है। वस्तुत: संसार में बिना उपयुक्त कारण के कार्य नहीं होता। जो संसार के नियम एवं कारण-कार्य-व्यवस्थाएं हैं, उनसे हटकर कभी कुछ नहीं होता। असंख्य संत, तथाकथित अवतार, पैगम्बर एवं ईश्वर मिलकर भी न एक मरी हुई चींटी को जिला सकते हैं और न प्रकृति को प्रेरित करके पानी की एक बूंद आकाश से टपका सकते हैं। यह परम वास्तविकता है।

परन्तु संसार के सभी महापुरुषों के पीछे उनके बहादुर भक्तों ने उनके विषय में चमत्कारों के धुआं का धौरहरा खड़ा किया है। धर्म, महात्मा, अवतार, पैगम्बर, देव, ईश्वर आदि नाम ले लेने के बाद हजार झूठ को समाज से सत्य मनवाया जा सकता है। दैववाद और चमत्कारवाद ने मनुष्य के मन को विवेकहीन बनाकर दुर्बल कर दिया है। इसलिए आदमी पोंगापंथी बनकर केवल छू मंतर से सारी ऋद्धि-सिद्धि एवं कल्याण-गति पाना चाहता है। ऐसे लोगों का स्वावलम्बन एवं सत्पुरुषार्थ से कोई प्रयोजन नहीं रहता, जो सारी उन्नतियों के कारण हैं।

चमत्कार मानवता के साथ एक छल-कपट है, परन्तु संसार के सभी संप्रदाय वालों ने अपने महापुरुषों की झूठी महिमा बढ़ाने के लिए इसका उपयोग किया है। इसलिए संसार के सभी देश और काल के महापुरुषों के नाम पर लगे चमत्कार एक-जैसे हैं। जैसे कि वे अलौकिक थे। किसी ईश्वर के भेजे, किसी लोक से आये एवं इच्छानुसार देहधारी थे। उन्होंने मुरदे को जिला दिया, थोड़ी वस्तु को उसके हजारों गुणा बढ़ा दिया। उनके आज्ञानुसार जड़-पदार्थ काम करने लगे। उन्होंने सूखी नदी में पानी बहा दिया। जहां नदी नहीं थी वहां नदी प्रकट कर दी। आज्ञा देकर पानी बरसा दिया और बरसते पानी को रोक दिया इत्यादि।

कबीर साहेब ने चमत्कारों का बीजक में घोर विरोध किया है। परन्तु आश्चर्य है कि उनके कुछ भक्तों ने उनके जीवन पर ही चमत्कारों का आरोप कर दिया है। महापुरुषों के तथ्यपरक ज्ञान एवं सदाचार के वर्णन में ही भक्त लोग संतोष नहीं करते। वे भावविह्वल होकर उनके विषय में चमत्कार गढ़ने लगते हैं। संसार का कोई महापुरुष भक्तों द्वारा इस सम्बन्ध में क्षमा नहीं किया गया, तब कबीर साहेब को भक्त लोग कैसे इससे अलग रख सकते थे!

8. यात्राएं और प्रचार

कबीर साहेब का मुख्य निवास काशी अवश्य था, परन्तु वे अपनी तरुण अवस्था से ही भारत के विभिन्न क्षेत्रों में भ्रमण करने लगे थे। बंगाल से पंजाब, राजस्थान, गुजरात, द्वारका, महाराष्ट्र, दक्षिणी भारत, जगन्नाथ आदि में उनके भ्रमण के विषय में उल्लेख मिलते हैं। गुजरात के लेखक तो गुजरात में कबीर साहेब का चार बार जाना बताते हैं और कहते हैं कि सौ ऐसे चिह्न हैं जो आज भी कबीर साहेब का गुजरात में भ्रमण की गवाही देते हैं।

कबीर साहेब का गुजरात के पाटन, शुक्लतीर्थ (जो भड़ोच जिले में नर्मदातट पर है जहां कबीरबड़ आज भी विशाल रूप से खड़ा है), गिरनार, द्वारका आदि में भ्रमण हुआ था। जगन्नाथ में समुद्र के पास तो उनकी कुबरी ही गड़ी है। इस जगह कबीरमठ भी है। भारत के बाहर ईरान, बलख आदि में भी उनके भ्रमण का पता चलता है। काशी के ज्ञानी गुरुचरण सिंह ने कबीर साहेब के भ्रमणक्षेत्र का नक्शा बनाया है जो आकर्षक है।

बलख के लिए तो उल्लेख है कि जब कबीर साहब उस देश के बादशाह के राजद्वार पर पहुंचे तो वे राजभवन में जाने लगे। द्वारपाल ने रोका। कबीर साहेब ने कहा कि मैं इस मुसाफिरखाने में थोड़ा विश्राम करूंगा, फिर चला जाऊंगा। द्वारपाल ने कहा कि महाराज! यह मुसारिफरखाना नहीं, राजमहल है। कबीर साहेब ने कहा—

यहां कौन रहता है?

बादशाह सुल्तान।

इसके पहले कौन रहता था?

इसका पिता।

उसके पहले कौन रहता था?

उसका पिता।

सुल्तान के बाद कौन रहेगा?

उसका पुत्र।

कबीर साहेब ने कहा कि इसी को कहते हैं मुसारिफखाना जहां एक जाये और दूसरा आये।

कहा जाता है कि बादशाह ऊपर छत पर घूम रहा था। उसने यह सारी वार्ता सुन ली और द्वारपाल द्वारा कबीर साहेब को अपने पास बुलाया। उसने पहले से कबीर साहेब की महिमा सुन रखी थी। वह उनके दर्शन पाकर खुश हो गया। उसने कबीर साहेब की शिष्यता स्वीकार ली। कबीर साहेब तो अपनी संतमंडली सहित काशी चले आये। परन्तु कुछ दिनों में बादशाह राजपाट

छोड़कर विरक्त हो गया और काशी आकर कबीर साहेब की संतमंडली में रहने लगा। उसकी प्रशंसा में कबीर साहेब के नाम से एक शब्द प्रचलित है—

सुल्ताना बलख बुखारे दा।
शाही तजकर लिया फकीरी, सद्गुरुज्ञान[1] पियारे दा॥ 1 ॥
तब थे खाते लुकमा उमदा, मिश्री कंद छुहारे दा।
अब तो रूखा सूखा टूका, खाते सांझ सकारे दा॥ 2 ॥
रचि-रचि कलियां सेज बिछातीं, फूलों न्यारे न्यारे दा।
अब धरती पर सोवन लागे, कंकर नहीं बुहारे दा॥ 3 ॥
जा तन पहने खासा मलमल, तीन टंक नौ तारे दा।
अब तो भार उठावन लागे, गुद्दर दस मन धारे दा॥ 4 ॥
जाके संग कटक दल बादल, झण्डा जरी किनारे दा।
कहहिं कबीर सुनो भाई साधो, फक्कड़ हुआ अखारे दा॥ 5 ॥

गुजरात भ्रमण के विषय में बाबा दीनदरवेश (वि० सं० 1768-1889) ने कहा है—

पाटन

पाटण नग्र सुहावना, बगिया देखि मुरझाय।
संत कबीर ठाढ़े रहे, कलि-कलि मुसकाय॥
कलि-कलि मुसकाय, मालन बड़ी सुभागी।
रत्ना दे शुभ नाम, संत चरणानुरागी॥
कहत दीन दरवेश, मिटि गये आवागमना।
गुलशन हुए गुल्जार, पाटण नग्र सुहावना॥

कबीरवट

संत कबीर दया-निधि, रेवा के तीरे आय।
गोसैंया की पीर को, साहेब दिये मिटाय॥
साहेब दिये मिटाय, संत महिमा अपारी।
सूखे काठ जियाय, सद्गुरु की बलिहारी॥
कहत दीन दरवेश, महातम कबीरवट ही को।
साहिब मेरा सलाम, कबीर गुरु दयानिधि को॥

---

1. **'अल्ला नाम पियारे दा' पाठांतर है।**

शुक्लतीर्थ

जहां संतन वासा किये, सकल तीर्थ का बास।
रेवा के तीरे आय के, साहिब कीन्ह निवास॥
साहिब कीन्ह निवास, सकल तीरथ पिछनाये।
भक्त संत औ साध, सकल तीरथ फल पाये॥
कहत दीन दरवेश, संत को तीर्थ बनाया।
संत कबीर दीदार, सकल तीरथ को पाया॥

गिरनार

आये गढ़ गिरनार पे, साहिब परहितकार।
साध सिद्ध को भेटिया, अबधू लीला अपार॥
अबधू लीला अपार, घेरीनाथ गुरुदेवा।
प्रेमे मिलही आप, बड़ा संतन को भेवा॥
कहत दीन दरवेश, साईं को साहेब प्यारा।
सोहम संत कबीर, ठाढ़े गढ़ गिरनारा॥

द्वारका

द्वारामति में जाय के, ठाढ़े संत कबीर।
द्वारिका के ईश को, प्रेमे झुकावे सीर॥
प्रेमे झुकाये सीर, झुकाने वाले आये।
भक्तन के हितकार, संत दर्शन को पाये॥
कहत दीन दरवेश, कबीर चौरा कहलाया।
साहेब संत कबीर, द्वारामति में आया॥

कबीर साहेब जब भड़ोच के पास नर्मदातट पर शुक्लतीर्थ में तत्त्वा-जीवा के यहां पधारे थे, तब सूरत के प्रसिद्ध वैष्णव संत निर्वाण जी महाराज ने वहां आकर उन्हें अपने यहां के लिए निमंत्रित किया था। जब कबीर साहेब निर्वाण जी महाराज के यहां सूरत पहुंचे तब उनके स्वागत एवं सत्संग में जिस प्रकार निर्वाण जी महाराज लीन हुए उसे देखकर वहां एकत्रित वैष्णव संत तथा समाज आश्चर्य-चकित रह गये। जब कबीर साहेब प्रात:काल वहां से चलने लगे, तब उन्होंने निर्वाण जी महाराज से कहा कि आज से आपको लोग निर्वाण साहेब कहेंगे। सचमुच वे तब से इसी नाम से पुकारे जाते हैं। सूरत में आज भी उनकी समाधि पर निर्वाण साहेब ही लिखा है। संत कवि दुलाराम ने लिखा है—संत कबीर समागम, साहिब लिखे निरवान। 'दूला' ता दिन साधकी, साहिब नाम बखान॥

कबीर साहेब के चले जाने पर एकत्रित वैष्णव संतों ने निर्वाण साहेब से पूछा कि आप और हम सब वैष्णव हैं, अवतारवादी, सगुणवादी और मूर्तिपूजक हैं। कबीर साहेब यह सब कुछ नहीं मानते। वे तो निर्गुणवादी हैं। फिर आप कैसे उनमें इतने लीन हो गये? निर्वाण जी ने उन्हें जो कुछ समझाया उसका सार लेकर एक शब्द बनाया जो उनकी वाणी में सुरक्षित है। वह इस प्रकार है—

कबीरा से कैसे मन लुभायो।
साधु तेरे दिल में अचरज आयो ॥ टेक ॥
कबीरा से गुरु कैसे नाता, निर्गुण के गीत गायो।
हम तो सिरगुण राम के प्यारे, यहि भेद दुखदायो ॥ 1 ॥
कबीरा युगन-युगन का योगी, अवधू को पिछनायो।
रामानंद गुरु सिर पे धारके, काशी डेरा लगायो ॥ 2 ॥
भेदाभेद चतुराई छांड़े, संत से मेरी सगायो।
चरणकमल चाहूं संत का, प्रेमे रहूं लिपटायो ॥ 3 ॥
कबीर जौहरी ठाढ़े हाटमें, अबधू अभेद पिछनायो।
संत को संत जबहिं भेटा, प्रेम बदरिया छायो ॥ 4 ॥
दुर्लभ संतसमागम कीन्हो, जीवन को सुखदायो।
संतन से मेरी प्रेम सगाई, निर्वाण को यश गायो ॥ 5 ॥[1]

डॉ० कांतिकुमार सी० भट्ट गुजरात में कबीर साहेब पर अच्छे लेखक हो गये हैं। उन्होंने लिखा है कि गुजरात में शैव, वैष्णव और शाक्तों में खूनी लड़ाई चल रही थी। इसलिए वहां के उदार विचारकों ने एक कमेटी बनायी और उसके सदस्य काशी कबीर साहेब के पास भेजे कि उनसे गुजरात आने तथा इस सांप्रदायिक आग को बुझाने के लिए निवेदन किया जाये। कहा जाता है कि कबीर साहेब काशी से गुजरात गये और गिरनार पर सर्वधर्म सम्मेलन हुआ। हर मत वाले अपने-अपने मत के पक्ष में गरमागरम भाषण किये। अंत में कबीर साहेब का अध्यक्षीय भाषण हुआ जो सर्वसमन्वय, निष्पक्ष एवं एकतापरक था। इस प्रकार कबीर साहेब के प्रभाव से वहां लोगों में शांति आयी।

भट्टजी ने 'कबीर परम्परा : गुजरात के संदर्भ में'[2] एक पुस्तक लिखी है जिसमें कबीर साहेब का गुजरात में व्यापक प्रभाव का वर्णन किया है। भट्ट जी लिखते हैं—

---

1. **राम कबीर संप्रदाय, पृ० 8, डॉ० कांतिकुमार सी० भट्ट।**
2. **'कबीर परंपरा : गुजरात के संदर्भ में' प्रकाशक-अभिनव भारती, इलाहाबाद-3।**

''गुजरात में कबीर की यात्राएं एवं निवास के कारण गुजराती साहित्य समाज एवं संप्रदायों पर उनका व्यापक प्रभाव पड़ा। गुजरात में शैव एवं शाक्तों के बीच में व्यापक संघर्ष था। सौराष्ट्र में नाथपंथी सिद्धों तथा वैष्णवों के बीच तीव्र वैमनस्य था। कबीर ने अपना निर्गुण-भक्ति का समन्वयकारी रूप सबके सामने रखा। कबीर का विरोध एक शाक्तों की हिंसा से था तथा उन्होंने मिथ्याचार तथा दंभ का विरोध किया।''[1]

कवि मुकुन्द ने 'कबीर चरित' में लिखा है कि कबीर साहेब का प्रभाव गुजरात में इतना बढ़ गया था कि गुरु रामानंद का संप्रदाय छुप जाने लगा था।[2] डॉ० अम्बाशंकर नागर, कन्हैयालाल मुंशी, पं० दुर्गाशंकर शास्त्री, डॉ० निपुण पंड्या, श्रीकिशन सिंह चावड़ा, श्री वाड़ी लाल शाह, कवि मुकुन्द, श्री जनक दवे आदि विद्वानों ने कबीर साहेब की गुजरात यात्रा तथा उनका गुजरात के समाज, संप्रदाय, साहित्य आदि पर व्यापक प्रभाव अपनी-अपनी रचनाओं में स्वीकार किया है।

पीपा-परिचई में लिखा है—कबीर साहेब गुजरात में भ्रमण करते समय धीरे-धीरे चलते हैं और उनके पीछे संत-भक्त समाज भी धीरे-धीरे चलता है। कबीर की यात्रा गुजरात के गांव-गांव में हो रही है। लोग उनके दर्शन करते हुए उससे तृप्त नहीं होते—

शनैः शनैः धरती पग धरहीं, शनैः शनैः मारग अनुसरहीं।
गांव गांव कबीर की जाता, दरसन करत न लोग अघाता॥[3]

गुजराती कवि मुकुन्द गुगुली ने अपने भक्तमाल (सं० 1708) में लिखा है कि रामानन्द के शिरोमणि शिष्य कबीर गुरुकृपा से पीरों के भी पीर हुए थे। सर्वत्र 'कबीर', 'कबीर' सुन पड़ता था।[4] गुजरात में कबीर साहेब की यात्रा के उपलक्ष्य में एक कुण्डलिया के अन्त में दीनदरवेश जी ने कहा है—

कहत दीन दरवेश 'सत' का शब्द सुनाया।
करुणासिन्धु कबीर बन्दी छुड़ावन आया॥

गुजराती के समर्थ आलोचक श्री व० क० ठाकोर ने कबीर की वाणी का मूल्यांकन करते हुए उसे ''सिद्ध मन्त्रों की चमत्कारिक गुटिका'' कहा है। यथा—

---

1. **वही, पृ० 315।**
2. **प्रा० का० मा० ग्र० 11/250।**
3. **कबीर परम्परा : गुजरात के संदर्भ में, पृ० 310।**
4. **वही, पृष्ठ 310।**

अन्या अन्यन परचामरि ए पदावलि।
ए मंत्र-सिद्ध गुटिका भव-तापि हारि॥
आत्मा तणी तरस, भूख निवारती ए।
हंता तणी अमरता, सरजंत ए सुधा।[1]

अखा-परम्परा के नड़ियाद-निवासी महात्मा संतराम जी महाराज ने कबीर-वाणी का महत्त्व समझाते हुए कहा है—

आधी साखी कबीर की, कोटि ग्रन्थ करि जान।
संत राम जग झूठ है, सुरति-शब्द पहिचान॥[2]

अनेक कवियों तथा लेखकों ने कबीर साहेब का भ्रमण गुजरात, राजस्थान, पंजाब, बलख-बुखारे, उत्तराखंड, मगध, वैशाली, अंग, बंग, आसाम, उड़ीसा, मध्यभारत, कर्नाटक तथा दक्षिणी भारत के अनेक स्थलों में चित्रित किया है। कबीर साहेब ने स्वयं बीजक साखी (316) में कहा है—

देश विदेश हौं फिरा, गाँव-गाँव की खोरि॥

9. प्रामाणिक रचना बीजक

कबीर साहेब की प्रामाणिक रचना बीजक है। उसी की टीका-व्याख्या कबीरपंथ में होती चली आयी है। इसाई लेखक अहमदशाह और प्रेमचन्द ने बीजक का इंगलिश में क्रमशः पद्य और गद्य में अनुवाद किया। 'वेस्टकाट' तथा 'की' ने अपने ग्रंथ 'कबीर ऐंड द कबीरपंथ' तथा 'कबीर ऐंड हिज़ फालोवर्स' में बीजक को ही अधिक श्रेय दिया। हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी के विद्वान डॉ० शुकदेव सिंह ने मूल बीजक का संपादन कर तथा उस पर विचारपूर्ण भूमिका लिखकर एक स्तुत्य काम किया है। उन्होंने सुझाव दिया कि विद्वान लोगों का बीजक से उदासीन रहकर केवल कबीर के नाम पर प्रचलित अन्य वाणियों के संग्रह तथा ग्रंथावली से संतोष करते रहना कदापि उचित नहीं है। डॉ० जयदेव सिंह तथा डॉ० वासुदेव सिंह ने भी बीजक की टीका की और अभी कुछ वर्ष पूर्व डॉ० रजनी जैन ने 'कबीर बीजक में विचार और काव्य' पर एक पुस्तक लिखी।

अनेक कबीर ग्रंथावलियों, कबीर वचनावली तथा संतकबीर आदि ग्रन्थों में भी कबीर साहेब की वाणियां हैं तथा बीजक के भी स्वर-भेद से पद हैं, परन्तु उनका प्रामाणिक ग्रन्थ तो बीजक ही है। बीजक में ही कबीर साहेब के आत्म-दर्शन तथा समाज-दर्शन के सर्वांगीण वचन हैं। बीजक में ही कबीर साहेब के

---

1. **कबीर परम्परा : गुजरात के संदर्भ में पृष्ठ 311।**
2. **वही, पृष्ठ 311।**

असली स्वरूप के दर्शन होते हैं। भाष्यकारों के भिन्न दृष्टिकोणों से जैसे प्रस्थानत्रयी में विभिन्न दर्शनों की स्थापना हुई, वैसे बीजक के टीकाकारों के भिन्न दृष्टिकोणों से बीजक में भी हुई है। परन्तु इसे विवेकवान दूषण नहीं, किन्तु भूषण ही मानते हैं। ऐसा होने पर भी निष्पक्ष विचारक के लिए बीजक का वास्तविक दर्शन छिपा नहीं है।

10. वेद-किताब

यह प्राय: कहा जाता है कि कबीर साहेब ने वेद-किताब का खंडन किया है। परन्तु यह बात समझने-जैसी है। उन्होंने यह नहीं कहा है कि वेद-शास्त्र एवं किताब बिलकुल निरर्थक हैं। उन्होंने कहा है कि कोई भी पुस्तक स्वत: प्रमाण नही मानी जा सकती। कोई पुस्तक ईश्वर की या उसके अवतार या उसके पैगम्बर की बनायी है, यह मानना एक धोखा है। कोई ऐसा ईश्वर नहीं है जो किताब बनाये या किसी को आदेश देकर अपनी वाणी का प्रचार कराये। जब ऐसा ईश्वर ही नहीं है, तब उसके अवतार एवं पैगम्बर की कल्पना करना तो अपने आप निरर्थक है।

हर किताब चाहे उसका नाम वेद हो, बाइबिल हो, कुरान हो या अन्य कुछ, मनुष्य की रचना है। इसलिए हर किताब की बात की परख सहज ज्ञान, विश्व के शाश्वत नियमों तथा प्रकृति की कारण-कार्य-व्यवस्था की कसौटी से करना चाहिए। कोई बात किसी शास्त्र में लिखी होने से प्रमाण नहीं होती, किन्तु जब वैसा तथ्य होता है तब वह प्रमाण मानी जाती है।

कोई पुस्तक ईश्वरीय है, इस मान्यता ने मानवता का विखंडन किया है और किया है सदाचार के प्रचार की अपेक्षा अधिकतर क्रूरता का प्रदर्शन! क्योंकि जिसने भी उस पुस्तक को ईश्वरीय नहीं माना उसे नास्तिक, काफिर एवं नापाक कहा गया और उसे बंधन एवं नरक में जाने का अधिकारी माना गया। इतना ही नहीं, अपनी किताब को ईश्वरीय न माननेवालों की हत्याएं भी की गयी हैं। अतएव इस झूठे दावे एवं दंभ का कि हमारी किताब ईश्वरीय एवं दैवीय है, कबीर साहेब ने खंडन किया है और सब कुछ जांच-परख कर मानने की राय दी है।

11. लोकधर्म

जिस धर्म का आचरण बिना रुकावट मानव मात्र कर सके, वह लोकधर्म है। जाति, वर्ण और आश्रम के बंधनों से रहित, ऊंच-नीच, जन्मजात पवित्र-अपवित्र की धारणा से परे, देव, ईश्वर, अवतार, पैगम्बर एवं शास्त्र के बंधनों से मुक्त शुद्ध मानवीय सद्‌गुण, मन, वाणी, शरीर की निर्मलता, विचारों की स्वच्छता और स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति, अहिंसा, परहितैषिता, परोपकार

आदि लोकधर्म है। कबीर साहेब अपने जीवन में इसी का आचरण करते थे और इसी का उपदेश देते थे।

जो जातिवाद, वर्णवाद, शास्त्रवाद, पैगम्बरवाद, अवतारवाद आदि के घरौंदों में बंद है वह लोकधर्म-विरोधी संकीर्ण धर्म है। कबीर साहेब ने इसका जीवनभर विरोध किया है। उन्होंने कहा कि धर्म पर किसी ईश्वर, पैगम्बर, अवतार, शास्त्र, जाति और वर्ण का एकाधिकार एवं अधिनायकत्व नहीं है। धर्म तो मानव मात्र के भीतर प्रवाहित अंतस्सलिला है। विषयासक्ति, पक्षपात एवं दुस्स्वभावों की शिलाओं से वह अवरुद्ध है। मनुष्य को चाहिए कि इन्हें हटा दे और वह अंतस्सलिला निर्वाध बहने लगे।

कबीर साहेब के विचार से कोई संप्रदाय वाला आस्तिक और अन्य नास्तिक या काफिर नहीं है। उनके विचार से मानव मात्र समान हैं। सारे संप्रदाय मानव के कल्पित हैं। सच्चा ज्ञान एवं पवित्र आचरण ही मानव के लिए कल्याणकारी है। यही लोकधर्म है।

12. अलौकिकता के दंभ का विरोध

जैसा कि पीछे संदर्भ में इसका कुछ परिचय दिया गया है कि नाना संप्रदायों द्वारा अलौकिकता का दावा उनका एक मिथ्या दंभ है। चैतन्य सत्ता के संदर्भ में मानव के समान भी इस विश्व में कोई अन्य शक्ति नहीं है, फिर इससे बड़ी शक्ति की कल्पना करना मानवता का उपहास करना है। यह ठीक है कि संसार के सारे धर्म-संप्रदायों ने जो कुछ उलटा-सीधा किया है अपनी समझ से मानव के कल्याण के लिए ही किया है, परन्तु अधिकतम संप्रदायों ने अपने अज्ञान, पक्षपात, मिथ्या स्वार्थ, अहंकार तथा दंभ में पड़कर मानवता को गिराया है।

यह सच है कि विश्व की व्यापक जड़ सत्ता की अपनी अटूट कारण-कार्य-व्यवस्था है। मनुष्य उसमें ज्यादा हस्तक्षेप नहीं कर सकता। परन्तु यह भी उतना ही सच है कि उसे समझने वाला केवल मनुष्य ही है। अत: उसका काम है कि वह उसे समझने का प्रयास करे तथा अपनी जीवन-यात्रा में उससे सुविधा एवं निर्वाह ले।

खेद है कि अधिकतम धार्मिक संप्रदायों ने हजारों वर्षों से आश्चर्यजनक प्रतिगामी विचारों को जन्म दिया है कि ''मनुष्य तुच्छ है, इसको नचाने, डुबाने एवं उबारने वाला कोई आकाशीय देव या ईश्वर है। वही समय-समय पर अवतार लेता है या अपना पैगम्बर भेजता है, अपनी किताबें भेजता है और वे ईश्वर, अवतार, पैगम्बर एवं किताब हमारे ही संप्रदाय की वस्तुएं हैं।'' ये सारी बातें नितांत असत्य हैं, परन्तु इनका अहंकार संप्रदायों को इतना है कि वह उनके सिर पर चढ़कर गर्जता है। तमाशा तो यह है कि ये सारे अलौकिकतावादी

धार्मिक संप्रदाय परस्पर स्वयं को तथाकथित ईश्वर का द्वार तथा दूसरे को नास्तिक, काफिर, नापाक एतदर्थ नरक का द्वार घोषित करने पर सदैव तुले रहते हैं।

वे यह घोषणा करते फिरते हैं कि मनुष्य तो अल्पज्ञ है, सर्वज्ञ तो ईश्वर है। परन्तु जिसे वे सर्वज्ञ मानते हैं वह केवल मनुष्यों के ही मन की कल्पना है। अतएव अल्पज्ञ, बहुज्ञ एवं सर्वज्ञ जो कुछ कहो, यह मनुष्य ही है। इस संसार में मनुष्य से बढ़कर या मनुष्य के समान भी ज्ञाता एवं ज्ञाननिधान कोई नहीं है। जब तक इस तथ्य को नहीं स्वीकारा जायेगा, तब तक न मनुष्य अपनी गरिमा को समझ सकेगा और न तब तक मानवता को कुचलने वाली अलौकिकता का अन्त हो सकेगा।

कबीर साहेब एक धार्मिक तथा उच्चतम संत पुरुष थे। उन्होंने उपर्युक्त तथ्य को समाज के सामने निर्भीकतापूर्वक रखा है। लोग कहते हैं कि कबीर साहेब किसी देवी-देवता को न मानकर केवल ऐकेश्वरवादी थे। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि उनका ऐकेश्वरवाद पैगम्बरवादियों की तरह नहीं है। यह सच है कि कबीर साहेब प्राणियों के अलावा कोई देवी-देवता नहीं मानते, परन्तु यह भी उतना ही सच है कि वे अन्तरात्मा के अलावा कोई परमात्मा भी नहीं मानते। वे जीव से अलग शिव एवं मनुष्य के आपा से अलग ईश्वर की कल्पना नहीं करते।

मनुष्य के ऊपर कोई शक्ति नहीं है जो उसे डुबाने या उबारने वाली हो। वह स्वयं अपने आप के अज्ञान तथा दुष्कर्तव्यों से डूबता है तथा आत्मज्ञान एवं अपने सत्कर्तव्यों से उबरता है। हां, उसके डूबने या उबरने में दूसरे मनुष्य सहयोगी होते हैं। अतएव उसे चाहिए कि कुसंग का त्याग तथा सत्संग में अनुराग करे।

मनुष्य को चाहिए कि वह अलौकिकता का झांसा देकर अपने आप तथा दूसरे को न ठगे। उसे चाहिए कि वह अपने आप को पहचाने तथा विश्व की जड़-चेतन सत्ता तथा उसकी कारण-कार्य-व्यवस्था को भी पहचाने। मनुष्य ज्ञान की सर्वोच्च सत्ता है। उसे चाहिए कि आत्मज्ञान तथा आत्मशोधनपूर्वक स्वात्मा की गरिमा में प्रतिष्ठित हो। यही कबीर साहेब का संदेश है।

13. मानवता

सद्गुरु कबीर ने मानव-मानव के बीच में मौलिक भेद नहीं माना। सारे मनुष्य मूलतः समान हैं। वे अपने औपाधिक गुण-धर्मों के कारण योग्य-अयोग्य हैं। कबीर साहेब के मत से कोई मनुष्य जन्म से पवित्र या अपवित्र नहीं। अतएव हर मनुष्य का सभी दिशाओं में प्रगति करने का समान अधिकार है। वे जैसी योग्यता रखते हों, वैसे क्षेत्र में प्रगति करें। उन्होंने ''पण्डित देखहु हृदय

विचारी, को पुरुषा को नारी। सहज समाना घट-घट बोले, वाके चरित अनूपा। वाको नाम काह कहि लीजे, न वाके वर्ण न रूपा।'' तथा ''जेते औरत मर्द उपाने, सो सब रूप तुम्हारा। कबीर पोंगरा अल्लह राम का, सो गुरु पीर हमारा॥'' (बीजक शब्द 48, 97, 75) आदि कहकर जातीय एकता के साथ-साथ नर-नारी की एकता का जोरदार समर्थन किया है।

इस मानवतावादी-पथ में अवरोध खड़ा करने वाले मुल्ला, पंडित या अन्य पुरोहितों की कबीर साहेब ने कड़ी और मधुर आलोचनाएं की हैं। परन्तु इसके साथ विवेकवान पण्डितों का आदर किया है। इस सन्दर्भ में उन्होंने कहा—

कहहिं कबीर हम जात पुकारा, पण्डित होय सो लेय विचारा॥

(बीजक, शब्द 53)

कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, बूझो पण्डित ज्ञानी॥

(बीजक, शब्द 94)

पण्डित सो बोलिये हितकारी॥ (बीजक, रमैनी 70)

बुझ-बुझ पण्डित मन चितलाय॥ (बीजक, शब्द 51)

कबीर साहेब ने पोथी-ज्ञान को पांडित्य नहीं माना है, किन्तु प्रेम को माना है। प्रेम का अर्थ है सदैव यह ध्यान रखना कि मेरे द्वारा किसी का अपमान एवं दुख न हो। सदैव दूसरों का ध्यान रखना ही प्रेम है। यही पांडित्य है। उनकी प्रसिद्ध साखी है—

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुवा, पण्डित हुआ न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पण्डित होय॥

14. उपदेश

कबीर साहेब ने अपने श्रोताओं एवं पाठकों को संसार एवं शरीर की नश्वरता की बहुत याद दिलायी है। मनुष्य अपने माने हुए शरीर तथा प्राप्त प्राणी-पदार्थों में आसक्त होकर अपने आप को भूला रहता है तथा सारा अनर्थ करता है। साहेब ने कहा कि हे मनुष्य, यह जीवन स्वप्न के समान है। मिले हुए प्राणी-पदार्थ भी सपने की संपत्ति की तरह हैं। आज-कल में यह शरीर रहनेवाला नहीं है। मिट्टी के कच्चे बरतन में पानी को स्थायी कैसे रखा जा सकता है!

एक दिन ऐसा होगा कि कोई किसी का नहीं रह जायेगा। घर की नारी कौन कहे, तन की नारी (नाड़ी) भी खिसक जायेगी। जंगल में राख पड़ी थी। उसके ऊपर घास उग आयी थी। वह राख भी एक दिन चमकता हुआ इंसान थी। आदमी तो एक दिन जल जाता ही है। शरीर नष्ट हो जाता है, परन्तु जीव तो नित्य है। अतएव कर्मों का सुधार करना जीवन का मुख्य कर्तव्य है।

मनुष्य को चाहिए कि चोरी, हत्या, व्यभिचार, असत्य-भाषण, परनिंदा, गाली, ईर्ष्या, क्रोध, अहंकार, छल, अभक्ष्य-भक्षण, शराब तथा हर प्रकार के नशा का त्याग करे।

इस संसार में कहीं किसी के राग-द्वेष में न उलझे। जीवन छोटा है। समय भागा जा रहा है। इसको व्यर्थ बातों में न लगाकर आत्म-शोधन में लगाये। पूर्ण चित्त-शुद्धि से ही भीतर चिरंतन सुख का साम्राज्य स्थापित होता है। इन बातों पर सद्‌गुरु रचित बीजक तथा उनकी अन्य वाणियों में अनेक रीति से समझाया गया है।

15. निरपेक्ष सत्य और सहज समाधि

सत्य को खोजने वाला स्वयं सत्य है। उसके समान कोई सत्य नहीं है। सत्य मनुष्य का आपा है, आत्मा है एवं चेतना है। वह हिन्दू, मुसलमान, यहूदी, इसाई, पारसी, बौद्ध-जैन तथा हजारों संप्रदायों एवं नाम-रूपों के आवरण से परे है। उसको जहां तक शब्दों का जामा पहनाया जाता है, भ्रम पैदा करता है। वेद, कुरान, पुराण के नाना प्रकार से कहने के कारण वह नाना ढंग का नहीं हो जाता है। न उसका कोई वर्ण है, न रूप है, न वह स्त्री है, न पुरुष है। वह तो सहज चेतन स्वरूप है जो मैं के रूप में सब घटों में विद्यमान है।[1]

साधक को चाहिए कि वह मन का विस्तार छोड़ दे। जब मन शून्य हो जायेगा, तब वहां क्या रह जायेगा! वह शब्दातीत एवं दृश्यातीत अवस्था है। वहां तो केवल स्व-सहज-चेतन मात्र है।[2] जब जीव बाहर से सिमिटकर

---

1. बीजक, रमैनी 77; शब्द 75, 48, 97।
2. अवधू छाड़हु मन विस्तारा॥ 1 ॥
   सो पद गहो जाहि ते सदगति, पारब्रह्म सो न्यारा॥ 2 ॥
   नहीं महादेव नहीं महम्मद, हरि हजरत कछु नाहीं॥ 3 ॥
   आदम ब्रह्मा नहिं तब होते, नहीं धूप नहिं छाहीं॥ 4 ॥
   असी सहस पैगम्बर नाहीं, सहस अठासी मूनी॥ 5 ॥
   चन्द्र सूर्य तारागण नाहीं, मच्छ कच्छ नहिं दूनी॥ 6 ॥
   वेद कितेब सुमृत नहिं संजम, नहिं जीवन परिछाईं॥ 7 ॥
   बाँग निमाज कलमा नहिं होते, रामहु नाहिं खुदाई॥ 8 ॥
   आदि अंत मन मध्य न होते, आतश पवन न पानी॥ 9 ॥
   लख चौरासी जीव जन्तु नहिं, साखी शब्द न बानी॥ 10 ॥
   कहहिं कबीर सुनो हो अवधू, आगे करहु विचारा॥ 11 ॥
   पूरण ब्रह्म कहाँ ते प्रगटे, कृत्रिम किन्ह उपराजा॥ 12 ॥
   (बीजक, शब्द 22)

स्वस्वरूप में स्थित हो जाता है, यही तो सहज-समाधि है। जब साधक सहज-समाधि में लीन हो गया, तब—

मन मस्त हुआ फिर क्यों बोले।
हीरा पायो गाँठ गठियायो, बार-बार वाको क्यों खोले।
हलकी थी तब चढ़ी तराजू, पूर भया तब क्यों तोले।
सुरत कलारी भई मतवारी, मदवा पी गई बिन तोले।
हंसा पायो मानसरोवर, ताल-तलैया क्यों डोले।
तेरा साहेब है घट भीतर, बाहर नैना क्यों खोले।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, साहेब मिलि गये तिल ओले।

16. कबीर-शिव-संवाद

महामहिम संत कबीर ठहरे काशीवासी और महामहिमापूर्ण महादेव तो अविमुक्त काशीवासी हैं ही। एक दिन मानो गंगा के दशाश्वमेध-घाट पर दोनों का साक्षात्कार हो गया हो। काशी की मिथ्या महिमा सुनते-सुनते कबीर साहेब के कान पक गये थे। उन्हें बारम्बार होता था कि कहीं शिव जी मिल जायें तो उनसे पूछूं कि यह सब क्या बखेड़ा है! संयोग था, आज मिल ही गये। कबीर साहेब शिव जी को रोककर उनसे कहने लगे—

''हे शिव जी! आपकी काशी कैसी हो गयी है? आज भी समय है, इस पर विचार कर लें। चोवा, चंदन, अगर, पान आदि से आपकी पूजा होती है और घर-घर में स्मृतियों, धर्मशास्त्रों एवं पुराणों की कथाएं होती हैं। घर-घर में विविध व्यंजनों का आपको भोग समर्पित किया जाता है। लोग नगर में हर-हर, बम-बम एवं महादेव कहकर हल्ला करते हैं और आपको पुकारते हैं। यहां आपके भक्तों की भीड़ है। इसलिए आपसे पूछने में मेरा मन भी निस्संकोच हो गया है। हम आपके सामने बालक हैं, अतएव हमारा ज्ञान थोड़ा है। आप तो परम ज्ञानी हैं। फिर आपको दूसरा कौन समझावे? जिसके मन में जैसा आता है काशी की वैसी ही महिमा हांकता है, जैसे काशी में मरने से हत्यारा भी मुक्त हो जाता है, दुराचारी भी मुक्त हो जाता है, इत्यादि बातें धर्मग्रंथों में लिख रखी हैं। हे शिव जी! मैं आपसे पूछता हूं कि ये नाना प्रकार कर्म करने वाले जीव शरीर छोड़कर कहां समायेंगे? कैसी दशा प्राप्त करेंगे, आप ही बताइए। आपकी नगरी की मिथ्या महिमा के झांसे में पड़कर यदि जीव का अकल्याण हुआ, तो यह उनका दोष नहीं माना जायेगा। यह दोष स्वयं हुजूर को पड़ेगा।

''कबीर साहेब की उक्त बातें सुनकर शिव जी हर्षित होकर कहने लगे—सुनो कबीर, जहां हम हैं वहां दूसरा कोई नहीं है। यहां यमराज नहीं आ

सकता। इसलिए चाहे जैसे कर्म करने वाले प्राणी मरें, वे मुक्त ही हैं।

"कबीर साहेब ने कहा—इन मिथ्या महिमाओं के झांसे में पड़कर भले भक्त लोग चार दिन संतोष मान लें, परन्तु अन्त में अपने-अपने कर्मों के फल सबको भोगने पड़ेंगे। मैं तो वही कहता हूं जो देखता हूं। अर्थात मैं मिथ्या महिमा का समर्थक नहीं, किन्तु वास्तविकता का समर्थक हूं।"[1]

उपर्युक्त भाव बीजक के 11वें बसंत में चित्रित है। यहां सद्गुरु कबीर ने अपनी कल्पना में शिव जी से संवाद किया है और काशी की मिथ्या महिमा को मधुर चुनौती दी है।

कबीर साहेब आध्यात्मिक क्षेत्र में एक प्रखर वैज्ञानिक थे। उनके ज्ञान एवं सावधानी के मानो सहस्रों नेत्र थे, जिनसे कोई त्रुटि छिपी नहीं रह सकती थी। वे जिसको झूठ समझ लेते थे उसे भरी सभा में झूठ कहने में कोई भय नहीं करते थे चाहे इसके आड़े बड़ी-से-बड़ी हस्ती आये। यही उनकी विशेषता थी जिस पर रीझकर निष्पक्ष विवेकी व्यक्ति उन्हें निराला एवं शिरोमणि संत कह देता है।

17. काशी से मगहर यात्रा क्यों?

भारत और भारत के आस-पास देशों में भ्रमण करते हुए कबीर साहेब अपना मुख्यालय काशी में ही रखते थे। इस प्रकार उनके जीवन के लगभग एक सौ उन्नीस (119) वर्ष बीत गये।[2] उनको लगा कि अब यह शरीर

---

1. **शिव काशी कैसी भई तुम्हारि, अजहूँ हो शिव लेहु विचारि ॥ 1 ॥**
चोवा चंदन अगर पान, घर घर सुमृति होत पुरान ॥ 2 ॥
बहु विधि भवने लागू भोग, ऐसो नग्र कोलाहल करत लोग ॥ 3 ॥
बहु विधि परजा लोग तोर, तेहि कारण चित ढीठ मोर ॥ 4 ॥
हमरे बलकवा के इहै ज्ञान, तोहरा को समझावै आन ॥ 5 ॥
जो जेहि मन से रहल आय, जिव का मरण कहु कहाँ समाय ॥ 6 ॥
ताकर जो कछु होय अकाज, ताहि दोष नहिं साहेब लाज ॥ 7 ॥
हर हर्षित सो कहल भेव, जहां हम तहां दूसरा न केव ॥ 8 ॥
दिना चारि मन धरहू धीर, जस देखैं तस कहहिं कबीर ॥ 9 ॥
(बसन्त 11)

2. **कुछ लोग इतनी लंबी आयु को असंभव मानते हैं, परन्तु असंभव मानने की कोई बात नहीं होनी चाहिए। कबीरपन्थ के एक तपस्वी एवं विद्वान संत श्री हनुमान साहेब ने एक सौ आठ (108) वर्ष की आयु में काशी में 18-4-88 ई० को अपना शरीर छोड़ा है। जयपुर के एक मियां एक सौ अढ़तीस (138) वर्ष की उम्र में गत वर्ष में शरीर त्याग किया है।**

अधिक दिन नहीं चलेगा। उन्होंने सोचा कि काशी से मगहर चला जाना है और वहीं शरीर छोड़ना है। ऐसा उन्होंने क्यों सोचा? कुछ पुरोहिताऊ लेखक, उथले अध्येता एवं अपरिपक्व समीक्षक लिखते हैं कि यह कबीर का एक हठ था, जिससे उन्होंने काशी की अवमानना की, अथवा काशी के लोगों से उत्पीड़ित होकर वे मगहर चले गये आदि।

ये अपने आप को विद्या के धनी मानने वाले महानुभाव न सम्यक अध्ययन करने का परिश्रम करना चाहते हैं, न पक्षपात की चादर अपने ऊपर से उतारना चाहते हैं और न सहृदय होकर निष्पक्षतापूर्वक समीक्षा करना चाहते हैं। ये लोग अधिकतर एक नयी खोज के नाम पर कल्पित वक्तव्य दे डालते हैं। इससे किसी महापुरुष का इतिहास खराब होता है इसकी उन्हें कोई चिन्ता नहीं।

किसी भी स्वतन्त्र विचार का पहले मजाक उड़ाया जाता है, फिर विरोध किया जाता है और इसके बाद उसे स्वीकारा जाता है। यह मानव-मानसिकता का वैज्ञानिक स्वरूप है। कबीर साहेब का मुल्ला एवं पुरोहितों द्वारा विरोध एवं शासन द्वारा उत्पीड़न हुआ था, इसका उनके प्रामाणिक ग्रन्थ बीजक में कुछ पता नहीं लगता। "साँच कहौं तो मारन धावै, झूठे जग पतियाना।"[1] जैसे पदों का अर्थ एक सामान्य कहावत है। परन्तु उनके इतने स्वतन्त्र कथन एवं मुल्ला तथा पुरोहितों के पाखंड के खंडन को लेकर उनका विरोध अवश्य हुआ होगा। मुल्ला-पंडित तात्कालिक शासनाध्यक्ष को उत्तेजित कर कबीर साहेब को पीड़ित भी करना चाहे होंगे। किन्तु यह सब उनके प्रचार के आरम्भ में ही हुआ होगा। उस समय भी साधारण जनता उनके साथ थी। थोड़े दिनों में तो वे अत्यन्त प्रसिद्ध एवं पूज्य हो गये थे। वे अपनी तीस वर्ष की उम्र तक पहुंचते-पहुंचते उत्तरी भारत में गूंज गये थे। जब कबीर साहेब काशी से मगहर गये हैं, तो उस समय काशी में उनका विरोध होने की बात ही नहीं उठ सकती। जिसने सौ से अधिक वर्षों तक काशी में अपना मुख्य आश्रम रखा हो, वह शरीर छूटने के समय वहां से घबरा जायेगा, इसका प्रश्न ही नहीं उठ सकता।

कबीर साहेब काशी से मगहर क्यों गये, इसका सरल समाधान बीजक में उपलब्ध है। यह तो प्रसिद्ध है ही कि काशी में मरकर मोक्ष होता है। कबीर साहेब के समय में यह भी भ्रम था कि मगहर में मरनेवाला गधा होता है। उधर बौद्धों का अवशेष तथा नाथपंथियों का प्रचार रहा। इसलिए सनातनधर्मी पंडित उसकी उपेक्षा करने के लिए ऐसा कहते रहे होंगे। काशी में पंडे-पुरोहितों की पुजाई तथा आमदनी बढ़े, इसलिए काशी की मिथ्या महिमा हांकी जा रही थी। कबीर साहेब हर अन्धविश्वास के विरोधी थे, और उन्हें स्वरूपस्थिति एवं

---

1. **बीजक, शब्द 4।**

आत्मस्थिति रूपी रामभजन का केवल विश्वास ही नहीं, अपरोक्ष अनुभव था। अतएव वे समझते थे कि वासनाओं का त्यागी चाहे जहां शरीर छोड़े वह मुक्त ही है और वासनाओं में बंधा व्यक्ति बंधा ही रहेगा चाहे काशी में शरीर छोड़े और चाहे अन्यत्र। अतएव उन्होंने सच्ची साधना, रामभजन एवं स्वरूपस्थिति का महत्त्व प्रतिष्ठित रखने तथा झूठे आश्वासन को निरस्त करने के लिए अन्त वेला में काशी से मगहर प्रस्थान किया। यह उनका जरजर अवस्था में अप्रतिम साहस था। यह उनके संतत्व, सत्यत्व, वीरत्व एवं शिवत्व की पराकाष्ठा थी। सभी मिथ्या श्रेष्ठता एवं मिथ्याहीनता का विरोध करनेवाले कबीर साहेब ने उक्त मिथ्या धारणा का विरोध ही नहीं किया, किन्तु उसे व्यावहारिक रूप देकर काशी त्यागकर मगहर जा बसे।

18. काशी से मगहर

कबीर साहेब ने काशी में घोषणा कर दी कि मैं काशी में शरीर न छोड़कर मगहर में छोड़ने के विचार से काशी से मगहर जाऊंगा। यह बात काशी नगर की चर्चा बन गयी। काशी स्थित मिथिला देश के पंडितों का एक दल कबीर साहेब से मिलने आया। उसने कहा कि महाराज, आप क्या कर रहे हैं? सारा जीवन काशी में बिताकर मरती वेला मगहर क्यों जा रहे हैं? काशी मोक्ष-धाम है और मगहर में मरनेवाला गधा होता है। अत: आप-जैसे संत काशी छोड़कर मगहर जायें, यह शोभा नहीं देता। महाराज, क्षमा करें, आप भूल करते हैं।

कबीर साहेब ने मुस्कराते हुए मैथिली पंडितों को समझाया—"हे पंडितो! तुम लोग ही बुद्धि के भोले हो। जैसे पानी में पानी मिल जाने पर उसे अलग नहीं किया जा सकता, वैसे राम में लीन व्यक्ति को राम से अलग नहीं किया जा सकता। कबीर तो निज स्वरूप-राम में पूर्णतया लीन है, अब कौन ऐसी शक्ति है कि उसे उससे अलग कर दे! क्या मगहर मुझे आत्माराम से अलग कर देगा! क्या संसार में कोई शक्ति है जो स्वरूपस्थ व्यक्ति को स्वरूप से अलग कर दे?

"हे मित्रो! यदि तुम लोग मिथिला के सच्चे पंडित हो, तो तुम लोगों का मरण भी मगहर के पास एवं मगहर में ही होना चाहिए। क्योंकि जो मगहर में मरता है वह मरने नहीं पाता, अर्थात अमरत्व एवं मोक्ष प्राप्त करता है, और जो मगहर से अलग मरता है, वह मानो राम को, अपने अन्तरात्मा को लज्जित करता है। अतएव तुम लोगों को भी मगहर में ही मरने की तैयारी करना चाहिए।"

पंडित लोग अपना दावं लगता देख प्रसन्नता से उछल पड़े और उन्होंने तड़ाक से कबीर साहेब को पकड़ना चाहा और कहा—"तब हम और आप समान विश्वासी हुए। हम काशी में मरकर मुक्ति मानते हैं और आप मगहर में

मरकर।'' परन्तु कबीर साहेब कच्चे धागे के नहीं बने थे। वे असावधान नहीं थे। वे केवल उच्चतम सन्त ही नहीं थे, किन्तु महान प्रातिभ, प्रगल्भ एवं प्रत्युत्पन्नमति (हाजिर जवाब) भी थे। वे व्यंग्य करने और चुटकी काटने में प्रवीण थे। वे सामान्य बातों, रूपकों, प्रतीकों आदि में अध्यात्म की ऊंची-ऊंची बातें घटा देने में निपुण थे। श्रोताओं को अचम्भे में डालकर और उनमें उत्सुकता उत्पन्न कर अपनी बात कहने में माहिर कबीर साहेब ने कहा—

''मैं उस मगहर में मरकर मुक्ति की बात नहीं करता हूं जो गोरखपुर के पश्चिम में पड़ता है, जो एक गांव है। मेरे मोक्षस्थल का मगहर है ज्ञानमार्ग! मग = रास्ता, हर = ज्ञान—मगहर = ज्ञानमार्ग। हे पंडितो! किसी भौतिक स्थल में मरकर मोक्ष की कामना करना व्यर्थ है। केवल ज्ञानमार्ग ही मोक्ष का स्थान है। यही आध्यात्मिक मगहर है।

''जो गोरखपुर के पास वाले मगहर-गांव में मरता है वह गधा होता है, यह धारणा तो बिलकुल ही व्यर्थ है। इस मान्यता में तो राम-भजन का कोई मूल्य ही नहीं रह जाता है। इससे तो मगहर बड़ा हो गया और राम छोटा हो गया। मगहर बलवान हो गया और राम दुर्बल हो गया। नहीं, यह कदापि नहीं हो सकता। जैसे जीव के निकल जाने पर शरीर दो कौड़ी का भी नहीं है, वैसे राम-भजन छोड़ देने पर काशी-अयोध्यादि की कोई कीमत नहीं है। सबका मूल्य राम के नाते है। एक अंक लिख दीजिए और उसके दायें शून्य लगा दें तो एक का दस हो गया, और एक शून्य और लगा दें तो सौ हो जायेगा। जितना शून्य लगाते जायें उतना दस गुणा बढ़ता जायेगा, परन्तु एक अंक को हटा दें तो सारे शून्य निरर्थक हो जायेंगे। इसी प्रकार एक राम के नाते ही संसार की सभी वस्तुओं की कीमत है, और राम को हटा देने पर सब मूल्य-रहित हो जाते हैं। अतएव जो राम में निरन्तर रमता है उसका मगहर आदि कोई भौतिक स्थल क्या बिगाड़ देगा!

''इसलिए यदि हमारे हृदय में निरन्तर राम का स्मरण है, यदि हम सदैव स्वरूप-राम में लीन हैं, तो क्या काशी, क्या मगहर और क्या ऊसर जमीन! कहीं भी शरीर छूट जाये इससे क्या अन्तर पड़ता है! इसलिए यदि कबीर काशी में शरीर छोड़कर मुक्ति की कामना करता है तो मानो उसने मुक्ति को समझा ही नहीं है और उसे राम-भजन का कोई भरोसा ही नहीं है। जिसके हृदय में संसार है ही नहीं, अपितु केवल राम ही है एवं हर समय आत्माराम में ही विश्राम है, वहां सब समय मोक्ष है। मोक्ष देश और काल से वाधित नहीं होता, अपितु वह उससे निरपेक्ष है।

''हे पंडितो! काशी आदि तथाकथित तीर्थों की मिथ्या महिमा ने राम का, आत्मज्ञान, स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति का महत्त्व ही घटा दिया है। इसलिए

राम-भजन, स्वरूपस्थिति एवं आत्मस्थिति के तथ्य को प्रतिष्ठित करने के लिए मैं काशी छोड़कर मगहर जाने के लिए विचार कर लिया हूं।''[1]

19. मगहर निवास और देहावसान

सद्गुरु कबीर काशी से मगहर आ गये और उन्होंने वहां निवास किया। कहा जाता है कि माघ शुक्ल एकादशी विक्रमी संवत 1575 को कबीर साहेब का शरीर छूट गया। हिन्दू राजा वीरसिंह बघेल तथा मुसलिम राजा बिजली खां कबीर साहेब के शव को क्रमश: जलाना एवं दफनाना चाहते थे। आईन-ए-अकबरी (संवत 1655) में लिखा है कि ब्राह्मण शव को जलाना तथा मुसलमान दफनाना चाहते थे और इसको लेकर विवाद हुआ।[2]

कहा जाता है कि अंतत: कबीर साहेब का शव फूलों का ढेर हो गया। हिन्दू-मुसलमानों ने उसे बांटकर अलग-अलग समाधियां बनायी। शव तो फूल नहीं बनेगा, किन्तु शरीर भस्म हो जाने पर जो अस्थि बच रहती है, उसे फूल कहते हैं। उसी को लेकर दोनों ने समाधियां बनायी होंगी।

इस प्रकार इस महान सन्त का जेष्ठ शुक्ल पूर्णिमा विक्रमी संवत 1456 में जन्म तथा माघ शुक्ल एकादशी विक्रमी संवत 1575 में देहांत हुआ। खास बात है उन्होंने जो कुछ अपने जीवन में किया और कहा वह मानवमात्र के कल्याण के लिए सर्वोत्तम धरोहर है।

20. कबीर साहेब का व्यापक प्रभाव

कबीर साहेब द्वारा बहायी गई निर्गुण-गंगा की धारा आज सहस्रमुखी होकर भारत और भारतेतर देशों में विशाल जनमानस को आप्लावित कर रही है। जिसकी शाखा-उपशाखाओं के रूप में सैकड़ों धाराएं हैं जो सुरतिगोपाल साहेब, जागू साहेब, भगवान साहेब, धर्म साहेब, नानक साहेब, दादू साहेब, गरीब

---

1. **लोगा तुमहीं मति के भोरा॥ 1॥**
ज्यों पानी-पानी मिलि गयऊ, त्यों धुरि मिला कबीरा॥ 2॥
जो मैथिल को साँचा ब्यास, तोहर मरण होय मगहरपास॥ 3॥
मगहर मरै, मरै नहिं पावै, अन्तै मरै तो राम लजावै॥ 4॥
मगहर मरे सो गदहा होय, भल परतीत राम सो खोय॥ 5॥
क्या काशी क्या मगहर ऊसर, जो पै हृदय राम बसे मोरा॥ 6॥
जो काशी तन तजै कबीरा, तो रामहिं कहु कौन निहोरा॥ 7॥ (शब्द 103)

2. **''चूं खानए उस्तुख्वानी वा परदाख्त बरहमन बसोख्तन**
रू आबूर्द वा मुसलमान बगोरिस्तान बुर्दन।''
आईन-ए-अकबरी, जिल्द 2, पृष्ठ 53, न० कि० प्रे० लखनऊ, 1893
डॉ० रामचंद्र तिवारी कृत कबीरमीमांसा, पृष्ठ 41 से उद्धृत।

साहेब, दरिया साहेब, घीसा साहेब, तुलसी साहेब, बुल्ला साहेब, गुलाल साहेब, पलटू साहेब, राधास्वामी आदि सन्तों द्वारा सैकड़ों वर्षों से प्रवाहित की गयी हैं। भारत में घूमने पर पता लगता है कि आज-कल इस निर्गुणी धारा का कितना व्यापक प्रभाव है।

इतना ही नहीं, वैदिक तथा सनातन धर्म कहे जाने वाले मतों पर भी आजकल इसका व्यापक प्रभाव है। ये मत भी जाति-वर्ण, छुआछूत, ऊंच-नीच के भेद को घृणा की दृष्टि से देखने लगे हैं। मूर्तिपूजा और कर्मकांड को करते हुए भी उन्हें निम्न स्तर का कहने लगे हैं और परमात्मा तो मनुष्य के भीतर एवं प्राणधारी की आत्मा ही है, इस विचार का सर्वत्र आदर होने लगा है। ''कस्तूरी कुण्डल बसे, मृग ढूंढ़े बन माहि। ऐसे घट-घट राम है, दुनिया जानत नाहिं।'' कबीर साहेब के इस अन्तिम सार सिद्धांत को भारतीय-मानस में सर्वमान्यता मिल गयी है।

कबीर साहेब जो चाहते थे, जो उनके विचार थे, उनमें से कितनी ही बातों को उनका नाम लिए बिना भारतीय संविधान में मान्यता मिल गयी है। आज वर्ण और वर्ग-विहीन मानवमात्र को समस्त क्षेत्रों में पहुंचने का समान अधिकार है। सनातनधर्मी महाकवियों के वर्णधर्म तथा जन्मजात ऊंच-नीच मान्यता की बातों को आज कोई जागरूक सनातनधर्मी भी नहीं सुनने वाला है। इसलिए सरकार में बैठे सनातनधर्मी कहलाने वाले लोग भी कबीर साहेब के समतावादी मूलक ही कानून बनाते तथा उसके पालन के लिए शासन की व्यवस्था करते हैं।

कबीर साहब अध्यात्म क्षेत्र के वैज्ञानिक हैं। भौतिक विज्ञान जितना बढ़ता जा रहा है उतना अन्धविश्वास घट रहा है और जितना अन्धविश्वास घट रहा है उतना कबीर साहेब के विचार अधिक समझे जा रहे हैं। प्रत्यक्ष है कि इस बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में भी कबीर साहेब पर सोचने और लिखने वाले बहुत कम थे, परन्तु आज सदी के आखिर तक देश-विदेश में उन पर सोचने तथा लिखने वालों की भीड़ हो गयी है।

हर मत-मजहब वाले अपनी बातों को केवल श्रद्धा के बल पर जनता से मनवाना चाहते हैं। वे बुद्धि का प्रयोग नास्तिकता मानते हैं। इसलिए हर मत की युवा पीढ़ी प्राय: विद्रोही होती जा रही है। कबीर साहेब का विवेकपूर्ण ज्ञान आधुनिक समाज को प्रकाश देने वाला है। इसलिए कबीर साहेब के विचार-वपन के लिए आज भारत ही नहीं, पूरे भूमण्डल की मानस-भूमि उर्वर हो चली है। अत: दिन जितने बीतेंगे, कबीर साहेब के उपदेश उतने विश्व में चमकते जायेंगे। जितना ही कबीर साहेब के विचार माने जायेंगे, उतना ही शुद्ध मानवता और आत्मज्ञान की प्रतिष्ठा बढ़ेगी।

21. श्रद्धा और बुद्धि के संगम

श्रद्धाहीन व्यक्ति भटका हुआ है और अधिक श्रद्धा मनुष्य को जड़, हिंसक एवं क्रूर बनाती है। आदमी जहां अधिक श्रद्धा कर लेता है उसकी सड़ी-गली बातें भी सत्य मानता है और उसके अलावा उसे सत्य भी तुच्छ दिखता है। अधिक श्रद्धा के पागलपन ने सम्प्रदाय एवं मजहब वालों को ऐसा जड़ बना दिया है कि वे केवल अपने मतों को स्वर्ग एवं मोक्ष का द्वार मान लिये और अन्य मतों को नरक का द्वार। ऐसे अति श्रद्धावादियों ने दूसरे मतवालों को नीच देखा, उनकी हत्याएं कीं, उनके पूजास्थल जलाये एवं ढहाये। इसलिए अति श्रद्धा गलत है।

आज पूरे विश्व में श्रद्धाहीनता की आंधी बह रही है। एक वर्ग ऐसा है कि वह कहीं भी श्रद्धा नहीं रख पा रहा है, क्योंकि उसे सम्प्रदायों एवं धर्मग्रन्थों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण कम दिख रहे हैं।

कबीर साहेब श्रद्धा और बुद्धि के संगम हैं। वे महा बुद्धिवादी हैं और धर्म के क्षेत्र में फैले अन्धविश्वासों का बीन-बीनकर खण्डन करते हैं। उन जैसा खण्डन करने वाला बुद्धिवादी धर्म के क्षेत्र में दूसरा मिलना कठिन है।

परन्तु वे जानते हैं कि नाना मत-मजहबों में फैले सन्त-भक्तों के सदाचार, इन्द्रिय-निग्रह, मन-विजयता, अन्तर्मुखता और आध्यात्मिक अनुभूति के अमृत-रस मानवमात्र के लिए कितने कल्याणदायी प्रेरक हैं। इसलिए कबीर साहेब विश्व के सभी सन्त, भक्तों एवं पीर-औलिया के लिए श्रद्धालु हो जाते हैं। जो इन्द्रिय-मन की घुड़दौड़ से लौटकर अन्तर्मुख हो जाता है, वह सन्तुष्ट हो जाता है। उसके जीवन में हाय-तोबा नहीं रहता। वह धन्य है। कबीर साहेब ऐसे सभी की प्रशंसा में कहते हैं—

''हे सन्तो! किसी भी मत के सत्संगी भक्त एवं ज्ञानी हों वे प्रेम एवं शांति अमृत-रस का प्याला पीते हैं। वे इन्द्रियों को जीतकर, मन को वश में कर कामना और कर्म पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। इसलिए उनका मन आनन्द का निर्झर हो जाता है। गोरखनाथ, दत्तात्रेय, वसिष्ठ, व्यास, हनुमान, नारद, शुकदेव मुनि, शिव, सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, अंबरीष, याज्ञवल्क्य, जनक, जड़भरत, शेष, ध्रुव, प्रह्लाद, विभीषण, शबरी—कहां तक गिनाया जाये। त्यागी और गृहस्थ सभी साधक अनुभूति की मस्ती में दीवाने हुए। निर्गुण ब्रह्म को सगुण कृष्ण मानकर उनकी भक्ति में वृन्दावन में आज भी भक्तों को खुमारी चढ़ी रहती है। चाहे सुर हो, चाहे नर हो और चाहे पीर तथा औलिया हो, जिसने इस अध्यात्म-रस को पिया, वही इसके आनन्द को जानता है। जैसे गूंगा शकर खाकर उसका केवल अनुभव करता है, वर्णन नहीं कर सकता, वैसे

साधक उस शांति का अनुभव कर सकता है, व्याख्यान नहीं।''[1]

इस प्रकार कबीर साहेब की वाणी शुद्ध श्रद्धा और शुद्ध बुद्धि का संगम-सागर है; क्योंकि वे स्वयं श्रद्धा और बुद्धि के संगम हैं। आज के भटके हुए तार्किकों तथा श्रद्धालुओं के कल्याण के लिए कबीर साहेब की वाणी महौषध है।

22. कबीर साहेब के विषय में महात्माओं और विद्वानों के उद्गार

कबीर साहेब की महत्ता को स्वीकार कर महात्मा और विद्वानों ने जितने अपने उद्गार प्रकट किये हैं उनमें से थोड़ा-थोड़ा ही संग्रह किया जाये तो एक बड़ी पुस्तक बन जायेगी। यहां कुछ संतों एवं विद्वानों के किंचित वाक्यों का दिग्दर्शन मात्र किया जायेगा।

प्रसिद्ध वैष्णव संत नाभादास भी महाराज (सं० 1640) ने भक्तमाल में छह पंक्तियों में जो कुछ कहा है, मानो उसी की व्याख्या विद्वान जन आज तक कर रहे हैं। वे ये हैं—

कबीर कानि राखी नहीं, वर्णाश्रम षटदरसनी।
भक्ति विमुख जो धर्म ताहि अधरम करि गायो।
योग यग्य व्रत दान भजन बिनु तुच्छ दिखायो।
हिन्दू तुरुक प्रमान रमैनी शब्दी साखी।
पच्छपात नहिं बचन सबहिं के हित की भाखी।
आरूढ़ दशा ह्वै जगत पर मुख देखी नाहिन भनी।
कबीर कानि राखी नहीं, वर्णाश्रम षटदरसनी।

---

1. **सन्तो मते मातु जन रंगी ॥ 1 ॥**
पियत पियाला प्रेम सुधारस, मतवाले सत्संगी ॥ 2 ॥
अर्धे उर्धे भाठी रोपिनि, लेत कसारस गारी ॥ 3 ॥
मूँदे मदन काटि कर्म कस्मल, सन्तति चुवत अगारी ॥ 4 ॥
गोरख दत्त वशिष्ठ व्यास कपि, नारद शुक मुनि जोरी ॥ 5 ॥
बैठे सभा शंभु सनकादिक, तहां फिरै अधर कटोरी ॥ 6 ॥
अम्बरीष और याज्ञ जनक जड़,शेष सहस मुख फाना ॥ 7 ॥
कहाँ लौ गनौं अनन्त कोटि लौं,अमहल महल दिवाना ॥ 8 ॥
ध्रुव प्रहलाद विभीषण माते, माती शेवरी नारी ॥ 9 ॥
निर्गुण ब्रह्म माते वृन्दावन, अजहूँ लागि खुमारी ॥ 10 ॥
सुर नर मुनि यति पीर औलिया, जिन रे पिया तिन जाना ॥ 11 ॥
कहैं कबीर गूंगै की शक्कर, क्यों कर करे बखाना ॥ 12 ॥
(बीजक, शब्द 12)

कबीर साहेब के जीवन-काल में ही भक्तराज पीपा ने 18 पंक्तियों के एक लम्बे पद में कबीर साहेब के महत्त्व का प्रदर्शन किया है जिसकी केवल तीन पंक्तियां लें—

जो कलि मांझ कबीर न होते।
तो ले....वेद अरु कलियुग मिल करि भगति रसातल देते ॥
नाम कबीर सांच परकास्या तहां पीपै कछु पाया ॥[1]

यहां कलियुग के सहित वेद को भक्ति का डुबाने वाला कहा गया है। यहां वेद का अर्थ प्रसिद्ध ऋक् आदि चार वेद नहीं हैं, किन्तु शास्त्रप्रमाण की गतानुगतिका है।

कबीर साहेब के शरीरांत के असी (80) वर्ष बाद अकबर महान के राज्यकाल में महान विद्वान अबुल फजल अल्लामी ने स्वरचना आईन-ए-अकबरी में दो जगह कबीर साहेब का महत्त्वपूर्ण उल्लेख किया है। एक उल्लेख काफी होगा—

"कोई कहते हैं कबीर मुवाहिद (एकात्मवादी) यहां विश्राम करते हैं और आज तक उनके काव्य और कृत्यों के सम्बन्ध में अनेक विश्वस्त जनश्रुतियां कही जाती हैं। वे हिन्दू और मुसलमान दोनों के द्वारा अपने उदार सिद्धांतों और ज्योतित जीवन के कारण पूज्य थे और जब उनकी मृत्यु हुई तब ब्राह्मण उनके शरीर को जलाना चाहते थे और मुसलमान गाड़ना चाहते थे।"[2]

तत्त्वा और जीवा नाम के दो ब्राह्मणबंधु भड़ौच जिले के शुक्ल तीर्थ के पास नर्मदा नदी की बायीं ओर रहते थे। कबीर साहेब उनके यहां पधारे थे। कबीर साहेब के चरण धोकर उस जल को तत्त्वा-जीवा ने सूखे बरगद की जड़ में डाल दिया था और कहा जाता है पेड़ हरा[3] हो गया। आजकल यह कबीर-बड़ नाम से प्रसिद्ध है। यह सरकार के संरक्षण में है। इसी के नीचे राम कबीर मत वालों का कबीर मन्दिर बना है। कार्तिक पूर्णिमा को इसी पेड़ के नीचे मेला लगता है। इसकी शाखाएं बहुत दूर तक फैली हैं।

सन्त गरीब साहेब कहते हैं—

गरीब तत्त्वा जीवा को मिले, दक्षिण बीच दयाल।
सूखा ठूंठ हरा हुआ, ऐसे नजर निहाल ॥

---

1. **डॉ० रामकुमार वर्मा, संतकबीर, पृष्ठ 51।**
2. **डॉ० रामकुमार वर्मा, संतकबीर, पृष्ठ 37।**
3. **पेड़ की जड़ में सार रहा होगा और जल डालने से हरा हो गया होगा। महत्त्व इसका नहीं है। महत्त्व है कि कबीरबड़ एवं तत्त्वा-जीवा के आश्रम में गुजरात में कबीर-विचारों का प्रचार हुआ।**

उपर्युक्त स्थल पर जब सद्गुरु कबीर विराजमान थे तब एक ज्ञानी जी नाम के सन्त उनके दर्शन के लिए आये और वे उनके शिष्य हो गये। उन्होंने ही राम कबीर मत चलाया।

ज्ञानी जी कहते हैं—

ज्ञानी गुरु सेवा करी, मन निश्चल धरि धीर।
तीन लोक में गाइये, कहैं कबीर कबीर॥
बटक बीज के मांझ में, अटक भया मन थीर।
जन ज्ञानी का संसा मिटा, सद्गुरु मिले कबीर॥
सद्गुरु मिले कबीर जी, देखा नैन समान।
आपा माहे आप है, तो कासो कहीय आन॥

(ज्ञानी ग्रन्थावली)

गुजरात के जीवन जी महाराज ने लिखा है—

द्वापर कान्हा प्रगट्यो, त्रेता में रघुवीर।
कलिकाल में जीवणा, प्रगटे सन्त कबीर॥
यमुना तीरे यादवो, सरजू तीरे रघुवीर।
गंगा तीरे जीवणा, प्रगटे सन्त कबीर॥
सब के सद्गुरु कबीरजी, ममता करो जन कोय।
औ दुनिया को जीवणा, सद्गुरु घर को जोय॥

(उदाधर्म पंचरत्न माला)

दादूदयाल साहेब (वि० 1601-1660) लिखते हैं—

जेथा सन्त कबीर का, सोई वर वरि हूं।
मनसा वचा कर्मना, मैं और न करि हूं॥

मलूक साहेब कहते हैं—

कासी तजि गुरु मगहर आये, दोउ दीनन के पीर।
कोई गाड़े कोई अग्नि जरावे, नेक न धरते धीर॥
चार दाग से सतगुरु न्यारा, अजरो अमर शरीर।
दास मलूक सलूक कहत है, खोजो खसम कबीर॥

गुजरात के रविभाण संप्रदाय के रविराम साहेब जो अपने आप को रविदास भी कहते हैं, लिखते हैं—

रविदास सो राहो ढूढ़ते, जिस राहा गया कबीर।
रविदास वहां पहोंचिया, ज्यां रामानन्द कबीर॥

बुझत रबी कबीर के, बूझत कोउक सन्त।
रामानन्द पे बूझिया, जबही मिला एकंत॥
रविभाण जी कबीर जी, एक रूप अलैख॥

गरीब साहेब (1774) कहते हैं—

पांच बरस के जब भये, काशी मांझ कबीर।
गरीब दास अजब कला, ज्ञान ध्यान गुण सीर॥
दास गरीब कबीर का चेरा। सतलोक अमरापुर डेरा॥

विश्वकवि रवींद्रनाथ ठाकुर ने कबीर साहेब की वाणियों के आशयों पर गीतांजलि लिखकर उसके आधार पर विश्व का प्रसिद्ध नोबल पुरस्कार पाया था। जब ठाकुर जी विश्वभ्रमण के क्रम में पाश्चात्य देश गये, तब उनको पता चला कि भारत के धर्म के विषय में यहां बड़ा भ्रम है। अत: उन्होंने कबीर साहेब के सौ पदों का इंगलिश में अनुवाद कर 'वन हंड्रेड पोयम्स ऑफ कबीर' के नाम से इंगलैण्ड में प्रकाशित किया, जिसका संसार की अनेक भाषाओं में अनुवाद हुआ और विश्व को भारत के धर्म की गरिमा का पता लगा। एक बार रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने प्रसिद्ध विद्वान भगवानदीन से कहा था—

"हम बंगालियों ने तो संस्कृत इसलिए अपनायी कि हमारे पास शब्द नहीं थे। अध्यात्म के लिए जितने शब्द चाहिए उतने शब्द बंगला भाषा नहीं दे सकती। पर तुम (हिन्दी वालों) ने कबीर जैसे सन्त के रहते संस्कृत क्यों अपनायी? कबीर ने तो हिन्दी भाषा में अध्यात्म की सारी बातें कह दी हैं और सारी शब्दावली तुम्हें दे दी है।"[1]

डॉ० पीताम्बर बड़थ्वाल लिखते हैं—"अपनी सन 1935 की हरिजन यात्रा में जब गांधीजी काशी पहुंचे थे, कबीरमठ में उनसे यह सुनकर कि मेरी माता कबीरपंथी थीं, उपस्थित जनसमुदाय को विस्मय-सा हुआ था। किन्तु जो लोग महात्मा गांधी और कबीर की विचारधारा से परिचित हैं, उनके लिए उसमें विस्मय की कोई बात नहीं, क्योंकि वे जानते हैं कि उन दोनों में कितना अधिक साम्य है।"[2]

प्रसिद्ध इतिहासकार पं० सुन्दरलाल कबीर साहेब की वाणियों पर लिखते हुए अन्त में लिखते हैं—"भारत की आत्मा भीतर से पुकार रही है—यदि सत्य है तो यही, और यदि भविष्य के लिए कोई मार्ग है तो केवल यही है। (भारत में अंग्रेजी राज्य, मानवधर्म)

---

1. **सरिता पत्रिका, सितम्बर, 1959, पृष्ठ 10।**
2. **कबीर और गांधी।**

रेवरन्ड जी० एच० वेस्काट ने लिखा है—कबीर हिन्दी साहित्य के पिता माने जाते हैं—

Kabir is regarded as the father of Hindi literature.

(Kabir and Kabirpanth)

डॉ० जयदेव सिंह तथा वासुदेव सिंह लिखते हैं—"18वीं शताब्दी से ही कबीर की वाणी का स्वर यूरोप में गूंजने लगा था। सन् 1758 में सर्वप्रथम एक इटैलियन साधु 'पाद्रे मार्को डेबा टांबा' ने कबीर के ज्ञान-सागर अथवा सतनाम कबीर का इटैलियन भाषा में अनुवाद किया था। उसके बाद डब्ल्यू प्राइस, जेनरल हैरट, एच० एच० विल्सन, गार्सा द तासी, हंटर, ई० ट्रम्प, ग्रियर्सन, वेस्टकाट, मैकालिफ, अंडरहिल, एफ० ई० के०, ब्रिग्स, स्मिथ, पिंकाट आदि पाश्चात्य विद्वानों ने कबीर की रचनाओं के सम्पादन, पाठानुसंधान, अनुवाद, समीक्षा आदि के रूप में जो विभिन्न कार्य किये, वे उनके व्यक्तित्व की महनीयता के ज्वलंत प्रमाण हैं।" (कबीर वाणी पियूष, पृष्ठ 1-2)।

डॉ० रामकुमार वर्मा लिखते हैं—"कबीर के समालोचकों ने अभी तक कबीर के शब्दों को तानपूरे पर गाने की चीज ही समझा रखा है, पर यदि वास्तव में देखा जाये तो कबीर का विश्लेषण बड़ा कठिन है। यह इतना गूढ़ और गम्भीर है कि उसकी महत्ता का परिचय पाना एक प्रश्न हो जाता है। साधारण समझ वालों की बुद्धि के लिए वह उतना ही अग्राह्य है जितना कि शिशुओं के लिए मांसाहार। ऐसी स्वतन्त्र प्रवृत्ति वाला कलाकार किसी क्षेत्र में नहीं पाया गया।" (कबीर का रहस्यवाद, प्रकरण 2, पृष्ठ 5)

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—"भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। हिन्दी साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। युगावतार की शक्ति और विश्वास लेकर वे पैदा हुए थे और एक वाक्य में उनके व्यक्तित्व को कहा जा सकता है कि वे सिर से पैर तक मस्तमौला थे—बेपरवाह, दृढ़, उग्र, कुसमादपि कोमल, वज्रादपि कठोर।" (कबीर)

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी लिखते हैं—"संतकबीर एक उच्चकोटि के सन्त तो थे ही, हिन्दी साहित्य में वे एक श्रेष्ठ एवं प्रतिभावान कवि के रूप में प्रतिष्ठित हैं तथा हिन्दी साहित्य के बाहर भी उनकी रचनाओं का पर्याप्त आदर है।"[1]

डॉ० सम्पूर्णानन्द लिखते हैं—"कबीर जैसे महापुरुष का जीवन उस हीरे के समान है जिसके कई पहल होते हैं। हर पहल अपने में सम्पूर्ण सुन्दर और

1. **हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 4, पृष्ठ 141।**

ज्योतिर्मय होता है।''[1]

पाश्चात्य विदुषी कुमारी वौदविल लिखती हैं—''कबीर भारतीय परम्परा में एक अत्यन्त श्रद्धास्पद नाम है। वे पंजाब से बंगाल और हिमालय के छोर से दक्षिण कन्याकुमारी तक एक महान कवि के रूप में स्वीकृत हैं। वे हिन्दी काव्य के पिता, महान रहस्यवादी तथा हिन्दू और मुसलमानों के द्वारा एक समान अद्वितीय महापुरुष के रूप में श्रद्धापूर्वक माने जाते हैं।'' उनका मूलवचन इस प्रकार है—

Kabir is the most revered name in Indian tradition. From Punjab to Bengal and from the Himalayan frontier to the Deccan, he is acknowledged as a great Poet (he has been called the father of Hindi poetry) and as a great mystic, venerated by Hindus and Muslims alike a unique distinction.[2]

राजनीति के विचारक, आर्यसमाज के परमभक्त श्रीयुत अलगूराय शास्त्री लिखते हैं—''भगवान कबीर की ओजस्वी वाणियों का सहारा लेकर उनके आशयों, सारों का अपने ढंग से गाकर लिखे कवि टैगोर ने जिस गीतांजलि का निर्माण किया है यह हमारे देश के गौरव को बढ़ाने वाली बात है।

''कबीर की प्रतिभा और उनकी कविदृष्टि जितनी ज्वलंत और पैनी है उससे कम ज्वलंत उनकी दार्शनिक दृष्टि नहीं है। कबीर का धर्म ओजस्वी आस्तिकवादी वैदिक धर्म के स्रोत से निकलता है।....सन्त कबीर की उच्च आध्यात्मिकता का प्रभाव युग-युग के लिए सर्वसाधारण पर पड़ा....हिन्दू-मुसिलम सभी उनके भक्त एवं शिष्य बने। सभी ने उनके काव्य, साहित्य और संगीत के मधुर स्वर का आनन्द लिया।

''आइए, उस महात्मा को स्मरण कर हम सुप्त सांप्रदायिक एवं धार्मिक विद्वेष भावना को भूलें और मानव-समानता के महान मन्त्र को हृदयंगम करें।''[3]

---

1. **कबीर अंक, पूर्वी टाइम्स, जून, 1966 गोरखपुर।**
2. **Kabir, Oxford University Press, 1974.**
3. **कबीर अंक, पूर्वी टाइम्स, जून, 1966, गोरखपुर।**

15

गुरु नानक

गुरु नानक साहेब भारत के महान संतों में एक हैं। आप कबीर साहेब के बाद निर्गुणधारा के संतों में महत्तम हैं। आपका एक विशाल जनमानस पर प्रभाव पड़ा। आपकी वाणियां आज भी जन-जन का कल्याण कर रही हैं।

1. जन्म और प्रवृत्ति

आपका जन्म पंजाब के ''तलवंडी राय भोयं की'' नामक ग्राम में हुआ, जिसे आजकल ''ननकाना साहेब'' कहते हैं। यह आजकल पाकिस्तान में पड़ता है। आपकी जन्मतिथि बैसाख सुदी 3 विक्रमी संवत 1526, ईसा सन् 1469 है।

आपके पिता का नाम श्री कालू तथा माता का नाम तृप्ता था। यह बेदी खत्री परिवार था। आप थोड़ी उम्र में विद्यालय भेजे गये, परन्तु आपका मन पढ़ने में न लगकर आध्यात्मिक चिंतन में लगा रहता था। इसलिए कहा जाता है कि बहुत प्रयत्न करने के बाद भी आपने देशी भाषा तथा फारसी भाषा का थोड़ा-थोड़ा ज्ञान प्राप्त किया। अंतत: आपने विद्यालय जाना छोड़ दिया और संसार, आत्मा तथा परमात्मा सम्बन्धी बातों के चिंतन में ही लीन रहने लगे।

आप अपने माता-पिता के अकेले पुत्र थे। इकलौता-पुत्र बचपन से ही संसार से उदास रहने लगे तो यह साधारण माता-पिता के लिए अत्यन्त निराशाजनक होता ही है। माता-पिता चाहते थे कि बच्चा पढ़-लिखकर कोई काम-धन्धा में लगे, परन्तु बच्चा नानक की प्रवृत्ति अंतर्मुखी थी। इन बातों को लेकर कुछ विद्वान यह मानते हैं ''नानक साहेब पढ़े-लिखे नहीं थे।'' वे भले बहुत बड़े विद्वान न रहे हों, परन्तु उन्होंने काम-चलाऊ विद्या तो पढ़ी ही थी। परमार्थ-पथ-पथिक संतों के लिए अनुभव का महत्त्व है, विद्या का नहीं, और अनुभव-विद्या उनमें थी ही।

जब बच्चा पढ़ना नहीं चाहा, तब पिता कालू जी ने उन्हें गाय-भैंस चराने का काम दिया। इस काम में भी वे लापरवाही करते थे। साधु-संत मिल जायें तो वे उनके साथ रहकर दिन बिता देते थे। नानक किशोर हो चले थे। पिता ने सोचा कि इन्हें घर से दूर भेजकर इनसे कुछ काम करवाया जाये।

2. नौकरी

गुरु नानक की एक बड़ी बहन थी जिसका नाम नानकी था। उसी के नाम के आधार पर इस बच्चे का नाम नानक पड़ा था। नानकी के पति का नाम जयराम था। वे आज के कपूरथला जिले के सुल्तानपुर नामक जगह के नवाब के दरबार में नौकर थे। गुरु नानक के पिता ने उन्हें उनके जीजा श्री जयराम के पास भेज दिया। उन्होंने नानक की नौकरी नवाब के मोदीखाने में लगवा दी; जहां जनता को चावल, दाल आदि बेचना होता था। इस समय नानक की उम्र करीब पन्द्रह वर्ष की थी।

गुरु नानक अपना काम तत्परता से करते थे, परन्तु उनका संसार से उदासी का स्वरूप बढ़ता जा रहा था। वे रोज प्रातः दूर एक नदी में स्नान करने जाते। वहां घंटों ध्यान, चिंतन, जप आदि करते, संतों में बैठकर उनकी वाणी सुनने तथा उनसे वार्तालाप करने में उनको बड़ा रस आता था। इसी अवस्था में उनको समाधि-लाभ होने लगा और वे कहने लगे कि ''न कोई हिन्दू है न मुसलमान''।

3. विवाह

उनकी सत्संग तथा साधना में रुचि निरंतर बढ़ती गयी। वे अपने कमाये हुए धन को भी ज्यादातर संतों की सेवा में खर्च कर देते थे। इसलिए बहिन नानकी तथा माता-पिता ने मिलकर किशोर नानक की एक लड़की से विवाह कर दिया। परन्तु यह विवाह भी किशोर नानक के मार्ग में बाधा न बन सका। उनकी साधु-सेवा, सत्संग, साधुओं की संगत में लीन रहना और भजन-साधन में तत्पर रहना बढ़ता गया।

इसी समय एक छोटी कही जाने वाली जाति के परिवार से मरदाना नामक युवक आकर नानक से प्रभावित हो उनके साथ रहने लगा। मरदाना रबाब (एक तरह की सारंगी) बजाते थे और गुरु नानक भजन गाते थे।

कुछ दिनों में गुरु नानक के क्रमशः दो बच्चे हुए। एक का नाम श्रीचंद रखा गया तथा दूसरे का लक्ष्मीचंद। श्रीचंद ने आजीवन ब्रह्मचारी रहकर विरक्ति मार्ग पकड़ा। इन्होंने उदासीन सम्प्रदाय चलाया जिसका भारत में यत्र-तत्र प्रचार है। इस सम्प्रदाय को नानकपंथी भी कहते हैं। दूसरा छोटा लड़का लक्ष्मीचंद गृहस्थी का मार्ग पकड़ा।

4. अधिक उदासीनता

गुरु नानक संसार से अधिक उदासीन रहने लगे। अतएव उन्होंने मोदीखाने की नौकरी छोड़ दी। वे जंगल में चले जाते, साधु-संतों से वार्तालाप करते और साधना में समय बिताते। इन सब बातों को लेकर परिवार तथा रिश्तेदारों में

घबराहट पैदा हुई और सबने उन्हें समझा-बुझाकर घर-गृहस्थी का काम सम्हालने की राय दी, परन्तु उन पर किसी का भी प्रभाव नहीं पड़ा। संतों के सत्संग तथा अपने आत्मचिंतन एवं साधना-अभ्यास के बल से उनके विचार अब तक प्रौढ़ हो चले थे।

5. यात्राएं

गुरु नानक घर-गृहस्थी का सारा भार छोड़कर जगह-जगह घूमने लगे। वे ज्यादातर साधारण जनता में जाते, दीन-दुखियों में जाते और उन्हें भाई-चारे तथा ईश्वर और गुरु की भक्ति का उपदेश देते। वे कहते कि यहां कोई बड़ा-छोटा नहीं है। सबके साथ प्रेम करना सीखो। उन्होंने नीच जाति के कहे जाने वाले लोगों के साथ अपनी अधिक समरसता की। उन्होंने कहा "नीच जातियों में जो नीच हैं और उनमें जो और भी नीच हैं, नानक सदा उनके साथ है। उसे बड़ों से कुछ लेना-देना नहीं।"[1]

गुरु नानक ने प्रथम यात्रा अमृतसर की की। वे वहां जाकर एक छोटे जलाशय के पास बैठे और वहां उन्होंने कुछ भजन-कीर्तन किया। कहा जाता है कि यहीं पर आज का अमृत सरोवर तथा हर मन्दिर एवं ऐतिहासिक स्वर्ण मंदिर है।

गुरु नानक पर लिखने वालों ने बताया है कि उनका भेष कुछ इस तरह था—"सिर पर नोकीली तुर्की टोपी, भगवा लम्बा चोंगा, सीधी धोती, जो भेष-भूसा उदासी साधुओं से मिलती थी।"[2]

अपनी यात्रा में गुरु नानकदेव सईदपुर गांव में पहुंचे और उन्होंने एक निम्न कही जाने वाली जाति के घर अपना आसन रखा। गांव में बड़े कहलाने वाले लोग भी थे। उनमें सबसे बड़े भागो मलिक थे। उन्होंने नानकदेव को निमंत्रित किया, किन्तु गुरु नानक ने उसका निमंत्रण अस्वीकार कर उस गरीब के घर पर ही भोजन किया जिसके यहां पहले पहुंच चुके थे।

सईदपुर से नानकदेव पुनः जन्म स्थान तलवंडी आये, परन्तु घर पर न आकर गांव के बाहर एक बाग में रुक गये। वहीं वृक्ष के नीचे डेरा डालकर भजन-कीर्तन में लग गये। घर-गांव के लोगों ने जब उनका आगमन जाना, तब वे उन्हें विनय-प्रार्थना करके घर पर ले आये। गांव के लोग इकट्ठे हो गये। गांव का बालक नानक आज एक प्रौढ़ अवस्था में गुरु रूप होकर गांव में पधारा है। उसके तेज से गांव के लोग बहुत प्रभावित हुए। गुरु नानक घर के

---

1. **नीचां अंदरि नीच जाति नीची हूं अति नीच।**
   नानक तिनके संग साथ बडियां सू क्या रीख॥ (गुरु नानकदेव, पृष्ठ 51)
2. **गुरु नानकदेव, पृष्ठ 52-53।**

मोह-माया से परे थे। उन्होंने अपने मन के मान्यताकृत बन्धन तोड़ दिये थे।

कुछ दिनों के बाद वे अपने साथी मरदाना को लेकर पुन: यात्रा में निकल गये। वे तलंबे पहुंचे, जो आजकल पाकिस्तान में सुलतानपुर जिले में पड़ता है। तलंबे में एक ठग था। वह अपना नाम हिन्दुओं को सज्जनमल तथा मुसलमानों को शेख सज्जन बतलाता था। उसने आमने-सामने मंदिर तथा मसजिद बनवा रखे थे। उनमें यात्रियों को ठहरने की जगहें थीं। वह हिन्दू यात्रियों को मंदिर में तथा मुसलमान यात्रियों को मसजिद में टिका देता और रात में उन्हें लूट लेता। गुरु नानक तथा भाई मरदाना को भी उसने व्यापारी समझा और मंदिर में ठहरने की जगह दी। गुरु नानक उसके भेद को जान गये, और उन्होंने उस ठग को उपदेश देकर सच्चा सज्जन बना दिया। उसने लूट-पाट त्यागकर भक्तिमार्ग पकड़ लिया।

गुरु नानकदेव ने मरदाना को साथ लेकर दिल्ली, वाराणसी, पटना आदि की यात्राएं कीं। कहा जाता है कि बनारस में उन्होंने कबीर साहेब के दर्शन किये। कुछ लोगों का अनुमान है कि इसके कई वर्षों के पहले पंजाब के किसी जंगल में एक वृद्ध संत से नानक देव का साक्षात्कार हुआ था, वे कबीर साहेब थे। वहीं से उन्हें प्रेरणा मिली थी।

कबीर साहेब का जीवन-काल विक्रम संवत 1456-1575 है, और नानक साहेब का 1526-1596। इस प्रकार नानक साहेब की उम्र जब 49 वर्ष की थी तब कबीर साहेब का देहांत हुआ है। अतएव दोनों के मिलने में सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती है।

कबीर साहेब नानक साहेब के सद्‌गुरु थे, इसका विस्तार से वर्णन कबीर मंसूर के पंद्रहवें अध्याय के पृष्ठ 635 से 638 तथा चौबीसवें अध्याय के पृष्ठ 1350 से 1353 तक है। इसमें देश-विदेश के अनेक इतिहास-वेत्ताओं के उदाहरण दिये गये हैं। इसी का यह परिणाम है कि कबीर साहेब की वाणियों का नानक साहेब की वाणियों पर गहरा प्रभाव है।

कहा जाता है कि नानकदेव ने भारत के अन्य विभिन्न क्षेत्रों में यात्राएं की थीं और भारत के बाहर मक्का भी गये थे। यह कोई संवत 1575 का समय है जिसमें कबीर साहेब ने अपना शरीर छोड़ा है। गुरु नानक जब अन्य हाजियों के साथ मक्का नगर के बाहर पहुंचे और रात में अपना डेरा डाले, तब सोते समय उनके पैर मक्का की तरफ थे। एक मुसलमान ने क्रोधित होकर नानकदेव को डांटा कि तुम कैसे काफिर हो जो ईश्वर की जगह की ओर पैर कर सोते हो। नानकदेव ने कहा कि जिधर ईश्वर की जगह न हो उधर मेरे पैर कर दो। ईश्वर मक्का में नहीं, सबके दिलों में बसता है। कहा जाता है कि वे मक्का से बगदाद भी गये।

गुरु नानक अपनी यात्रा से लौटकर भारत आ गये। परन्तु उनकी यात्राएं भारत में चलती रहीं। वे बहुधा मरदाना को लेकर भ्रमण करते थे। जहां जाते थे, वहां मरदाना रबाब बजाता तथा नानकदेव भजन गाते, कीर्तन करते और आम जनता को धर्मोपदेश करते थे।

जब नानकदेव का शरीर बूढ़ा हो गया, यात्राओं से काफी थक गये, तब वे करतारपुर में आकर विश्राम करने लगे और वहीं भजन-साधन में लीन रहने लगे। इस जगह मरदाना ने अपने भौतिक शरीर का त्याग कर दिया।

गुरु नानक ने इसी करतारपुर गांव में ही जीवन के आखिर तक अपना निवास रखा तथा उन्होंने यहीं अपने मत की गद्दी स्थापित की।

फिरोजपुर जिले के एक अमीर किसान के पुत्र लहपरा जी थे। वे दुर्गा के प्रबल उपासक थे। उन्होंने भाई जोध नामक एक भक्त द्वारा गुरु नानक के महत्त्व को सुनकर उनके दर्शन किये और अंततः उनके चरणों में पूर्ण समर्पित हो गये और दुर्गा की उपासना छोड़कर गुरु-उपासना में लग गये।

6. गद्दीस्थापन और देहत्याग

गुरु नानक ने देखा कि अब शरीर पुराना हो चला है। अपने विचारों के प्रचार के लिए कोई एक उत्तराधिकारी चुनना चाहिए जो गद्दी सम्हाले और उससे भक्त एवं साधु-समाज जुड़कर अपना कल्याण करे। गुरु नानक के बड़े पुत्र श्रीचंद विरक्त होकर धर्मप्रचार कर रहे थे, परन्तु नानकदेव ने उनको गद्दी नहीं दी। उनकी दृष्टि लहपरा जी पर ही पड़ी। उन्होंने एक दिन लहपरा जी को गद्दी पर बैठाकर तथा उनके सामने पांच पैसे और एक नारियल रखकर अपना सिर टेक दिया। इस प्रकार अपने शिष्य को गुरुमर्यादा की गद्दी दे दी और कहा कि अब तुम गुरु अंगद हो गये। अब मैं पंथ-प्रचार का सारा भार तुम्हें सौंपता हूं। गुरु अंगद को आषाढ़ बदी 13, संवत् 1596 तद्नुसार 14 जून, 1539 को गद्दी दी गयी। इसके करीब ढाई महीने के बाद 7 सितम्बर, 1539 ई० को नानकदेव का देहांत हो गया।

7. अंत्येष्टि

कहा जाता है कि जब गुरु नानक के शरीर का अन्त आने लगा, तब उनके हिन्दू तथा मुसलमान भक्तों ने उनके शव का एक दाह करने तथा दूसरे दफनाने के विचार-विमर्श को लेकर आपस में उलझ पड़े। उन्हें गुरुनानक ने समझाया कि तुम लोग झगड़ा मत करो। जब मेरा शरीरांत हो जाये, तब इस शरीर को चादर से ढक देना और हिन्दू तथा मुसलमान मेरे मृत शरीर के दोनों तरफ अपने-अपने फूल रख देंगे। दूसरे दिन जिनके फूल मुरझा जायें वे अपनी हार मान लें और जिनके फूल न मुरझायें वे अपने विधान के अनुसार शरीर की अंत्येष्टि कर लें।

ऐसा ही किया गया। परन्तु दूसरे दिन केवल चद्दर तथा फूल मिले, शरीर गायब था। अत: हिन्दू तथा मुसलमानों ने अपने-अपने फूलों के अपने-अपने अनुसार संस्कार किये।

इस चमत्कारिक घटना की कल्पना कबीर साहेब के मृत शरीर की चमत्कारिक अंत्येष्टि से प्रभावित है। फूल किसी के भी रखे हों, सबके कुम्हलायेंगे और शरीर कहीं उड़कर जा नहीं सकता। कहा जाता है कि गुरु नानक की समाधियां जो हिन्दू और मुसलमानों ने बनायी थीं, उन्हें रावी नदी बहा ले गयी।

8. उनकी शिक्षाएं

गुरु नानक की वाणियों की कुल पद्य संख्या 954 है। उनके हाथों की कोई पांडुलिपि उपलब्ध नहीं है। माना जाता है कि उन्होंने अपनी पांडुलिपि गुरुमुखी लिपि के प्रथम रूप में लिखी होगी जिससे आज की गुरुमुखी काफी बदल गयी है। विद्वानों का मत है कि गुरुमुखी की रचना किसी एक व्यक्ति ने नहीं की है और न किसी समाज ने बैठकर उसका रूप गढ़ा है, किन्तु यह प्रागैतिहासकाल की ब्राह्मीलिपि से बदलकर जनता में धीरे-धीरे आयी है। अत: गुरुमुखी लिपि का श्रेय न गुरुनानक को दिया जा सकता है और न नानकपंथ को।

गुरु नानक का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ जपु जी माना जाता है, जिसमें उनका सम्पूर्ण सिद्धांत है। उनका मुख्य मंत्र है "१ ओंकार सतिनाम करता पुरखु निरभउ निरवैरु अकालमूरति अजूनि सेभं गुरप्रसादि।" इसका सरल अर्थ है—वह एक और ओंकार स्वरूप है, वह सतनाम वाला तथा सृष्टि रचनेवाला कर्तापुरुष है, वह निर्भय, निर्वैर, कालातीत एवं अविनाशी और स्वयंभू है, और गुरु की कृपा से ही उसे पाया जा सकता है।"

गुरु नानक आत्मा से परे ईश्वर को मानकर उसका जप, ध्यान आदि करने का उपदेश देते थे। परन्तु वे यह भी कहते थे कि बिना आत्मा की पहचान किये भ्रम की काई नहीं मिटती।[1] आत्मा तथा परमात्मा एक ही समझे तभी दुविधा दूर होगी।[2]

नानक साहेब के कुछ आत्मज्ञानपरक वचन और लें—

साधो, यह तन मिथ्या जानो।
या भीतर जो राम बसत है, साचो ताहि पिछानो॥

× × ×

---

1. **कह नानक बिनु आपा चीन्हें, मिटै न भ्रम की काई।**
2. **आतमा परमात्मा एको करै। अंतरि की दुबिधा अंतरि मरै।**

नानक परखो आपको, सो पारख जान।
रोग दारू दोनों बूझै, सो बैद सुजान ॥

× × ×

भूल्यो मन माया उरझायो।
जो-जो कर्म कियो लालच लग, तेहि तेहि आप बंधायो ॥ 1 ॥
समझ न परी बिखैरस राच्यो, जस घर को बिसरायो ॥ 2 ॥
संग स्वामी को जान्यो नाहीं, बन खोजन को धायो ॥ 3 ॥
रहत रतन घट ही के भीतर, ताको ज्ञान न पायो ॥ 4 ॥
जन नानक भगवंत भजन बिनु, बिरथा जनम गंवायो ॥ 5 ॥

वे मूर्तिपूजा, अवतारवाद, अंधविश्वासपूर्ण कर्मकांड इन सबका खंडन करते थे। वे मानव-मात्र को एक समझते थे। तात्कालिक हिन्दू-मुसलमानों के विवाद को मिटाने के लिए वे दोनों को फटकारते थे। पंडित और मुल्ला दोनों को पाखंड छोड़कर सत्पथ पर चलने का उपदेश करते थे। वे छुआछूत के खिलाफ थे। देवी-देवता का पाखंड छोड़कर मनुष्य को गुरु तथा संतों का सत्संग करना चाहिए तथा सच्चे पथ का पथिक बनना चाहिए—यह उनका उपदेश था। वे बाह्याडंबर छोड़कर सदाचार पर चलने की राय देते थे।

9. उपसंहार

वे दो संतान पैदा होने तथा नौकरी छोड़ने के बाद विरक्त-जैसे रहते थे। साधु का-सा वेष पहनते थे और स्वयं साधना-भजन करते हुए भारत में घूम-घूमकर उपदेश करते रहे। वे एक महान संत थे, उदार-चिंतक एवं लोकनायक थे। उनका प्रभाव एक व्यापक क्षेत्र पर पड़ा। उनकी वाणियां मानव-समाज के लिए युग-युगांतर तक प्रकाशस्तंभ बनी रहेंगी। उनके बहुत उपदेश एवं विचार संत सम्राट सद्गुरु कबीर जैसे हैं।

16

चैतन्य महाप्रभु

जो विद्या के धनी थे, भक्ति में अत्यन्त भावुक थे और वैराग्य में प्रखर थे; जिन्होंने केवल बंगाल के नदिया जिले में ही भक्ति-वैराग्य की नदी नहीं बहाई, अपितु जिनकी रश्मियां आज विश्व के कोने-कोने में पहुंच रही हैं, उन महाप्रभु गौरांग अर्थात श्री कृष्ण चैतन्य का संक्षिप्त जीवन-चरित यहां मनन करें।

1. समय

भारत के अधिकतम प्रदेशों की तरह बंगाल भी मुसलिम बादशाह के शासन में था। उस समय फारसी राजभाषा थी। बंगाल के अनेक ब्राह्मण भी अपने नाम में खां लगाते थे—रामचंद्र खां, बुद्धिमान खां आदि। सोलहवीं शताब्दी में चैतन्य महाप्रभु का नवद्वीप में जन्म हुआ।

2. जन्म

बंगाल से लगे हुए असम में श्रीहट्ट नाम की जगह से जगन्नाथ मिश्र अपने पिता की आज्ञा से नवद्वीप में आकर पंडित गंगादास जी की पाठशाला में संस्कृत-विद्या का अध्ययन करने लगे। कुछ दिनों के बाद एक पंडित ने जगन्नाथ मिश्र की अपनी 'शची देवी' नाम की लड़की से शादी कर दी। नवद्वीप का मायापुरी एक मुहल्ला था, उसी में पंडित जगन्नाथ मिश्र अपनी पत्नी शची देवी को लेकर रहने लगे।[1]

शची देवी को क्रमशः आठ कन्याएं हुईं और सब मर गयीं। इसके बाद लड़का हुआ जिसका नाम विश्वरूप रखा गया। इसके करीब दस वर्ष बाद एक पुत्र और पैदा हुआ जिसका नाम विश्वम्भर रखा गया। इसी को प्यार से

---

1. **कहा जाता है कि पुराना नवद्वीप करीब पचास किलोमीटर की परिधि में था। जिसमें नव द्वीप थे–अंतद्वीप, सीमंतद्वीप, गोद्रुमद्वीप, मध्यद्वीप, कोलद्वीप, ऋतुद्वीप, अह्नुद्वीप, मोदद्रुमद्वीप और रुद्रद्वीप। (प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, चैतन्य चरितावली, 1/64)**
जहां जगन्नाथ मिश्र रहते थे वह मध्यद्वीप था, परन्तु उसका आज कोई पता नहीं है। यह स्थान गंगा की धारा में विलीन हो चुका है। आजकल गंगा के पूर्व अमेरिका के भक्तों ने बहुत बड़ा आश्रम बना रखा है, परन्तु उसके लिए गंगा का खतरा बना हुआ है।

'निमाई' नाम दिया गया जो आगे चलकर गौरांग महाप्रभु या चैतन्य महाप्रभु नाम से प्रसिद्ध हुआ।

निमाई का जन्म विक्रमी संवत 1542 फाल्गुन पूर्णिमा को बताया जाता है।

निमाई रूप से सुन्दर था और स्वभाव से चंचल। उसका बड़ा भाई विश्वरूप गम्भीर था।

3. बड़े भाई विश्वरूप का वैराग्य

निमाई के बड़े भाई विश्वरूप पंडित अद्वैताचार्य की पाठशाला में पढ़ते थे। उनकी उम्र सोलह वर्ष से ऊपर हो रही थी। उनका मन संसार से उदास रहने लगा। उन्होंने गृहत्याग कर संन्यास लेने का मन बना लिया था। उनके एक मित्र ने जिनका नाम लोकनाथ था विश्वरूप से उनका मनोभाव पूछा। दोनों की बात तय हुई और एक रात गंगा नदी तैरकर दोनों निकल गये। उसके बाद दोनों पुन: नवद्वीप में नहीं आये।

पता चलता है कि विश्वरूप के संन्यास का नाम शंकरारण्य पड़ा, और उनके संन्यास लेने के दो वर्ष बाद लोकनाथ ने शंकरारण्य से ही संन्यास-दीक्षा ग्रहण की। कहा जाता है कि शंकरारण्य का शरीर महाराष्ट्र के पंढरपुर-तीर्थ में छूटा था।

4. पिता पं० जगन्नाथ मिश्र को चिंता

पं० जगन्नाथ मिश्र दोनों प्राणी बड़े पुत्र के गृहत्याग से काफी आहत हुए। बच्चा निमाई भी बंधुवियोग में पीड़ित हुआ। जगन्नाथ मिश्र पंडित तो थे, परन्तु मोहरहित नहीं थे। उन्होंने मोह-वश सोचा कि ज्यादा पढ़ना-लिखना ठीक नहीं है। विश्वरूप शास्त्रों को पढ़ते-लिखते घर ही छोड़ दिया। इस निमाई का भी क्या ठिकाना है। यदि इसने भी ज्यादा पढ़ा-लिखा तो यह भी संन्यासी हो सकता है। अत: उन्होंने निमाई की पढ़ाई छुड़ा दी।

5. निमाई का आग्रह और पढ़ाई

निमाई बहुत चंचल लड़का था। जब पढ़ाई छुड़ा दी गयी, तब इसकी चंचलता अधिक बढ़ गयी। माता ने तंग आकर निमाई को डांटा। निमाई ने कहा कि जब मैं पाठशाला नहीं जाऊंगा तो चुपचाप घर में तो नहीं बैठ सकता। इस दशा में खुराफात सूझेगी ही। माता ने निमाई के पिता से कहा कि निमाई की पढ़ाई छुड़ा देना ठीक नहीं है। नवद्वीप में सैकड़ों विद्वान पंडित हैं, उनमें तो किसी ने भी संन्यास नहीं लिया है। वे सब गृहस्थ हैं। यदि निमाई के भाग्य में संन्यास लिखा होगा तो वह भी होगा, पढ़ाई छुड़ाना गलत है। अंतत: जगन्नाथ मिश्र निमाई को पाठशाला भेजने लगे। नवद्वीप के सबसे श्रेष्ठ पंडित गंगादास

जी के पास निमाई व्याकरण का अध्ययन करने लगे। निमाई की ग्यारह वर्ष की उम्र में पिता जगन्नाथ मिश्र का निधन हो गया।

निमाई चंचल, तेज और प्रखर बुद्धि के थे। उन्होंने व्याकरण, अलंकार तथा न्याय का गहरा अध्ययन किया। वे सोलह वर्ष के हो गये थे। वे छात्रों से शास्त्रार्थ और वाद-विवाद भी किया करते थे। वे अपने सभी सहपाठियों में तेज थे। निमाई के सहपाठी पंडित रघुनाथ 'दीधिति' नाम का ग्रंथ न्याय पर लिख रहे थे, जो आगे चलकर भारत-प्रसिद्ध हुआ।

निमाई भी न्याय पर ग्रन्थ लिख रहे थे। पं० रघुनाथ ने उनसे कहा कि आप अपना ग्रंथ मुझे सुनाइये। दोनों नावका में बैठे जा रहे थे। निमाई अपना ग्रंथ सुनाने लगे। जब उन्होंने उसका काफी हिस्सा सुना दिया, तब पंडित रघुनाथ यह समझकर रोने लगे कि मैं तो समझता था कि मेरा 'दीधिति' ग्रन्थ न्याय में अद्वितीय होगा, परन्तु तुम्हारे ग्रंथ के सामने मेरा ग्रंथ कौन पढ़ेगा।

उक्त बात सुनकर निमाई ने कहा, इसमें कौन बड़ी बात है, मैं अपना ग्रंथ पानी में फेंके देता हूं, और उन्होंने अपनी पांडुलिपि गंगा में फेंक दी। पंडित रघुनाथ निमाई के इस त्याग पर स्तंभित रह गये। इसके साथ निमाई ने न्याय पढ़ना तो छोड़ ही दिया, पाठशाला जाना भी छोड़ दिया। इसके बाद वे घर में रखे हुए शास्त्रों का ही अध्ययन करने लगे।

6. अध्यापक रूप में तथा विवाह

निमाई सोलह वर्ष के थे। उन्होंने एक सज्जन के देव-मंदिर में पाठशाला खोल दी और संस्कृत के छात्रों को पढ़ाने लगे। निमाई एक चंचल पंडित थे। अपने छात्रों से हंसी-मजाक करना, गंगा में साथ-साथ नहाते समय एक दूसरे पर पानी उलीचना, वैष्णवों के तिलक तथा उनकी वैष्णवता पर व्यंग्य, मजाक आदि करना, इसी प्रकार अन्य लोगों से छेड़खानी करना निमाई का स्वभाव था। इसी बीच उनका विवाह भी हो गया।

निमाई के छात्र उनसे बहुत प्रेम करते थे, क्योंकि वे अपने छात्रों को मित्रवत मानकर खूब पढ़ाते थे।

निमाई ने इसी बीच अपने कुछ छात्रों के साथ पूर्व बंगाल की यात्रा एवं भ्रमण भी किया। लौटने पर उनको पता चला कि उनकी पत्नी का देहांत हो गया है।

7. दिग्विजयी पर विजय

दिग्विजयी पंडित केशव काश्मीरी नवद्वीप में उन दिनों पहुंचकर शास्त्रार्थ के लिए पंडितों को ललकार रहे थे। एक दिन निमाई गंगा के किनारे अपने पंडित मित्रों के साथ बैठे थे। दिग्विजयी वहां पहुंच गये। निमाई ने नम्रता के

साथ उनके सामने जो कुछ अपने विचार रखे, उनसे दिग्विजयी पंडित लज्जित होकर उनके सामने विनम्र हो गये। दिग्विजयी पंडित को फिर शास्त्रार्थ के सम्बन्ध में सदा के लिए वैराग्य हो गया।

8. पुनर्विवाह और स्वभाव में बदलाव

माता ने निमाई का दूसरी लड़की से विवाह कर दिया। परन्तु अब उनके स्वभाव में बड़ा परिवर्तन आने लगा। एक दिन जब वे पाठशाला से पढ़ाकर लौटे तो पुस्तकें फेंककर घर में पहुंचे और घर की वस्तुओं को भी तोड़ने-फोड़ने लगे। उनको उन्माद जैसा हो गया। कुछ दिनों के बाद ठीक हो गये।

निमाई अपने कुछ छात्रों के साथ गया तीर्थ गये। लक्ष्य था पिता के नाम से पिंडदान एवं श्राद्ध करना। यहीं पर ईश्वरपुरी नाम के संन्यासी उन्हें मिल गये। उनसे उन्होंने दीक्षा ली। मंत्र मिला 'गोपीजनवल्लभाय नम:'। निमाई कृष्ण-भक्ति में दीवाने हो गये। वे घर लौटकर जब पाठशाला में पढ़ाने बैठे तो छात्रों को व्याकरण, न्याय, अलंकार आदि न पढ़ाकर कृष्ण-भक्ति पढ़ाने लगे। छात्र जब व्याकरण के किसी धातु का रहस्य पूछते, तब निमाई कहते कि कृष्ण ही सभी धातुओं का सार धातु है। छात्र कहते कि गुरु जी, हमें वह पढ़ाइए जिससे हमारा पढ़ना सार्थक हो। निमाई कहते कि कृष्ण-भक्ति ही सार्थक है। पंडित गंगादास जी ने निमाई को समझाया कि तुम छात्रों को व्याकरणादि पढ़ाओ। विद्वान होकर उन्माद की बात मत करो। परन्तु निमाई को कृष्ण-भक्ति का भावोन्माद चढ़ गया था। अंतत: उन्होंने संसारी-विद्या पढ़ाना बंद कर दिया।

9. पंडित अद्वैताचार्य तथा हरिदास

नवद्वीप में एक पंडित अद्वैताचार्य थे, जिन्होंने निमाई के बड़े भाई विश्वरूप को पढ़ाया था। अद्वैताचार्य को काली की पूजा में कटते हुए बकरों को देखकर काली से वितृष्णा थी। वे कहते थे कि मां तो अपने बच्चों को प्यार देती है। यह कौन मां है जो अपने बच्चों को खाती है! अद्वैताचार्य अंतत: निमाई के वैष्णवी-भक्ति मार्ग के पथिक हो गये थे।

हरिदास एक मुसलिम युवक थे। इनका जन्म बंगाल के 'यशोहर' जिले के 'बुड़न' नाम के ग्राम में हुआ था। कहा जाता है कि इस युवक के माता-पिता इसके बचपन में ही मर गये थे, और ये घरबार छोड़कर निरन्तर भक्ति-भावना में लीन रहने लगे। रामचंद खां नाम के एक जमींदार ने ईर्ष्यावश हरिदास को पतित करने के लिए एक युवती वेश्या को भेजा, परन्तु वह उनके सामने असफल होकर उनका भक्त बन गयी। कहा जाता है वह वेश्या अपनी वेश्यावृत्ति छोड़कर त्यागपूर्वक भक्ति में लग गई और बंगाल में हरिदासी नाम से प्रसिद्ध हुई।

हरिदास अद्वैताचार्य की संगत में आये और अद्वैताचार्य ने ब्राह्मण होने पर भी इस मुसलिम नवयुवक को अपने पास रखकर उसे पूर्ण स्नेह दिया और उनसे छुआछूत का कोई भेद-भाव नहीं रखा। बहुत-से ब्राह्मण इस बात को लेकर अद्वैताचार्य को बुरा कहते थे। परन्तु उसके उत्तर में अद्वैताचार्य कहते थे कि हरिदास पर सैकड़ों ब्राह्मण न्यौछावर करने योग्य हैं।

हरिदास को मुसलमानों ने यह जानकर बहुत सताया कि यह मुसलमान होकर हिन्दुओं के भगवान का नाम-कीर्तन करता है। परन्तु हरिदास की दृढ़ता से सब शांत हो गये।

हरिदास को अद्वैताचार्य का परम शंबल मिला ही था, जब निमाई का कीर्तन अभियान चला तो वे इनमें आकर मिल गये और उनके चरणों में समर्पित हो गये और जीवनभर उनके साथ बने रहे। जगन्नाथपुरी में चैतन्य देव के सामने ही हरिदासजी का शरीरांत हुआ।

10. जगाई और मधाई

जगाई और मधाई नाम के दो ब्राह्मण-बंधु थे। दोनों राजा के कोतवाल थे और क्रूर तथा अत्याचारी थे। इन दोनों ने निमाई के कीर्तन अभियान को धक्का देने का प्रयास किया। परन्तु ये निमाई तथा उनके भक्तों के प्रभाव से क्रूरता छोड़कर भक्त हो गये।

11. संन्यास

निमाई के मन में गृहत्याग की भावना प्रबल हो गयी। घर में केवल बूढ़ी माता तथा सुकुमारी नवयुवती पत्नी थी। परन्तु जिसके चित्त में वैराग्य की तीव्र अग्नि प्रदीप्त हो जाती है वह बुझ नहीं सकती। किसी युवक के गृहत्याग से माता-पिता तथा आश्रयीजनों को मोहवश तत्काल अवश्य कष्ट होता है, परन्तु कुछ ही दिनों में वह कष्ट सुख के रूप में बदल जाता है। किसी के बिना किसी का निर्वाह नहीं रुकता। हर प्राणी अपने-अपने प्रारब्ध से खाता-जीता तथा मरता है। अखंड वैराग्य उदय होने पर उसे कोई मोह बांध नहीं सकता, क्योंकि उसके मन में मोह रह ही नहीं जाता। बड़ा काम करने के लिए संकुचित दायरा को छोड़ना ही पड़ता है। संत कुसुमादपि कोमल तथा वज्रादपि कठोर होते हैं अर्थात वे स्वभाव से कोमल होते हैं, परन्तु मोह के प्रति कठोर होते हैं।

निमाई पंडित अपनी चौबीस वर्ष की उम्र में एक रात अपने माने हुए गृह का त्याग कर दिये और उसी गंगा के घाट पर जाकर नदी तैरकर पार गये जिस पर करीब बीस वर्ष पूर्व उनके बड़े भाई विश्वरूप गये थे। 'कटवा' नाम

के एक ग्राम में 'केशव-भारती' नाम के एक संन्यासी निवास करते थे। निमाई ने इन्हीं से संन्यास-दीक्षा ली। संन्यास का नाम पड़ा श्रीकृष्ण चैतन्य। जिन्हें 'चैतन्य' नाम से जगत जानता है। इन्हें चैतन्य महाप्रभु भी कहा जाने लगा।

12. भ्रमण, रूप और सनातन

चैतन्यदेव संन्यास के बाद जगन्नाथधाम गये और भक्तों के साथ वर्षों वहां रह गये। उसके बाद नवद्वीप लौट आये। इसी बीच इन्हें दो ब्राह्मण-बंधु मिले, जो संस्कृत, फारसी तथा अरबी के विद्वान थे। बंगाल के तत्काल मुसलिम बादशाह ने इन दोनों के नाम 'दबिरखास' तथा 'शाकिर मल्लिक' रखे थे। ये ब्राह्मण-बंधु धनी तथा विलासी थे। इन्हें मुसलमानों की संगत से परहेज नहीं था। ये बंगाल के बादशाह के मंत्री थे।

उक्त दोनों ब्राह्मण-बंधुओं का हृदय-परिवर्तन हुआ और वे चैतन्यदेव के शिष्य हो गये। चैतन्यदेव ने इनके नाम 'रूप' और 'सनातन' रखे। सनातन तो इतने महा विरक्त हुए कि अपना राजशाही भोग छोड़कर वृन्दावन के वनों में बीसों वर्ष बिताये। वे एक पेड़ के नीचे भी सदैव नहीं रहते थे। भिक्षा मांगकर भोजन कर लेते, राह-बाट में पड़ी चीधियों की गुदड़ी बनाकर ओढ़ते तथा मिट्टी के करवा में पानी पीते। रूप भी वैराग्यवान हुए।

चैतन्यदेव ने वाराणसी, प्रयाग, वृन्दावन आदि की यात्राएं कीं। प्रयाग में चैतन्यदेव ने मुसलिम पठानों को भी अपना सदुपदेश तथा प्रेम प्रदान किया। चैतन्य जाति-पांति और छुआछूत नहीं मानते थे।

13. वल्लभाचार्य से मिलन

चैतन्यदेव[1] तथा वल्लभाचार्य[2] दोनों का समय एक ही बताया जाता है। श्रीलक्ष्मण भट्ट नाम के एक ब्राह्मण थे जो आंध्रप्रदेश में व्योमस्थंभ-पर्वत के पास कृष्ण नदी तट पर बसे हुए काकरवाड़ नामक नगर के निवासी थे। वे तीर्थ-यात्रा में काशी आ रहे थे। आजकल के छत्तीसगढ़ रायपुर जिले के चंपारन[3] गांव के पास आते-आते उनकी पत्नी को प्रसव-वेदना हुई और वहीं एक बच्चा पैदा हुआ जिसे हम वल्लभाचार्य के नाम से जानते हैं। भट्ट जी वहां कुछ दिन रुककर काशी आ गये। वल्लभाचार्य का जन्म वैशाख कृष्ण एकादशी विक्रमी संवत 1535 को माना जाता है।

---

1. **चैतन्यदेव (विक्रमी 1542-1590)। कुल आयु 48 वर्ष।**
2. **वल्लभाचार्य (विक्रमी 1535-1587)। कुल आयु 52 वर्ष।**

(प्रभुदत्त ब्रह्मचारी : चैतन्यचरितवाली)

3. **चंपारन में आज भी वल्लभाचार्य का मंदिर बना है और यात्रियों के लिए धर्मशालाएं भी बनी हैं। यह स्थान राजिम से उत्तर थोड़ी दूर पर पड़ता है।**

वल्लभाचार्य विद्याभ्यास के बाद देश-भ्रमण करने लगे और कृष्ण-भक्ति का उपदेश करने लगे। वल्लभाचार्य ने अपना विवाह किया। इनके दो पुत्र हुए गोस्वामी गोपीनाथ तथा गोस्वामी बिट्ठलनाथ। इन्हीं की वंश-परम्परा में वल्लभाचार्य का पुष्टिमार्गी कृष्ण-भक्ति का सम्प्रदाय चला। वल्लभाचार्य ज्यादातर गोकुल, अरैल (प्रयाग), चुनार तथा काशी में रहते थे। आपने अरैल में रहकर कई ग्रंथों की रचना की। यहीं पर चैतन्यदेव से आपकी भेंट हुई जब वे प्रयाग में आये थे। कहा जाता है आप दोनों की दो बार भेंट हुई थी। दोनों कृष्ण-भक्त थे। दोनों अपने-अपने ढंग के साधक एवं प्रचारक थे।

वल्लभाचार्य को आगरा के पास गौघाट पर प्रसिद्ध सूरदास जी से भेंट हुई। फिर तो सूरदास वल्लभाचार्य की शरण में हो गये। अंततः वल्लभाचार्य जी काशी में संन्यास धारणकर विरक्त हो गये।

14. छोटे हरिदास को दण्ड

एक तो प्रसिद्ध हरिदास थे जिनकी चर्चा पीछे आयी है। वे मुसलिम परिवार में जन्मे थे। वे तो एक महान संत थे। इनसे हटकर चैतन्यदेव के साथ एक दूसरे हरिदास थे जो उम्र में छोटे थे और ये भी विरक्त थे। जगन्नाथ धाम में उस समय चैतन्यदेव रह रहे थे। छोटे हरिदास ने एक बार स्त्री से संभाषण कर लिया था। निश्चित ही इनमें स्त्री-आसक्ति की दुर्बलता रही होगी और चैतन्यदेव पहले से जानते रहे होंगे। जब उन्होंने सुना कि छोटे हरिदास ने एक स्त्री से संभाषण किया है तो उन्होंने उन्हें सदैव के लिए त्याग दिया। सभी संत-भक्तों ने बड़ा प्रयत्न किया और छोटे हरिदास भी अन्न-जल छोड़कर तीन दिन पड़े रहे कि गुरुदेव मुझे क्षमाकर शरण में लें, परन्तु चैतन्यदेव ने क्षमा नहीं की। सबको महान आश्चर्य हुआ। चैतन्यदेव ने संतों से कहा—"मैं हृदय के मर्म को बताता हूं जिसकी मुनियों ने प्रशंसा की है—विरक्तों को स्त्रियों की संगति नहीं करना चाहिए तथा उनके पास नहीं रहना चाहिए, नहीं रहना चाहिए। क्योंकि ये मृगनयनी स्त्रियां शांति-कवच से ढके हुए बड़े-बड़े सत्पुरुषों के चित्त को भी शीघ्र खींच लेती हैं।"[1]

चैतन्यदेव ने छोटे हरिदास को पुनः अपने साथ नहीं लिया। छोटे हरिदास परोक्ष रूप में चैतन्यदेव की पद-धूलि ले लिया करते थे, परन्तु वे उपेक्षित ही बने रहे। अन्त में उन्होंने प्रयाग में आकर त्रिवेणी की धारा में कूदकर अपना शरीर त्याग दिया।

---

1. **शृणु हृदयरहस्यं यत्प्रशस्तं मुनीनां न खलु न खलु योषित्सन्निधिः संनिधेयः।
हरति हि हरिणाक्षी क्षिप्रमक्षिक्षुरप्रैः पिहितशमतनुत्रं चित्तमप्युत्तमानाम्॥**
(सु० र० भां० 365/72/ चैतन्यचरितावली 5/27)

मनुष्य ने चाहे जितना बड़ा अपराध किया हो, यदि वह अपने अपराध को स्वीकार कर विनम्रतापूर्वक पुनः शरण में आता है और अपने आप को पूर्ण सुधारने की प्रतिज्ञा करता है तो उसे अवसर देना चाहिए। चैतन्यदेव ने इतनी कठोरता क्यों बरती, हम इस पर टिप्पणी नहीं कर सकते, क्योंकि उस स्थिति का पता हमें नहीं है।

छोटे हरिदास के प्रयाग-संगम में डूबकर मरने के बाद चैतन्यदेव से जगन्नाथधाम में किसी भक्त ने पूछा था—प्रभो! छोटा हरिदास कहां है?

चैतन्यदेव ने हंसकर कहा था—कहीं अपना कर्म-फल भोग रहा होगा।

15. निंदक के प्रति क्षमाभाव

चैतन्यदेव के प्रथम दीक्षा गुरु ईश्वरपुरी के एक गुरुभाई रामचंद्रपुरी थे। वे चैतन्यदेव की महिमा सुनकर जगन्नाथपुरी में उनके पास आ गये थे। उस समय चैतन्यदेव जगन्नाथपुरी में ही रहते थे। रामचंद्रपुरी भिक्षा करके भोजन कर लेते थे और जहां-तहां वृक्षों के नीचे रह लेते थे। चैतन्यदेव उनको गुरुवत मानकर उन्हें आदर देते थे। उनके समीप आने पर चैतन्यदेव उठकर खड़े हो जाते थे और उन्हें आसन देते थे।

रामचंद्रपुरी को अपनी तितिक्षा का बड़ा घमंड था और चैतन्यदेव की प्रतिष्ठा के प्रति बड़ी ईर्ष्या थी। वे चैतन्यदेव तथा उनके संत-भक्तों की निंदा में ही सदैव लगे रहते थे। वे चैतन्यदेव के सामने ही एक दिन आकर उन्हें खरी-खोटी सुना गये और उनके खान-पान आदि पर टिप्पणी कर गये।

उस दिन से चैतन्यदेव ने अपना भोजन बहुत कम कर दिया। सभी संत-भक्तों को पता चला। सब रामचंद्रपुरी को कोसने लगे तथा चैतन्यदेव से और अधिक खाने का आग्रह करने लगे। कुछ दिनों के बाद जब राचंद्रपुरी ने भी सुना कि चैतन्यदेव बहुत कम खाने से दुबले होते जा रहे हैं, तब वे पुनः उन्हें डांट-फटकार गये कि तुम बहुत कम खाते हो, यह ठीक नहीं है। मैंने संतुलित खाने के लिए कहा था।

रामचंद्रपुरी अपने आप को बहुत त्यागी मानते थे। चैतन्यदेव तो त्यागी थे ही, परन्तु एक प्रतिभावान पुरुष होने से उनके पास लोगों की भीड़ आती थी और भीड़ के साथ वस्तुएं, खानपान की चीजें आदि भी आती थीं। रामचंद्रपुरी यह सब देखकर जलते थे। वे सोचते थे कि संसार के लोग मूर्ख हैं। वे संत-असंत की परख नहीं कर पाते। मैं त्यागी हूं और लोग मुझे नहीं समझते, और चैतन्यदेव तो राग-ठाट वाले संन्यासी हैं और उनके पास लोग भीड़ लगाये रहते हैं।

रामचंद्रपुरी की कटु आलोचना तथा ईर्ष्या-डाह की प्रवृत्ति से चैतन्यदेव का समाज आजिज आ गया और वह सोचने लगा कि रामचंद्रपुरी जगन्नाथ पुरी से

चले जायें तो अच्छा है। अंतत: रामचंद्रपुरी स्वयं ही वहां से कहीं चले गये। परंतु इन सब स्थितियों में भी जब तक रामचंद्रपुरी वहां रहे, चैतन्यदेव उनको गुरुवत मानकर उन्हें आदर देते रहे और उनकी आलोचनावृत्ति से अपने जीवन-सुधार में सत्प्रेरणा ही लेते रहे।

16. भाव-विह्वलता

चैतन्यदेव प्रकृति से बहुत भावुक थे। उनको मधुर-रस लेकर कृष्ण-भक्ति की प्रेरणा मिली, तो और भावुक हो गये। वे अपने कमरे में पड़े-पड़े कृष्ण-कृष्ण पुकारते थे। कभी-कभी अपने सिर को दीवार तथा पत्थर में मार-मार कर सिर और मुख को रक्त-रंजित कर लेते थे। यह सब करते थे कृष्ण-विरह-व्यथा में। जगन्नाथपुरी में रहते-रहते कभी-कभी समुद्र में इसलिए कूद पड़ते थे कि यह यमुना-नदी है और इसमें भगवान कृष्ण गोपियों को लेकर जल-विहार कर रहे हैं, तो वे उसमें स्वयं भी सम्मिलित होना चाहते थे। वे श्रीकृष्ण के दर्शन करने के लिए हरदम दीवाने बने रहते थे।

इनकी मुख्य आराधना यही थी साथी संत-भक्तों को लेकर कीर्तन करना, उसमें उन्मत्त होकर नाचना, विह्वल होकर गिर पड़ना तथा दूसरे समय भागवत आदि पुराणों से कृष्ण-कथा कहना-सुनना।

चैतन्यदेव के दादागुरु थे माधवेंद्रपुरी। वे स्वयं भावुक थे, कृष्ण-दर्शन के लिए उन्मत्त थे। जब उनका शरीर छूटने लगा, तब वे कृष्ण-दर्शन के लिए छटपटाने लगे और कहने लगे "हे मनमोहन कृष्ण! जीवन बीत गया आपको पुकारते-पुकारते, परन्तु आपने मुझ अधम को दर्शन नहीं दिये। मथुरा आकर भी आपके दर्शन नहीं पाया। मेरी क्या गति होगी नाथ!"

यह दशा देखकर उनके एक शिष्य ने कहा था—"गुरुदेव! आपका हृदय ही मथुरा है, और उसमें आप स्वयं ब्रह्म हैं। आप स्वयं को ब्रह्म अनुभव कीजिए। आप बाहर से श्रीकृष्ण को पाने के लिए क्यों प्रलाप करते हैं, इस मोहयुक्त भावना में क्यों पड़े हैं।"

बाहर से भगवान पाने की और उसमें देहधारी भगवान पाने की इच्छा रखने वाले भक्तों की यही दशा होती है।

चैतन्यदेव निर्मल चित्त के संत थे, भावुक होने से सदैव स्वप्नलोक में ही विचरते रहते थे।

17. अन्तिम यात्रा

महाप्रभु गौरांग श्रीकृष्ण चैतन्य ने सोलह वर्ष की उम्र तक पढ़ाई की। इसके बाद अन्य छात्रों को पढ़ाने लगे। चौबीस वर्ष की उम्र में संन्यास लिया। चौबीस से तीस वर्ष की उम्र तक वे भारत के विविध तीर्थों में भ्रमण करते

रहे। इसके बाद वृंदावन की यात्रा की। वृंदावन से लौटकर तीस से अड़तालीस वर्ष की उम्र तक अठारह वर्ष जगन्नाथ धाम में रहे।

जगन्नाथपुरी में पंडित काशी मिश्र थे, जो उड़ीसा-नरेश के कुलगुरु थे। उनका एक बड़ा भारी मकान था जिसमें तीन परकोटे थे और सैकड़ों लोग उसमें रह सकते थे। चैतन्यदेव इसी भवन में अंत तक रहे। उनके भक्त भी इसी में आकर रहते थे।

चैतन्यदेव के शिष्यों ने, भावुकभक्त होने से, उनके दारुण-दृश्य मृत्यु की चर्चा नहीं की। उनके अनेक साक्षात शिष्यों ने उनके जीवनचरित्र लिखे, परंतु प्राय: उनकी मृत्यु पर परदा डाल दिया। बताया गया कि चैतन्य देव जगन्नाथ मंदिर की मूर्ति में समा गये, इसलिए उनका शरीर नहीं मिला। कहा जाता है कि विक्रमी संवत् 1590 के आषाढ़ महीने में चैतन्यदेव ने अपना शरीर छोड़ा। इस समय उनकी उम्र अड़तालीस वर्ष की थी।

18. छह गोस्वामी

महाप्रभु चैतन्यदेव के छह अनुगामी गोस्वामी बहुत प्रसिद्ध हैं—श्री रूप गोस्वामी, श्री सनातन गोस्वामी, श्री जीव गोस्वामी, श्री रघुनाथ दास गोस्वामी, श्री रघुनाथ भट्ट तथा गोपाल भट्ट। ये सब वृंदावन में ही जीवन बिताये।

रूप और सनातन बंगाल के राजमंत्रित्व तथा बड़े ऐश्वर्य छोड़कर विरक्त हुए थे। चैतन्यदेव ने तो किसी ग्रंथ की रचना नहीं की। रूप तथा सनातन ने ही इनके सिद्धान्तों के आधार ग्रंथ बनाये। जन्म से सनातन बड़े थे, परन्तु रूप अधिक तेजवान थे। रूप गोस्वामी की सोलह रचनाएं तथा सनातन गोस्वामी की चार हैं।

संसार के महापुरुषों के विचारों तथा मतों में अन्तर होता है, परंतु सभी संतों का एक ही उद्देश्य होता है—अपने मन की दावाग्नि को पूर्णतया बुझा देना तथा संसार के मनुष्यों के मन की दावाग्नि बुझाने के लिए ज्ञान, भक्ति, वैराग्य आदि के शीतल-जल की वर्षा करना।

चैतन्यदेव की जलायी हुई ज्योति से असंख्य लोगों ने आज तक लाभ लिया है। इस बीसवीं शताब्दी में उसी ज्योति के सहारे प्रभुपाद जी ने संसार के अनेक देशों में वहां के मूल निवासियों को सदाचार का पाठ पढ़ाकर उन्हें सच्चा मनुष्य बनने के लिए प्रेरित किया। इनका मिशन आज ''हरे राम हरे कृष्ण'' के नाम से जगत में प्रसिद्ध है।

17

राजा राममोहन राय

अंधरूढ़ियों के निर्भीक विरोधी, मानव एकता के पक्षधर, अपने खुले विचारों से योरोप को प्रभावित करने वाले प्रथम भारतीय, सती-प्रथा के नाम से विधवा-देह-दाह होने वाले पाप को कानून द्वारा बंद कराने वाले और कभी भी असत्य के सामने न झुकने वाले राजा राममोहन राय का यहां सरल परिचय देने का प्रयास किया जा रहा है।

1. जन्मभूमि और जन्मकाल

बंगाल में 'राधानगर' नाम का एक गांव है जो पहले बर्दमान जिले में पड़ता था। बाद में इसे हुगली जिले के उपविभाग आरामबाग में सम्मिलित कर लिया गया। इसी 'राधानगर' गांव में राजा राममोहन राय का 22 मई 1772 ई० को जन्म हुआ। राममोहन के पिता का नाम पंडित रमाकांत राय था और माता का नाम फूल ठकुरानी। पिता रमाकांत राय कट्टर रूढ़िवादी ब्राह्मण थे और माता बुद्धिमती तथा दृढ़ संकल्पशक्ति संपन्न महिला।

2. शिक्षा गांव तथा पटना में

फूल ठकुरानी के तीन बच्चे पैदा हुए—राममोहन और जगमोहन दो पुत्र तथा एक पुत्री। राममोहन की प्राथमिक शिक्षा गांव के स्कूल में एक मौलवी द्वारा फारसी के माध्यम से हुई। इसके बाद पंडित रमांकात ने पुत्र राममोहन को उच्च शिक्षा दिलाने के लिए पटना भेज दिया। उस समय पटना इसलामी शिक्षा का केंद्र था। राममोहन ने पटना में अरबी और फारसी का अध्ययन किया। उन्हें कुरान और इसलामी धर्मशास्त्र से परिचय हुआ। उन्हें कुरान के गणतांत्रिक उपदेश तथा अरबी चिंतन के तर्कों ने प्रभावित किया। उन्होंने विवेक का सहारा लिया। उन्हें सत्य के शोधन के लिए वाद-विवाद करना पसंद आया। ज्यादातर मुताजिलों और सूफियों के दर्शन से वे प्रभावित हुए जो बसरा नामक जगह में आठवीं शताब्दी में वाज़िल बी० आटा तथा उमर बी० उबेद से प्रवर्तित हुए थे।

3. क्रांति और निष्कासन

राममोहन राय पटना से अपने गांव-घर आये। उन्होंने हिन्दू समाज में फैले हुए अंधविश्वासों एवं मूर्तिपूजा के विरोध में लेख लिखना शुरू किया। रूढ़िवादी पिता पंडित रमाकांत को पुत्र द्वारा इस ढंग का प्रचार अच्छा न लगा

और उन्होंने पुत्र राममोहन को कड़ी आज्ञा दी कि वे घर से निकल जायें। राममोहन अपने तार्किक सिद्धान्तों में दृढ़ रहे और वे घर त्यागकर यत्र-तत्र भटकने लगे। इसी क्रम में उन्होंने तिब्बत की यात्रा की। तिब्बत में बौद्ध संप्रदाय के लोग अधिक हैं और वहां मूर्तिपूजा का बोलबाला है। राममोहन ने वहां भी मूर्तिपूजा का खंडन किया, इसलिए वहां के बौद्ध लामा लोग उनके शत्रु बन गये। ''उम्र के इसी दौरान के इसी दौर के बारे में उन्होंने अपने 'आटो बायोग्राफिकल स्केच' में लिखा है—''जब मैं सोलह वर्ष का था, हिन्दू समाज में प्रचलित मूर्तिपूजा के औचित्य की ओर इशारा करते हुए मैंने एक पांडुलिपि तैयार की। इस पांडुलिपि और इस विषय की मेरी निजी भावनाओं ने मेरे और मेरे निकट संबंधियों के बीच एक दरार पैदा कर दी। मेरी यात्रा बरकरार रही। कुछ दूसरे देशों में भी गया, लेकिन ज्यादातर भारत की सीमा में ही घूमा।''[1]

4. अध्ययन और अभिव्यक्ति

राममोहन कुछ वर्ष इधर-उधर भटकते रहे। उसके बाद वे वाराणसी गये। वहां पर उन्होंने कई वर्ष रहकर हिन्दू-दर्शन का गहरा अध्ययन किया। 1803 ई० में राममोहन के पिता पंडित रमाकांत का देहांत हो गया। इसके कुछ दिनों के बाद राममोहन मुर्शिदाबाद चले गये जो बंगाल की एक प्रसिद्ध जगह है। यहां रहकर उन्होंने एक निबंध लिखा जिसका नाम था 'तुहफ़ात-उल-मुवाहिदीन'। इसका अर्थ होता है 'एकेश्वरवादियों को उपहार'। यह निबंध फारसी भाषा में लिखा गया था और इसकी भूमिका अरबी भाषा में थी।

''राममोहन राय ने अलौकिक शक्ति और चमत्कार के सिद्धान्त को नकार दिया। उन्होंने लिखा.....आमतौर पर साधारण आदमी एक सनक में काम करता है। अपनी ग्रहणशक्ति से परे जब वह कुछ देखता, सुनता या पाता है, जब उसका कोई कारण उसकी समझ में नहीं आता तब वह अलौकिक शक्ति या चमत्कार की बात करता है। दुनिया में सब कुछ कारण-कार्य के क्रमिक संबंधों में बंधा हुआ है। सारा रहस्य यही है, हर चीज एक कारण और स्थिति पर आधारित है। अगर हम अदना-सी एक चीज को भी लें तो पायेंगे कि प्रकृति की हर चीज पूरे ब्रह्माण्ड से जुड़ी है। लेकिन अनुभव की तलाश और सनक की धुन में कारण छिप जाता है। दूसरा आदमी इस अवसर का फायदा उठाकर अपनी अलौकिक शक्ति दूसरे पर आरोपित करता है। लोग उसकी बातों में आ जाते हैं और वह लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने में सफल हो जाता है।''[2]

---

1. **राजाराममोहन राय, पृष्ठ 10, लेखक सौम्येंद्रनाथ टैगोर, साहित्य अकादमी, दिल्ली।**
2. **राजा राममोहन राय, पृष्ठ 11-12।**

इस प्रकार राममाहेन राय ने चमत्कारों को अस्वीकार कर दिया। वे कहते थे कि विश्व के नियमों का उल्लंघन करने की शक्ति ईश्वर में भी नहीं है और सर्जक भी असंभव वस्तु का सृजन नहीं कर सकता। उन्होंने ईश्वरीय दूत, पैगम्बर तथा अवतार की कल्पना का खंडन किया।

5. नौकरी और अध्ययन

राममोहन राय ने ईस्ट इंडिया कंपनी के राजस्व-विभाग में नौकरी करना शुरू कर दिया। उन्होंने भागलपुर, रामगढ़ तथा अन्य स्थानों में एक विभाग में काम किया। इसके बाद 1809 ई० में वे उत्तर बंगाल स्थित रंगपुर में राजस्व अधिकारी श्री जॉन डिग्बी के सहायक पद पर आसीन हुए। वे 1809 ई० से 1814 ई० तक रंगपुर में सेवारत रहे। वे अपने अवकाश के समय को लोगों से तर्क-वितर्क में बिताते थे। उन्होंने यहीं रहते हुए तंत्र तथा जैन साहित्य का भी अध्ययन किया। वे यूरोप तथा इंग्लैण्ड की राजनीति पर भी सावधानी से अध्ययन करते थे। जॉन डिग्बी साहब इंग्लैण्ड से जितनी पत्र-पत्रिकाएं एवं अखबार मंगाते थे राममोहन राय पढ़ डालते थे। उन्होंने अपनी बाइस वर्ष की उम्र में अंग्रेजी सीखना आरम्भ किया। अंग्रेजी भाषा की पत्र-पत्रिकाओं को पढ़ने से उनका अंग्रेजी-ज्ञान बढ़ता गया। योरोप के उदारतावाद से भी राममोहन राय प्रभावित हुए।

6. नौकरी त्यागकर मिशन की ओर

जब 1814 ई० में जॉन डिग्बी साहब भारत छोड़कर चले गये तब राममोहन राय भी ईस्ट इंडिया कंपनी की नौकरी छोड़कर कलकत्ता में रहने लगे। वे अंधरूढ़ियों, अंधविश्वासों, निरर्थक धार्मिक संस्कारों और हानिकारी रीति-रिवाजों को हटाकर भारतीय-समाज एवं हिन्दू-समाज को स्वस्थ रूप देना चाहते थे। उन्होंने शास्त्रों को अस्वीकारा नहीं, किन्तु उनकी बातों पर विवेक की कसौटी लगाकर गलत को अस्वीकारने तथा सही को स्वीकारने की राय दी। राममोहन राय शास्त्र के इस वचन को बराबर दोहराते रहते थे—"बच्चे की भी तर्कपूर्ण एवं विवेकयुत बातें मान लेना चाहिए और यदि ब्रह्मा भी तर्कहीन बात कहे तो नहीं मानना चाहिए।" उन्होंने लिखा है कि उपनिषदों ने कहीं भी ब्रह्मतत्त्व को अलौकिक नहीं कहा है।

7. आत्मीय सभा की स्थापना और उसका विरोध

राममोहन राय ने 1815 ई० में आत्मीय-सभा की स्थापना की। उन्होंने इस सभा के माध्यम से कुलीनवाद, जातिवाद और लड़की बेचने की प्रथा का विरोध किया। इतना ही नहीं, पिता और पति की संपत्ति में स्त्रियों के अधिकार का समर्थन किया। परन्तु हिन्दू रूढ़िवादियों के पक्षधर 'समाचार चंद्रिका' ने

और एक उपनिवेशवादी अंग्रेज बुल ने राममोहन राय के उदारतावाद का विरोध किया। ये दोनों राममोहन के विरुद्ध खड़े हो गये। रूढ़िवादी हिन्दुओं की धर्मसभा ने भी उनका घोर विरोध किया, इसलिए राममोहन की आत्मीय-सभा बंद हो गयी। झूठ ने कुछ दिनों के लिए सत्य को ढक लिया।

राममोहन राय ने अपनी सफाई दी कि हम हिन्दू धर्म के विरोधी नहीं हैं, किन्तु उसकी त्रुटियों को सुधारना चाहते हैं। उन्होंने शास्त्रों का अनादर कभी नहीं किया, किन्तु उनके कथनों की जांच-परख कर मानने-न-मानने की बात कही। परन्तु कट्टर रूढ़िवादी हिन्दू उनके खून के प्यासे हो गये।

बंगाल में सती-प्रथा जोर पर था। विधवा के धन को हड़पने का यह एक षड्यंत्र था। जब कोई मर जाता तब उसकी पत्नी को विवश किया जाता कि वह मृत पति की लाश के साथ चिता में अपना देह-दाह कर ले। राममोहन राय उसके घोर विरोधी थे। वे प्रयत्न कर रहे थे कि इस क्रूर तथा विवेकहीन प्रथा का कानून बनाकर अंत हो। परंतु रूढ़िवादी हिन्दू अपनी धर्म-सभा नाम की संस्था के माध्यम से राममोहन राय का प्रबल विरोध कर रहे थे। ऐसे विवेकहीन विद्वान अंग्रेज भी थे जो सतीप्रथा के समर्थक थे। उदाहरणार्थ, प्राच्यभाषाविद 'होरेस हाइमन विल्सन' का नाम लिया जा सकता है। वे कह रहे थे कि सतीप्रथा का विरोध करना हिन्दू-धर्म में हस्तक्षेप करना है। रूढ़िवादी हिन्दुओं ने सती-प्रथा अर्थात विधवा-देहदाह को स्थिर रखने की अपील की और कलकत्ता सुप्रीम कोर्ट के वकील फ्रांसिस माथी को अपना वकील निर्धारित किया। माथी महोदय ने कलकत्ता में अपने भाषण में घोषणा की कि आपका प्रतिनिधि बनकर मैं इंग्लैण्ड जा रहा हूं। मैं भरपूर प्रयत्न करूंगा कि सती-प्रथा स्थिर रहे। परंतु प्रतिगामी शक्तियों के इतना उठाव-पटक करने पर भी राममोहन राय के प्रयत्न से सती-प्रथा बनाम विधवा-देह-दाह बंद होने का कानून पास हो गया।

राममोहन राय ने 1815-17 के बीच वेदांत सूत्र, वेदांत सार तथा ईश, कठ, मांडूक्यादि उपनिषदों का बंगला एवं इंगलिश में अनुवाद किया। उन्होंने 1823 ई० में एक निबंध लिखा ''हिन्दू स्त्रियों का अधिकारापहरण''। इसमें उन्होंने सरकार से अपील की कि हिन्दू स्त्रियों को उनके पिता और पति के धन में हिस्सा मिलना चाहिए। उन्होंने 1827 ई० में संस्कृत 'मृत्युंजय' की 'वज्रसूची' का संपादन और प्रकाशन किया। इस ग्रंथ में जातिभेद को दूरकर मानव एकता की बात बतायी गयी है।

8. एक नई संस्था की स्थापना

राममोहन राय ने सन् 1821 ई० में 'यूनिटेरियन ऐसोसिएशन' नाम की संस्था कायम की और उसके आधार से जन-जागरण का प्रयत्न किया गया।

उस संस्था के उद्देश्य और प्रयोजन के संबंध में उन्होंने लिखा—''और इसलिए जो कदम शिक्षा के लाभों को बढ़ावा देने के लिए, अज्ञान-अंधविश्वास, कट्टरता और धर्मांधता दूर करने के लिए, ज्ञान का स्तर उठाने के लिए नैतिकता के सिद्धान्तों के शुद्धिकरण, व्यापक सहिष्णुता और उदारता को बढ़ावा देने के लिए उठाये जायेंगे, सभा के उद्देश्यों की सीमा में होंगे। जन साधारण की परिस्थितियों में सुधार, उपयोगी कलाओं और श्रमशील आदतों को बढ़ावा देकर जन साधारण की सामाजिक और पारिवारिक परिस्थितियों का सुधार इस सभा का प्रयोजन है। अनुभव से यह सिद्ध होता है कि जब मूल प्राकृतिक और सामाजिक आवश्यकताएं ठीक से पूरी होती हैं, तभी बुद्धि, नैतिकता और धर्म के उच्चस्तरीय विकास की आशा की जा सकती है।''[1]

9. इसाई पादरियों से विवाद

उन दिनों बंगाल के सीरामपुर में इसाइयों का बहुत बड़ा प्रचार केन्द्र था। कहा जाता है कि शुरू में बड़े ज्ञानी और दयालु पादरी प्रचार में आये। उनमें 'रेवरेंड विलयन कैरी' का नाम उजागर है। उनका बंगाल कृतज्ञ है। परंतु इसाई धर्म प्रचारकों का मुख्य उद्देश्य था तथाकथित धर्म परिवर्तन जो वस्तुत: संप्रदाय परिवर्तन है। इसलिए वे सांप्रदायिकता के शिकार थे। उनका मुख्य काम था हिन्दू-समाज-विरोधी प्रचार। यह उनका पूर्वग्रह घोर अविवेकपूर्ण था।

राममोहन राय हिन्दू-समाज-विरोधी प्रचार का उत्तर पर्चे तथा पत्रिका निकालकर देने लगे जो बंगला और इंगलिश दोनों में होते थे। राममोहन ने इसाइयों के ''ट्रिनिटेरीयनिज़्म'' अर्थात त्रियेक परमेश्वरवाद की कड़ी आलोचना की जिसमें पिता, पुत्र तथा पवित्र आत्मा का सिद्धान्त माना जाता है। उन्होंने नई बाइबिल में वर्णित ईसा के संबंध में आरोपित चमत्कार का भी खंडन किया। इसको लेकर इसाई क्रुद्ध हो गये। फिर दोनों तरफ में वर्षों पर्चेबाजी चलती रही और पत्र-पत्रिकाओं में उत्तर-प्रत्युत्तर होते रहे। इसाई पादरी राममोहनराय को अभद्र शब्दों से भी लिखते रहे, परंतु राममोहन राय ने सदैव सभ्य एवं गंभीर भाषा-शैली का प्रयोग किया।

इसाई पादरी जब राममोहन राय के तर्कों का सही उत्तर देने में असमर्थ रहे तब उन्होंने गलत शब्दों का प्रयोग किया। यहां तक कि डॉक्टर मार्शमैन ने कहा कि हिन्दू धर्म का मूल 'फ़ादर ऑफ़ लाइज़' है। अर्थात इसकी जड़ असत्य का बाप है। राममोहन राय ने उत्तर में कहा कि हमें धार्मिक बहस करना चाहिए, गाली-गलौज नहीं। उन्होंने लिखा—''हिन्दू धर्म की विश्वव्यापी उदारता, सहिष्णुता और विनम्रता को निभाते हुए मैं किसी भी धर्म का विरोध नहीं कर

---

1. **वही, पृष्ठ 17।**

सकता। इसाई धर्म का विरोध तो दूर की बात है। इस धर्म के अनुयायियों के प्रति मेरा आदर मुझे इस धर्म की कमियों को बेनकाब न करने देता, अगर इसाई लेखकों द्वारा हिन्दू-धर्म पर लगातार कीचड़ उछालने की प्रवृत्ति ने हमें मजबूर न किया होता। मुझे अब भी दोनों धर्मों की तुलनात्मक विशेषताओं का बारीकी से जांच करने में बहुत खुशी होगी, बशर्ते इसाई लेखक इस विवाद को विनम्र और आदरपूर्ण भाषा में जारी रखें, जैसा कि साहित्यिक लोगों और सत्य के अन्वेषियों को शोभा देता है।''[1]

राममोहन राय का इसाई पादरियों से वाद-विवाद के संबंध में उनकी शालीनता की प्रशंसा करते हुए इंडिया गजट के संपादक ने लिखा था कि राममोहन के दिमाग की तीक्ष्णता, उनकी बुद्धि की तर्कशीलता और उनका अद्वितीय स्वभाव प्रकट होता है, जिससे वे शालीनता के साथ तर्क-वितर्क कर सकते हैं।[2]

राममोहन राय सदैव शांत, शालीन रहे और वे वाद-विवाद में सदैव उच्च आदर्श रखते रहे। जब एक बार एक इसाई ने राममोहन को कहा कि बिना मूल बाइबिल पढ़े उन्हें इसके विषय में बहस करने का क्या अधिकार है; तो राममोहन राय उक्त बातें मानकर दो वर्षों तक इस वाद-विवाद से बिलकुल अलग रहे और इसी बीच उन्होंने लैटिन, ग्रीक और हिब्रू भाषाओं का अध्ययन किया। इसके बाद उन्होंने मूल बाइबिल की भाषा हिब्रू में ही उसे पढ़ा और इसाइयों को उत्तर दिया।

इसाइयों के त्रियेक परमेश्वरवाद और ईसा मसीह के प्रायश्चितवाद का उन्होंने विवेकपूर्ण खंडन किया। उनके इस प्रयास से एक बेप्टिस्ट इसाई प्रचारक रेवरेंड विलियम ऐडम ने राममोहन के विचारों को स्वीकार कर इसाई त्रियेक परमेश्वरवाद का खंडन करना शुरू कर दिया। इससे कलकत्ता के इसाई-समाज में हलचल मच गयी। इसाई जनता का उनके लिए इतना घोर विरोध बढ़ गया कि कलकत्ता के समसामयिक विशप ने रेवरेंड विलियम ऐडम पर धर्मद्रोह का आरोप लगाकर उन्हें भारत से इंग्लैण्ड भेजने का निर्णय कर लिया। परन्तु जब उन्होंने इंग्लैण्ड के अटार्नी जनरल से यह जाना कि धर्म की रूढ़ियों को छोड़ देने पर अब किसी को दंड नहीं मिलता, तब वे बहुत हताश हुए।

राममोहन राय द्वारा इसाई संप्रदाय की समीक्षा को लेकर भारत के इसाई भले क्षुब्ध थे, परन्तु जब राममोहन राय के लेख योरोप और अमेरिका में छपे तब वहां के विद्वानों ने उनका आदर किया तथा उनकी प्रशंसा की। राममोहन

1. **वही, पृष्ठ 20।**
2. **वही, पृष्ठ 20।**

राय यही चाहते थे कि इसाई पादरी हिन्दू-समाज पर व्यर्थ कीचड़ न उछालें और नई बाइबिल की चमत्कारी तथा पैगम्बरवादी बकवास को हटाकर उसके नैतिक पक्षों का प्रचार करें जो मानव के लिए कल्याणकारी हैं।

राममोहन राय हिन्दू, इसाई या किसी भी पंरपरा के अंधविश्वास, अंधरूढ़ि, चमत्कार, अवतारवाद, पैगम्बरवाद, अलौकिकता आदि के विरोधी थे।

10. शिक्षा-सुधार

ईस्ट इंडिया कंपनी सरकार ने एक संस्कृत विद्यालय खोलने का निर्णय लिया, जिसमें पंडितों द्वारा संस्कृत व्याकरण और हिन्दू धर्मशास्त्र पढ़ाया जाता। राममोहन राय ने इसका विरोध किया। उन्होंने 11 दिसम्बर, 1823 ई० को गवर्नर जनरल लार्ड एमहर्स्ट को एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने लिखा— ''सरकार एक ऐसा विद्यालय खोल रही है जिसमें हिन्दू पंडित ऐसी शिक्षा देंगे जो यहां पहले से ही प्रचलित है। यह विद्यालय (लार्ड बेकन से पहले योरोपीय विद्यालय की तरह) आज की युवा पीढ़ी को, उनके मस्तिष्क को केवल व्याकरण की सुंदरता और आध्यात्मिक विशेषताओं से लाद देगा। जिनका सामाजिक जीवन में कोई खास उपयोग नहीं है। आज से दो हजार साल पहले का प्रचलित ज्ञान ही यहां का विद्यार्थी सीख पायेगा। इसमें बढ़ोत्तरी सिर्फ इतनी होगी कि इस ज्ञान में अब तक के विचारशील व्यक्तियों द्वारा जोड़ी गयी व्यर्थ की खोखली टिप्पणियां और हो जायेंगी। ऐसा सारे भारतवर्ष में इस समय हो रहा है। अगर इंग्लैण्ड को वास्तविक ज्ञान से अनभिज्ञ रखना होता तो 'बेकोनियन दर्शन' को उस समय की शिक्षा-पद्धति (जो अज्ञान को चिरस्थायी बनाने में पूर्णतया समर्थ थी।) के स्थान पर आने की अनुमति न दी जाती। यदि ब्रितानी विधान की यही पालिसी है कि इस तरह की शिक्षा द्वारा इस देश को अंधकार में रखा जाये, तो संस्कृत शिक्षा-पद्धति इस देश को अंधकर में रखने के लिए उत्तम रहेगी। लेकिन जैसा कि ब्रितानी विकास के लिए सरकार जनता को केन्द्र मानती है, यह बेहतर होगा कि विकसित और प्रबुद्ध शिक्षा-पद्धति को प्रश्रय दिया जाये। इसमें गणित, भौतिक विज्ञान, रसायन शास्त्र और शरीर तथा इसी तरह के अन्य उपयोगी विज्ञान पढ़ाये जा सकते हैं। योरोपीय शिक्षा प्राप्त कुछ प्रबुद्ध व्यक्तियों को इसके लिए नियुक्त किया जा सकता है। उनके लिए एक कॉलेज, जिसमें सभी जरूरी पुस्तकें, अन्य उपकरण तथा वैज्ञानिक यंत्रादि की व्यवस्था हो, खोला जा सकता है।''[1]

राममोहन राय का उपर्युक्त पत्र भारत के धर्माध्यक्ष विशप हेबर ने लार्ड एमहर्स्ट के पास पहुंचा दिया, जे० एच० हैटिसन ने जो जनरल कमेटी ऑफ

---

1. **वही, पृष्ठ 26-27।**

पब्लिक इन्स्ट्रक्शन के सभापति थे, लिखा—'पत्र जवाब देने योग्य नहीं है।'

राममोहन राय की उपर्युक्त अपील बारह वर्ष के बाद नये गवर्नर जनरल ने मैकाले की वकालत से स्वीकार कर पायी। योरोप में चर्च शिक्षा-पद्धति से हटकर वैज्ञानिक शिक्षा-पद्धति के अनुसार वहां के लोग शिक्षित होकर आगे बढ़ रहे थे। राममोहन राय वैसी ही उन्नति भारत में भी देखना चाहते थे। वैसे वे संस्कृत-शिक्षा तथा आध्यात्मिक शिक्षा के विरुद्ध नहीं थे। उन्होंने स्वयं संस्कृत पाठशाला खोलकर उसकी शिक्षा देने का प्रबंध किया था, परन्तु वे भारत में विज्ञान-शिक्षा चाहते थे। राममोहन राय ने स्वयं एक इंगलिश हाईस्कूल खोला और उसके प्रबंधकों में से डेविड हेयर तथा रेवरेंड एडम थे। महर्षि देवेंद्र नाथ ठाकुर इस स्कूल के छात्र थे जो आगे चलकर रवींद्र नाथ टैगोर के जन्मदाता हुए। अन्य पाठशालाओं में विज्ञान की शिक्षा इंगलिश में दी जाती थी, परन्तु इस स्कूल में विज्ञान की शिक्षा बंगला भाषा में दी जाती थी। राममोहन राय ने व्याकरण, भूगोल, रेखागणित और खगोल पर पाठ्य पुस्तकें लिखीं।

11. बंगला गद्य के परिमार्जक

बंगाल बंगला भाषा का केन्द्र है, इसे कौन अस्वीकार सकता है। परंतु राममोहन राय के पहले बंगला संस्कृत भाषा के कठिन शब्दों से भरी रहती थी। जब अंग्रेज कलकत्ता में आये और उन्होंने 'ईस्ट इण्डिया कंपनी' की स्थापना की, उन्हें अपने इसाई संप्रदाय के प्रचार तथा शासन चलाने के लिए बंगला सीखना तथा प्रचारकों को सिखाना था। इसलिए उन्होंने बंगला भाषा का व्याकरण लिखवाया तथा छपवाया। इस तरह ईस्ट इण्डिया कम्पनी सरकार तथा इसाई मिशनरी से बंगला का प्रचार बढ़ने लगा। परंतु बंगालियों के लिए संस्कृत भाषा की जटिलता से हटकर सरल एवं परिमार्जित बंगला का व्याकरण राममोहन राय ने लिखा। उनके ग्रंथ का नाम है गौड़ीय व्याकरण। यह कलकत्ता स्कूल बुक्स सोसायटी के तत्त्वावधान में 1833 ई० में छपा। इसमें ग्यारह अध्याय तथा अड़सठ विषय हैं। राममोहन राय ने 1815 ई० में बंगला गद्य में वेदांत ग्रंथ लिखा था। बंगला गद्य को परिमार्जित रूप देकर उन्होंने बंगला भाषा का सुधार किया। उनसे बल पाकर आगे बंकिमचंद्र चटर्जी तथा रवींद्रनाथ टैगोर ने बंगला भाषा में अनुपम साहित्य लिखे।

बंगला भाषा में ठुमरी, ठप्पा आदि गीत तो प्रचलित थे, परन्तु जिसमें गहराई, सरलता और आकर्षण है वह ध्रुपद-गीत अस्तित्व में नहीं था। यह तब तक केवल हिन्दी में ही चलता था। परंतु राममोहन राय ने पहली बार अपनी ब्रह्म सभा के लिए बंगाल भाषा में बत्तीस ध्रुपद-गीतों की रचना कर उसे दिया।

12. राजनीतिक सुधार का प्रयास

राममोहन राय धार्मिक-सामाजिक सुधार के साथ राजनीतिक सुधार भी चाहते थे। परन्तु उन्हें अपने हिन्दू-समाज के बिखरे हुए रूप का दुख था। उन्होंने सन् 1828 ई० में लिखा "मुझे अफसोस है कि हिन्दुओं का वर्तमान धार्मिक सिद्धान्त राजनीतिक विकास को दृष्टि में रखकर नहीं बनाया गया। जातियों की भिन्नताओं और उनके अनगिनत विभाजन ने उन्हें राजनीति से बिलकुल अलग कर दिया है। धार्मिक विशेषताओं, उत्सवों, शुद्धिकरण के कानून ने उन्हें किसी भी साहसिक कार्य के अयोग्य बना दिया है। इसलिए मैं सोचता हूं कि इनके धर्म में कुछ परिवर्तन आवश्यक है। कम-से-कम राजनीतिक लाभ और सामाजिक चैन की दृष्टि से।"[1]

राममोहन राय सन् 1821-22 में बंगला में 'संवाद कौमुदी' तथा फारसी में "मिरात-उल-अखबार" ये साप्ताहिक पत्र निकाले। उन्होंने 'मिरात-उल-अखबार' में कुछ ऐसे स्वतन्त्र चिंतन के लेख लिखे जिससे ईस्ट इंडिया कम्पनी सरकार के हस्तक्षेप से उसे बंद करना पड़ा। उन्होंने सरकार को अनेक सुझाव दिये थे, जैसे जुडिशियल ऐसेसरों और ज्वांइट जजों के पदों पर भारतीयों को नियुक्त करना, सिविल तथा फौजदारी कानून स्थापित हो, सरकारी खर्चे कम हों, न्याय संबंधी मामलों में प्रबंधक अलग रखे जायें, ग्राम पंचायत को न्याय का अधिकार प्राप्त हो।

वर्षों बाद राममोहन राय की अपीलें फलित होने लगीं। 1842 में 'बंगाली स्पेक्टेटर' ने लिखा "बाद के चार्टर में (1833) जो सुविधाएं हमें मिली हैं उनके लिए हम बड़े पैमाने पर राममोहन राय के ऋणी हैं।" समाचार दर्पण ने लिखा "आज ही नहीं, भविष्य में भी देश को सुविधाएं दिलवाने में वे सहायक होंगे। उन्हें देश का संरक्षक माना जायेगा।"

राममोहन राय ने प्रेस की स्वतन्त्रता के लिए फिरंगी सरकार से जबर्दस्त अपील की थी। उन्होंने इंग्लैण्ड में चल रहे 'रिफॉर्म आंदोलन' का समर्थन किया। जब 1823 ई० में दक्षिण अमेरिका का स्पेनी क्षेत्र स्पेनी तानाशाही से मुक्त हुआ तब राममोहन राय ने मित्रों को भोजन के लिए निमंत्रण दिया। उनके एक अंग्रेज मित्र ने उनकी इस उदारता पर 'एडिन बर्ग' पत्रिका में उनकी प्रशंसा की। पुर्तगाल में संवैधानिक सरकार लागू होने पर वे प्रसन्न हुए। यूनियनों के तुर्कों के विरुद्ध स्वतन्त्र संघर्ष का उन्होंने समर्थन किया। इतना ही नहीं, आयरलैंड पर ब्रिटिश अधिकार का उन्होंने विरोध किया और आयरलैंड के अकालग्रस्त जनता के सहायतार्थ उन्होंने धन भेजा।

---

1. **वही, पृष्ठ 33।**

उन्होंने कहा था कि पूरी मानव जाति एक परिवार है। उसमें अनेक राष्ट्र, जातियां, संप्रदाय आदि शाखा मात्र हैं। उन्होंने अंताराष्ट्रीय एकता तथा देशों के पारस्परिक व्यापार तथा झगड़ों की समस्याओं का समाधान करने के लिए अंताराष्ट्रीय सभा की कल्पना की थी, जो बहुत दिनों के बाद फलित होने लगी। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ के बनने के बहुत पहले उन्होंने इस पर विचार कर लिया था।

13. आर्थिक सुधार का प्रयास

राममोहन राय ने जमींदारों द्वारा होते हुए किसानों के शोषण पर आवाज उठाई। उन्होंने कहा कि किसानों की जमीन पर लगे हुए कर कम किये जायं और इस कमी की पूर्ति विलासी वस्तुओं पर अधिक कर लगाकर किया जाये। उन्होंने कहा कि भारी-भरकम वेतन वाले अंग्रेज अफसरों को इंग्लैण्ड से न लाकर भारतीय शिक्षितों को वह पद दिया जाये जिससे सरकार का खर्च कम हो सकता है।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी नमक की साधारण कीमत को एक हजार प्रतिशत बढ़ाकर बेचती थी। बंगाल में सवा लाख मजदूर नमक बनाते थे, जिनकी दशा गुलामों जैसी थी। इस पूरे व्यापार पर कुछ भारतीय धनियों का कब्जा था। राममोहन राय के अथक परिश्रम से फिरंगी सरकार ने भी उनकी बात मानी और इस तरह का कानून बना कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी का नमक-एकाधिकार समाप्त हो गया।

राममोहन ने भारत से विभिन्न स्रोतों से इंग्लैण्ड जाते हुए धन का विरोध किया। इंग्लैण्ड में स्वतंत्र व्यापारियों और तानाशाह एकाधिकारियों के बीच संघर्ष चल रहा था। राममोहन राय ने स्वतंत्र व्यापारियों का पक्ष लिया और एकाधिकारियों का विरोध किया। इस काम में उन्हें पंडित द्वारिकानाथ टैगोर का सहयोग मिला जो रवींद्रनाथ टैगोर के पितामह थे। वे धनिक, विद्वान तथा उदार थे। मुसलमानी शासन की जड़ता में भारत संसार से अलग-थलग पड़ गया था। इंग्लैण्ड के व्यापारियों ने भारत में उद्योग-धंधे लगाये। जिसका समर्थन राममोहन राय तथा द्वारिकानाथ टैगोर ने किया। इससे यह लाभ हुआ कि जमींदारों के बर्बर व्यवहार से किसानों को अवकाश मिला। सामंती आर्थिक व्यवस्था से बदलकर पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था ने लोगों को राहत दी।

14. ब्रह्मसभा तथा ब्रह्मसमाज

राममोहन राय, द्वारिकानाथ टैगोर, राममोहन राय के ज्येष्ठ पुत्र राधाप्रसाद राय आदि कुछ भारतीय सज्जन तथा कुछ अंग्रेजों ने मिलकर सन् 1827 ई० में कलकत्ता में एक संस्था की स्थापना की थी जिसका नाम था 'यूनिटेरियन ऐसोसिएशन'। यह दो वर्षों में ही बंद हो गयी। इसके बाद अपने सहयोगियों

की राय से राममोहन राय ने ब्रह्मसभा की स्थापना की। इस संस्था के लिए 48 चित्तपुर रोड पर एक मकान किराये पर लिया गया। संस्था का उद्घाटन 20 अगस्त, 1828 ई० को हुआ। 1830 ई० में इसके लिए अपना भवन मिल गया। यह संस्था ईश-प्रार्थना और हर तरह से उदार विचारों के लोगों का संगम बना। यहां हर संप्रदाय के लोग एक साथ मिल सकते थे। इस ब्रह्मसभा को आगे चलकर ब्रह्मसमाज कहा जाने लगा।

उक्त संस्था के विरोध में रूढ़िवादी हिन्दुओं की एक संस्था स्थापित हुई इसका नाम था 'धर्मसभा' और इसके अध्यक्ष थे श्री राधाकांत देव।

15. इंग्लैण्ड प्रस्थान

राममोहन राय के इंग्लैण्ड जाने के तीन कारण थे। दिल्ली के बादशाह अकबर द्वितीय की ओर से ग्रेट ब्रिटेन के सम्राट को स्मरण-पत्र समर्पित करना, भारत में सती-प्रथा को समाप्त करने के लिए 'हाउस ऑफ कामंस' को स्मरण-लेख देना और हाउस ऑफ कामंस में ईस्ट इंडिया कंपनी के चार्टर के नवीनीकरण पर होने वाली बहस के समय वहां उपस्थित रहने की आवश्यकता।

राममोहन राय 15 नवम्बर, 1830 ई० को एलबियन नामक जल-जहाज पर चलकर 8 अप्रैल, 1831 ई० में इंग्लैण्ड पहुंचे। उनको यात्रा में 145 दिन लगे। उनके पहुंचने के बहुत पहले से उनकी इंग्लैण्ड में प्रसिद्धि हो गयी थी। जब उन्होंने 1816 ई० में वेदान्त पर एक किताब अंग्रेजी में लिखकर प्रकाशित की थी जिसका नाम था 'एन एब्रिज़मेंट ऑफ वेदान्त' तो उसकी विस्तृत आलोचना इंग्लैण्ड के मासिक पत्र 'मंथली रिपोजिटरी ऑफ थियोलाजी एण्ड जनरल लिट्रेचर' में प्रकाशित हुई थी। प्रसिद्ध इतिहासकार 'विलियम रस्को' ने जो वर्षों से पक्षाघात से बिस्तर पर पड़े थे, अपने पुत्र द्वारा राममोहन राय को अपने घर बुलवाकर उनसे भेंट की तथा उनका बड़े आदर से स्वागत किया था। ब्रितानिया के महान दार्शनिक जेर्मी बेंथम उनसे मिलने आये। उन्होंने राममोहन राय को बहुत प्रशंसित और मानवता की सेवा में संलग्न महान प्रेमी लिखा।

राममोहन राय जब इंग्लैण्ड पहुंचे तब उन्होंने पहला काम दिल्ली के बादशाह अकबर द्वितीय का किया। उनकी कुछ मांगें पूरी हुईं और 13 फरवरी, 1833 ई० को दिल्ली बादशाह की आमदनी तीन लाख रुपये बढ़ा दी गयी।

ब्रिटिश-शासन ने राममोहन राय को दिल्ली-बादशाह का विशेष प्रतिनिधि मानकर उन्हें राजा की उपाधि दी। तब से राममोहन राय को 'राजा राममोहन राय' लिखा और कहा जाने लगा। राजा राममोहन राय का सम्मान करते हुए

ब्रिटिश-शासन ने उन्हें 7 सितंबर, 1831 ई० को सेंट जेम्स पैलेस में विलियम चतुर्थ से भेंट करने की अनुमति दी, लंदन ब्रिज के उद्‌घाटन के अवसर पर उनको भोज का निमंत्रण दिया। उनके सम्मान में लंदन में कई गोष्ठियां हुईं जिनमें जेर्मी बेंथम जैसे प्रसिद्ध लोग भी आये। राजा राममोहन राय के उदार और सार्वभौमिक विचारों तथा सेवाओं के कारण लंदन के बड़े-बड़े लोगों ने उनकी प्रशंसा की।

16. अंतिम यात्रा

राजा राममोहन राय का शरीर सुदृढ़ था। परन्तु अधिक मेहनत और आर्थिक चिंता से वे कमजोर हो गये। आर्थिक-संकट का कारण था उनके द्वारा कलकत्ता तथा लंदन में चलायी जाने वाली कंपनियों का फेल हो जाना। कैसी विडम्बना है, जब उनको राजा की उपाधि मिली तब उनके ऊपर आर्थिक संकट आया।

मित्रों की राय से वे स्वास्थ्य-लाभ के लिए लंदन छोड़कर ब्रिस्टल आ गये। वहां उनके लिए सब प्रकार से आराम की व्यवस्था हुई। परंतु वे 19 सितंबर को एकाएक अस्वस्थ हो गये। उनको तीव्र ज्वर तथा सिरदर्द हो गया। उनके स्वास्थ्य की दशा बिगड़ती गयी। डेविड हेयर की बहिन मिस हेयर ने उनकी काफी सेवा की। अनेक डॉक्टर उनकी देखभाल करते रहे। परन्तु मौत की कोई दवा नहीं होती। अंतत: राजा राममोहन राय ने 27 सितंबर, 1833 ई० को अपनी इकसठ (61) वर्ष की उम्र में शरीर छोड़ दिया।

उनके चिकित्सक डॉक्टर एस्टलीन उनके कक्ष में थे। उन्होंने उनकी अंतिम यात्रा के विषय में लिखा है—खूबसूरत चांदनी रात थी। खिड़की की ओर मैं, श्री हेयर और मिस हेयर गांव की शांत आधी रात का नजारा देख रहे थे। दूसरी तरफ वह अजीब ढंग से आखिरी सांस ले रहे थे। इसे मैं भूल नहीं सकता। मिस हेयर को अब कोई आशा न थी। वे राजा के पास जाने का साहस भी गंवा चुकी थीं। पास ही पड़ी एक कुर्सी पर सिसक रही थीं। ढाई बजे श्री हेयर ने मेरे कमरे में आकर दुखद समाचार सुनाया। सवा दो बजे उन्होंने अंतिम सांस ली। और मिस कलेक्ट ने लिखा मरते समय उनके होठों पर सिर्फ एक शब्द था—ओम्। इससे यही लगता है कि मौत के अकेलेपन और जिंदगी की भीड़ में भी उनकी आत्मा का जाप ही मुख-धर्म था।''[1]

18 अक्टूबर, 1833 ई० को उनके शव को स्टेप्लटन ग्रोव में दफना दिया गया। जब 1842 ई० में राजा राममोहन राय के अनुयायी देवेन्द्रनाथ टैगोर इंग्लैण्ड पहुंचे तो उन्होंने उनके ताबूत को स्टेप्लटन ग्रोव से निकलवाकर

---

1. **वही, पृष्ठ 52-53।**

आर्नोसवेल में गड़वा दिया और 1844 ई० में भारतीय रीति से स्मारक-भवन बनवा दिया गया।

17. उपसंहार

राजा राममोहन राय स्वतंत्रचेता पुरुष थे। वे जातिवाद से हटकर मानवता के समर्थक थे। वे अंधविश्वास से समाज को उबारकर ज्ञान के आलोक में लाना चाहते थे। वे बहुदेववाद, अवतारवाद, पैगंबरवाद से हटकर एक ईश्वर को महत्त्व देते थे, जो उस समय के लिए बहुत बड़ी क्रांति थी। उन्होंने विधवाओं के देहदाह को, जिसका नाम सती होना था, अपने अटूट परिश्रम से रोकवाया और उसके लिए उन्होंने फिरंगी-सरकार से 4 दिसम्बर, 1829 ई० में कानून पास करवा लिया।

वे हिन्दू समाज को अंधरूढ़ियों और अंधविश्वासों तथा जाति-पांति के कीचड़ से निकालकर उसे स्वस्थ रूप देना चाहते थे। वे इसाई मिशनरियों की आलोचना से हिन्दू समाज को बचाने के लिए हिन्दू-समाज के दोषों को सद्गुण बताने वाले नहीं थे। वे हिन्दू तथा अहिन्दू सबकी अंधरूढ़ियों के निर्भीक आलोचक थे। उनके खरे विचारों से चिढ़कर उनके पिता से लेकर तिब्बती बौद्ध लामा तथा भारत के रूढ़िवादी पंडित और इसाई पादरी आदि सब उनसे नाराज थे। उन्होंने जीवनपर्यंत अपने संयम और गरिमा से सदैव सबकी अंधरूढ़ियों की बखिया उधेड़ी। मानो वे संत कबीर के ही कुछ काम कर रहे थे।

वे भारतीयता के पक्षधर तथा घोर आध्यात्मिक होकर भी योरोपीय खुलेपन तथा विज्ञान के समर्थक थे। वे चाहते थे कि हिन्दू समाज अपनी डिबिया में सिमिटकर न रहे, किन्तु संसार के अन्य संस्कृति-सभ्यताओं से सामंजस्य कर अपना ज्ञान तथा हर विकास का क्षेत्र बढ़ाये।

राजा राममोहन राय भारत के नभ पर एक जाज्वल्यमान तारे के रूप में उभरे, परंतु खेद है कि भारत के लोगों ने उनके महत्त्व को जितना समझना चाहिए उसका शतांश भी नहीं समझा। संतोष यही है कि भले ही उनका ब्रह्मसमाज आज निस्तेज पड़ा है और कलकत्ता में भी उसकी कहीं कोई आवाज नहीं सुनाई दे रही है, परन्तु उनके उद्देश्य आज भारत में चारों तरफ मुखरित हो रहे हैं। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और अंताराष्ट्र का कल्याण अंधविश्वास से हटकर सच्चे ज्ञान, मानवीय एकता और विश्वबंधुत्व में ही है, जिसके वे जीवनभर पोषक थे।

उनकी रचनाएं बंगला और इंगलिश में उनके नाम से 'ग्रंथावली' तथा 'द इंगलिश वर्क्स' नाम से प्रकाशित हैं।

18
अब्राहम लिंकन

जो अत्यन्त गरीबी में पला, जिसकी शिक्षा की कोई समुचित व्यवस्था न हो सकी, जो गरीबों का पक्षधर, विरोधियों पर भी विश्वास और प्रेम करने वाला, जिसने स्वयं गोरा होकर काले नीग्रो को गुलामी से मुक्ति दिलाने में अपनी जान खो दी, और वर्तमान अमेरिका को इतनी सुदृढ़ स्थिति में पहुंचाया, उस महान मानवता के मसीहा अब्राहम लिंकन के जीवन की झलक यहां देखें।

1. लिंकन के माता-पिता

'नेंसी हेंक्स' नाम की एक अच्छे स्वभाव की सुंदरी लड़की थी। थोड़ी उम्र में उसका हैनरी स्पेरो नामक व्यक्ति से विवाह हो गया, किंतु कुछ काल में वह रिश्ता टूट गया। नेंसी वर्जीनिया के चाय बागान के मालिक के संपर्क में आकर उससे गर्भवती हो गयी। इसी दशा में नेंसी ने थॉमस लिंकन से विवाह कर लिया। आगे चलकर नेंसी से जो बालक पैदा हुआ उसका नाम अब्राहम लिंकन पड़ा। इस प्रकार अब्राहम लिंकन की माता का नाम नेंसी हेंक्स था और उसका पिता वर्जीनिया के चाय बागान का मालिक था, परंतु उससे अब्राहम लिंकन का सामना जीवन में कभी नहीं हुआ। अब्राहम को जो प्रसिद्ध पिता के रूप में मिले वे थॉमस लिंकन थे।

2. दारिद्र्य

थॉमस लिंकन कुल्हाड़ी से लकड़ी चीरकर बाजार में बेचते थे और कभी-कभी उनको लकड़ी चीरने के लिए कोई मजदूरी पर बुला लेता था। कुल मिलाकर कुल्हाड़ी से लकड़ी चीरना उनका पेशा था। इसमें आमदनी बहुत कम थी और परिवार में नौ सदस्य थे। उनके भोजन-वस्त्र का इंतजाम करना कठिन होता था। अब्राहम लिंकन जिस कमरे में जन्मे थे वह 16×18 फीट मिट्टी की फर्श का था। उसमें ही एक मिट्टी की चिमनी थी जिससे रसोई पकाने का धुआं बाहर निकलता था। नौ सदस्यों का परिवार इसी एक कमरे में रहता था।

थॉमस लिंकन द्वारा नेंसी हेंक्स से तीन बच्चे और पैदा हुए। इस प्रकार अब्राहम लिंकन चार भाई-बहन थे। थॉमस लिंकन और नेंसी हेंक्स दोनों अब्राहम लिंकन को प्यार से 'एबी' कहकर पुकारते थे।

संयुक्त राज्य अमेरिका होजिनविली के पास 'केंटुकी' नामक स्थान में 12 फरवरी, 1809 ई० में अब्राहम लिंकन का जन्म हुआ था। अब्राहम लिंकन छह वर्ष के हुए तब उन्हें केंटुकी की प्राथमिक शाला में पढ़ने के लिए प्रवेश कराया गया। वे एक वर्ष तक इस पाठशाला में पढ़ते रहे। गरीबी के कारण उन्हें ठीक कपड़े और जूते नहीं मिलते थे। अपने साथ के सजे-धजे बच्चों को देखकर अब्राहम हीनभावना से भर जाते थे। किंतु अब्राहम लिंकन पढ़ने-लिखने में तीव्र थे और उनकी लिखावट सुंदर होती थी। उनकी दृष्टि तीव्र थी। उनकी अभिव्यक्ति-शक्ति भी तीव्र थी। 'एबी' खेलता भी अच्छा था। मित्र बनाने में भी कुशल था। उसकी व्यवहार कुशलता अन्य बच्चों को आकर्षित करती थी। वह बच्चों को प्यार तथा आत्मीयता देता था। अतएव एबी सबका प्यारा रहता था।

काम-धन्धे को लेकर थॉमस लिंकन अपना परिवार लेकर केंटुकी को छोड़कर स्पेंसर काउंटी आ गये। इस समय एबी की उम्र सात वर्ष की थी। परिवार का निर्वाह होना कठिन हो गया था। इसलिए थॉमस लिंकन ने सात वर्ष के एबी की पढ़ाई छुड़ाकर उसके हाथ में कुल्हाड़ी पकड़ा दी और उसे अपने साथ लकड़ी काटने-चीरने के काम में लगा लिया।

लेकिन एबी सबेरे जल्दी नित्यक्रिया से निपटकर बाइबिल, कहानियां, यात्रावृत्तांत, अमेरिका के महान नेता तथा राष्ट्रपति वाशिंगटन की जीवनी पढ़ता और शाम लकड़ी चीरने का काम निपटाकर बच्चों के साथ खेलने के लिए भाग जाता।

3. माता की मृत्यु

नेंसी हेंक्स व्यवहार कुशल और सहृदय थी। वह बच्चों और पति से सुंदर और प्रेम का बरताव करती थी, परंतु दुर्भाग्य यह कि जब एबी नौ वर्ष का था तभी नेंसी हेंक्स की मृत्यु हो गयी। एबी (अब्राहम लिंकन) को सम्बन्धियों से अपने बालपन में ही पता लग गया था कि जिसके पास वह रहता है वह उसका जन्मदाता पिता नहीं है। इससे एबी के मन में एक विभाजक रेखा उभर आयी थी, परंतु वह माता नेंसी और पोषक पिता थॉमस लिंकन से भरपूर प्यार पाता था। अतएव माता के मरने पर नौ वर्ष का एबी अपने को अनाथ अनुभव करने लगा और वह बार-बार मां के मोह में रो पड़ता था। उसने आगे चलकर अपनी मां के प्रति कहा था—मैं जो कुछ आज हूं, सब मां का प्रताप है।

4. सौतेली मां

थॉमस लिंकन अपने छोटे बच्चों को दारिद्र्य दशा में पाल नहीं सकता था। अतएव उसने साराह जोंस्टन नाम की स्त्री से विवाह कर लिया। साराह जोंस्टन को पहले पति से तीन बच्चे थे। वे भी साथ में थे। एबी की सौतेली मां अब

साराह जोंस्टन थीं। साराह जोंस्टन ने जब थॉमस लिंकन से विवाह किया तब वह साराह लिंकन कहलाने लगी। सौतेली मां के घर में आने से एबी और सिमिट कर रहने लगा। एबी पिता के साथ लकड़ी चीरता और सुबह-शाम समय निकालकर बाइबिल आदि पुस्तकें पढ़ लेता और बच्चों के साथ खेल लेता।

घर में एबी ही बड़ा बच्चा था। साराह लिंकन एबी के मन का अध्ययन करने लगी और उसे एबी को संभालने की चिंता सताने लगी।

एक दिन एबी शाम को खेलकर घर में आया, पानी पिया और घर के पिछवाड़े जाकर घुटनों पर मुख रखकर रोने लगा। साराह लिंकन एबी के पीछे पहुंच गयी और उसे रोते पाया। साराह ने एबी के मुंह को उठाकर उसे अपनी गोद में चिपका लिया और कहा कि बेटा! तुम परिवार के बड़े बच्चे हो और तुम ही जब इस तरह रोओगे तब तुम्हारे अन्य भाई-बहन की क्या दशा होगी?

एबी ने कहा कि मुझे मां की याद आकर रुलाई आती है। साराह ने कहा कि अब तो वह लौट नहीं सकती। आज से मैं तुम्हारी मां हूं और दुख बंटाने वाली मित्र भी हूं। तुम आज से अपनी हर पीड़ा मुझसे अवश्य बताओ। मैं तुम्हारी हर पीड़ा को मिटाने का प्रयत्न करूंगी। मैं तुम्हें दुखी नहीं रहने दूंगी। सौतेली मां से एबी इतना प्यार पाकर भावविभोर हो गया और उसके सीने से चिपककर देर तक रोता रहा।

सौतेली मां से सगी मां जैसा प्यार पाकर एबी आश्वस्त हो गया और अपनी मां के वियोग का दुख भूलने लगा।

साराह लिंकन शिक्षित और सुसंस्कृत महिला थी। उसने एबी को स्कूली शिक्षा में लगा दिया। अब तक एबी सात स्कूल छोड़ चुका था। जीवन की समस्या से उसे हर स्कूल छोड़ना पड़ा था।

5. इंडियाना प्रवास

थॉमस लिंकन स्पेंसर काउंटी भी छोड़कर परिवार सहित इंडियाना चले गये और वहां पर वे खेती का काम करने लगे। वे 1830 ई० तक इंडियाना में रहे। एबी की उम्र अब इक्कीस (21) वर्ष की हो गयी थी और वह लकड़ी चीरने का काम करते हुए पढ़ाई भी करता रहा। सन 1830 में ही थॉमस लिंकन अपनी पूरी जमीन 125 डॉलर में बेचकर इलिनाइस नामक प्रदेश में चले गये।

6. एबी (अब्राहम लिंकन) का पथ-परिवर्तन

अब्राहम लिंकन यहां से अपने पिता का साथ छोड़कर और अपने सौतेले भाई जॉन हेंस्टन तथा चचेरे भाई जॉन हेंक्स के साथ न्यू आरलीन्स चले गये।

परंतु वे वहां भी नहीं रहे, अपितु ऑफट नामक व्यक्ति के साथ न्यू सलेम नाम के एक छोटे गांव में जाकर रहने लगे। एक वर्ष तक अब्राहम लिंकन भटकते रहे। सन 1831 ई० तक अब्राहम लिंकन छह फुट चार इंच का लंबा युवक हो गया।

अब्राहम लिंकन युवक थे, चुलबुले थे, मित्रों को चुटकुले सुनाने में प्रवीण थे। उनको देखकर लोग बोल पड़ते थे—''लंबू! चुटकुले सुनाओगे?'' फिर उनके चुटकुले शुरू हो जाते थे। उन्हें सुनते-सुनते लोग हंसते-हंसते भावविभोर हो जाते थे। अब्राहम लिंकन अपनी व्यवहार कुशलता से लोगों में प्रिय हो गये थे। उन्हें लोग प्यार से 'नॉटी बॉय' कहते थे। साथ-साथ उनके लेख प्रभावशाली हो गये थे। उनके लेखों के विषय में वहां कहावत चल पड़ी थी—Abraham Lincoln his hand and pen! He well be good but God knows when—लिंकन के हाथ और उनकी कलम! सचमुच वह अच्छा लिखेंगे पर भगवान जाने कब!

7. मई 1831 ई० की एक घटना

बाइस वर्ष के युवक लिंकन एक बार मित्रों के साथ न्यू ओरिलयंस शहर गये। वहां उन्होंने पहली बार गुलाम-प्रथा का वीभत्स रूप देखा—गोरे उन काले नीग्रो को जिनके प्रति भागने का डर होता था, लोहे की जंजीर में बांधकर रखते थे। उन्हें कोड़े लगाते थे, भूखे रखते थे। नीग्रो सब अपमान सहनकर उनके काम करते थे।

लिंकन ने बाजार में बिकती हुई एक नीग्रो युवती को देखा। उसे ऊंची जगह पर खड़ी कर दिया गया था, जिससे उसे लोग देख सकें। उसका मालिक गोरा उस काली युवती के अंगों पर हाथ फेरता जाता, उसके अंगों को उभारता जाता और उसकी बनावट की प्रशंसा करता जाता। वह उस युवती को धीरे-धीरे चलाता जिससे खरीदने वाले उसकी कीमत समझ सकें। जैसे पशु को खरीदते-बेचते समय उसकी परख की जाती है वैसे उसकी कीमत की परख की जाती थी।

इस दृश्य को देखकर युवा लिंकन सन्न रह गये। उनका मन कराह उठा। वे चुप रहे। उसी समय से उनका मन इस घृणित व्यवस्था के प्रति विद्रोही हो गया। उन्होंने अपने मित्रों से कहा—हे प्रभु! चलो, हम यहां से निकल भागें। यदि जीवन में कभी इस गुलाम प्रथा को बंद किया जा सके तो मैं इसे बंद कराने में पीछे नहीं हटूंगा।

सन 1865 ई० का ऐसा समय आया कि इसी महापुरुष ने घोर पाप गुलाम-प्रथा को बंद करवा दिया।

8. सूरज उगने लगा

अब्राहम लिंकन जिसके लिए अमर वंदनीय हैं, वह घटना उनके बाइस-तेइस वर्ष की उम्र में घटने लगी। वे जबसे होश सम्हाले तब से देखते थे कि अमेरिका में गुलाम-प्रथा है। अमेरिका के मूल निवासी जो काले होते हैं और जिन्हें रेड इंडियन कहा जाता है और ब्रिटेन के अंग्रेजों द्वारा अफ्रीका से लाये गये, चालीस लाख नीग्रो, वे भी काले होते हैं, उन्हें गुलाम बनाकर रखा जाता था।

अंग्रेज लोग दक्षिणी अमेरिका के जंगलों को कटवाकर इन्हीं काले लोगों से खेती करवाते थे। इन्हें समय पर बेचते थे, पुरस्कार में देते थे और इनके साथ घोर अत्याचार करते थे। नीग्रो और रेड इंडियनों पर गोरों का अत्याचार देखकर युवक अब्राहम लिंकन का हृदय विदीर्ण हो जाता था। उनके मन में यह बात बराबर उठने लगी कि इस अत्याचार को समाप्त करने के लिए कुछ करना चाहिए और पूरे अमेरिका में गुलाम-प्रथा समाप्त होना चाहिए। अब्राहम लिंकन का यह अमर वाक्य है—If the Negro is a man, why then my ancient faith teaches me that "All Men Are Equal" and that there can be no moral right in connection with one man's making a slave of another. अर्थात यदि नीग्रो मनुष्य हैं, तो मेरा प्राचीन विश्वास मुझे शिक्षा देता है कि सभी मनुष्य मूलत: एक समान हैं, अतएव नैतिक विधान मुझे यह आदेश नहीं देते हैं कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को गुलाम बनाये।

अभी तक अब्राहम लिंकन लकड़ी चीरकर अपना गुजर करते थे। न्यू सलेम गांव में इस बात के लिए वे प्रसिद्ध हो चुके थे कि वे गांव में सबसे लंबे हैं और हंसमुख तथा व्यवहारकुशल हैं। वे इस गांव में जिसके सहारे से आये थे वह ऑफेट नाम का व्यक्ति था। उसका इस गांव में एक स्टोर था। उसकी कमाई अच्छी थी। उसने एक दिन अब्राहम लिंकन से कहा—मित्र एबी, तुम लकड़ी चीरने के चक्कर में कब तक रहोगे? तुम अच्छे शिक्षित युवक हो। तुम्हारे पास डिग्री नहीं है, परंतु अच्छा दिमाग है। तुम्हारी जनसंपर्क-कला भी अच्छी है। तुम्हारे में नेता के गुण हैं।

उक्त बातें सुनकर अब्राहम लिंकन भड़क उठे। उन्होंने कहा—मित्र! तुम क्या बात करते हो? इन राजनीतिक नेताओं से तो मुझे घृणा है। इन नेताओं को मैं देखता हूं कि ये जनता को आपस में लड़ाते हैं और देश को दुर्बल बनाते हैं। जो अमेरिका के मूल निवासी हैं उन रेड इंडियनों या अश्वेत अफ्रीकियों को मार-पीटकर गुलाम बनाते हैं। उन्हें बाजारों में बेचते हैं, रिश्तेदारों को गिफ्ट रूप में देते हैं। उन्हें जड़ वस्तु की तरह ये बेचते हैं और पीटते हैं। जो लोग इस विपत्ति से बचना चाहते हैं, वे जंगलों में मारे-मारे फिरते हैं।

ऑफेट ने कहा—एबी मित्र! यही तो तेरे में नेता बनने के गुण हैं। तू जिस तरह गुलामों की और उनको चूसनेवाले नेताओं की सच्चाई समझता है और साथ-साथ उन पीड़ितों के प्रति तेरे मन में करुणा है, यही अच्छे नेता के लक्षण हैं। हृदयहीन नेता तो बहुत हैं, जिनका उद्देश्य है कुर्सी पाना और उसमें चिपके रहना और बड़े नेताओं की चापलूसी करना। उनको न जनता के दुख-दर्द से मतलब है न उनके निवारण की चिंता से।

ऑफेट ने कहा—मैं अपने स्टोर में तुम्हें नौकरी देता हूं। एबी मित्र! लकड़ी चीरना बंद करो। मेरे स्टोर का हिसाब-किताब देखो। मैं तुम्हें पंद्रह डालर मासिक दूंगा। साथ-साथ तुम कानून की किताबें पढ़ो; क्योंकि नेता बनने के लिए कानून जानना जरूरी है। जब पांच फुट ऊंचा लड़का 'डगलस' राजनीति में उतर सकता है तब साढ़े छह फुट जवान अब्राहम लिंकन क्यों नहीं उतर सकता।

ऑफेट की उक्त बातें सुनकर अब्राहम लिंकन खुश हो गया और वह तीन काम करने लगा—स्टोर का हिसाब-किताब देखना, कानून की किताब पढ़ना और रानजीति के लिए जनसंपर्क करना।

9. राजनीति में प्रवेश

ऑफेट ने अब्राहम लिंकन का न्यू सलेम डिबेटिंग सोसाइटी से साक्षात करवाया। सोसाइटी के सदस्य लिंकन के उदार विचारों से अत्यंत प्रभावित हुए और उन्होंने शीघ्र ही लिंकन को अपना नेता मान लिया। कुछ ही दिनों में न्यू सलेम में लिंकन की गूंज हो गयी। वह जिधर निकलता, लोग उसका आदर करते। न्यू सलेम में रहते एक वर्ष भी नहीं बीता था कि ऑफेट और सोसाइटी के सदस्यों ने लिंकन को 'इलीनॉइस' राज्य विधानसभा की सदस्यता के लिए चुनाव में खड़ा कर दिया।

लिंकन की चुनाव में जीत तो नहीं हुई, परंतु उनका जनसंपर्क बढ़ा और आगे के लिए भूमिका तैयार हुई। लिंकन न्यू सलेम में छह वर्षों तक रहे। इसी अवधि में लिंकन ने अपनी शिक्षा-शक्ति मजबूत की, कानून पढ़े, साहित्य-शक्ति प्राप्त की और राजनीति-पथ प्रशस्त किया।

इधर ऑफेट के स्टोर की स्थिति गिरने लगी। लिंकन ने अपने एक मित्र के साथ स्टोर चलाने के लिए ले लिया, किंतु उसकी दशा बिगड़ती गयी। इसी बीच लिंकन का पार्टनर मर गया। अतएव स्टोर का पूरा भार लिंकन पर आ गया। लिंकन से वह संभल न सका। स्टोर बंद हो गया और उससे सम्बन्धित ग्यारह सौ डालर का कर्ज लिंकन के सिर पर आ गया। यह लिंकन के ऊपर आर्थिक संकट था, परंतु उन्होंने इसे प्रसन्नता से स्वीकारा। सन 1833 ई० में

लिंकन ने आर्थिक क्षतिपूर्ति के लिए लोहारगीरी करने को सोचा, परंतु मित्रों के सहयोग से उसे पोस्टमास्टर का पद मिल गया। उसमें तेरह डॉलर महीने में वेतन मिलता था। पैसा बहुत कम था, कर्ज चुकाना था। अतएव उसने नौकरी के साथ कई काम करना चालू किया। वह कभी रेल की पटरियों को अलग करने का काम करता, कभी किसी के खेत में फसल उगाने और काटने का काम करता, कभी किसी फैक्ट्री में रात की ड्यूटी करता, कभी क्षेत्रीय समाचार पत्रों के दफ्तरों में काम करता। लिंकन गरीब घर में जन्में थे, साथ-साथ मनुष्य जो काम करते हैं, मनुष्य होने से हम भी कर सकते हैं, यह उनका विचार था, अतएव उन्हें किसी काम में लज्जा नहीं थी।

सन 1833 ई० की बात है। भिग पार्टी नाम से एक विचारपूर्ण दल अस्तित्व में आया था। उस पार्टी के राष्ट्रीय नेता थे 'जॉन स्टुआर्ट'। वे न्यू सलेम में एक अच्छे प्रत्याशी की खोज में आये थे, क्योंकि आगे 1834 ई० में राज्य विधानसभा का चुनाव होना था। उन्होंने लिंकन की प्रशंसा सुन रखी थी। लिंकन से मिलकर उनको अपनी पार्टी का प्रत्याशी चुना और उन्होंने लिंकन को कानून का गहरा अध्ययन करने की राय दी।

शिक्षा की कमी, डिग्री का अभाव, धनाभाव आदि के कारण लिंकन में आत्मविश्वास की कमी बराबर बनी रही, परंतु अपनी सत्यता और गरीबों के प्रति सहृदयता तथा मानवमात्र के प्रति करुणा की भावना के कारण वे आगे बढ़ते रहे। अबकी वे चुनकर राज्य विधानसभा में पहुंच गये। राजनीति में यह उनकी पहली जीत थी। इसके बाद लिंकन का मनोबल बढ़ गया और वे लगन से कानून की पढ़ाई करने लगे।

लिंकन गुलामों की मुक्ति और गरीबों के कल्याण के लिए राजनीति में आये थे। वे गरीबी के भुक्तभोगी थे और समझते थे कि संपन्न देश में भी किस तरह गरीबों की दुर्दशा होती है।

10. जो घर फूंके आपना

1776 ई० से पहले ग्रेट ब्रिटेन के अंग्रेजों द्वारा दक्षिण अफ्रीका से नीग्रो अमेरिका में लाकर और उन्हें गुलाम बनाकर उनसे खेती करवायी जाती थी। देश में ग्यारह प्रतिशत आबादी नीग्रो आदिवासियों की थी। 1776 ई० तक इन पर ब्रिटेन का शासन था। 1776 ई० में इन्हें स्वतंत्रता मिली और काले और गोरे लोगों को मिलाकर अमेरिकी संघ का निर्माण हुआ। परंतु संविधान में इनके साथ भेदभाव रखा गया। गोरे चाहते थे कि कालों को समान अधिकार न दिया जाये और अमेरिकी गोरों को यह छूट हो कि वे कालों को गुलाम बनाकर रखें। अमेरिकी संघ के सदस्य होने पर भी काले लोग गोरों की गुलामी

में रहते थे। इसके विरुद्ध थोड़ा-थोड़ा कहीं मंद स्वर उठता था, परंतु इसको लेकर कोई अपने हाथों में लुआठी ले अपना घर फूंककर आगे आने वाला न था। इतने में अब्राहम लिंकन नाम का एक गरीब घर का युवक आगे आया और वह अपना घर फूंककर आगे बढ़ने का साहस किया।

11. क्रांति की घोषणा

अब्राहम लिंकन भिग पार्टी द्वारा सन 1834 ई० में राज्य विधानसभा में पहुंचे और उन्होंने घोषणा कर दी कि उनकी पार्टी उन सभी कानूनों और प्रवृत्तियों का विरोध करेगी जिनके आधार पर मनुष्य के द्वारा मनुष्य को गुलाम बनाया जाता है और किसी प्रकार शोषण किया जाता है। उनकी भिग पार्टी अल्पमत में थी और विरोधी डेमोक्रेटिक पार्टी बहुमत में थी। उसके सदस्य भिग पार्टी के सदस्यों को सदन में टिकने नहीं देते थे। अमेरिका में सत्तासी (87) प्रतिशत गोरे थे और केवल तेरह (13) प्रतिशत काले; परंतु गोरे समझते थे कि काले लोग गोरों की सेवकाई और गुलामी करने के लिए पैदा हुए हैं। उस समय अमेरिका में औद्योगिक प्रगति नहीं थी। केवल कृषि पर ही सारी उन्नति निर्भर थी, और कृषि कार्य काले लोगों से करवाया जाता था। काले लोगों के खून-पसीना की कमाई पर गोरे गुलछर्रे उड़ाते थे और उन्हें गुलाम बनाकर रखते थे। अतएव गोरे सोचते थे कि यदि गुलाम-प्रथा उठा दी जायेगी तो खेत में काम कौन करेगा। अधिकतम गोरे नहीं चाहते थे कि गुलामी समाप्त कर दी जाये, किंतु लिंकन ने सत्य पर विश्वास रखकर गुलाम-प्रथा के विरोध में अपना युद्ध शुरू कर दिया।

12. वकालत और राजनीति

भिग पार्टी के नेता तथा प्रसिद्ध वकील 'जॉन टी. स्टुआर्ट' की सलाह से अब्राहम लिंकन वकालत पढ़ने लगे थे और सन 1837 ई० में उन्हें वकालत की डिग्री मिल गयी। वे इसी समय न्यू सलेम छोड़कर स्प्रिंगफील्ड चले आये और जान टी. स्टुआर्ट के साथ वकालत करने लगे। जब वे न्यू सलेम से किराये के एक घोड़े पर अपने सामान लादकर स्प्रिंगफील्ड पहुंचे, तो जोशुआ स्पीड नाम के वकील के घर के सामने आ खड़े हुए। उन्होंने उनसे पूछा कि यहां एक कमरे का मकान तथा पलंग-बिस्तर का किराया और मूल्य कितना होगा। जोशुआ स्पीड ने एक अंदाज बताया तो लिंकन हतप्रभ हो गये। उनके पास उतने रुपये नहीं थे। परंतु लिंकन के निर्मल मन और सरल बातचीत से वे इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने कहा कि मेरा कमरा बड़ा है और बिस्तर बड़ा है और घर में केवल अकेला मैं रहता हूं। यदि आप मेरे बिस्तर पर मेरे साथ-साथ रह सकते हैं तो मैं आपको बेड पार्टनर बनाने के लिए तैयार हूं! लिंकन

गद्‌गद हो गये। उन्होंने पूछा कि आपका सामान कहां है? लिंकन ने कहा कि सामने किराये का घोड़ा खड़ा है और उसके ऊपर लदा सामान मेरा ही है। दोनों हंसने लगे और दोनों घोड़े से सामान उतारकर लिंकन जोशुआ स्पीड के घर पर उनके साथ रहने लगे।

लिंकन 1837 ई० से जॉन टी. स्टुआर्ट के साथ उनका सहयोगी बनकर चार वर्ष तक वकालत करते रहे; और उनकी ही भिग पार्टी से राजनीति में आकर उसमें अपना आधार मजबूत करते रहे। इसके बाद उन्होंने स्टीफन टी. के साथ वकालत की। लिंकन ने 1844 ई० में अपना अलग कार्यालय स्थापित किया और एक छब्बीस वर्षीय वकील 'विलियम एच. हैंडरसन' को अपना सहयोगी बनाया। इस समय लिंकन पैंतीस वर्ष के थे। वकालत और राजनीति सगी बहनें हैं। वकालत करने वाला राजनीति में अच्छा काम कर सकता है। लिंकन की इस समय दोनों में प्रगति होती गयी; और उन्होंने अपने ऊपर लदे ग्यारह सौ डालर का कर्ज पूरा उतार दिया।

लिंकन राजनीतिक गोष्ठियों तथा सभाओं में भाग लेते। लोग गुलाम-प्रथा को मिटाने की बात करते, परंतु सामने कोई आने का साहस नहीं करता, क्योंकि सत्तासी (87) प्रतिशत गोरों की आबादी से ही वोट मिलना होता था। जिनमें अधिकतम लोग गुलाम-प्रथा बनाये रखना चाहते थे। विचारक सोचते थे कि धीरे-धीरे गुलाम-प्रथा तो मिटेगी ही। काले लोग स्वयं जागरूक होंगे और कभी अपना हक़ मांगेंगे। लिंकन का भी समय-समय से साहस टूटता, परंतु उनके मन के भीतर कुछ ऐसा बैठा था कि जितना शीघ्र हो गुलाम-प्रथा मिटना चाहिए।

13. अब्राहम लिंकन का विवाह

आरम्भिक जीवन में लिंकन की दो लड़कियों से मित्रता हुई परंतु उनसे विवाह न हो सका। 'मैरी टॉड' नाम की पांच फुट की एक सुंदर सुशिक्षित युवती थी जो सम्भ्रांत घर की लड़की थी। उससे उनका 14 नवम्बर, 1842 ई० में विवाह हुआ। 'मैरी टॉड' बन-ठन कर रहने वाली रजोगुणी लड़की थी, और लिंकन राग-रंग से उदासीन और गरीबों के उद्धार के लिए तपस्यारत थे। किंतु मैरी टॉड लिंकन की प्रतिभा, साहस और समाज-सेवा के उत्कट उत्साह के गुणों से उन पर न्यौछावर थी। इसीलिए वह अपने रजोगुण को दबाकर लिंकन का सहयोग करती रही और छाया की तरह उनके पीछे चलती रही।

विवाह के पहले लिंकन ने ग्लोब टार्बन में दो कमरों का एक छोटा मकान खरीद लिया था। उसी में दोनों प्राणी रहते थे। मैरी टॉड ने अपने मां-बाप के घर में कभी अपने हाथों से मोटा काम नहीं किया था, परंतु लिंकन के साथ

रहकर घर का सारा काम खुद करती थी, क्योंकि लिंकन के पास इतना पैसा नहीं था कि नौकर रख सकते। मैरी टॉड ने समझ लिया था कि लिंकन के साथ इसी ढंग से रहा जा सकता है। वह समझती थी कि जो दुनिया का बड़ा काम करना चाहता है वह राग-रंग में नहीं डूबता।

मैरी टॉड से दस वर्षों में चार बच्चे पैदा हुए। एक मर गया। तीन बच्चे जीवित रहे। लिंकन 1844 से 1861 ई० तक इसी घर में रहे। 1861 ई० में राष्ट्रपति का चुनाव जीतने के बाद वे वाशिंगटन गये। इन सत्तरह वर्षों में लिंकन और मैरी टॉड एक दूसरे को अच्छी तरह समझकर आपस में सामंजस्य स्थापित कर चुके थे।

मैरी टॉड ने अब्राहम लिंकन के विचारों का सदा आदर किया और उनकी भावनाओं को अपनी तरफ से कभी ठेस नहीं लगने दी। उन्होंने अपनी आवश्यकताओं को घटाया। वे एक भारतीय पतिव्रता महिला की तरह पति की उद्देश्य-प्राप्ति के पीछे अपना सब कुछ न्यौछावर कर छाया की तरह उनके पीछे लगी रहीं। मैरी टॉड को जो बन-ठनकर रहने और खूब खर्चकर ऐश्वर्य संवारने का लोभ था उसे उसने सत्तरह वर्षों तक दबाकर रखा और वह पति के देश-सेवा रूपी यज्ञ में अपनी इच्छा का हवन करती रही। कहा जाता है कि उसने लिंकन के राष्ट्रपति हो जाने पर अपना शौक पूरा किया था।

14. गुलाम-प्रथा समस्या

गुलाम-प्रथा मिटाने की चर्चा राजनेताओं में होती थी, परंतु कोई पार्टी खुलकर उसके विरोध में कहने का साहस नहीं करती थी। जिस पार्टी से लिंकन इस समय राज्य-विधानसभा के सदस्य थे, वह भिग पार्टी भी गुलाम-प्रथा के विरोध में सीधे बोलने की हिम्मत नहीं करती थी। सीधा इंकलाब करने से अमेरिकी संगठन टूट जाने का खतरा था, क्योंकि पूंजीपति जो गुलामों के खून-पसीने से अपना ऐश्वर्य संवार रहे थे, वे कालों को गुलाम बनाये रखने के हठ में थे और उन्हीं का बहुमत था।

उक्त बातों पर ध्यान रखकर लिंकन ने भी एक बार वक्तव्य जारी किया था कि अमेरिका में जहां गुलाम-प्रथा है, उसे वहीं रहने दिया जाय। उसे देश के अन्य स्थानों पर न बढ़ने दिया जाय। एक दिन यह अपनी मौत मर जायेगी। यह भी किया जा सकता है कि सरकार एक फंड ऐसा स्थापित करे कि गुलामों के मालिकों को धन देकर गुलामों को गुलामी से मुक्त कराया जाये।

15. लिंकन कांग्रेस के सदस्य

अब्राहम लिंकन सन 1846 ई० में कांग्रेस की सदस्यता के लिए चुन लिये गये। वे चुनाव में जीत गये। लिंकन स्प्रिंगफील्ड में निजी घर में परिवार सहित

रहकर वकालत करते थे। परिवार को स्प्रिंगफील्ड में छोड़कर लिंकन को वाशिंगटन जाना पड़ा। वे वहां कांग्रेस के सदस्यों को मिलने वाले निवास में रहते थे और समय से स्प्रिंगफील्ड आकर परिवार में रह लेते थे।

सन 1847 ई० से लिंकन वाशिंगटन में रहने लगे थे। उन्होंने सोचा था कि वाशिंगटन में रहने पर हमारा दायरा बढ़ जायेगा। परंतु अनुभव उलटा हुआ। उन्होंने यहां राष्ट्रीय राजनीति का महासागर देखा, जहां एक-से-एक दिग्गज नेता हैं। उन्हें दूसरों के लिए अवकाश ही नहीं है। लिंकन को न्यू सलेम और स्प्रिंगफील्ड में जो आनंद मिला वह वाशिंगटन में नहीं मिला।

लिंकन की पत्नी मैरी टॉड की रजोगुणी स्वभाव प्रवृत्ति उभड़ आयी। कीमती कपड़े पहनना, घर की साज-सज्जा संवारना, बच्चों पर खुलकर खर्च करना और इन सबको लेकर सहेलियों में अपनी डींग हांकना, इन सबका प्रोग्राम उनके मन में बन रहा था। परंतु थोड़े दिनों में उनको यह समझ में आ गया कि यह सब इस त्यागी पति के साथ रहकर संभव नहीं है। लिंकन का सिद्धांत था—सरकारें जनता की गाढ़ी कमाई से चलती हैं। इसलिए सरकारी धन पर जनता का अधिकार है, राजनेता का नहीं।

मैरी टॉड ने बहुत जल्दी स्वयं को पति के त्यागी स्वभावानुसार वाशिंगटन में भी बना लिया।

16. युद्ध का विरोध

अब्राहम लिंकन सन 1847-1849 ई० में वाशिंगटन में रहे। उस समय अमेरिका के राष्ट्रपति मिस्टर पोक थे। उन्होंने 1846 ई० में मैक्सिको देश पर आक्रमण किया था। अमेरिका चाहता था कि कैलीफोर्निया, नवादा, ऊटा, एरीजोना, न्यू मैक्सिको, कोलोरोडो, वियोमिंग आदि को मैक्सिको के कब्जे से छुड़ा लिया जाये। युद्ध में रक्तपात होता है और वही हुआ। युद्ध को लेकर अमेरिका में दो मत बने। एक मत मानता था कि अमेरिका ने मैक्सिको से युद्ध करके अच्छा काम किया। किसी भी देश का अपना स्वाभिमान है कि हानि पहुंचाने वाले देश को सीख दे और जो उसे उचित लगे शत्रुपक्ष से ले ले। दूसरा पक्ष था कि मैक्सिको से युद्ध करके बुरा किया गया। व्यर्थ में जवानों का खून बहाया गया। भिग पार्टी जिसमें लिंकन थे उसका युद्ध-विरोधी मत था। लिंकन ने सदन में इस बात को बड़े जोश-खरोश से उठाया। सभा में बड़ा हंगामा हुआ। लिंकन ने राष्ट्रपति पोक का सदन में घोर विरोध एवं कटु आलोचना की कि व्यर्थ में अमेरिकी जवानों को युद्ध में झोंककर उनका खून-खराबा किया गया।

सरकार ने संसद में बहस करके उसे पारित करने के लिए युद्ध सम्बन्धी प्रस्ताव रखा, जिसका उद्देश्य था मैक्सिको पर हमला उचित मानना और इसके

लिए मैक्सिको-सरकार को पूरी तरह दोषी ठहराना। भिग पार्टी ने प्रस्ताव के विरोध में मत दिया। परंतु प्रस्ताव गिरा नहीं, अपितु पास हो गया। लेकिन इसको लेकर पूरे देश में भिग पार्टी बदनाम हो गयी। अमेरिका पूरा देश प्राय: यह स्वीकारता था कि मैक्सिको पर उसका हमला करना उचित था। मीडिया ने अमेरिका में यह संदेश फैलाया कि भिग पार्टी का युवा नेता अब्राहम लिंकन अर्धविक्षिप्त है जो वह इस युद्ध के सम्बन्ध में अमेरिका को ही दोषी सिद्ध कर रहा है।

लिंकन पूरे देश में बदनाम हो गये। उनके चुनाव-क्षेत्र की जनता भी उनके विरुद्ध हो गयी, और उसने सोच लिया कि अब दुबारा लिंकन को नहीं चुनना है। सन 1849 ई० में पुन: चुनाव हुआ। पार्टी ने लिंकन को खड़ा किया। लिंकन हार गये। पार्टी के लोग तथा स्वयं लिंकन हतप्रभ हो गये। जनता इतना विरुद्ध हो जायेगी, यह उन्हें गुमान नहीं था। लिंकन वाशिंगटन छोड़कर अपने गृहनगर स्प्रिंगफील्ड आ गये और राजनीति को छोड़कर वकालत करने लगे।

स्प्रिंगफील्ड में भी जनता लिंकन के विरुद्ध में बोलती, लिंकन को देशद्रोही भी कहती थी। लिंकन के सहयोगी वकील बिली हेंडरसन दुखी हुए और वे स्प्रिंगफील्ड की जनता को समझाने का प्रयास करते थे। वे लिंकन के पक्षधर थे।

''बिली ने लिंकन से कहा—तुमने यह क्या किया लिंकन, अपने आप को जनता की नजरों में गिरा लिया?

''मैंने वही किया जो मेरी अंतरात्मा ने मुझसे करने को कहा।

''लेकिन, लिंकन! यह राजनीति है। राजनीति में शब्द देते समय दस बार विचार किया जाता है। केवल उन्हीं बातों को शब्द देते हैं जो जनता को अच्छी लगे। जो जनता की नजरों से गिरा दे, ऐसे शब्द नहीं कहे जाते।

''मैं इस तरह चालाकी से शब्दों का चयन नहीं कर सकता। अपने असली चेहरे पर एक और चेहरा चढ़ाना मुझे नहीं आता। मैं तो केवल एक ही चेहरा रखता हूं और उसी को सबको दिखाता हूं, फिर किसी की इच्छा, भला माने या बुरा।

''लिंकन के ये शब्द सुनकर बिली हेंडरसन चुप हो गया। उसे लगा कि उसने लिंकन की दुखती रग दुखा दी है। थोड़ी देर वह यह भूल गया था कि लिंकन दूसरे राजनीतिज्ञों से बिलकुल अलग है। सच पूछो तो वह राजनीतिज्ञ है ही नहीं। वह एक सीधा और सरल इंसान है। राजनैतिक छलकपट की चादर वह ओढ़ ही नहीं सकता।

''शायद मैं कुछ अधिक कह गया—हेंडरसन थोड़ी चुप्पी के बाद बोला—माफी चाहता हूं।

''नहीं करूंगा माफ—लिंकन ने आत्मीयता से कहा—तूने मुझे समझने में भूल क्यों की? तू मेरा अंतरंग साथी है। मैं उन साथियों को भी कभी माफ नहीं कर सकता जो मेरे बिलकुल अपने होकर भी मुझे समझने में भूल कर देते हैं।

''हेंडरसन चुप रहा।

''फिर लिंकन ने हेंडरसन का हाथ पकड़ लिया और बोला—'बिली! अमेरिका की जनता मुझे समझे या न समझे—मैं अपने आपको अच्छी तरह समझता हूं। मुझे तनिक भी अफसोस नहीं है इस बात का कि लोगों को मेरे विचार समझ में नहीं आये। मेरे विचार कड़वे और चुभने वाले जरूर हैं। उनमें से सच्चाई की लपटें निकलती हैं जिन्हें लोग सह नहीं पाते, इसलिए तिलमिलाकर मेरे बारे में जल्दीबाजी में कोई राय बना लेते हैं। मुझे जल्दी नहीं है। मुझे विश्वास है कि मेरे यही विचार लोगों का और देश का भला करेंगे। एक दिन वे लोगों की समझ में भी जरूर आ जायेंगे। भले ही तब तक इतनी देर हो चुकी हो कि मैं लोगों के बीच मौजूद न रहूं।

''तू सच कह रहा है—हेंडरसन ने लिंकन के दोनों हाथ अपने हाथों में पकड़ते हुए कहा—मैं समझ गया, लोग भी एक दिन समझ लेंगे......पर ये दिल तोड़नेवाली बातें न कर, चल बाहर चलते हैं। बाहर मौसम बहुत सुहावना है। इस तरह बातें करते हुए बिली हेंडरसन लिंकन को केबिन से बाहर ले आया। बाहर बड़ी सुहावनी हवा चल रही थी। आकाश में बादल थे। दोनों हाथों में हाथ डाले कोर्ट के अहाते से बाहर निकलते देखे गये।''[1]

17. अगला चुनाव, जनरल टेलर राष्ट्रपति

सन 1848 ई० आया। राष्ट्रपति का चुनाव होना था। मैक्सिको को मात देने में अमेरिका के जनरल टेलर देश में हीरो मान लिये गये थे। वह गुलामी-प्रथा का भी पक्षधर था। उसके घर की सेवा में गुलाम रहते थे। इस प्रकार भिग पार्टी का जनरल टेलर से विचार न मिलने पर भी पार्टी ने उसे ही अपना प्रत्याशी चुना। लिंकन ने पार्टी की तरफ से उसके समर्थन में जगह-जगह भाषण दिये। जनता ने लिंकन को पसंद नहीं किया। इसलिए वाशिंगटन, शिकागो, न्यूयार्क आदि नगरों में लिंकन को बोलते समय जनता का कोप-भाजन बनना पड़ा, परंतु जनरल टेलर को लोगों ने भारी समर्थन दिया। जनरल टेलर अमेरिका के राष्ट्रपति चुन लिये गये। लिंकन अपनी पार्टी की जीत समझकर संतुष्ट हुए।

---

1. **अब्राहम लिंकन, पृ० 52-53, एम० पी० कमल, प्रकाशक-राजा पॉकेट बुक्स, बुराड़ी दिल्ली। इसी पुस्तक के आधार पर यह लिखा गया है।**

18. लिंकन दुर्व्यसन-मुक्त

लिंकन वाशिंगटन की यात्रा में थे। रथ पर केंटुकी का एक धनी व्यक्ति भी बैठा था। उसने कुछ समय बाद तंबाकू निकाला और पास में बैठे अजनबी लिंकन को उसे देना चाहा। लिंकन ने विनम्रता से कहा—नो सर, आई नैवर चिऊ। नहीं सर, मैं कभी तंबाकू नहीं खाता।

कुछ समय में उसने सिगार निकाला और बड़े प्रेम से लिंकन को देना चाहा। लिंकन ने सिगार भी सादर लौटा दिया।

एक जगह कोच का घोड़ा बदलना था। कोच रुका। उस सज्जन ने शराब के दो प्याले तैयार किये और बड़े प्रेम से एक प्याला लिंकन को देना चाहा। लिंकन बड़े संकोच में पड़ गये, परंतु अत्यंत विनम्रता से कहा—सर, मैं कभी भी इसको पीया होता तो अवश्य ले लेता। आपको अबकी बार भी मुझे क्षमा करना पड़ेगा।

वे सज्जन लिंकन से बहुत प्रभावित और गद्‌गद हुए। उस सज्जन ने कहा—ऐ अजनबी! अब जीवन में शायद तुमसे मिलना न हो। परंतु तुम बड़े बुद्धिमान और विलक्षण हो। तुम्हारी अपनी खास हैसियत है।

लिंकन ने अपनी आठ वर्ष की उम्र में एक बतख का शिकार किया था। उसके बाद उन्होंने कभी किसी जानवर को नहीं मारा। वे प्राणिमात्र पर दयालु थे।

केंटुकी ही लिंकन का जन्मस्थान था और उसी जगह का उक्त धनी व्यक्ति था। परंतु जब तक कोई परिचय न पूछे या स्वयं के लिए आवश्यक न हो तब तक लिंकन अपना परिचय नहीं देते थे। अतएव अपना परिचय दिये बिना लिंकन उन सज्जन से अलग हुए।

मनुष्य का सबसे बड़ा धन उसका जीवन है। जो उसे बुराइयों से बचाकर रखता है उसे कभी पश्चाताप नहीं करना पड़ता।

19. मैरी टॉड की लिंकन को उत्तम राय

सन 1849 ई० में लिंकन को ओरगन का सचिव बनाने का प्रस्ताव आया। ओरगन तत्काल ही नया राज्य बनने वाला था। अतएव राज्य बन जाने पर लिंकन ओरगन के गवर्नर हो जाते, जो अमेरिका में महत्त्व का पद है।

लिंकन की पत्नी मैरी टॉड ने उन्हें उसे स्वीकार करने से रोक दिया, और कहा कि आपकी योग्यता राष्ट्रीय नेता की है। अभी तत्काल राष्ट्रीय राजनीति में स्थान नहीं मिल पा रहा है तो कोई हर्ज नहीं है। अभी आप मन लगाकर वकालत करें। जब समय अनुकूल आये तब राष्ट्रीय राजनीति में आगे बढ़ें। राज्य के पद में उलझने से राष्ट्रीय राजनीति बाधित होगी। लिंकन ने सचिव पद अस्वीकार दिया।

20. पांच वर्ष वकालत

लिंकन अब वकालत कर अच्छी कमाई करते थे, अच्छे साहित्य का अध्ययन करते थे और देश तथा मानव-कल्याण को केंद्र में रखकर राष्ट्रीय राजनीति पर विचार और अनुसंधान करते थे। समीक्षकों ने लिखा है कि लिंकन के पांच वर्ष तक राजनीति से अलग रहकर उस पर अनुसंधान ने उन्हें राष्ट्रीय स्तर का उच्च नेता बना दिया। इन पांच वर्षों में जो उनके निकट रहे वे हैं वकालत के सहयोगी वकील मिस्टर हेंडरसन। उन्होंने कहा था कि इन पांच वर्षों में लिंकन ने खूब अध्ययन किया, परंतु विद्वान बनने के लिए नहीं, अपितु सही ज्ञान ग्रहण करने के लिए। वे अधिक बाइबिल तथा अच्छे साहित्य का अध्ययन करते थे। वस्तुतः वे पढ़ने से अधिक मनन करते थे।

लिंकन और मिस्टर हेंडरसन दोनों वकालत करते थे और दोनों को जो मिलता था उसे आधा-आधा बांट लेते थे। ये दोनों हिसाब नहीं लिखते थे, परंतु दोनों के दिल इतने साफ थे कि दोनों को जो आमदनी और खर्च होते थे उसे समझकर आधा-आधा बांट लेते थे। एक महत्त्वपूर्ण मुकदमें की जीत में लिंकन को पंद्रह हजार डालर का मेहनताना मिला, जो उस समय की बड़ी संपत्ति थी। लिंकन ने तुरंत हेंडरसन के पास पहुंचकर साढ़े सात हजार की गड्डी उनके हाथों में थमा दी और इस खुशखबरी को बताने के लिए अपनी पत्नी के पास पहुंचे। लिंकन वकालत के समय अपने मुवक्किल को जिताने का घोर प्रयास करते थे। उनके उद्देश्य में पैसा दूसरे स्थान पर था।

21. झूठे मुकदमे नहीं लड़ते थे

महात्मा गांधी जी की तरह अब्राहम लिंकन झूठे मुकदमे नहीं लड़ते थे। जब एक मुकदमे के मुवक्किल को उन्होंने जाना कि वह झूठ बोलता है और झूठा मुकदमा लड़ने के लिए मुझे दिया है, तब वे मुवक्किल से नाराज हो गये। जब मुकदमे में पुकार हुई और मुवक्किल दौड़कर लिंकन से कहा कि साहब, पुकार हुई है, आप शीघ्र कोर्ट में चलें, तब लिंकन ने कहा कि जज से कह दो कि मेरे पास समय नहीं है। मेरे हाथ गंदे हैं मैं उन्हें धोने जा रहा हूं। लिंकन जज के सामने नहीं गये और मुकदमा खारिज हो गया। मुवक्किल खीजकर चला गया।

एक बार लिंकन ने अपने मुवक्किल की झुठाई जान जाने पर उसे पत्र लिखा कि तुम अपना मुकदमा वापस ले लो, अन्यथा तुम्हारे पैसे नष्ट होंगे और मुकदमा भी हार जाओगे।

विधवाओं, अनाथों, गरीबों के मुकदमें में कई बार लिंकन जज के सामने इतने भावुक हो जाते थे कि उनकी दयनीय दशा पर पूरा भाषण ही दे डालते

थे। ऐसी दशा में जज लिंकन की दयालुता और सत्य की पक्षधरता पर दहल जाते थे।

एक विधवा, जिसके पुत्र की भी हत्या हो गयी थी, उसका मुकदमा हार जाने की स्थिति में आ गयी, क्योंकि गवाह नहीं मिल रहा था। अब्राहम लिंकन उसकी हमदर्दी में अपना लेक्चर देते हुए रो पड़े। जज दंग रह गया और उसने मुकदमे को नये सिरे से जांचकर विधवा को न्याय दिया। इस मुकदमे में लिंकन ने नि:शुल्क पैरवी की थी।

लिंकन अपनी इसी ईमानदारी के कारण अच्छे वकील होकर भी संपत्ति नहीं इकट्ठी कर सके थे, परंतु उनकी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति तो होती ही थी। वस्तुत: उनके पास अतुल आत्मिक धन था।

वादी-प्रतिवादी का मुकदमा कोर्ट में चल रहा था। लिंकन समझते थे कि ये व्यर्थ लड़ रहे हैं। इनकी लड़ाई में मन की मलिनता ही कारण है। अतएव उन्होंने दोनों को बुलाकर अपने कमरे में बैठाया और दोनों को समझाया कि आप लोग अपने धन और मन की बरबादी न करें, मुकदमा उठा लें और समझौता कर लें। परंतु वे दोनों एक-दूसरे से तने हुए थे और परस्पर बात नहीं करते थे।

लिंकन ने कहा, ''आप लोग आपस में बात करें। मैं थोड़े समय के लिए दूसरा काम देख लूं।'' लिंकन कमरे से निकलकर और फाटक बंद कर ताला लगाकर चले गये। काफी देर तक नहीं आये। ये दोनों सज्जन धीरे-धीरे एक-दूसरे की तरफ उन्मुख हुए, बात करने लगे और घुलमिल गये। बहुत देर के बाद जब लिंकन ने ताला खोलकर कमरे में प्रवेश किया तो उन्होंने देखा कि वे दोनों आपस में हंस रहे थे। लिंकन के आते ही तीनों हंस पड़े।

उन लोगों ने कहा, ''आप अजीब वकील हैं। आपने हम लोगों को एक साथ बंद कर सारा समाधान कर दिया।''

सच है, सरल चित्त से संवाद सब समस्याओं का समाधान कर देता है।

22. स्टीफन ए. डगलस और अब्राहम लिंकन

सन 1850 ई० तक गुलाम-प्रथा को लेकर अमेरिका के दक्षिणी और उत्तरी हिस्सों में तनाव बढ़ गया। लिंकन के अलावा भी अनेक नेता तथा चिंतक थे जो गुलाम-प्रथा के विरुद्ध थे, किंतु दक्षिणी अमेरिका के गोरे जिनकी संपत्ति काले लोगों की मेहनत से खड़ी हुई थी वे गुलाम-प्रथा को मिटने नहीं देना चाहते थे। अधिकतर राजनेता ऐसे थे जिन्हें गुलाम-प्रथा के रहने या न रहने से कोई मतलब नहीं था। उनका मतलब था कि वे चुनाव में जीतकर कुर्सी पर आ जायें। ऐसे एक प्रसिद्ध नेता उभरकर सामने आ गये थे और ये डेमोक्रेटिक पार्टी के नेता थे। इनका नाम था 'स्टीफन ए. डगलस'। ये पांच

फुट दो इंच ऊंचे थे, लिंकन से चौदह इंच नीचे। सन 1834 ई० में लिंकन और डगलस दोनों इलीनॉइस विधान सभा के सदस्य थे। दोनों को 1838 ई० में एक ही दिन इलीनॉइस के सर्वोच्च न्यायालय में वकालत करने के लिए स्वीकृति मिली थी। लिंकन की 1842 ई० में मैरी टॉड से शादी हुई थी। इसी मैरी टॉड से पहले डगलस शादी करना चाहते थे। 1846 में डगलस चुनकर अमेरिका के सीनेट में पहुंचे और लिंकन चुनकर प्रतिनिधि सभा में पहुंचे। 1858 ई० में लिंकन डगलस के विरुद्ध सीनेट की सदस्यता के चुनाव लड़े, किंतु हार गये और डगलस सीनेट के सदस्य बन गये।

अमेरिका के अधिकतम गोरे गुलाम-प्रथा के समर्थक थे, और उन्हीं से वोट लेकर नेताओं को कुर्सी पर आना था। इसलिए हर पार्टी के नेता अपना साफ मंतव्य जनता के सामने कह नहीं पाते थे। गुलाम-प्रथा के विरोध में सहृदय लोगों का जोर बढ़ रहा था। इसलिए नेता किंकर्तव्यविमूढ़ थे। जिस भिग पार्टी के लिंकन थे वह पार्टी भी साफ कहने में कतराती थी।

डेमोक्रेटिक पार्टी के जबर्दस्त नेता डगलस उभरे थे। उनका एक ही उद्देश्य था कुर्सी पर पहुंचना। इसलिए उनके विचारों में स्पष्टता नहीं थी। अतएव उनकी पार्टी के लोग ही उनसे असंतुष्ट थे। डगलस दक्षिणी अमेरिका के गोरों को जो गुलाम-प्रथा के पक्षधर थे खुश करने में लगे थे और उत्तरी अमेरिका में भी अपनी लोकप्रियता बनाने के चक्कर में थे।

डगलस और लिंकन समकालिक थे, समान वकालत पेशा वाले तथा राजनीति में दोनों उतरे थे। डगलस को गुलामों की चिंता नहीं थी और वे राजनीति में आगे बढ़ रहे थे। लिंकन ने उनके विरोध में अपना वक्तव्य देना शुरू किया।

गुलाम-प्रथा के संबंध में नीतियों का सामंजस्य न होने से भिग पार्टी टूट गयी। विचारक नेताओं को डेमोक्रेटिक पार्टी के विकल्प में एक पार्टी के गठन की चिंता हुई और उसके परिणाम में रिपब्लिकन पार्टी का गठन हुआ। इस पार्टी की नीति से लिंकन के विचारों का मेल था। अतएव जब इस पार्टी का निमंत्रण मिला तब लिंकन हर्षपूर्वक इसमें सम्मिलित हो गये। इससे उनके स्वाभिमान को आदर मिला। 1856 ई० में रिपब्लिकन पार्टी का पीटर्सबर्ग में सम्मेलन हुआ। यही अवसर था लिंकन का इस पार्टी में सम्मिलित होने का।

इसके पहले सन 1854 में तीन अक्टूबर को स्प्रिंगफील्ड में डगलस एक विशाल सभा को सम्बोधित किये। लिंकन बाहर से खड़े सुन रहे थे। जैसे डगलस का भाषण समाप्त हुआ, लिंकन ने आगे बढ़कर सभा से अपील की कि कल इसी जगह पर डगलस के विधेयक के विरोध में मैं भाषण दूंगा, आप लोग अवश्य आवें।

दूसरे दिन सभा में भारी भीड़ हुई। लिंकन ने कहा कि डगलस की नीतियों से अमेरिका संघ कमजोर होगा। इनका विधेयक भ्रम फैलाने वाला है। सर्वत्र लिंकन की प्रशंसा हुई।

लिंकन ने गुलाम-प्रथा के विरोध में जमकर भाषण किया। आज तक अमेरिका में इस विषय पर किसी ने इतना साफ नहीं कहा था। लिंकन पारदर्शी सच्चे इंसान हैं इस तथ्य का आभास जनता को हुआ। लिंकन ने कहा था गुलाम व्यक्ति है, वस्तु नहीं। उसका अधिकार वैसा ही है जैसा हम गोरी चमड़ी वालों का है।

23. लिंकन हारे, पर उनके विचार जीते

सन 1858 ई० में सीनेट की सदस्यता के लिए डगलस डेमोक्रेटिक पार्टी से तथा लिंकन रिपब्लिकन पार्टी से चुनाव में उतरे। लिंकन के प्रति प्रसन्नता व्यक्त करते हुए डगलस ने कहा—लिंकन अपनी पार्टी का अच्छा और चोटी का नेता है, उसकी अच्छी प्रतिभा है, वे तथ्यों के अच्छे जानकार तथा पश्चिम अमेरिका के उच्चतम प्रवक्ता हैं, परंतु वे मुझे हरा नहीं पायेंगे।

डगलस और लिंकन के सात बार प्रभावशाली भाषण हुए जिनमें दस, बारह और पंद्रह हजार की जनता इकट्ठी होती थी। लिंकन छह घोड़ों के रथ पर चलते थे। उनके आगे बैंड बाजा बजता जुलूस चलता था। उनके भाषण सुनने के लिए जनता उमड़ पड़ती थी। भाषण के बाद चौराहों, दूकानों, जलपानगृहों, आफिसों आदि में लिंकन के उदार विचारों की चर्चा होती थी। समाचार पत्र लिंकन के विचारों से भरे रहते थे। चुनाव प्रचार में लिंकन ने डगलस को पछाड़ दिया था। लोग मानने लगे थे कि डगलस हार जायेंगे और लिंकन जीत जायेंगे। परन्तु डगलस जीत गये और लिंकन हार गये।

"अपनी हार की समीक्षा में लिंकन ने कहा था—यह ठीक है कि मैं सीनेट का चुनाव हार गया हूं। परंतु मुझे बड़ी खुशी है कि चुनाव प्रचार के बहाने मुझे गुलाम-प्रथा पर खुलकर बोलने का अवसर मिला। यदि मैं यह चुनाव न लड़ा होता तो शायद गुलामों के हित में बोलने का इतना अच्छा अवसर मुझे कभी न मिल पाता। यह हार अंत नहीं है। यह तो एक छोटी-सी शुरुआत है। अपने चुनाव अभियान के दौरान मैंने एक महत्त्वपूर्ण बात समझ ली है। लोगों को, देश को अब मेरी तरह साफ ढंग से बात कहने वालों की जरूरत है। अत: मैंने यह फैसला ले लिया है कि अब मैं वकालत के व्यवसाय को तुरंत समेट दूंगा, और पूरी तरह खुलकर राजनीति में सक्रिय हो जाऊंगा। मैंने जो बातें कही हैं, लोगों को वे बहुत पसंद आयी हैं। लोग इतने कठोर हृदय नहीं हैं जितना कि स्वार्थ की राजनीति करने वालों ने उन्हें बना दिया है। मैंने स्वार्थ से ऊपर उठकर राजनीति में उतरने का संकल्प लिया है। गरीबों, शोषितों और

गुलामी का त्रास झेलते इन असंख्य लोगों की बात को ऊपर तक पहुंचाने के लिए मैं अब पूरे मन से राजनीति करूंगा।''[1]

लिंकन के चुनाव में हार जाने से उनकी पार्टी तथा साथियों को धक्का लगा जो स्वाभाविक था। परंतु लिंकन ने अपने विवेक से उसे आत्मसात कर लिया और कहा—चुनाव में दो विरोधी पक्ष लड़ते हैं, तो एक को तो हारना ही है। हम चुनाव में अवश्य हारे हैं, किंतु हमारे विचार जनता में गये हैं। बड़े विचारों को सफल होने में समय लगता है।

24. सदन में द्वंद्व

लिंकन के चुनाव अभियान में दिये गये भाषण से जिनमें गुलाम-प्रथा पर मुख्य बात थी सदन में दो दल हो गये। एक लिंकन के समर्थन में और एक उनके विरोध में। डगलस ने लिंकन पर आरोप लगाया कि उन्होंने अपने भाषण से सदन में फूट डाल दी है। यह उनका अपराध है।

लिंकन ने उत्तर में कहा कि गुलामी को लेकर सदन विभाजित हुआ-जैसा लगता है, परंतु मेरा प्रश्न है कि क्या कुछ लोगों को स्वतंत्रता देकर और कुछ लोगों को गुलाम बनाकर राष्ट्र का शासन लंबे समय तक चलाया जा सकता है? मैं न सदन का विभाजन चाहता हूं और न अमेरिका संघ का विघटन। मैं चाहता हूं कि सदन एकबद्ध हो और अमेरिका संघ अखंड हो। बात है कुछ लोगों को गुलाम बनाकर उनका शोषण करने की। अब सदन यह निर्णय एकतरफा साफ करे कि गुलामी बनाये रखना है कि उसे पूरा समाप्त करना है। जो इस समस्या को बीच में उलझाये रखकर इसके आधार पर राजनीति करते हैं, वे देश के शत्रु हैं। वे गुलामों और उनके मालिकों, दोनों को भ्रम में रख रहे हैं।

लिंकन यह नहीं चाहते थे कि गुलाम-प्रथा के आंदोलन को लेकर अमेरिका संघ टूट जाये। क्योंकि एक बार देश टूट जाने पर उसका संभालना कठिन हो जायेगा; और गुलाम-प्रथा को तो आज नहीं, तो कल जाना ही है। लिंकन चाहते थे कि गुलाम-प्रथा समाप्त हो और अमेरिका की संघीय एकता बनी रहे। यही उनकी ऊंचाई थी।

कूपर यूनियन न्यूयार्क में लिंकन का महत्त्वपूर्ण एवं ऐतिहासिक भाषण हुआ। इसमें बुद्धिजीवियों की भी संख्या थी। उन्होंने कहा—''दक्षिण के लोग गुलामी उन्मूलन को लेकर बहुत उत्तेजित हैं। शायद वे यह सोचते हैं कि भले ही संघ नष्ट हो जाये, पर गुलामी का कलंक अब मिट जाना चाहिए। वहीं उनके विरोधी उन्हें सबक सिखाने के लिए तैयार खड़े हैं। गुलाम-प्रथा को

---

1. **वही, पृ० 74।**

लेकर माहौल इतना गरम है कि यदि ये दोनों पक्ष उग्र हुए तो पूरा देश जल उठेगा। हम नहीं चाहते कि गुलामी-उन्मूलन का रास्ता कुछ इस तरह निकाला जाये कि संघ को क्षति पहुंचे और देश बर्बाद हो जाये। हम एक ऐसा रास्ता निकालना चाहते हैं कि अमेरिका के सत्तासी (87) प्रतिशत गोरे लोगों के दिलों में अपने तेरह (13) प्रतिशत काले रंग के भाइयों के प्रति सच्ची सहानुभूति पैदा हो और वे उन्हें गुलामी के चंगुल से मुक्त करके भाइयों की तरह गले से लगायें और फिर काले और गोरे दोनों नस्लों के लोग मिलकर इस देश की सर्वांगीण उन्नति के लिए काम करें और अमेरिका विश्व में एक महान देश बनकर उभरे।''[1]

उपर्युक्त लिंकन के भाषण से बुद्धिजीवियों को लगा कि यह सुलझा हुआ व्यक्ति ही अमेरिका का राष्ट्रपति बनने योग्य है। लिंकन सरल इंसान थे। राजनीतिक दावं-पेच से अलग थे, इसलिए वे राष्ट्रपति पद के लिए अपने को योग्य नहीं समझते थे।

25. लिंकन राष्ट्रपति बने

लिंकन ने अंततः राष्ट्रपति पद के लिए अपना नामांकन भर दिया। विपक्ष में डगलस थे और दो अन्य भी; परंतु लिंकन चुनाव जीत गये।

26. बच्ची का पत्र

लिंकन जब चुनाव-प्रचार में थे तब उन्हें सुनने के लिए अपने भाइयों के साथ एक नन्हीं बच्ची ग्रेस बीडिल आयी थी। उसने देखा लिंकन दुबले-पतले हैं। उनके गाल पिचके हैं। उसको उनका चेहरा सुंदर नहीं लगा। उसने घर जाकर लिंकन को पत्र लिखा—

''मेरे चार भाई हैं। उनमें से दो आपको वोट देना चाहते हैं और दो किसी और को। यदि आप यह वादा करें कि मेरा पत्र पाते ही आप अपने चेहरे पर दाढ़ी और मूंछें बढ़ा लेंगे तो मैं वादा करती हूं कि मैं अपने उन दोनों भाइयों को भी मना लूंगी और चारों भाइयों से आपको वोट दिलाऊंगी, फिर आप जरूर जीतेंगे। देख लेना तब आपका चेहरा बहुत सुंदर लगेगा। जब आप अमेरिका के राष्ट्रपति बनेंगे तब मैं आपसे मिलने आऊंगी और देखूंगी कि आपने मेरी बात मानी कि नहीं। मेरे अच्छे राष्ट्रपति! वादा करो, आप दाढ़ी-मूंछें बढ़ाओगे और मुझे अवश्य बुलाओगे। आपकी छोटी-सी बेटी—

—ग्रेस बीडिल[2]

---

1. **वही, पृ० 77।**
2. **वही, पृ० 81-82।**

अब्राहम लिंकन उक्त पत्र पढ़कर भावविभोर हो गये और उत्तर लिखा—

''मेरी नन्ही-सी बेटी ग्रेस! मैंने तुम्हारा कहना मानकर आज से ही अपनी दाढ़ी बढ़ानी शुरू कर दी है, परंतु मुझे अफसोस है कि तुम्हारी दूसरी मांग पूरी नहीं कर पा रहा हूं। मैं मूंछें नहीं बढ़ा पाऊंगा; क्योंकि मूंछें बढ़ाने से मेरी पहचान बदल जायेगी। फिर मेरे दोस्त भी मुझे नहीं पहचान पायेंगे। मैं वादा करता हूं कि राष्ट्रपति बना तब भी, और न बना तब भी, मैं तुमसे मिलने जरूर आऊंगा। फिर तुम देख लेना मेरा पतला और पिचके गालों वाला चेहरा दाढ़ी बढ़ाने से कैसा लग रहा है।''[1]

ग्रेस बीडिल नाम की छोटी बच्ची ने अब्राहम लिंकन को इतना प्रभावित किया कि उसके कहने से वे दाढ़ी बढ़ाये और दाढ़ी वाले वे पहला राष्ट्रपति हुए और चुनाव-प्रचार में व्यस्त होने पर भी वे उस बच्ची से मिलने आये।

27. साझे वकालत का साइनबोर्ड

लिंकन अब राष्ट्रपति हो गये थे। अब वे स्प्रिंगफील्ड से वाशिंगटन ह्वाइट हाउस में रहने के लिए जाने की तैयारी कर रहे थे। पूरा माहौल गद्गद था कि हमारे घर-नगर का आदमी राष्ट्रपति बनकर ह्वाइट हाउस जा रहा है। जिनके साझे में लिंकन वकालत कर रहे थे वे थे हेंडरसन। लिंकन ने उनसे कहा कि हमारे-आपके साझे के व्यवसाय का साइनबोर्ड लटका है जिस पर लिखा है—'ला फार्म ऑफ लिंकन एण्ड हेंडरसन।' इसे आप लटका रहने दें जिससे लोगों को लगे कि लिंकन की साझेदारी अभी भी हेंडरसन से है और अपना कार्यकाल ह्वाइट हाउस में बिताकर यदि जीवन रहा तो पुनः तुम्हारे साथ आकर वकालत करूंगा। हेंडरसन ने कहा कि मुझे गर्व है कि मेरा मित्र राष्ट्रपति हुआ, परंतु तुम यह दिल दुखाने वाली बात क्यों कहते हो कि यदि जीवन रहा तो।

लिंकन ने कहा—हेंडरसन! ध्यान दें। आज जैसा देश का उत्तेजक माहौल किसी राष्ट्रपति के समय नहीं था। दक्षिण राज्यों में विद्रोह का स्वर उठ रहा है। गुलाम-प्रथा को लेकर देश का वातावरण गृहयुद्ध का हो गया है। मुझे अच्छी स्थिति नहीं दिखती है। हेंडरसन ने कहा—हम सबकी आपके लिए मंगलकामना है। आप साधारण आदमी नहीं हैं।

28. अब्राहम लिंकन राष्ट्रपति

अब्राहम लिंकन ने चार (4) मार्च 1861 ई० को राष्ट्रपति पद की शपथ ग्रहण किया। वे संयुक्त राज्य अमेरिका के सोलहवें राष्ट्रपति बने। जब अब्राहम लिंकन के राष्ट्रपति होने की संभावना बढ़ गयी थी, तभी दक्षिण राज्यों के गोरे

---

1. **वही, पृ० 81-82।**

यह मन बना लिए थे कि हमें अपने दक्षिण के राज्यों को अमेरिका संघ से सर्वथा अलग कर लेना है। दक्षिण के गोरे समझते थे कि उत्तरी अमेरिका के लोग गुलाम-प्रथा के कट्टर विरोधी हो गये हैं। अतएव उनके साथ रहना अब संभव नहीं है।

29. दक्षिणी राज्यों का अलग होना

अमेरिका के कई दक्षिण राज्य अलग होकर उन्होंने अंतरिम सरकार का गठन कर लिया और 'कांफेडरेट स्टेट्स ऑफ अमेरिका' नाम से नया संघ बना लिया।

लिंकन के सामने भयंकर समस्या आ गयी। नेता पूछते थे कि ये अलग हुए राज्य अमेरिका संघीय कानून लागू करेंगे कि नहीं। लिंकन चुप। यदि संघीय कानून लागू करते हैं तो दक्षिण के ग्यारह राज्य और उत्तर के तेईस राज्य बंटकर अलग हो जायेंगे और युद्ध की स्थिति बनेगी; और यदि लागू नहीं करते हैं तो मानो दक्षिण के नये संघ की स्वीकृति देते हैं।

30. गृहयुद्ध की स्थिति

लिंकन नहीं चाहते थे कि गृहयुद्ध हो। परंतु दक्षिण वाले अमेरिका संघ में मिलने के लिए राजी नहीं थे। लिंकन समझते थे कि दक्षिण तथा उत्तर के सभी लोग मेरे भाई हैं। परंतु स्थिति आ गयी थी कि युद्ध के अलावा कोई रास्ता नहीं। अतएव लिंकन ने सेना के जनरलों को बुलाकर दक्षिणी राज्यों पर हमला करने की आज्ञा दे दी।

लिंकन ने राष्ट्रपति-पद की शपथ ली और गृहयुद्ध की आग में अमेरिका के जलने की तीव्र संभावना उभरी। इससे वे घबराये हुए थे। राष्ट्रपति के रूप में जब वे अपना पहला भाषण देने के लिए मंच पर चढ़े, तब उनका चित्त अस्त-व्यस्त था। वे एक हाथ में छड़ी और दूसरे हाथ में हैट पकड़े थे। वे समझ नहीं पा रहे थे कि इनको क्या करें। उनके विरोधी समकक्ष नेता डगलस उनके भ्रांत चित्त को समझ गये और सहृदयता से मंच पर चढ़कर उनके हाथों से छड़ी और हैट ले लिए। पीछे उन्होंने उनको वापस कर दिया।

लिंकन ने जनरल स्टॉक को बुलाकर कहा कि तुम जनरलों को बुलाकर युद्ध के लिए हमला करने का आर्डर दो। अमेरिका संघ की सेना के सबसे योग्य जनरल 'ली' को आर्डर दो कि वह सेना लेकर 'रिचमोंड' पर हमला करें। स्कॉट ने ली को बुलाया और हमला करने की आज्ञा दी। परन्तु उसने कुछ सोचने का अवसर मांगा और जल्द ही अपने सबसे श्रेष्ठ सफेद घोड़े पर बैठकर दक्षिण जंगल को निकल गया और विरोधी दक्षिण संघ की सेना में मिल गया और उसकी सेना के बड़े अफसर की हैसियत से अमेरिका संघ के

विरोध में खड़ा हो गया। इस प्रकार 'ली' विरोधी सेना का नायक बन गया। उसने कहा—मैं दक्षिण के विरोध में युद्ध नहीं कर सकता, यह मेरी विवशता है। अतएव मैंने निर्णय लिया कि क्यों न मैं दक्षिण की ओर से लड़ूं।

यह युद्ध सन 1861 से 1864 ई० तक चला और इसमें दोनों पक्ष के लाखों सैनिक मरे और ली की रणकुशलता के कारण दक्षिण पर शीघ्र विजय करना कठिन हो गया। इस बीच अनेक जनरल बदले गये। बहुत से सैनिक अफसर धोखा दिये और बहुत अफसर कुशलता से लड़ते रहे। इन चार वर्षों में लिंकन चैन की सांस नहीं ले सके।

इसी बीच लिंकन का एक प्यारा पुत्र 'विली' बीमार हुआ और मर गया। इससे दोनों प्राणी बहुत आहत हुए। मैरी टॉड तो कुछ दिन के लिए अर्धविक्षिप्त जैसी रहने लगी। लिंकन को उसे खिलाना और सुलाना पड़ता था। जब लड़का मरा, मैरी टॉड पछाड़ खाकर गिर पड़ीं। लिंकन उसे उठा न सके, अन्यों ने उठाया। लिंकन से आर्डर लेने के लिए सेना के जनरल खड़े थे। युद्ध जोर पर था। लिंकन जनरल से बात करने लगे।

युद्ध के दौरान लिंकन को पांच लाख नये सैनिक भर्ती करने पड़े। बीच-बीच में हजारों नये सैनिक भर्ती किये गये। युद्ध मैदान में समय-समय हजारों लाशें पड़ी दिखती थीं और रक्त नहायी हुई धरती।

31. पत्नी के कारण सदन में लज्जित

लिंकन की पत्नी मैरी टॉड के नैहर के लोग अमीर घरानों के थे और उनमें कुछ उत्तरी अमेरिका और कुछ दक्षिणी अमेरिका में थे और वे उन दोनों विरोधी पक्षों के पक्षधर भी थे। मैरी टॉड के तीन भाई दक्षिणी अमेरिका की ओर से लड़ते हुए उत्तरी अमेरिका की सेना द्वारा मारे गये थे। मैरी के कुछ रिश्तेदार वाशिंगटन के थे जो उत्तरी अमेरिका की ओर से लड़ रहे थे। यह अमेरिका का गृहयुद्ध भारत के महाभारत युद्ध की तरह था जिसमें परिवार और देश के लोग ही मार और मर रहे थे।

लिंकन की पत्नी के परिवार तथा रिश्तेदारों को लेकर उस समय यह कहावत थी कि दो तिहाई गुलाम-प्रथा-विरोधी और एक तिहाई गुलाम-प्रथा-समर्थक हैं।

लिंकन गृहयुद्ध में फंसे थे और वे उसी समय अपनी पत्नी मैरी टॉड के अपव्यय के कारण बदनाम हो रहे थे। इसको लेकर लिंकन के अनेक शत्रु खड़े हो गये। कांग्रेस ने राष्ट्रपति भवन ह्वाइट हाउस को सजाने के लिए बीस हजार डॉलर स्वीकारा था, परंतु लिंकन की पत्नी मैरी टॉड ने उस पर सत्ताइस हजार खर्च कर डाला था। उन्होंने अपने लिए बहुमूल्यवान कपड़े और आभूषण

के लिए बड़ी रकम खर्च कर डाली। एक तरफ गृहयुद्ध की विभीषिका में लाखों लाशें जमीन पर बिछ गयी थीं, दूसरी तरफ मैरी टॉड को अपना शौक पूरा करने की सनक सवार हो गयी थी। वे राजभवन में महारानी की तरह रहना चाहती थीं। वे अपने बच्चों तथा नौकरों-चाकरों पर खुलकर खर्च कर रही थीं और इससे उनमें प्रशंसित भी थीं। परंतु सदन पर बुरा प्रभाव पड़ रहा था। "श्रीमती लिंकन के विरुद्ध सीनेट कमेटी गठित हो गयी। यह शर्म की बात थी कि लिंकन को अपनी पत्नी की फिजूलखर्ची के कारण सीनेट कमेटी के सामने उपस्थित होना पड़ा। श्रीमती लिंकन पर यह भी आरोप था कि उनकी सहानुभूति दक्षिण के विद्रोहियों के साथ है। लिंकन केवल तीन मिनट पत्नी के विरुद्ध लगे आरोपों पर बोले और उसका ऐसा प्रभाव पड़ा कि कमेटी ने उनकी पत्नी के विरुद्ध लगे आरोप वापस ले लिये।"[1]

32. विनोदप्रियता और सहृदयता

लिंकन और उनकी पत्नी 1862 ई० में ह्वाइट हाउस में कुछ विशेष लोगों के स्वागत में थे। लिंकन की पत्नी बहुत कीमती और सुंदर परिधान में थीं और वे बहुत सुंदर लग रही थीं। लिंकन ने अपने पास में बैठी महिला से कहा— My wife is as handsome as she was a girl, and I, a poor nobody then, fell in love with her, and what is more, I have never fallen out.[2] अर्थात मेरी पत्नी अभी भी उतनी ही सुंदर है जितना वह अपनी युवावस्था में थी। उन दिनों मैं एक दीन-गरीब था और उससे प्रेम कर बैठा, और खास तो यह है कि मैं आज भी उससे अलग नहीं हो सका।

लिंकन की उक्त बातें सुनकर सब हंसने लगे और श्रीमती लिंकन लजा गयीं। अब्राहम लिंकन विनोदप्रिय थे। वह गंभीर स्थिति में भी सबको हंसा देते थे।

एक बार एक व्यक्ति लिंकन से मिलने आया। श्रीमती लिंकन भी पास में बैठी थीं। वे बीच-बीच में बोल पड़ती थीं। यह बात आगंतुक को बुरी लगती थी। जब श्रीमती लिंकन वहां से चली गयीं, तब आगंतुक ने लिंकन से पूछा, "साहेब! यह कौन महिला है?" लिंकन ने कहा, "अरे भाई! श्रीमती लिंकन हैं।" आगंतुक ने कहा, "क्षमा कीजिएगा।"

लिंकन ने कहा, 'क्षमा मुझे मांगना चाहिए, आप क्यों क्षमा मांगते हैं?"

एक बार एक छात्र ने लिंकन से कहा, "साहब! आप मुझे बीस डॉलर का सहयोग कर दें, तो मेरी इस वर्ष की पढ़ाई पूरी हो जाये।" लिंकन ने कहा,

---

1. वही, पृ० 95।
2. वही, पृ० 96।

''जब मैं अपनी पत्नी के साथ बैठा रहूं, उस समय सामने आना और चालीस डॉलर मांगना।'' वह लड़का दोनों की उपस्थिति में आया और उसने लिंकन से चालीस डॉलर की याचना की। लिंकन ने पत्नी से कहा, ''यह लड़का अपनी पढ़ाई के सहयोग में चालीस डॉलर मांग रहा है।'' श्रीमती लिंकन ने कहा, ''बीस डॉलर देना काफी है।'' छात्र का काम बन गया।

33. ब्रिटेन नाराज

राष्ट्रपति लिंकन ने दक्षिणी विद्रोही राज्यों को सेना से घेर लिया और उसके समुद्र के रास्ते भी इसलिए घेर लिया कि उनका विदेश से व्यापार रुक जाये और वे आर्थिक संकट से ऊबकर शीघ्र आत्मसमर्पण कर दें। इससे यह हुआ कि दक्षिणी अमेरिकी राज्यों से ब्रिटेन कपास जाना बंद हो गया, अतएव ब्रिटेन की मिलें बंद हो गयीं और ब्रिटेन-सरकार ने लिंकन पर क्रुद्ध होकर दक्षिणी विद्रोही राज्यों के अंतरिम सरकार कंफेडरेट को मान्यता दे दी। इतना ही नहीं, विद्रोही दक्षिणी राज्य को उसने सैनिक सहायता भी देना शुरू कर दी। इससे विद्रोहियों की हिम्मत बढ़ गयी। उसने उत्तरी अमेरिका के अनेक जल-जहाज समुद्र में डुबो दिये। लिंकन इस संभावना से कंपित हो गये कि विदेशी ताकतें विद्रोहियों की तरफ से यदि युद्ध में उतर आयीं तो अमेरिका राख का ढेर हो जायेगा। इधर अमेरिका की सेना एक वर्ष तक विद्रोही 'ली' को पीछे नहीं धकेल सकी।

34. घमासान युद्ध और विजय

जो जनरल सेना के साथ भेजा जाता वह विद्रोही सेना के जनरल ली का सामना करने से कतराता था अथवा सामना करता तो हार जाता था। घमासान युद्ध चलता था और हजारों लाशें गिरती थीं। लिंकन ने नीग्रो को भी अपनी सेना में भरती किया। युद्ध समाप्ति के बाद संघीय सेना में एक लाख छियासी हजार नीग्रो सैनिक थे।

अंततः विरोधी पक्ष का अजेय जनरल 'ली' पराजित हुआ और उसने आत्मसमर्पण कर दिया। ''घमासान युद्ध के बाद संघीय सेनाओं ने पूरे क्षेत्र पर कब्जा कर लिया। पर इस युद्ध में इतनी लाशें गिरीं कि दूर-दूर तक जहां तक नजर जाती थी, मैदान में लाशें ही नजर आती थीं। सितम्बर 1863 ई० में गैटिस्वर्ग पर कब्जा हुआ। परंतु लाशें अक्टूबर तक ठिकाने न लगायी जा सकीं। संघीय सैनिकों की लाशों को अक्टूबर के अंत तक दफन करने का काम शुरू किया, परंतु कंफेडरेट सैनिकों की लाशें यूं ही पड़ी रहीं। वर्षों के लंबे अंतराल के बाद भी उन्हें दफनाने का काम शुरू नहीं हो सका। पेंसिलवानिया में सत्तरह एकड़ जमीन संघीय सैनिकों के दफनाने के लिए तय

की गयी थी।''[1]

विजय के उपलक्ष्य में राष्ट्रपति लिंकन को भाषण के लिए बुलाया गया। लोग समझते थे कि विजय के उत्साह में हर्षित होकर भाषण देंगे। परंतु उन्होंने कहा—''हमारे सामने हजारों बहादुरों की लाशें पड़ी हैं। आओ, हम सब अमेरिकावासी मिलकर संकल्प लें कि दोनों ओर से इस गृहयुद्ध में मारे गये लाखों लोगों का बलिदान व्यर्थ नहीं जायेगा। ईश्वर की छत्रछाया में यह राष्ट्र नया जन्म लेगा। उसकी स्वाधीनता नयी होगी, और जनता का जनता पर तथा जनता द्वारा शासन का धरती से कभी अंत नहीं होगा।''[2]

35. अब्राहम लिंकन पुनः राष्ट्रपति

8 नवम्बर, 1864 ई० में अब्राहम लिंकन पुनः राष्ट्रपति हुए। 31 जनवरी, 1865 ई० को लिंकन ने राष्ट्रपति पद की शपथ ली और उन्होंने पहला काम यह किया कि संविधान में संशोधन कर गुलाम-प्रथा का अंत कर दिया। इसको लेकर गुलाम-प्रथा विरोधियों में उनका जय-जयकार हुआ। सदन में खुशी की तालियों की जोर से गड़गड़ाहट हुई।

गुलाम-प्रथा समाप्त करने के बाद लिंकन ने देश को सम्हालने में अपना मन लगा दिया। उनके प्रेमियों ने उन्हें सावधान किया कि गुलाम-प्रथा-समर्थक लोग आपकी जान के लिए खतरा हैं। आप अपनी सुरक्षा बढ़ा दें। परंतु लिंकन ने पीछे आने वाले महात्मा गांधी जैसे वचन कहे—''जब मेरा पूरा देश घायल पड़ा कराह रहा है, जब अमेरिकी अमेरिकी का खून बहाने पर विवश हैं, ऐसे में मैं अपनी जान की हिफाजत करने में लग जाऊं, यह घोर कायरता होगी और सच्चाई से पलायन भी। मैंने जो किया है, अमेरिका के हित में किया है, मानवता के हित में किया है। अब यदि कुछ लोग यह मानते हैं कि मैं गलत हूं, तो उनके हाथ खुले हैं। इस देश के नागरिक होने के नाते वे अपने राष्ट्रपति को जो चाहें सजा दे सकते हैं। राष्ट्रपति को इससे इंकार नहीं है।''[3]

लिंकन को तो युद्ध में मारे गये दोनों पक्षों के लाखों जवानों की विधवाओं और बच्चों की रक्षा, सेवा तथा पूरे अमेरिका के संघीय राज्य की सुव्यवस्था की चिंता थी। लिंकन दक्षिण सेनाओं के कमांडर इन चीफ जनरल 'ली' तथा अन्य जनरलों से मिले। उनको सांत्वना दी। लिंकन के मन में इनके प्रति थोड़ा भी द्वेष नहीं था। उन्होंने उन सबको क्षमाकर उनको साथ में ले लिया।

---

1. वही, पृ० 101।
2. वही, पृ० 101।
3. वही, पृ० 106।

लिंकन ने 'ली' से कहा—"Frighten the hatred and revenge out of country. Enough blood has been shed. Open the gates, let down the bars, scare them off."[1] घृणा और बदले की भावना को देश से हटाओ। बहुत रक्तपात हो चुका है। अब दिल के दरवाजे खोलो, मन को ग्रंथियों से रहित करो।

लिंकन अपनी पत्नी के साथ रथ पर बैठकर घूमने निकले और उन्होंने उनसे कहा कि मेरे चार वर्ष राष्ट्रपति-पद के बीत गये और वे युद्धकाल में गये। इसी बीच मेरा बेटा बिली मुझे छोड़ गया। अब लगता है कि भविष्य ठीक रहेगा। अमेरिका संघ को मजबूत बनाना है। उसकी सेवा करनी है। जब वे घूमकर ह्वाइट हाउस आये तो वे प्रसन्न थे।

36. अंतिम दिन

14 अप्रैल, 1865 का दिन था। लिंकन ने सोचा कि वर्षों से युद्ध की पीड़ा ढोते-ढोते मन भारी हो गया है। थियेटर में 'America Cousin' नामक नाटक चल रहा था। वहां चलकर उसे देखें और मन हलका करें। वे अपनी पत्नी मैरी टॉड और मित्रों के साथ रथ पर बैठकर थियेटर गये। वहां उन्हें एक विशेष स्थान पर बैठाया गया।

'जॉन विल्कस बूथ' नाम का एक युवक था। वह गुलाम-प्रथा का समर्थक था। वह अब्राहम लिंकन की जान का प्यासा था। उसने जान लिया था कि अब्राहम लिंकन नाटक देख रहे हैं और उनके पास न कोई अंगरक्षक है और न हथियार। उसे यह अवसर अपने काम के लिए उत्तम लगा। वह दाहिने हाथ में पिस्तौल और बायें हाथ में खंजर लेकर पीछे से आया और लिंकन के सिर में गोली मार दी। उनके दिमाग में गोली घुस गयी। वे आगे की ओर गिर पड़े। लिंकन के मित्र हत्यारे पर झपटे परंतु वह उन्हें खंजर से घायल कर भाग निकला। भागते समय वह गिरा और उसका पैर टूट गया, फिर भी वह भाग निकला। पीछे पकड़ा गया।

मैरी टॉड के रुदन से पूरा थियेटर गूंज गया। भगदड़ मच गयी। लिंकन का खून फर्श पर बह रहा था। डॉक्टरों ने बड़ा प्रयत्न किया, परन्तु अपने राष्ट्रपति को बचा न सके।

राष्ट्रपति लिंकन की मृत्यु से पूरा अमेरिका दहल गया। लाखों नर-नारी फूट-फूटकर रो पड़े। सैनिक, प्रजा सब बहुत पीड़ित हुए। सर्वाधिक रोये दक्षिण राज्यों के चालीस लाख नीग्रो जिनको गुलामी से मुक्ति दिलाने में उनका रक्त बहा।

---

1. **वही, पृ० 107।**

लिंकन का परिवार तो बेहाल हो गया। मैरी टॉड अपने तीनों पुत्रों को सीने से लगाकर रोती, विक्षिप्तों की तरह चीखती और अचेत हो जाती।

लिंकन की शव-यात्रा निकली, जिसमें चालीस लाख आंसू बहाते लोग थे। वाशिंगटन से शव स्प्रिंगफील्ड लाया गया। जुलूस उसके पीछे चला। जो रास्ते में मिलता वही जुलूस के साथ चलता और जहां तक चल पाता चलता। स्प्रिंगफील्ड जहां लिंकन का अपना घर था, वहां उनके शव को दफनाया गया।

लिंकन के साथी वकील हेंडरसन ने अपने आफिस पर लगे उस बोर्ड को देखकर जिस पर लिखा था—'लॉ फार्म ऑफ लिंकन एण्ड हेंडरसन।' कहा—"तू मुझे धोखा दे गया न! तू तो कहता था, राष्ट्रपति काल पूरा करके फिर स्प्रिंगफील्ड आयेगा और मेरे साथ फिर वकालत करेगा। इसी दशा में यह बोर्ड तेरे कहे अनुसार मैंने नहीं हटाया। अब तू स्प्रिंगफील्ड आया भी है तो इस हालत में......मेरे राष्ट्रपति मेरे दोस्त। बता अब मैं क्या करूं? क्या अब भी यह बोर्ड यूं ही लगा रहने दूं या इसे उखाड़ फेंकू।" कहते-कहते हेंडरसन रो पड़े।"[1]

"पति की मृत्यु के बाद मैरी लिंकन अपने बेटों के साथ अपने घर में न रह सकीं। वे अपनी बहन के साथ उन्हीं के घर में आ गयीं। जिस पलंग पर मैरी लिंकन अपने राष्ट्रपति पति के साथ सोया करती थीं, उसे वे अपने साथ ले आयी थीं। अपनी बहन के घर के एक कमरे में उन्होंने वह पलंग डलवाया था। वे बिलकुल चुप रहती थीं। रात को जब सोतीं तो पलंग की वह जगह खाली छोड़ देती थीं जिस पर राष्ट्रपति लिंकन सोया करते थे।"[2]

श्रीमती लिंकन मैरी टॉड अमीर घर की लड़की थीं। ठाट-बाट, शान-शौकत से रहने वाली थीं। उनकी विशेषता थी कि उन्होंने एक अस्त-व्यस्त, किंतु मानवता के प्रेमी प्रतिभावान पुरुष अब्राहम लिंकन को पति के रूप में वरण किया, और उनके त्यागमय जीवन से अपना सामंजस्य बैठाया। यह उनकी विशेषता थी। किंतु उनके ठाट-बाट, ऐश्वर्य और लौकिक उपलब्धियों का परिणाम क्या रहा? राष्ट्रपति पति को काल ने निर्दयतापूर्वक उनके सामने छीन लिया। वे अपने पुत्रों के साथ न रह सकीं। सबसे छोटा प्यारा पुत्र पहले ही दुनिया से चला गया; और वे अकिंचन होकर एक कमरे में मौन भाव से रहने लगीं। संतों का अनुभव और उपदेश ही सच्चाई है। सबको दीनता, अल्पता और अकेलापन में पहुंचना है चाहे वह सम्राट ही क्यों न हो। वह धन्य है जो ज्ञानपूर्वक स्वेच्छा से इन्हें स्वीकार लेता है। जो थोड़े में गुजर, विनम्र और अपनी असंगता एवं अकेलेपन में तृप्त हो जाता है, वह कृतार्थ हो जाता

1. **वही, पृ० 111।**
2. **वही, पृ० 111।**

है। अतएव कबीर साहेब की यह वाणी याद रखना चाहिए—

एक दिन ऐसा आयेगा, कोइ काहू का नाहिं।
घर की नारी को कहे, तन की नारी जाहिं॥

लिंकन के निधन के चार वर्ष बाद भारत में महात्मा गांधी का जन्म होता है। मानो लिंकन ही महात्मा गांधी बनकर भारत में आ गये हैं अधिक उन्नत होकर।

37. लिंकन-अभियान की अनुपूर्ति

आप ऊपर पढ़ आये हैं कि जब अब्राहम लिंकन दोबारा राष्ट्रपति हुए, उन्होंने संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान में संशोधन कर गुलाम-प्रथा को बंद करवा दिया और उसके बाद ही उनका जीवन नहीं रहा।

अमेरिका में रहने वाले अश्वेतों को गुलामी से तो छुट्टी मिल गयी, परंतु वे गोरों के मोहल्लों में नहीं रह सकते थे, बस तथा ट्रेन में गोरों के साथ नहीं बैठ सकते थे। अश्वेतों के लिए बस में पीछे चिह्नित सीटें होती थीं। यदि दस सीटें हैं और पंद्रह अश्वेत आ गये, तो उसी में ठसकर चलें। आगे गोरों वाली सीटें चाहे खाली हों, अश्वेत नहीं बैठ सकते थे। इसी तरह ट्रेन-यात्रा की भी बात थी। पाठकों को स्मरण होना चाहिए कि इन्हीं गोरों ने अफ्रीका में ट्रेन-यात्रा में गांधी जी को ट्रेन की प्रथम श्रेणी के डिब्बे से उतर जाने के लिए कहा था। तब गांधी जी ने प्रथम श्रेणी का टिकट दिखाया। गोरों ने डांटा। तब भी जब गांधी जी नहीं हटे तब उन्हें डिब्बे से बाहर फेंक दिया गया। अमेरिका में अश्वेत लोग चुनाव में वोट नहीं दे सकते थे। कुल मिलाकर यही था कि अब्राहम लिंकन के प्रयास से अमेरिका के अश्वेतों को गुलामी से छुट्टी मिल गयी थी। अब उन्हें गोरे बेच-खरीद नहीं सकते थे, वे किसी की संपत्ति नहीं थे, और स्वतन्त्रता से मेहनत-मजदूरी करके खा-जी सकते थे। परंतु उन्हें अमेरिका के गोरों के समान सामाजिक और राष्ट्रीय अधिकार नहीं थे। यह विषमता की त्रासदी अश्वेतों ने लगभग सौ वर्षों तक झेला।

38. नयी क्रांति

सन् 1955 ई० की बात है। पंद्रह वर्ष की एक अश्वेत छात्रा बस पर उस तरफ बैठी जहां उसका अधिकार नहीं था। गोरों ने उसे उठने की बात कही, परंतु वह नहीं उठी। इससे गोरों को लगा कि ये अश्वेत ढीठ हो रहे हैं। यह चर्चा का विषय बना। आयी-गयी बात खत्म हो गयी।

39. रोजा पार्क की वीरता

सन् 1955 ई० की ही बात है। रोजा पार्क नाम की अश्वेत महिला बस में उस सीट पर बैठी जिस पर गोरों के अनुसार अश्वेतों को बैठने का अधिकार

नहीं था। गोरों ने उसे उठने के लिए कहा, किंतु वह नहीं उठी। परिणामत: रोजा पार्क गिरफ्तार कर जेल में डाल दी गयी।

40. मार्टिन लूथर किंग जूनियर की क्रांति

अमेरिका के जार्जिया प्रदेश के अटलांटा शहर में रहने वाले अश्वेतों में एक सज्जन थे, उनका नाम था माइकल किंग। उनको 15 जनवरी सन् 1929 ई० में पुत्र पैदा हुआ। उन्होंने उसका नाम रखा माइकल किंग जूनियर। पिता अपने पांच वर्ष के बच्चे को लेकर जर्मनी की यात्रा में गये जहां पर पंद्रहवीं ई० में प्रसिद्ध मार्टिन लूथर हुए थे। जिन्होंने इसाइयत में एक क्रांति लायी थी और उन्होंने इसाइयत में अनेक संशोधन किया था। इसके साथ इसाइयत में एक प्रोटेस्टेंट संप्रदाय ही निकल पड़ा।

माइकल किंग मार्टिन लूथर की क्रांति को समझकर इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने अपना नाम 'माइकल किंग' से बदलकर 'मार्टिन लूथर किंग' और अपने पुत्र 'माइकल किंग जूनियर' का नाम बदलकर 'मार्टिन लूथर किंग जूनियर' रखा।

मार्टिन लूथर किंग जूनियर के शिक्षा गुरु थे 'हर्वर्ड थुरमन' जो भारत के महात्मा गांधी से अत्यन्त प्रभावित थे। गांधी जी के अहिंसात्मक असहयोग आंदोलन जो भारत में अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध चले थे अपने गुरु हर्वर्ड थुरमन से उसका प्रभाव लेकर मार्टिन लूथर किंग जूनियर ने अमेरिका के अश्वेतों को समान अधिकार दिलाने के लिए अहिंसात्मक अभियान चलाया। साथ-साथ वे अब्राहम लिंकन के मानवतावादी सफल अभियान से प्रभावित थे ही।

रोजा पार्क के बस से न उठने से जब उसे गिरफ्तार कर जेल में डाल दिया गया, तब किंग ने उसके काम को स्वयं ले लिया। अश्वेतों को समान अधिकार दिलाने के लिए किंग का एक अच्छा संगठन था। उन्होंने इस संगठन के सहयोग से अश्वेतों के लिए यह आदेश निकाला कि वे बस का बहिष्कार करें। अश्वेतों ने बस पर बैठना बन्द कर दिया। पूरे अमेरिका में यह बात मीडिया द्वारा छायी रही।

किंग को भी जेल में डाल दिया गया। उनके घर में गोरों ने बम गिराया। अन्तत: जेल में बंद लोगों को सरकार ने छोड़ दिया। तीन सौ पच्चासी (385) दिनों के बस-बहिष्कार अभियान के बाद आन्दोलन स्थल 'मोन्टगुमरी' नाम के शहर में अश्वेतों को बस में बैठने का समान अधिकार मिला।

1963 ई० में वाशिंगटन स्थित अब्राहम लिंकन मेमोरियल के मैदान में मार्टिन लूथर किंग जूनियर ने 'मेरा एक स्वप्न' नाम से ऐतिहासिक भाषण दिया, जिसमें ढाई लाख लोग इकट्ठे थे जो सर्वाधिक ऐतिहासिक भीड़ थी।

इसका अमेरिका पर व्यापक प्रभाव पड़ा। फिर देश में उनके भाषण होते रहे। उनका पूरा अभियान गांधीवादी ढंग से अहिंसात्मक था। अन्तत: अश्वेतों को सन् 1964 ई० में समान नागरिक अधिकार मिला, और सन् 1965 ई० में मतदान करने का अधिकार मिला।

मार्टिन लूथर किंग जूनियर सन् 1959 में भारत आये थे और महात्मा गांधी जी के जन्म-स्थल तथा कार्यस्थल देखे और गांधी जी के परिवार से मिले। वे गांधी जी से अत्यन्त प्रभावित थे।

41. अंतत: पूर्ण विजय

एक बार टेनिसी नामक शहर में सफाई कर्मचारियों को सफाई में लगाया गया। उनमें श्वेत-अश्वेत दोनों प्रकार के लोग थे। दो घंटे काम करने के बाद मौसम खराब हो गया, इसलिए कर्मचारियों को छुट्टी दे दी गयी। अश्वेतों को केवल दो घंटे की मजदूरी दी गयी और श्वेतों को पूरे दिन की मजदूरी दी गयी। इस बात को लेकर अश्वेतों ने हड़ताल किया।

उपर्युक्त हड़ताल में अश्वेतों के अधिकार दिलाने को लेकर 29 मार्च, 1968 ई० में मार्टिन लूथर किंग जूनियर टेनिसी शहर गये। इसी दौरान जब वे एक होटल की बालकनी में खड़े थे, उनके ऊपर गोली चलायी गयी और वे एक घंटा में मर गये।

उन्होंने भाषण में कहा था कि मैं भी साधारण आदमी की तरह अपना लंबा जीवन जीकर मरना चाहता हूं। परंतु मुझे आभास है कि मेरे शरीर के लोग ग्राहक हैं। इस बात को लेकर मैं चिंतित नहीं हूं। मैंने जिस काम को किया है उसके सर्वोच्च फल को देखने के लिए मैं भले न रहूं, परंतु साथ के लोग वह काम पूरा करेंगे।

उनका शांतिपूर्वक अहिंसात्मक आन्दोलन अश्वेतों तथा सभी उपेक्षितों के उद्धार के लिए था। इस उच्च काम के लिए उन्हें शांतिदूत मानकर 1964 ई० में नोबेल पुरस्कार मिला था। किंग ने अपने अनुगामियों को कह रखा था कि मेरे मरने के बाद मेरी बड़ाई में नोबेल पुरस्कार की चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है।

उनकी शव-यात्रा में लाखों लोग सम्मिलित हुए। पूरे अश्वेत और मानवतावादी गोरे भी हृदय से रो दिये।

चारों आंखों के अंधे लोग ईसा, मंसूर, सरमद, गांधी, लिंकन, किंग आदि को कहां समझ पाये? परंतु सत्य की विजय होती है। अब्राहम लिंकन के बलिदान के बाद अमेरिका-निवासी अश्वेतों को समान अधिकार प्राप्त करने में ठीक सौ वर्ष लगे। आज-कल की अमेरिकी उन्नति में नीग्रो लोगों का प्रबल

हाथ है। यहां तक कि खेल में भी वे आगे हैं। अब नीग्रो शब्द भी मानवता विरोधी माना जाता है।

आज संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति 'बराक ओबामा' हैं जो अफ्रीकी मूल के अमेरिकावासी अश्वेत नीग्रो हैं और सैतालीस (47) वर्ष की उम्र के लगभग हैं और प्रबल जनमत से राष्ट्रपति पद पर आये हैं। अमेरिकी इतिहास में बराक ओबामा प्रथम अश्वेत राष्ट्रपति हैं।

जो स्वप्न जार्ज वाशिंगटन, अब्राहम लिंकन तथा मार्टिन लूथर किंग जूनियर आदि ने देखा था वह आज पूरा होते दिख रहा है। 2000 ई० से मार्टिन लूथर किंग जूनियर के जन्म दिन 15 जनवरी को पूरे अमेरिका में सरकारी छुट्टी घोषित हुई।

19

महर्षि कार्ल मार्क्स

पसीना बहाकर कठिन परिश्रम से जीवन धारणोपयोगी वस्तुओं के उपार्जन करने वाले कर्मकरों एवं मजदूरों की सुख-सुविधा के पक्षधर इस विश्व में अनेक महापुरुष हुए हैं, परन्तु उनमें कार्ल मार्क्स का नाम इस धरती पर ज्योति-स्तम्भ की तरह जाज्वल्यमान है। आप भौतिक जीवन और जगत के कुशल व्याख्याकार, दार्शनिक एवं ऋषि हैं। आपके जीवन और कर्तव्य के विषय में यहां संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

1. जन्म और शिक्षा

कार्ल मार्क्स का जन्म 5 मई, 1818 ई० को जर्मनी के ट्रीर नगर में हुआ, जो राइनलैण्ड के वेस्टफालिया क्षेत्र में पड़ता है। इस क्षेत्र में लोहा और कोयला प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं, इसलिए यहां कारखानों का विकास हुआ और पूंजीपतियों का वर्चस्व बढ़ा, जिसे कार्ल मार्क्स को बचपन से ही देखने और समझने का अवसर मिला।

कार्ल मार्क्स यहूदी जाति में जन्मे थे। उनके पितामह का नाम मार्क्स लेवी था और वे ट्रीर नगर के यहूदियों के रब्बी अर्थात पुरोहित थे। यदि हम भारतीय भाषा में कहें तो कार्ल मार्क्स अपने देश के कट्टर ब्राह्मण-वंश में जन्मे थे।

कार्ल मार्क्स के पिता का नाम हर्शल मार्क्स था जो कार्ल मार्क्स के छह वर्ष की उम्र में ही इसाई हो गये थे और उनका नाम हर्शल मार्क्स से हाइनरिख मार्क्स हो गया था। कार्ल मार्क्स के पिता हाइनरिख मार्क्स रब्बीगिरी (पौरोहित्य) छोड़कर वकालत करते थे। घर सम्पन्न तथा खुशहाल था। कार्ल मार्क्स का बालकपन प्रसन्नता में बीता। माता आगे चलकर बच्चे को धनपति के रूप में देखना चाती थी और पिता विद्वान के रूप में। कार्ल मार्क्स विद्वान तो महान हुए, परन्तु आर्थिक संकट जीवन भर झेलते रहे।

कार्ल मार्क्स ट्रीर नगर के ही स्कूल में प्रवेश किये और सत्तरह वर्ष की उम्र में कालेज से प्रमाणपत्र पाकर उत्तीर्ण हो गये। वे जर्मन भाषा में निष्णात थे ही, लातिन भाषा पर भी उनका अद्‌भुत अधिकार था।

मार्क्स को उनके पिता ने बोन युनिवर्सिटी में दाखिल कराकर उन्हें कानून पढ़ाना शुरू किया। पिता वकील थे तो वे पुत्र को भी वकील बनाना चाहते थे।

पिता को मार्क्स के प्रति यह शिकायत रहती थी कि वे पैसे बरबाद करते हैं।

मार्क्स के पिता हाइनरिख का ट्रीर के एक सामंती प्रीवी कौंसिलर एवं गृहमंत्री लुडविग फान वेस्टफालेन से परिचय था। उनकी एक अत्यन्त सुन्दरी एवं शीलवती पुत्री थी। जिसका नाम जेनी था। इस लड़की से कार्ल मार्क्स का प्रेम उनके अठारह वर्ष की उम्र में ही हो गया था। इस समय जेनी की उम्र बाइस वर्ष की थी, अर्थात मार्क्स से चार वर्ष अधिक। इसी लड़की से मार्क्स का आगे विवाह हुआ जो जीवन भर एक पतिव्रता के रूप में मार्क्स की सेवा करती रही और उनके तपस्वी जीवन में सहयोग करती रही।

मार्क्स के पिता ने उन्हें बोन युनिवर्सिटी से हटाकर बर्लिन युनिवर्सिटी में दाखिल कराया, क्योंकि यह महत्त्वपूर्ण युनिवर्सिटी थी। परन्तु यहां के प्रोफेसरों के लेक्चरों से मार्क्स प्रभावित नहीं होते थे। केवल एडवर्ड गांज नाम के प्रोफेसर से ही मार्क्स प्रभावित थे। वस्तुत: मार्क्स स्वतन्त्र विचारक थे। वे प्राय: लकीर पर चलना पसन्द नहीं करते थे। ''दस वर्ष में युनिवर्सिटी जो उन्हें नहीं दे सकती थी, वह एक साल के भीतर अपने अध्यवसाय से वे प्राप्त कर सकते थे।''[1]

मार्क्स ने कुछ कविताएं भी लिखीं, परन्तु पीछे उसे छोड़ दिया। वे कानून, इतिहास तथा अधिक दार्शनिक ग्रंथों के अध्ययन में डूबे रहने लगे।

यूरोप के महान दार्शनिक हेगेल (1770-1831) का कार्य क्षेत्र जर्मनी का यही बर्लिन नगर था। हेगेल का दर्शन बर्लिन युनिवर्सिटी में पढ़ाया जाता था। मार्क्स ने उसे ध्यान से पढ़ा। मार्क्स ने जर्मन भाषा के साथ ग्रीक, लैटिन, इतालियन तथा आगे चलकर इंगलिश भाषा भी पढ़ी।

युनिवर्सिटी के धनी घराने के लड़के भी एक वर्ष में पांच सौ डालर खर्च करते थे, परन्तु मार्क्स सात सौ डालर खर्च करते थे। इसमें कारण था कि वे अपने मित्रों के सहयोग में भी पैसे खर्च करते रहते थे। बर्लिन युनिवर्सिटी में पढ़ते समय जब मार्क्स बीस वर्ष के थे तब उनके पिता हाइनरिख का तीन महीने की बीमारी में शरीरांत हो गया।

पिता के मरने के बाद भी मार्क्स तीन वर्षों तक बर्लिन युनिवर्सिटी में पढ़ते रहे। उन्हें हेगेल का दर्शन बहुत प्रभावित किया। यद्यपि हेगेल के दर्शन को पढ़ाने वाले उस समय योग्य प्रोफेसर नहीं थे, तथापि इस दर्शन के प्रेमियों का एक बड़ा मण्डल था। मार्क्स इसके अध्ययन में रम गये।

वैसे हेगेल का दर्शन बताता था कि व्यक्ति से बड़ा राज्य है। राज्यतंत्र ही शासन की अच्छी व्यवस्था दे सकता है। शासन में जनता के प्रतिनिधियों की

---

1. **कार्ल मार्क्स, पृष्ठ 9। लेखक राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद।**

आवश्यकता नहीं। इसके लिए प्रभुताशाली व्यक्तियों की आवश्यकता है। ये सारी बातें मार्क्स के विचारों के विरुद्ध एवं प्रतिक्रियावादी थीं। परन्तु हेगेल में द्वन्द्वात्मक दर्शन के बीज थे। 'हेगेल के दर्शन के अनुसार अस्ति (है, भव) एक चीज है जिसका प्रतिद्वन्द्वी नास्ति है। इन दोनों के विरोधी समागम से एक तीसरी उच्च धारणा भवति (होती है) निकलती है। जिसके अनुसार हर एक चीज उसी एक ही समय 'है' भी और 'नहीं' भी है, क्योंकि हर एक चीज दीपक लौ की तरह सदा परिवर्तन की स्थिति में, विकास और पतन की स्थिति में है। इस दर्शन के अनुसार विकास की प्रक्रिया निम्न से उच्चतर रूप में निरन्तर परिवर्तित होती रहती है।''[1]

जैसा ऊपर बताया गया है कि हेगेल का दर्शन राजतन्त्र का पक्षपाती था, परन्तु वह उसी तरह धर्म का पक्षपाती नहीं था। हेगेल की घोषणा थी कि बाइबिल की कहानियां साधारण कहानियों की तरह ही काल्पनिक हैं जो ऐतिहासिक सच्चाइयों से दूर हैं। इस विचार से प्रभावित होकर डेविड स्ट्रास नामक एक युवक ने ईसा की जीवनी लिखी जो 1835 ई० में प्रकाशित हुई, जिसमें ईसा को ऐतिहासिक मानते हुए बाइबिल की कहानियों को ऐतिहासिक कसौटी पर कसने का प्रयास किया गया। इससे इसाई धार्मिक जगत में एक खलबली मच गयी। डेविड स्ट्रास ने अपनी तीव्र आलोचना में बताया कि बाइबिल निर्भ्रांत नहीं है।

मार्क्स की उम्र बीस वर्ष की थी। वे इसी समय तरुण हेगेलीय क्लब के सदस्य बन गये। उसके कितने ही सदस्य मार्क्स के चिंतन, प्रतिभा और लेखनी का लोहा मानते थे।

मार्क्स के इस अध्ययन के समय में कोपन और बावर नाम के दो मेधावी विद्वान थे। इनके प्रगाढ़ सम्पर्क में मार्क्स आये। ''कोपन ने ही पहले पहल फ्रांस की महाक्रांति के शासन का ऐतिहासिक तौर से विवेचन किया था। उसने अपने समसामयिक इतिहास लेखकों की क्रांति सम्बन्धी गलत धारणाओं का जबर्दस्त खंडन किया और कितने ही नये क्षेत्रों में ऐतिहासिक खोज की।''[2]

दूसरे विद्वान बावर ने कहा कि बाइबिल की कहानियों में इतिहास का थोड़ा भी अंश नहीं है। यह सारी कपोलकल्पित हैं। इसाईधर्म विश्वधर्म के रूप में संसार पर लादा नहीं जा सकता।

मार्क्स ने बर्लिन में ग्रीक दर्शन का गहरा अध्ययन किया। उन्होंने 1841 में 'दैमोक्रेतीय और एपीकुरीय स्वाभाविक दर्शन के भेद' विषय पर शोध प्रबन्ध

---

1. **कार्ल मार्क्स, पृष्ठ 12।**
2. **वही, पृष्ठ 13।**

प्रस्तुत कर पी–एच० डी० (दर्शनाचार्य) की उपाधि प्राप्त की। दैमोक्रेतु और ऐपीकुरु—दोनों परमाणुवादी दार्शनिक थे। एपिकुरु ने कहा था 'वह अनीश्वरवादी नहीं है जो कि पामर जन-समूह के देवताओं की अवमानना करता है, बल्कि अनीश्वरवादी वह है, जो कि जन-समूह के देवताओं सम्बन्धी रायों को स्वीकार करता है।.... प्रोमिथियों दार्शनिक जगत का सर्वश्रेष्ठ सन्त तथा शहीद था। उसने कहा था कि सीधा सत्य यह है कि मैं सभी देवताओं के प्रति घृणा रखता हूं। प्रोमोथियों ने देवताओं के चाकर हेरमी को जैसा उत्तर दिया था, उन्हीं शब्दों में—'निश्चिंत रहो, तुम्हारी निकृष्ट दासता से मैं अपने दुखों को कभी नहीं बदलूंगा।'[1]

2. कार्यक्षेत्र

मार्क्स आगे चलकर पत्र-पत्रिकाओं में राजनीतिक लेख लिखने लगे। उनके लेख बड़े विचारोत्तेजक तथा क्रांतिकारी होते थे। फिर एक पत्र के सम्पादक बन गये। वे तात्कालिक संसद की तीव्र आलोचना करते थे।

इसी समय एक योग्य विद्वान लुडविग फ्वारबाख (1804-32) हुए, जो बड़े ही क्रांतिकारी थे। आपको देहात का एकांत शांत जीवन पसन्द था। हेगेल के अनुयायियों की तरह फ्वारबाख भी शहर को कल्पनाशील दिमागों का कारावास मानते थे और देहात को स्वतन्त्र, शांत जीवन का प्रांगण। फ्वारबाख एकांतवासी होते हुए तीव्र चिंतक थे। उन्होंने इसाइयतसार में लिखा 'मनुष्य धर्म को बनाता है धर्म मनुष्य को नहीं। और मनुष्य की कल्पना जिस उच्चतम सत्ता को बनाती है, वह उसकी अपनी सत्ता का कल्पित प्रतिबिम्ब छोड़ और कुछ नहीं है।'[2] फ्वारबाख राजनीति से प्रेम नहीं रखते थे। मार्क्स राजनीति से प्रेम रखते थे और वे गरीबों की उन्नति चाहते थे। इसलिए वे राजपुरुषों तथा पूंजीपतियों की कड़ी आलोचना करते थे। उन्होंने फ्वारबाख के विचारों से भी काफी प्रेरणा ली।

मार्क्स ने देखा कि जर्मनी में रहकर स्वतन्त्र पत्रकारिता एवं लेखन असम्भव है। वे जर्मनी को छोड़कर दूसरे देश चले जाने की बात सोचने लगे।

3. विवाह

जैसा कि पहले बताया गया है कि कार्ल मार्क्स की एक लड़की जेनी, जो उनसे चार वर्ष बड़ी थी और एक सम्भ्रांत घराने की पुत्री थी, से प्रेम था और उसकी मंगनी हुए सात वर्ष बीत गये। मार्क्स को घरेलू कठिनाइयां आईं, परन्तु

---

1. **वही, पृष्ठ 19-20।**
2. **वही, पृष्ठ 28।**

वे लोककल्याण की भावना से इतने ओतप्रोत थे कि उन्हें व्यक्तिगत कठिनाइयां प्रभावित नहीं कर पाती थीं। उन्होंने 19 जून, 1843 ई० को जेनी से विवाह किया। 'जेनी का सारा जीवन पुराणवर्णित किसी परम तपस्विनी सती जैसा मालूम पड़ता है।'[1]

4. पेरिस में (1843-45)

कार्ल मार्क्स पेरिस में लगभग तीन वर्ष रहे। उनके राजनीतिक विचार पक रहे थे। उनके द्वारा उठाये गये कदम राजपुरुषों और पूंजीपतियों को परेशानी में डालते थे। वे अच्छे-अच्छे लेख लिखते थे और कभी-कभी इतने गहरे अध्ययन में डूबते थे कि तीन-चार रात तक सोते नहीं थे। इससे स्वभाव में चिड़चिड़ापन आ जाता था और स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव होना ही था।

पेरिस में अपने लेखों और विचारों के कारण मार्क्स ज्यादा दिन नहीं रह सके और वे कई अन्य मित्रों के साथ वहां से 1845 ई० में निर्वासित कर दिये गये। इस तरह फ्रांस की सरकार ने जर्मन क्रांतिकारियों को 11 जनवरी, 1845 ई० को देश से चले जाने की आज्ञा दी। इस निर्वासन के मूल में जर्मनी-सरकार का दबाव था।

5. फ्रीडरिख एंगेल्स

फ्रीडरिख एंगेल्स का जन्म 28 नवम्बर, 1820 ई० को जर्मनी के बर्मेन शहर में हुआ था। इस तरह वे मार्क्स से दो वर्ष छोटे थे। आगे चलकर एंगेल्स मार्क्स के परममित्र और शिष्य होकर जीवन भर रहे।

एंगेल्स के पिता धनी थे। वे एक कारखाने के स्वामी थे। इसलिए एंगेल्स का बचपन धनी परिवार में पला था। एंगेल्स ने साधारण विद्याध्ययन के बाद एक वर्ष कालेज में पढ़ा, और उसके बाद वे पिता की फैक्टरी में काम करने लगे। उन्होंने उसमें कई वर्षों तक काम किया, परन्तु उनका मन उसमें नहीं लगता था। उनके मन में भी मार्क्स की तरह ही मजदूरों एवं कर्मकरों की उन्नति एवं सर्वहारा की मुक्ति की तीव्र इच्छा थी।

एंगेल्स एक वर्ष 1841-42 के बीच में बर्लिन में तोपखाने में सैनिक सेवा में भी रहे। इस बीच छद्म नाम से वे क्रांतिकारी पत्र-पत्रिकाओं में लेख भी भेजते रहते थे।

एक साल के बाद सैनिक सेवा से निकलकर वे इंग्लैण्ड चले गये। वे एक कताई मिल में क्लर्क का काम करने लगे। इस मिल में एंगेल्स के पिता भागीदार थे। इसी यात्राकाल 1842 ई० में एंगेल्स ने कोलोन में कार्ल मार्क्स

---

1. **वही, पृष्ठ 37।**

से पहली मुलाकात की। परन्तु मार्क्स भावुक नहीं थे। वे यथार्थवादी विचार के थे। उन्होंने एंगेल्स की भेंट के समय अपना उत्साह नहीं प्रकट किया। परन्तु यही एंगेल्स मार्क्स का जीवनभर का मित्र, विचारों और कर्मों में साथी तथा जीवनपर्यन्त उनका आर्थिक सहयोगी बना। मार्क्स और एंगेल्स के राजनीतिक तथा दार्शनिक विचारों में अत्यन्त समानता थी। इन दोनों ने मिलकर पहलेपहल 'पवित्र परिवार' नामक पुस्तक लिखी।

6. ब्रुशेल्स में निर्वासित

कार्ल मार्क्स अपने विचारों के कारण पेरिस से निकाल दिये गये। अत: वे अपने परिवार के साथ ब्रुशेल्स में आकर बस गये। एंगेल्स ने मार्क्स के लिए धन का प्रबन्ध किया। परन्तु ब्रुशेल्स में भी वहां की सरकार ने मार्क्स से यह बात लिखवाकर हस्ताक्षर करा लिया कि बेल्जियम की राजनीति पर कुछ नहीं लिखेंगे। मार्क्स ने इसलिए हस्ताक्षर कर दिया कि उन्हें न तो ऐसा कुछ करने की इच्छा थी और न संभव था।

मार्क्स अभी अपने देश प्रशिया के नागरिक थे। परन्तु उन्होंने 1845 ई० में वहां की नागरिकता त्याग दी। फिर वे जीवन भर किसी देश के नागरिक नहीं बने। मार्क्स कहते थे कि मैं इस धरती का नागरिक हूं।

1845 ई० में एंगेल्स ब्रुशेल्स आकर मार्क्स सहित इंग्लैण्ड गये और छह सप्ताह तक वहां दोनों अध्ययन में लगे रहे।

ब्रुशेल्स में रहते हुए मार्क्स एंगेल्स के साथ अनेक राजनीतिक काम करते रहे। 1847-48 तक ब्रुशेल्स में कम्युनिस्टों की संख्या काफी बढ़ गयी। यह अलग बात है कि मार्क्स और एंगेल्स जैसा कोई नेता उनमें नहीं था।

मार्क्स और एंगेल्स ने ब्रुशेल्स में 'कर्मकर शिक्षा लीग' की स्थापना की, फिर उससे जर्मनी, लन्दन, पेरिस और स्विट्जरलैण्ड के कम्युनिस्टों से सम्बन्ध स्थापित किया। ऐतिहासिक कम्युनिस्ट-घोषणा-पत्र यहीं तैयार हुआ। इसके प्रकाशित होने पर यूरोप में तहलका मच गया और जगह-जगह क्रांतियां होने लगीं। मार्क्स को इन क्रांतियों में भाग लेने का उत्साह होने लगा। इस समय उनकी उम्र तीस वर्ष की थी।

मार्क्स शरीर से गठीले, माथा बड़ा, आंखें काली तथा चमकीलीं, बाल काले, दाढ़ी घनी तथा पूरा व्यक्तित्व आकर्षक था। अपने क्षेत्र के विद्वान तो वे अद्भुत थे। वे जहां पहुंचते अपने व्यक्तित्व और कर्तृत्व से अद्भुत प्रभाव डालते थे।

7. क्रान्ति

जर्मनी में क्रान्ति हुई। मार्क्स ने पत्रकारिता के द्वारा क्रान्तियों को बल दिया। उनके साथी कई थे। जिनमें एंगेल्स तो उनके आत्मा ही थे। मार्क्स

जर्मनी के राइनलैण्ड में पहुंचे जो उद्योग-धन्धों का गढ़ था। यहां उन्होंने मित्रों के सहयोग से 'नोयो राइनिशे जाइटुंग' नाम का पत्र निकाला। इस पत्र से जनता में चेतना जगी। परन्तु वहां की सरकार ने मार्क्स को देश-निकालने का आदेश दिया। मार्क्स ने पहले ही प्रशिया की नागरिकता का त्याग कर दिया था। इसलिए उन्हें जर्मनी से निकालना सरल था। मार्क्स पर मुकदमा चला। मार्क्स ने अपने पत्र को बन्द कर दिया, यद्यपि उसकी ग्राहक संख्या उस समय छह हजार हो गयी थी। मार्क्स ने अपनी पत्नी के चांदी के बरतन रखकर शेष सारी चीजें बेचकर मुद्रकों, कागज व्यापारियों, सम्पादकों, संवाददाताओं एवं क्लर्कों के पैसे चुकाये। आगे चलकर उन चांदी के बरतनों को फ्रांकपुर्त में बंधक रखकर कुछ पैसे लिये जो घर-गृहस्थी चलाने के लिए थे।

मार्क्स जर्मनी से फ्रांस गये। परन्तु वहां भी उन्हें चैन से रहने की जगह नहीं मिली। मार्क्स ने फ्रांस भी छोड़ने के लिए अपनी बात एक मित्र को लिखी 'इसके बाद 15 सितम्बर, 1848 ई० को मेरी पत्नी भी आ जायेगी, यद्यपि यह मैं नहीं जानता कि उसकी यात्रा और फिर कहीं सिर रखने के लिए पैसे कहां से आयेंगे।'[1]

8. लन्दन में निर्वासित तथा दरिद्रता के दिन

मार्क्स अपने देश से निर्वासित होकर लन्दन में रह रहे थे। कम्युनिस्टों की जितनी क्रांतियां हुई थीं सशस्त्र हुई थीं और सब विफल हो गयी थीं।

मार्क्स को 1849 ई० के नवम्बर में चौथा बच्चा हुआ, परन्तु आर्थिक संकट के कारण उसका ठीक से लालन-पालन नहीं हुआ। मार्क्स की पत्नी ने लिखा था—'बेचारा छोटा-सा फरिश्ता इतनी तकलीफों और चिंताओं से पाला गया, जिससे वह सदा बीमार और रात-दिन भीषण यंत्रणा में पड़ा रहता था। जब से वह दुनिया में आया, एक रात भी ठीक से नहीं सो सका और सोया भी तो एक समय दो या तीन घण्टे से अधिक नहीं।'[2] यह बच्चा जन्म के एक वर्ष बाद ही मर गया था।

मार्क्स के घर में कभी-कभी अन्न के दाने भी नहीं रहते थे। चीजें बंधक पर रखकर तथा उधार लेकर भी कब तक भोजन चल सकता था। इसी बीच घर के मालिक ने मार्क्स को घर से निकाल दिया। मार्क्स ने तो किराया दे दिया था, परन्तु घर वाले ने मूल भूमिपति को पैसा नहीं दिया था, तो उसके अपराध का दण्ड मार्क्स पर आ पड़ा। फिर मार्क्स एक गरीब कालोनी में दो कमरों के मकान किराये पर लेकर अगले छह वर्षों तक रहते रहे। मार्क्स अपने

---

1. **वही, पृष्ठ 90।**
2. **वही, पृष्ठ 95।**

उच्च आदर्शों के कारण ये विपत्तियां झेलते थे और इनमें वे चिंतित नहीं थे। बल्कि वे समझते थे कि गरीबों के काम करने के लिए गरीबी झेलनी ही पड़ेगी।

सन् 1850 ई० का समय है, मार्क्स अपनी महत्त्वपूर्ण कृति कैपिटल (पूंजी) के लिखने के लिए ग्रंथालयों में गहरा अध्ययन करके सामग्री इकट्ठी कर रहे थे, और इस समय उनके किराये के घर में घोर दरिद्रता थी।

यह स्थिति देखकर एंगेल्स उद्विग्न हो गये। वे एक आदर्शवादी साम्यवादी थे। इसलिए अपने पिता के कपड़े की मिल को घृणा से देखते थे। परन्तु उन्होंने मार्क्स को आर्थिक सहयोग देने के लिए उस मिल में नौकरी की।

अगस्त 1851 ई० को मार्क्स ने बेडेमेयर नाम के एक मित्र को लिखा था—'तुम्हें मालूम होगा कि मेरी स्थिति कितनी निराशापूर्ण है। यदि यही अवस्था देर तक रही तो मेरी पत्नी की हालत बहुत बुरी हो जायेगी। अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए दिन-प्रतिदिन जिन संघर्षों और कठिनाइयों का सामना लगातार करना पड़ रहा है, उसके कारण वह कृश और निर्बल होती जा रही है। इस सबके ऊपर मेरे विरोधियों की नीचता अपना प्रभाव डाल रही है। वह मेरे ऊपर किसी सच्चाई से आक्रमण करने का प्रयत्न नहीं करते, बल्कि अपनी क्षमता के कारण मेरे प्रति संदेह पैदा करते, मेरे बारे में बड़े ही अवर्णनीय कलंकों को फैलाते, बदला लेने की कोशिश करते हैं।......जहां तक मेरा सम्बन्ध है, मैं इन सारी बातों पर हंस सकता हूं, उनसे मैं अपने काम में जरा भी बाधा नहीं पड़ने देता। लेकिन तुम सोच सकते हो कि इससे मेरी पत्नी का भार हलका नहीं होगा। वह बीमार है। उसके ज्ञानतन्तु दुर्बल हो गये हैं। वह सबेरे से शाम तक भयंकर दरिद्रता से लोहा लेने के लिए मजबूर है।'[1]

इसके बाद मार्च में मार्क्स को एक लड़की पैदा हुई। उस समय उन्होंने एंगेल्स को परेशान होकर लिखा था कि इस समय घर में एक पैसा भी नहीं है।

मार्क्स ऐसी कठिनाइयों में भी प्रसन्न रहते थे, क्योंकि उनको यह आत्मविश्वास था कि मैं गरीबों के लिए काम कर रहा हूं और भविष्य उज्ज्वल है। मार्क्स उस समय के संसार के सबसे बड़े पुस्तकालय तथा संग्रहालय ब्रिटिश म्युजियम में सुबह नौ बजे से शाम सात बजे तक पढ़ते तथा अपनी रचनाओं के लिए नोट्स लिखते थे। परन्तु अनेक बार इस बीच खाने के लिए कोई वस्तु उनके पास नहीं रहती थी।

---

1. **वही, पृष्ठ 96।**

मार्क्स की पत्नी जेनी ने 1850 ई० में एक मित्र को अपने पति की आर्थिक विपत्ति पर लिखा था—'जो चीज मुझ पर सबसे अधिक चोट पहुंचाती है, मेरे हृदय को बेधकर लहूलुहान कर देती है वह यही है कि मेरा पति कितनी ही छोटी-छोटी कठिनाइयों के लिए परेशान है। उसकी सहायता के लिए थोड़ी-सी चीज भी पर्याप्त है, लेकिन जो दूसरों की हमेशा खुले दिल से सहायता करता रहा, वह अब स्वयं असहाय छोड़ दिया गया है। कृपया तुम यह न सोचो कि हम किसी से कुछ मांग रहे हैं, लेकिन कम-से-कम मेरे पति ने जिनको इतने विचार और समय पर सहायता दी है, उन्हें उनकी पत्रिका में कुछ अधिक व्यावसायिक उत्साह और दिलचस्पी तो दिखानी ही चाहिए।.....इससे मेरा दिल दुखता है, लेकिन मेरा पति और ही तरह सोचता है। उसका विश्वास भविष्य के प्रति कभी भी—सबसे भयंकर क्षणों में भी नहीं उठा। वह सदैव आनंदित रहता है।''[1]

मार्क्स पत्रिका निकालते, उसमें प्राय: मुनाफा की गुंजाइश कम ही रहती थी। वे दूसरी पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखते थे। उनकी इंगलिश अच्छी नहीं थी। अत: उनके लेख की इंगलिश एंगेल्स ठीक कर देते थे।

एक समय मार्क्स को बवासीर की भीषण बीमारी हो गयी, जिससे वे असहाय होकर घर में पड़े रहते थे। उसके साथ आर्थिक संकट भी था। उन्होंने लिखा—'मेरी स्थिति अब उस स्थान पर पहुंच चुकी है, जबकि मैं घर से बाहर नहीं निकल सकता, क्योंकि मेरे कपड़े बन्धक रखे हुए हैं और साख न रह जाने के कारण मैं मांस नहीं खा सकता।'[2]

मार्क्स ने एक बार एंगेल्स को पत्र लिखा—'मेरी पत्नी बीमार है, बेटी बीमार है...मैं डॉक्टर नहीं बुला सकता, क्योंकि मेरे पास फीस के लिए पैसे नहीं हैं। करीब आठ या दस दिन से अब तक हम रोटी और आलू पर गुजारा कर रहे हैं और अब इसमें भी सन्देह है कि वह हमें मिल सकेगा। मैंने डाना के लिए कुछ नहीं लिखा, क्योंकि मेरे पास अखबारों के खरीदने के लिए पैसे नहीं हैं। अब सबसे बढ़िया बात यही हो सकती है कि घर की मालकिन अपने घर से हमें बाहर निकाल दे, क्योंकि ऐसी अवस्था में बकाया किराये के बाइस पौंड का बोझ मेरे दिमाग से उतर जायेगा; लेकिन मुझे इसकी उम्मीद नहीं है कि वह इतनी दयावान होगी। इसके ऊपर रोटी वाले, दूध वाले, मोदी, साग

---

1. **वही, पृष्ठ 97।**
2. **मार्क्स मांस खाते तथा शराब पीते थे और धूम्रपान भी करते थे। परन्तु उनका शराबपान मर्यादाहीन नहीं था। एंगेल्स भी मांस, शराब, धूम्रपान के आदी थे। पश्चिमी देशों में इन बातों को लोगों में सहज देखा जा सकता है।**

वाले और गोश्त वाले के भी हम कर्जदार हैं। कैसे इस शैतानी आफत से मैं बाहर निकल सकता हूं? पिछले सप्ताह—मैंने कर्मकरों से कुछ शिलिंग क्या पेंस तक उधार लिये हैं। यह मेरे लिए भयंकर कृत्य था, लेकिन ऐसा करना अनिवार्य था, नहीं तो हम भूखे मरते। इस स्थिति में भी अपने कोट तक को बेचकर कोलोन के अभियुक्तों को सहायता करने के लिए मार्क्स प्रयत्न कर रहे थे।'[1]

इसी बीच मार्क्स की एक बच्ची मर गयी, तो उसके अंत्येष्टि-संस्कार करने के लिए पैसे नहीं थे। एक दयावान फ्रेंच शरणार्थी से मार्क्स की पत्नी ने दो पौंड मांगकर मृत बच्ची का अंत्येष्टि-संस्कार किया।

'एक समय मार्क्स घर के भीतर बन्द रहने के लिए मजबूर हुए, क्योंकि उनके पास बाहर जाने के लिए न कोट था न जूते। दूसरे समय उनके पास इतने पैसे नहीं थे, कि लिखने का कागज या अखबार खरीद सकें। फिर एक समय अपने लेख को प्रकाशक के पास भेजने के लिए डाक के टिकटों के वास्ते अपने परिचितों के पास हाथ पसारे दौड़ना पड़ा। मोदी, सब्जी वाले, रोटीवाले का दाम ठीक समय पर चुकाना न होने से उनकी झिड़क भी खानी पड़ती थी। उससे भी असह्य था घर के मालिक का बरताव—जरा भी किराया बाकी रहता, कि वह उनको निकालकर सड़क पर पटकने के लिए तैयार हो जाता। ऐसी स्थिति में यदि घर में कभी थोड़ी कड़वाहट आ जाये, तो कोई अस्वाभाविक बात नहीं थी। लेकिन मार्क्स को दूसरे विद्वान की तरह 'कटही' बीबी नहीं, बल्कि जेनी जैसी अनुपम देवी मिली थी, जो शायद ही कभी खीजती थी, और खीजने पर भी तुरन्त अपने को दोषी मान पति को शांत और संतुष्ट करने की हर प्रकार से कोशिश करती थी। लेकिन गरीबों में परिवार का बोझ बहुत भारी होता है; इसलिए मार्क्स ने अपनी राय दी थी—

'जो लोग मानवता की सेवा एकांत मन से करना चाहते हैं उनके लिए विवाह से बढ़कर कोई बेवकूफी नहीं हो सकती, क्योंकि इसके कारण उन्हें वैयक्तिक जीवन की छोटी-छोटी चीजों के लिए मरना-खपना पड़ता है।'[2]

अपने 50वें वर्ष को पूरा करते समय मार्क्स ने कहा था—'आधी शताब्दी का बोझा मेरी पीठ पर है और अब भी मैं अकिंचन हूं।' एक जगह वे लिखते हैं कि इस तरह के जीवन से हजार पोरसा समुद्र के नीचे जाना बेहतर है। और दूसरे समय कहते हैं—मैं अपने सबसे भयंकर शत्रु के लिए भी नहीं चाहूंगा कि वह ऐसा जीवन बिताये! एक समय जीवन की छोटी-छोटी चिंताओं ने उन्हें

---

1. **कार्ल मार्क्स, पृष्ठ 103-04।**
2. **वही, पृष्ठ 109।**

इतना पीस दिया था, कि वह आठ सप्ताह तक अपना बौद्धिक कार्य करने लायक नहीं रह गये थे।'[1]

9. भारत पर मार्क्स के विचार

ब्रिटिश म्यूजियम में भारत के सम्बन्ध में बहुत सामग्री अंग्रेजों ने इकट्ठी कर रखी थी। उसे पढ़कर मार्क्स ने अंग्रेजों की चालाकी तथा भारत की दीनता पर भारत के लिए बहुत सहृदय होकर लिखा था और उन्होंने अपने लम्बे लेख में बताया था कि भारत के लोग, ऐसा दिन अवश्य आयेगा जब अंग्रेजों की पराधीनता की बेड़ी काटकर स्वतन्त्र होंगे।

10. एंगेल्स को कष्ट

एंगेल्स की सुन्दरी एवं अनुकूल पत्नी 'मेरी' अचानक मर गयी। इससे वे बहुत पीड़ित हुए। उन्होंने कार्ल मार्क्स को पत्र लिखकर यह घटना बतायी। मार्क्स ने इस मृत्यु पर थोड़ा खेद प्रकट कर पीछे अपने घर की आर्थिक समस्या लिख डाली। पत्र पाकर एंगेल्स को धक्का लगा और उन्होंने मार्क्स को लिखा कि हमारे अन्य मित्रों के बड़े सौहार्दपूर्ण पत्र आये, परन्तु आपका जैसा मैं आशा करता था वैसा पत्र नहीं आया। इससे मैं बड़ा दूखी हूं।

उक्त पत्र पाकर मार्क्स को अपनी भूल का अनुभव हुआ और उन्होंने एंगेल्स से बारम्बार क्षमा मांगते हुए लिखा—'उस समय मेरे घर में अन्न नहीं था, लड़की बीमार थी और उधार देने वाले सामान नीलाम करने के लिए घर में पहुंचे हुए थे। यही कारण था जो मैं एकांतचित्त से 'मेरी' के मरने पर अपने भावों को प्रकट नहीं कर सका।''[2]

एंगेल्स ने उत्तर में लिखा कि कोई परवाह नहीं। आपके पिछले पत्र ने सब ठीक कर दिया और मुझे प्रसन्नता है कि मेरी के साथ-साथ मैंने अपने सबसे पुराने और सबसे अच्छे मित्र को नहीं खो दिया।[3]

11. कैपिटल (पूंजी)

कार्ल मार्क्स की 'कैपिटल' नामक पुस्तक तीन खंडों में है जो उनकी महत्त्वपूर्ण कृति है। मार्क्स ने तीनों जिल्द अपने जीवनकाल में लिख डाला था। परन्तु इसकी पहली जिल्दी की ही उन्होंने स्वयं प्रेस-कापी तैयार की थी, शेष दो की तैयारी एंगेल्स ने की थी। मार्क्स शेष दो जिल्दों को बिना व्यवस्थित किये संसार से कूच कर गये थे। एंगेल्स-जैसे योग्य विद्वान यदि न होते तो

---

1. **वही, पृष्ठ 110।**
2. **वही, पृष्ठ 233।**
3. **वही, पृष्ठ 234।**

मार्क्स के अस्त-व्यस्त कैपिटल के अन्त की दोनों जिल्दें इतने सुन्दर रूप में सम्पादित न हो सकतीं। कैपिटल तीनों खंड मूल रूप में जर्मन भाषा में लिखे गये थे। पहली जिल्द 1867 ई० में, अर्थात मार्क्स के जीवनकाल में ही छप गयी थी।

12. आर्थिक संकट, आत्मकसौटी और बीमारी

आर्थिक-संकट से तंग आकर मार्क्स ने एंगेल्स को लिखा 'पिछले दो महीनों से हमारा परिवार बंधक रहकर जी रहा है। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूं कि इस चिट्ठी को लिखने की जगह मुझे अपनी अंगुली काट डालना अधिक अच्छा था। यह सचमुच ही असह्य है कि आदमी अपने जीवन का आधा परवशता में बिताये। मेरे दिल को सिर्फ यही समझकर संतोष है कि तुम और मैं दोनों भागीदार हैं—'मेरा काम है अपना समय सिद्धान्त तथा पार्टी-सम्बन्धी कामों के लिए देना।'[1]

इसी बीच प्रशियन-सरकार के एक महामन्त्री की ओर से मार्क्स के लिए यह प्रयास किया गया था कि वे अमुक पत्रिका में अपने लेख दें, तो उन्हें पारिश्रमिक के रूप में लगातार मोटी रकम दी जायेगी, परन्तु सिद्धान्त के विरुद्ध होने से मार्क्स ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया था।

मार्क्स बहुत बीमार पड़ गये थे। फिर वे एंगेल्स की राय से कुछ दिनों के लिए एक स्वास्थ्य-प्रद क्षेत्र में चले गये। वहां से उन्होंने लिखा था—'मैंने चहलकदमी करने की आदत डाल ली है। दिन का अधिक भाग मैं खुली हवा में घूमता रहता हूं और दस बजे सो जाता हूं। मैं कुछ नहीं पढ़ता, लिखता भी कम, धीरे-धीरे मैं निर्वाण की स्थिति में पहुंचने की कोशिश कर रहा हूं, जिसे कि बुद्ध धर्म मानव-आनन्द की पराकाष्ठा मानता है।'[2]

13. अन्तिम दिन

मजदूरों को उनका अधिकार दिलाने का जो प्रयास कम्युनिज्म कर रहा था और उसे अपने सहयोगियों के साथ कार्ल मार्क्स सहयोग कर रहे थे, वह फेल हो गया। जर्मनी-फ्रांस आदि जहां-जहां कम्युनिज़्म राज्य लाने का प्रयत्न किया गया, उसके विरोधियों ने उसे अवरुद्ध कर दिया।

1853 ई० से मार्क्स कम्युनिज़्म के लिए अध्ययन और लेखन में लगे थे। लेकिन उनके जीवन में ही उनके अभियान का पतन हो जाने से 1878 ई० में उन्हें बड़ी निराशा हुई और तब से उन्होंने सदा के लिए लिखने से अपने हाथ समेट लिये।

---

1. **वही, पृष्ठ 154।**
2. **वही, पृष्ठ 155।**

1878 ई० में ही उनकी पतिव्रता पत्नी जेनी का भी निधन हो गया। मार्क्स उत्तरोत्तर बीमार रहने लगे। पत्नी के मरने से उनके दिल में ज्यादा धक्का लगा। उनको सरदी-खांसी बराबर रहने लगी, साथ-साथ कंठनली में असहनीय पीड़ा शुरू हुई। भोजन गले के नीचे उतारना कठिन हो गया। वे कठिन दुखों को भी बहुत सरलता से सहने के आदी थे। वे दूध के प्रेमी नहीं थे, परन्तु कंठनली की पीड़ा के कारण दूध पीकर रहने लगे। उनके शरीर पर उभरे रोगों में अब औषधियां प्रभावहीन हो गयी थीं। बल्कि दवाएं खाने के कारण उनकी भूख बन्द हो गयी थी और पाचन-शक्ति खराब हो गयी थी। अंततः 14 मार्च, 1883 ई० को दोपहर बाद पौने तीन बजे वे अपने अध्ययन-कक्ष में आराम कुर्सी पर बैठे और शांति से दो मिनट में सदा के लिए सो गये। मरते समय उनको कोई पीड़ा नहीं हुई। मृत्यु के समय उनकी उम्र पैंसठ (65) वर्ष की थी।

लन्दन के हाईगेट के कब्रिस्तान में कब्रों का विशाल जंगल है। उसी के बीच कार्ल मार्क्स की कब्र है जिसमें उनकी पत्नी जेनी तथा उनका नाती एवं इसके अलावा मार्क्स-परिवार की एक मित्र हेलेने डेमुथ भी दफनायी गयी।

अपने आप को तथा कार्ल मार्क्स को नास्तिक मानने वाले महापण्डित राहुल सांकृत्यायन जब 9 नवम्बर, 1932 ई० को मार्क्स की समाधि के पास गये तब उन्होंने बड़ी भावुकता से मार्क्स को ऋषि तथा देवता कहकर उनकी समाधि पर फूल चढ़ाये।[1]

14. एंगेल्स

मार्क्स की जब मृत्यु हुई तब एंगेल्स तिरसठ (63) वर्ष के हो गये थे। उन्होंने बड़ी योग्यता के साथ मार्क्स-कृति कैपिटल की अगली दोनों जिल्दों का सम्पादन किया।

एंगेल्स भाषण की अपेक्षा साहित्यिक-शक्ति के धनी थे। वे करीब बीस भाषा बोल सकते थे। इंगलिश में वे अच्छा लिखते थे। उनको 1895 ई० में गले का कैंसर हो गया और पांच महीने तक पीड़ा भोगने के बाद 6 अगस्त, 1895 ई० को उनका पचहत्तर (75) वर्ष की उम्र में शरीरांत हो गया।

एंगेल्स ने जीवनकाल में अपनी इच्छा व्यक्त की थी कि मेरे मरने पर मेरे शव को जलाकर उसका भस्म समुद्र में डाल दिया जाये। अतएव उनके इच्छानुसार मार्क्स की एक पुत्री ने 27 अगस्त को एंगेल्स के शव-भस्म को समुद्र में डाला।

राहुल जी ने लिखा है "मार्क्स की हड्डियां अब भी लन्दन के हाईगेट कब्रिस्तान में मौजूद हैं, उनके शिष्य लेनिन और प्रशिष्य स्तालिन के शवों को

---

1. **वही, पृष्ठ 225।**

सजीव-से रूप में आज भी मास्को के लाल मैदान के समाधि मन्दिर में देखा जा सकता है, लेकिन एंगेल्स अब केवल अपनी कृतियों में ही जीवित हैं—जो उन अस्थियों से भी अधिक मूल्यवान और अमर है, इसे कहने की आवश्यकता नहीं।''[1]

15. उपसंहार

कार्ल मार्क्स की मृत्यु के समय उनके प्रबल उत्तराधिकारी लेनिन संसार के लिए एक अज्ञात रूप में पल रहे सोलह वर्ष के किशोर थे। इन्होंने ही मार्क्स के विचारों को लेकर रूस में क्रांति की और सन् 1917 में अपने अभियान में विजयी होकर विशाल सोवियत साम्यवादी गणतन्त्र की स्थापना की। वह करीब चौहत्तर (74) वर्षों तक विकास करता गया। परन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि इस बीसवीं सदी के दसवें दसक के शुरू में ही उसका पतन हो गया और विश्व में साम्यवाद की रोशनी धूमिल होती जा रही है।

उक्त स्थिति को नजर में रखकर पूंजीवादी एवं प्रतिक्रियावादी विचारधारा के लोग कहते हैं कि मार्क्स के विचार एकदम फेल हो गये।

वस्तुतः महर्षि कार्ल मार्क्स के मूल विचार तब तक नहीं निष्फल होंगे जब तक धरती पर मानवता जीवित है। रोटी, कपड़े और मकान की व्यवस्था हो जाने पर ही कला, विज्ञान, राजनीति, दर्शन, धर्म आदि की तरफ मनुष्य की दृष्टि जा सकती है। जो मजदूर और कर्मकर अपने खून-पसीने बहाकर समाज के निर्वाह और सुख-सुविधा के लिए वस्तुओं का उपार्जन करते हैं, वे रोटी, कपड़े और मकान पाने के लिए हकदार हैं। एक तरफ विनाशकारी विलास में पानी की तरह रुपये बहाना तथा दूसरी तरफ उन्हीं रुपये को पैदा करने वालों का ठीक से रोटी, कपड़े तथा मकान तक न पाना कहां तक न्याय है!

मार्क्स का विचार है कि मजदूरों तथा कर्मकरों को उचित लाभ मिलना चाहिए और हर राज्य की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि सबको काम और दाम मिले। उनका यह विचार सदा स्तुत्य रहेगा।

परन्तु यह सब जनतन्त्र के रास्ते से कानून के द्वारा होना चाहिए। हिंसात्मक क्रान्ति से नहीं, धनियों को मारकर, उन्हें जेल में डालकर नहीं। जैसे भारत में समझाकर कानून के आधार पर राज्यतंत्र तथा जमींदारी का उन्मूलन हुआ, जिसका प्रत्यक्ष अच्छा फल साधारण जनता को मिला।

मार्क्स तथा कम्युनिज़्म के विचार में जो खास त्रुटि है वह है पूर्णतया भौतिकवाद। मनुष्य को मात्र मशीन मान लिया गया। मार्क्सवाद धर्म से ऐसा

---

1. **वही, पृष्ठ 242।**

चिढ़ गया कि उसने घोर जड़वाद का सहारा ले लिया। उसने चेतन पक्ष को भुला दिया।

जैसे मानवता के प्रेमी मार्क्स थे वैसे महात्मा गांधी थे। महात्मा गांधी धर्म और अध्यात्म को प्रश्रय देते थे, इसलिए उन्होंने अहिंसा और जनतन्त्र का रास्ता पकड़ा जो सुरक्षित, निर्भय तथा स्थिर है। मार्क्स के विचार को भी अहिंसा, जनतन्त्र एवं कानून के आधार पर संसार में लागू करना पड़ेगा।

महात्मा गांधी कहा करते थे कि साध्य के साथ साधन भी पवित्र होने चाहिए। अपवित्र साधन से पवित्र साध्य नहीं प्राप्त हो सकता। साधन सदोष होने से पवित्र साध्य भी निष्फल होगा। इसी का परिणाम आज मार्क्सवाद का पतन है।

श्रीकृष्ण महाराज ने मगधनरेश जरासंघ से उत्पीड़ित होकर मथुरा छोड़ द्वारका बसाया और वहां विशाल गणतन्त्र स्थापित किया। परन्तु उन्होंने महाभारत के अनुसार कौरव-पांडवों का युद्ध होने दिया, बल्कि अर्जुन के हतोत्साहित होने पर उन्हें ताऊ, चाचे, पितामह, गुरु तथा बन्धु-बांधवों की सामूहिक हत्या करने को उत्साहित किया। फलत: इस महायुद्ध में कौरव-पांडव का विनाश हुआ।

महाभारत युद्ध के छत्तीस वर्षों के बाद वही गृहकलह एवं गृहयुद्ध का अवसर श्रीकृष्ण के यादव-परिवार पर भी आया। हिंसा से हिंसा बढ़ती है। महाभारत में हिंसा को प्रश्रय देने से उसी हिंसा की लपेट में स्वयं कृष्ण महाराज का परिवार एवं गणतंत्र आ गया और उन्हीं के सामने उनका पूरा परिवार कटकर मर गया तथा गणतन्त्र नष्ट हो गया।

महाराज श्रीराम के बाद भी यही कथा हुई। रामराज्य के बाद उनका कोई इतिहास नहीं है। यदि लव-कुश को उनका पुत्र मान भी लिया जाये तो उनकी विशेषता केवल इसी में है कि उन्होंने अपने पिता, चचा और अपने चचेजात भाइयों को युद्ध में परास्त किया था। इसके बाद और कोई लता-पता नहीं है।

संसार परिवर्तनशील है। हर अच्छी-से-अच्छी स्थिति को भी पतन का मुख एक दिन देखना पड़ता है। आदमी का अन्धस्वार्थ अच्छी-से-अच्छी योजना को भी विफल कर देता है। विवेकी मनुष्य को अनंतकाल तक अपने अंधस्वार्थ और दुर्गुणों से लड़ना है और मानवता की सेवा करना है।

अनादिकाल से संसार के अनेक महापुरुष यहां तक श्रीकृष्ण और महात्मा बुद्ध गरीबों पर करुणाशील थे। संत कबीर साहेब तो मजदूरों तथा कर्मकरों के पक्षधर ही थे। जिस तरह कबीर साहेब ने धर्म-क्षेत्र में वैज्ञानिक-आंदोलन, छुआछूत-निरसन, राम-रहीम की एकता, सांप्रदायिक एवं मानवीय एकता एवं कर्मकरों की पक्षधरता की, कम-से-कम संत एवं धर्म-क्षेत्र में अद्वितीय है।

साईं इतना दीजिये, जामें कुटुम समाय।
मैं भी भूखा न रहूं, साधु न भूखा जाय॥
खुश खाना है खीचड़ी, माहिं परा टुक लौन।
मांस पराया खाय के, गरा कटावे कौन॥
रूखा सूखा खाय के, ठंडा पानी पीव।
देखि परायी चूपड़ी, मत ललचावे जीव॥

कबीर साहेब के नाम से जुड़ी उपर्युक्त साखियों का अभिप्राय यही है कि हम इतनी कम वस्तुओं में निर्वाह करें जिससे अन्य लोगों का भी निर्वाह सरलता से हो सके। अधिक भोग-विलास की इच्छा से ही दूसरे का अधिकार विविध प्रकार से छीना जाता है। यदि हर आदमी सादगी और कम खर्च से जीवन चलाने लगे तो समाज में आपाधापी समाप्त हो जाये।

और तो और, श्रीमद्‌भागवतकार ने तो कार्ल मार्क्स से दस कदम आगे बढ़कर आज से करीब हजार वर्ष पूर्व ही कह दिया है—

यावत भ्रियेत् जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत् स स्तेनो दण्डमर्हति॥

(श्रीमद्‌भागवत 7/14/8)

अर्थात जितने में देहधारियों का पेट भर जाये उतने पर ही उनका अधिकार है। जो इससे अधिक पर अपना अधिकार मानता है, वह चोर है, उसको दण्ड मिलना चाहिए।

अतएव महर्षि कार्ल मार्क्स की मूल चिंता सदैव आदरणीय रहेगी कि संसार के श्रमिक रोटी, कपड़े, मकान तथा अन्य सुख-सुविधाओं के अधिकारी हैं। मार्क्सवाद ने पूरे संसार को एक ऐसा धक्का दिया है कि दुनिया के सभी राष्ट्र चाहे उनके विचार कुछ हों, प्रकारांतर से समाजवाद मानने के लिए विवश है। आज पूरे विश्व में सामंतवाद कहां है? धन का अधिक लोभ सदैव कलह पैदा करेगा। अधिक खाने में नहीं, बांटकर खाने ही में कल्याण है।

20

स्वामी दयानंद सरस्वती

स्वनामधन्य विद्वान महात्मा महर्षि स्वामी दयानंद सरस्वती का नाम कौन नहीं जानता। आप अपनी सुकीर्ति से सर्वविदित हैं। आपने जिसमें जन्म और संस्कार लिया उस पंडित एवं हिन्दू-परम्परा को इतना कसकर झकझोरा कि उसकी सदियों की तंद्रा भंग हुई और वह जड़ता से हटने तथा अपनी समृद्ध प्राचीन परम्परा को समझने का प्रयास करने लगी। महर्षि दयानंद हिन्दू-समाज के लिए वरदान स्वरूप हैं।

1. जन्म और प्रेरणा

आपका शारीरिक जन्म गुजरात के मौरवी राज्य के भीतर टंकारा नामक ग्राम में फाल्गुन कृष्णा दशमी विक्रम संवत् 1881 तद्नुसार शनिवार 12 फरवरी, सन् 1825 को हुआ था। आपके पिता श्री का नाम था—श्री कर्षण जी तिवारी। स्वामी दयानंद सरस्वती का घर का नाम 'मूलशंकर' था; क्योंकि उनके पिता शिवभक्त थे, अत: उनके नाम में शंकर जोड़ा गया।

श्री कर्षण जी तिवारी धनी-मानी आदमी थे और साथ-साथ राज्याधिकारी भी। जैसा कि ऊपर चर्चा हुई है वे शिव के परम भक्त थे। वे मूलशंकर को विद्याभ्यास भी कराते थे तथा साथ-साथ उनसे शिव की उपासना करवाते तथा व्रत-उपवासादि रखवाते थे।

महा शिवरात्रि का समय आया। मूलशंकर जी पिताजी के साथ व्रत रहे। विधान था रात्रि भर शिवमंदिर में जागना। आधी रात तक मंदिर में उपस्थित सभी सज्जनों को नींद आने लगी; किन्तु मूलशंकर जाग रहे थे। इसी बीच जीवन के मोड़ की पहली घटना घटी। एक चूहा शिवलिंगी पर चढ़कर उस पर चढ़ी हुई मांगलिक वस्तुओं को खाने लगा। अनेक जन्मों के दिव्य संस्कारी 'मूलशंकर' आश्चर्यचकित रह गया—''महादेव की यह दुर्दशा है! जो अपने आप की चूहों से भी रक्षा नहीं कर सकता, वह हमारी क्या रक्षा कर सकता है?''

मूलशंकर को मूर्तिपूजा से घृणा हो गयी। उन्होंने घर आकर और कुछ खाकर व्रत तोड़ दिया। अब वे उपवास एवं मूर्तिपूजा आदि छोड़कर प्राणपण से अध्ययन में लग गये।

जीवन की जो घटनाएं लाखों-लाखों लोगों की आंखों को जरा भी नहीं खोल पातीं वे दिव्य संस्कारी पुरुषों को जीवनभर के लिए जगाकर बैठा देती हैं। बुद्ध-जैसे लोगों को ही वृद्ध, रोगी और मृतक प्रेरणा के कारण बनते हैं; बाकी लोग तो ''सौ-सौ जूत खायं, तमाशा घुस के देखें।'' मूलशंकर के जीवन में दूसरी घटना घटी। उनकी सोलह वर्ष की उम्र में उनकी छोटी बहिन मर गयी तथा जब मूलशंकर उन्नीस (19) वर्ष की उम्र में पहुंचे तब उनके प्रिय रक्षक चाचा मर गये।

होनहार मूलशंकर को गहरी ठेस लगी। रात-दिन उनके नेत्रों तथा मन के सामने संसार की क्षणभंगुरता झूलने लगी। उनको जीवन से उचाट हो गया। लोग अपने पैर कब्रों में लटकाये रहते हैं तब भी साल-खाड़ जीने की इच्छा रखते हैं, किन्तु संस्कारी जीवात्मा तरुण मूलशंकर अपनी मृत्यु को हर क्षण अपने सामने देखने लगे।

वे अपने मित्रों में संसार की असारता एवं विषय-वैराग्य पर चर्चा करते और कहते जीवन का लक्ष्य कल्याण है, विषय-सेवन नहीं। यह सब बातें घूम-फिरकर मूलशंकर के माता-पिता के कानों में पड़तीं। माता-पिता चिंतित तथा सतर्क रहने लगे कि बच्चा घर छोड़कर साधु न बन जाये।

माता-पिता ने मूलशंकर के बीसवें वर्ष की उम्र में सोचा कि जल्दी नौबत-नगाड़े बजवा कर बच्चे को विवाह में बांध दो, जिससे इसका वैराग्य सो जाये। तैयारी होने लगी। मूलशंकर ने इसका विरोध किया। विवाह रुक गया। मूलशंकर को, घर वाले बांधने वाले सिपाही-सदृश दिखने लगे। वे विद्याध्ययन के बहाने काशी जाना चाहे। विद्याप्रेमी होने के नाते उनके पिता ने तो अनुमति दे दी; परन्तु माता ने आज्ञा न दी। हारकर मूलशंकर ने एक सम्बन्धी विद्वान ब्राह्मण के घर जाकर विद्याध्ययन करने के लिए आज्ञा मांगी। माता-पिता ने आज्ञा देकर वहां भेज दिया; परन्तु उन सम्बन्धी पंडित को सावधान कर दिया कि मूलशंकर को गृहस्थी बसाने का उपदेश करो। ये सम्बन्धी मूलशंकर के घर से नौ किलोमीटर की दूरी पर थे।

पण्डित जी मूलशंकर को व्याकरण पढ़ाने लगे। समय-समय पर उन्हें विवाह करने के लिए भी उत्सुक करते थे। एक दिन बहुत कहने पर मूलशंकर ने साफ कह दिया ''मुझे विवाह से ऐसी घृणा है कि मैं उसे आजीवन स्वीकार नहीं कर सकता। मैं अखण्ड वैराग्यमार्ग अपनाऊंगा।''

पंडित ने अपने अविवेकवश यह संदेश मूलशंकर के घर भेजवा दिया। माता-पिता के पैर की धरती सरक गयी। वे तुरन्त मूलशंकर को घर बुलाकर उनके विवाह के चक्कर में पड़ गये। मूलशंकर ने देखा कि माता-पिता अपने अविवेक एवं मोह-वश मुझे दृढ़ सांकल में बांधना चाहते हैं। अत: वे एक दिन

घर से यह संकल्प करके निकल पड़े कि ''अब इस घर में इस जीवन में कभी नहीं आना है।''

2. गृहत्याग

वे पहली रात घर से अठारह किलोमीटर की दूरी पर एक गांव में बिताये, और दूसरी रात साठ किलोमीटर की दूरी पर एक हनुमान मंदिर में बिताये। इधर पण्डित कर्षण जी के घर में खलबली मच गयी। वे यत्र-तत्र खोज कर उन्हें न पाये। इस समय मूलशंकर की उम्र बाइस वर्ष थी, यह घटना कोई विक्रम संवत 1903 की है।

मूलशंकर की दो महत्त्वाकांक्षाएं थीं—सच्चे शिव की प्राप्ति और मृत्यु पर विजय। मित्रों तथा सत्संगियों से सुना था ''यह कार्य योग से सिद्ध होता है। अत: वे योगियों की खोज में भटकते थे। पथ में साधुओं से सुना कि शैलानिवासी लाला भक्त अच्छा योगी है; अत: उनके पास जाकर योगाभ्यास आरम्भ कर दिया। एक ब्रह्मचारी ने उन्हें ब्रह्मचर्य की दीक्षा देकर काषायवस्त्र पहना दिया तथा तूंबा देकर कहा कि तुम्हारा नाम आज से 'शुद्ध चैतन्य' हुआ।

वहां से चलकर वे 'कोटा कांगड़ा' में वैरागियों के साथ तीन महीने रहे; परन्तु उन्हें संतोष नहीं हुआ। यहीं से सिद्धपुर में कार्तिक मास में होने वाले मेले की चर्चा उन्होंने सुनी और सुना कि वहां बहुत योगी-महात्मा आदि आते हैं। वे सोचे शायद वहां कोई सच्चा सद्गुरु मिल जाये; अत: गांव-गांव होकर वे वहां के लिए चल पड़े। उन्हें रास्ते में घर का एक परिचित व्यक्ति मिल गया और उसने कर्षण जी को पत्र द्वारा सूचित कर दिया कि आपका लड़का काषाय-वस्त्र धारण किये हुए सिद्धपुर मेले में गया है। कर्षण जी चार सिपाही लेकर सिद्धपुर आकर अपना डेरा डाल दिये और मेले में उनकी खोज करने लगे। एक दिन कर्षण जी एक मंदिर में गेरुवे वस्त्र में अपने लड़के को देखकर आपे से बाहर हो गये और मारे क्रोध के उबल पड़े—''तूने मेरे कुल में सदैव के लिए कलंक लगा दिया। तेरी माता रो-रो कर मरती है, तू मातृ-हत्यारा है, कुलबोरन है।''

शुद्ध चैतन्य ने पिता के पैर पकड़ लिए और कहा—मुझे क्षमा कर दें। मैंने साधुओं के बहकावे में आकर काषायवस्त्र पहना है। मैं यहां से घबरा गया हूं। मैं स्वयं आपके साथ घर चलना चाहता हूं।'' कर्षण जी को मूलशंकर की बातों पर विश्वास न हुआ और उन्होंने समझा कि छोकरा हमें चकमा दे रहा है और बात सचमुच थी भी वही, वे पिता से डरकर तथा अपना पिंड छुड़ाकर भाग निकलने के लिए यह सब कह रहे थे। कर्षण जी ने सिपाहियों से कहा—''इसे डेरे पर ले चलो और पहरे के अन्दर रखो।''

डेरे पर जाकर कर्षण जी ने शुद्धचैतन्य के काषायवस्त्र फाड़कर फेंक दिये और गृहस्थ के वेष पहना दिये। दो दिन दो रात वे पहरे के भीतर से न निकल सके; परन्तु तीसरी रात पहरेदार के सो जाने पर शुद्धचैतन्य भाग निकले। मेले से एक मील दूर एक बाग में मंदिर था। मंदिर पुराना था। उसके पास बट का पेड़ था। वे बट के पेड़ पर चढ़ गये और उससे मंदिर के एक खोल में जा बैठे।

रात में पहरेदार जगे। चारों ओर मूलशंकर की खोज होने लगी। उस बाग में भी कर्षणजी सहित सिपाही आये। पूरा बाग छान डाले। मंदिर के भीतर-बाहर देखा। पुजारी से पूछा। पता न लगा। शुद्ध चैतन्य गुम्बज में चुपके बैठे पिता की खोज देख रहे थे और उनका दिल धक-धक कर रहा था।

चार बजे रात तक खोजखाज कर वे वहां से चले गये। शुद्धचैतन्य जी पूरा दिन उसी पर बैठे रह गये। शाम सात बजे वे नीचे उतरकर एक अनिश्चित दिशा की ओर चल पड़े। कुछ दूर चलकर एक गांव में रात बिताये। दूसरे दिन पुनः चल पड़े। मनुष्य यदि अपना निश्चय स्वयं न छोड़े तो उसे कौन घुमा सकता है! जब बुरे मार्ग से लोगों को नहीं घुमा पाते तब अच्छे मार्ग से कौन घुमा सकता है! स्वामी दयानंद जैसे महापुरुष यदि एक माता-पिता, घर-परिवार का न त्याग करें तो लाखों-करोड़ों माता-पिताओं एवं लोगों को युग-युग के लिए कैसे प्रकाश देते रह सकते हैं?

3. भ्रमण और गुरु की खोज

शुद्धचैतन्य धीरे-धीरे अहमदाबाद होते हुए बड़ौदा गये। वहां शंकराचार्य मतानुयायियों का 'चैतन्य मठ' है। वहां कुछ दिन रहकर नर्मदा चले गये और गुरु की खोज करते रहे। वहां अनेक विद्वान संन्यासी निवास कर रहे थे। वहां वे सत्संग-साधना करते हुए डेढ़ वर्ष व्यतीत किये। अब वे चौबीस वर्ष के थे।

उन्होंने दण्डी स्वामी पूर्णानन्द जी से संन्यास की दीक्षा ली। उनका नाम पड़ा 'दयानन्द'। गुरुजी तो द्वारका चले गये, दयानन्द जी वहीं रह गये। उन्होंने वहां कुछ दिन रहकर योगी महात्मा की खोज में अहमदाबाद, हरिद्वार कुम्भमेला, ऋषिकेश, टिहरी आदि की यात्राएं कीं। टिहरी से श्रीनगर गये। वहां एक एकांतप्रेमी संत के यहां दो महीने रहे।

पुनः उन्होंने गंगागिरि, केदारघाट, रुद्रप्रयाग, शिवपुरी, गुप्तकाशी, बद्रीनाथ आदि उत्तराखण्ड का सात-आठ महीने तक भ्रमण किया तथा योगी गुरु खोजते रहे। इनमें शिवपुर में 3 मास, केदारघाट में 2 मास से अधिक, कुछ दिन जोशी मठ में बिताये और संतों का सत्संग करते रहे। स्वामी जी सच्चे त्यागी, योगी, विद्वान और संत थे।

अब पर्वतीय क्षेत्र छोड़कर समतल भूमि में किसी ज्ञानी गुरु की खोज के लिए उतर आये। संवत् 1912 की समाप्ति में वे फर्रुखाबाद से कानपुर पहुंचे। संवत् 1913 में पांच मास तक वे कानपुर से प्रयाग के बीच में रहे। फिर काशी गये। वहां से नर्मदा नदी को गये और उसका मूल खोजने के लिए नदी-नदी चल पड़े जिसमें जंगलों में काफी कष्ट उठाये।

कार्तिक संवत् 1913 से 1917 तक वे कहां रहे तथा क्या किये इसका पता नहीं चलता। यही सन् 1857 के स्वतंत्रता संग्राम के दिन थे। लोग अनुमान करते हैं स्वामी जी उसमें शरीक रहे होंगे।

4. स्वामी विरजानन्द की शरण

दयानन्द जी मथुरावासी विद्वान संन्यासी प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्दजी की कीर्ति सुने और वे अपनी 36 वर्ष की उम्र में विक्रमी संवत् 1917 में मथुरा पहुंचे। विरजानंद जी विद्याभिलाषी तथा अध्यात्म-पिपासु के अतिरिक्त केवल दर्शनार्थियों से नहीं मिलते थे। जब दयानन्द जी वहां पहुंचे, उस समय उनका फाटक बन्द था। दयानन्द जी ने किवाड़ खटखटाया। उन्होंने कहा—''तुम कौन हो?'' दयानंद ने कहा—''यही जानने आया हूं।'' उन्होंने कहा—''कुछ पढ़े हो?'' जो पढ़े थे दयानन्द जी ने बता दिया। विरजानंद ने कहा—'जो पढ़े हो उसको यमुना में फेंक आओ।''

फाटक खुला। विरजानंद ने कहा—''संन्यासी के भोजन-आवास का क्या ठिकाना है?'' दयानन्द ने कहा—भगवान को इसका भार न दूंगा, इसे मैं स्वयं निभाऊंगा। दयानन्द जी गुरु से पाणिनी रचित अष्टाध्यायी तथा पंतजलिकृत महाभाष्य पढ़ने लगे। अमरलाल नामक एक ब्राह्मण दयानन्द जी को नित्य भोजन देने लगा। उन्हें यमुनातट पर रहने की एक कोठरी भी मिल गयी तथा गोवर्द्धन सर्राफ चार आने मासिक मिट्टी तेल के लिए देने लगा जिससे रात में पाठ याद करने में सरलता हो।

दयानन्द जी ने अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य के अतिरिक्त अनेक वैदिक साहित्य पढ़े। विद्या पूरी हुई। उनका समावर्तन-संस्कार हुआ। विद्या पूरी होने पर यह विद्यार्थी का एक संस्कार होता है। दयानन्द ने गुरु-दक्षिणा में थोड़े से लौंग लाकर चढ़ाया जो दुकानों से मांग लाये थे।

प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानंद ने कहा—''दयानन्द! तूने दक्षिणा में क्या चढ़ाया है?''

''भगवन! मुझ अंकिचन के पास है ही क्या! भिक्षा करके थोड़े-से लौंग लाकर चढ़ाया हूं।''

''दयानन्द! यह दक्षिणा मुझे नहीं चाहिए। मैं तुमसे चाहता हूं कि तुम सत्य धर्म का प्रचार करके जनता में ज्ञान-प्रकाश फैलाओ।''

दयानन्द नतमस्तक हो गये और गुरु का चरण-स्पर्श करके चल दिये।

5. भ्रमण और प्रचार

विरक्त विद्वान प्रतिभा के धनी स्वामी विरजानन्द जी से शिक्षा-दीक्षा पाकर दयानन्द पूर्ण सशक्त हो गये और प्रचार के लिए निकल पड़े। पहले उन्होंने आगरा नगर को चुना। आगरा में दो वर्ष निवास किये। वे मूर्तिपूजा और भागवत पुराण का खण्डन अधिक करते थे। वहां से वेदों की खोज में वे धौलपुर गये।

जेष्ठ संवत् 1925 में वे कर्णवास में एक कुटी में रहते थे। कुछ लोगों ने आकर स्वामी जी से कहा ''रासलीला देखने के लिए आपको आमंत्रण है।'' स्वामी जी ने कहा—''इस अधर्म कार्य में मैं नहीं जाऊंगा। मलिन लोगों द्वारा हमारे महान पुरुषों का स्वांग भरकर नाचना—यह केवल हिन्दू धर्म में ही चल सकता है।'' लोगों ने वहां के राव कर्णसिंह को स्वामीजी के विरुद्ध भड़काया। उसने दूसरे दिन कुछ सिपाहियों के सहित आकर स्वामीजी को अपशब्द कहा और तलवार लेकर आगे बढ़ा। स्वामीजी ने उसकी तलवार को छीनकर जमीन में दबा दिया, वह टूट गयी और राजा को धक्का देकर कहा ''शस्त्र लेकर भिड़ना हो तो जयपुर-जोधपुर के नरेशों से भिड़ो, हम संन्यासियों से नहीं।''

राव कर्णसिंह लज्जा तथा क्रोध से भरकर राजभवन लौट आया; परन्तु एक दिन अपने तीन सेवकों को भेजकर दयानन्द को मार डालने का आदेश दिया। वे तीनों जब रात में कुटी के पास गये, आहट से स्वामी जी जाग गये और उन्होंने ऐसा जोर से हुंकारा कि वे तीनों भाग खड़े हुए।

संवत् 1929 आश्विन कृष्णा 13 को स्वामी विरजानन्द का मथुरा में देहावसान हो गया। यह संदेश सुनकर स्वामी दयानंद ने कहा—''व्याकरण का सूर्य डूब गया।''

कहा जाता है दो व्यक्तियों ने ठाकुर गंगासिंह से शस्त्र मांगे कि दयानन्द को समाप्त कर दिया जाये। ठाकुर जी उनको बहुत फटकारे और स्वयं जाकर स्वामीजी की रक्षा के लिए उनके पास कुछ दिन रहे। स्वामीजी ने फर्रुखाबाद में रहकर जर्मनी से वेदों को मंगवाया। वे उत्तरी भारत तथा पश्चिमी भारत के अनेक नगरों में घूम-घूम कर तूफानी प्रचार करने लगे। उनके प्रचार में मूर्तिपूजाखण्डन, पुराणखण्डन, देवी-देवता खण्डन, ईश्वर, वेद, सदाचार प्रतिपादन आदि रहते थे। स्वामीजी सभी दूसरे मतों की बुरी तरह छीछालेदर

करते थे और इसका परिणाम यह हुआ कि उनके बहुत विरोधी बन गये। साथ-साथ वे जहां जाते उनके अनुयायी भी काफी मात्रा में बनते जाते थे।

अनेक नगरों में प्रचार के बाद स्वामीजी ने विद्वत नगरी काशी में भी पधारकर वहां के पण्डितों से शास्त्रार्थ किया। उन्हें झोपड़ियों से राजभवनों तक स्वागत, फूल की मालाएं मिलती थीं तो गाली, पत्थर, कंकड़, जूते, अपशब्द भी मिलते थे; परन्तु स्वामीजी किसी अपराधी से बदला लेने की नहीं सोचते थे।

एक बार स्वामीजी अनूपशहर में थे। एक ब्राह्मण एक बीड़ा पान लाकर स्वामीजी को विनयभाव से दिया। स्वामीजी ने मुख में ले लिया। जब उसका रस मुख में फैला तब पता चला इसमें विष है। उन्होंने तुरन्त नदी पर जाकर न्यौली क्रिया द्वारा विष के प्रभाव को दूर किया। स्वामीजी के श्रद्धालु सैय्यद मुहम्मद तहसीलदार ने उस ब्राह्मण को पकड़वा लिया और स्वामीजी के सामने प्रस्तुत किया। स्वामीजी ने कहा—''इसे छोड़ दो, मैंने लोगों को बंधनों से छुड़ाने के लिए अपना कार्यक्रम रखा है, बांधने के लिए नहीं।''

स्वामीजी लौहपुरुष थे। वे डर नाम की वस्तु नहीं जानते थे। उन्हें लोगों ने अनेक बार सावधान किया था कि आप मुसलमानों, इसाइयों, सनातनधर्मियों का बुरी तरह खण्डन न किया करें, परन्तु स्वामीजी कहते थे कि सत्य को ज्यों-का-त्यों कहने में डर क्या है! वे निडर होकर खूब खण्डन करते थे। राजाओं के वेश्यागमन, मद्यपान आदि पर भी प्रबल प्रहार करते थे। और इसके परिणाम में बहुत लोग उनके अनुयायी होते थे तथा बहुत लोग अपमान करने पर तुलते थे, परन्तु अपमान करने वालों का वे कभी अहित नहीं सोचते थे। इस प्रकार उनकी खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति होते हुए भी वे एक संत थे।

उन्होंने व्याकरण पढ़ाने के लिए कुछ पाठशालाएं भी चलायीं; परन्तु पीछे पण्डितों की चालबाजी देखकर उन्हें तोड़ दीं।

2 जनवरी, 1877 को दिल्ली में गवर्नर जनरल ने महारानी विक्टोरिया को राजराजेश्वरी घोषित करने के लिए एक आयोजन किया था। उसमें भारत के समस्त प्रांतीय गवर्नर तथा राजे-महाराजे के आने की बात थी। यह सुनकर स्वामीजी ने भी दिल्ली के एक बाग में कैम्प लगाया कि राजाओं को उपदेश दिया जाये; परन्तु उस समय उन राजाओं का वहां आने का दृष्टिकोण ही कुछ और था; अत: केवल डुमराव तथा इंदौर के महाराजा ही स्वामीजी से मिलने आये।

गोहत्या-निषेध के लिए लाखों भारतीयों से हस्ताक्षर कराकर स्वामी जी इंग्लैण्ड महारानी विक्टोरिया के पास भेजने वाले थे, परन्तु कुछ कारणवश वह कार्य रुक गया।

एक बार स्वामीजी फर्रुखाबाद में थे। वहां के मजिस्ट्रेट स्काट महाशय स्वामीजी को श्रद्धेय मानते थे। उसी समय बाजार की नाप हो रही थी। एक सड़क में एक देवस्थान था। लोग वहां किसी देवी-देवता को मानकर धूप-दीप किया करते थे।

स्वामीजी के एक अनुयायी ने कहा—''स्वामी जी! स्काट साहेब आपके प्रेमी हैं। आप उन्हें थोड़ा इशारा कर दें तो सड़क की मढ़िया (देवस्थान) हट जाये और अंधविश्वास का एक गढ़ समाप्त हो जाये।''

स्वामी जी ने कहा—''बेकार बातें मत करो। मैं लोगों के मन-मंदिरों से जड़मूर्तियां निकलवा रहा हूं, पत्थर की मूर्तियों-मंदिरों का तोड़ने वाला मैं नहीं हूं। मुसलमानों ने हजारों मंदिर तथा मूर्तियां तोड़ीं, परन्तु क्या मूर्तिपूजा बन्द कर सके? मैं मंदिर-मूर्ति तोड़वाकर किसी की आस्था पर आघात नहीं कर सकता।''

स्वामीजी ने कोई पन्द्रह वर्षों के भीतर में अपने विचारों को फैलाने के उपलक्ष्य में भारत में एक बहुत बड़ा आंदोलन खड़ा कर दिया और सत्यार्थ प्रकाशादि अनेक ग्रंथों की भी उन्होंने रचना की।

6. आर्य समाज की स्थापना

चैत्र शुक्ल पंचमी शनिवार विक्रमी संवत् 1931 तदनुसार 17 अप्रैल, 1875 में स्वामी जी ने पहले बम्बई में गिरगांव मुहल्ला डॉ० माणिक चन्द्र की वाटिका में 5.30 बजे सायं 'आर्यसमाज' नामक संस्था की स्थापना की। उसके बाद जगह-जगह उसकी स्थापना हुई।

अनेक बार स्वामी जी को विरोधियों द्वारा विष दिया गया था। वे योगक्रिया द्वारा उसके दोष तो अवश्य दूर करते रहे; परन्तु विष का प्रभाव सर्वथा नहीं जाता रहा। वे विष धीरे-धीरे स्वामी जी के बलवान शरीर को निर्बल बना रहे थे। उनको अब यह विचार उठने लगा कि शरीर तो नाशवान है और देशभर में फैले हुए आर्यसमाज का कोई केन्द्र नहीं है जहां से उनकी व्यवस्था हो सके। वेद-भाष्य तथा अपनी अन्य पुस्तकों को प्रकाशित करने के लिए स्वामीजी ने एक ''वैदिक प्रेस'' की स्थापना की थी; परन्तु उनके निरन्तर प्रचार कार्य में दौरे के कारण वह भी पंगु बना पड़ा था। उनके ग्रंथ जहां-तहां छपे पड़े थे। उन सबको एकत्र रखकर केन्द्रीभूत करने की योजना आज तक नहीं बन पायी थी।

फिर उन्होंने तेईस (23) सदस्यों की समिति बनाकर और उन्हें अपने द्रव्य, प्रेस आदि का उत्तराधिकारी बनाकर उन्हें सौंप दिया।

पौराणिक हिंदू, चक्रांकित, मुसलमान तथा जागीरदार स्वामीजी से बेहद नाराज थे। एक बार स्वामीजी जोधपुरनरेश महाराजा यशवंतसिंह के यहां पधारे

थे। राजा नन्हीजान वेश्या से बुरी तरह फंसा था। नन्हीजान अपने डोला में बैठकर राजभवन से अपने घर जाने वाली थी कि इतने में स्वामी जी पहुंच गये। स्वामी जी ने देखा कि नरेश स्वयं नन्हीजान को बिदा करने दरवाजे तक गये हैं। स्वामीजी ने कहा—''राजन! सिंह की गोद में कुतिया नहीं शोभती। राजा को चरित्रवान होना चाहिए। पैसे पर सबको अपना तन देने वाली वेश्याओं से सम्बन्ध नरेश का नहीं होना चाहिए।''

यह बात नरेश को खली, परन्तु वह स्वामीजी के प्रति श्रद्धालु था। किंतु नन्हींजान ने भी इसे सुन लिया। वह स्वामीजी पर मन-ही-मन बहुत कुपित हुई और स्वामी जी के भण्डारी जगन्नाथ से दूध में स्वामीजी को जहर दिला दिया। यह घटना आश्विन कृष्णा चतुर्दशी संवत् 1940 तदनुसार 29 सितम्बर, 1883 को घटी।

स्वामी जी दूध पीकर रात में सोये और उनके पेट में गड़बड़ी हुई। वे उठे, तीन बार वमन किये। उनके पेट में भीषण वेदना होने लगी। दूसरे दिन महाराजा प्रताप सिंह समाचार पाये और वे डॉ० अलीमर्दान खां को भेजे। उसके उपचार से रोग अधिक भयंकर हो गया। कहा जाता है मर्दान खां ने दवा तथा सुई से स्वामी जी के स्वास्थ्य को पूरी तरह गड़बड़ में डाल दिया। स्वामीजी को अतिसार हो गया। उनको एक दिन में तीस-चालीस दस्त होने लगे।

इधर स्वामी जी ने जगन्नाथ को पकड़ लिया और उससे ही उसके मुख द्वारा विष देने का पाप स्वीकार करवा लिया। स्वामीजी ने कहा—''जगन्नाथ, तूने बहुत बुरा काम किया है। मुझे अभी बहुत कुछ करना था; परन्तु तूने बीच ही में मेरे शरीर को समाप्त करने का प्रोग्राम रचकर कितने लोकमंगल के कार्य रोक दिये। उन्होंने जगन्नाथ को कुछ रुपये देते हुए कहा—अच्छा, लो, इसे अपने निर्वाह के लिए लेकर नेपाल भाग जाओ, अन्यथा तुम्हारा यहां कुशल न होगा।''

यह है महामना स्वामी दयानन्द का संतलक्षण।

तार पाकर लाहौर, बम्बई, मेरठ आदि से अनेक भक्त आ गये और सब भक्तों ने देखा रोग का भीषण स्वरूप, उपचार की विपरीतता और सेवा की असुविधा। डॉ० सूर्यमल ने कहा कि इस राक्षस भूमि जोधपुर से शीघ्र स्वामीजी को लेकर आबू पर्वत चलें। स्वामी जी को आबू पर्वत ले जाया गया। आबू में कुछ दिन रखकर औषधोपचार की सुविधा अजमेर में देखकर स्वामीजी को वहां ले जाया गया, परन्तु अजमेर में भी उनका स्वास्थ्य न सुधरा। अंततः कार्तिक अमावस्या (दीपावली) को यह दीपक बुझकर लाखों के दिलों में युग-युग के लिए ज्योति जगा गया।

स्वामी जी ने शुद्धि, नारीशिक्षा, छुआछूतनिराकरण, पाखण्डनिरसन, राष्ट्रीयता आदि द्वारा हिन्दू समाज को ऊपर उठाने का प्रयत्न किया। वे जीवनभर संसार की सारी मानव जातियों को एकत्र होने के लिए उदारतापूर्वक आह्वान करते रहे।

स्वामी दयानन्द जैसे महापुरुष शरीरमात्र से ही मरते हैं; आत्मा से नहीं। उनका यशः शरीर युग-युग रहता है। उनका जलाया दीपक करोड़ों दीपकों को जलाता रहेगा।

21
महात्मा ज्योतिराव फुले

मिथ्या अभिमानियों को न डरने वाला, पददलितों में शुद्ध स्वाभिमान जगाने वाला, निम्न कहे जाने वालों का उन्नायक, नारियों की शिक्षा का समर्थक, बहुत सारे अंधविश्वासों का विरोधी, सत्यधर्म का पक्षधर, आजीवन मानव-सेवा में रत, क्रांतिकारी, निर्भय महात्मा ज्योतिराव फुले का हम यहां संक्षिप्त विवरण मनन करें।

1. जन्मस्थान एवं जन्मकाल

महात्मा ज्योतिराव फुले का जन्म सन् 1827 ई० में महाराष्ट्र राज्य के प्रसिद्ध नगर पूना में हुआ था। उनकी माता का नाम चिमना बाई तथा पिता का नाम गोविंद राव फुले था। ये माली जाति के थे। फूल पैदा करना तथा उसके माला, गुलदस्ते, तकिये, गद्दे आदि बनाकर बेचने का काम करना इनका धन्धा था। फूलों का धंधा करने से इनके नाम की उपाधि फुले थी। ज्योतिराव फुले के बड़े भाई का नाम राजाराम था।

2. बाजीराव पेशवा द्वितीय का पतन

शिवाजी के द्वारा स्थापित मराठा राज्य जो लगभग सवा सौ वर्षों से चला आ रहा था, बाजीराव पेशवा द्वितीय के पतन के साथ सदा के लिए समाप्त हो गया। बाजीराव पेशवा द्वितीय महा विलासी था। जिस दिन पेशवा जिस बस्ती में जाता था, वहां कई सुंदरी युवतियां उससे बचने के लिए आत्महत्या कर लेती थीं। उसके राज्य में ब्राह्मणवाद निरंकुश था। गरीबों, शूद्र तथा अतिशूद्र कहे जाने वाले लोगों का तिरस्कार और शोषण चरम सीमा पर था। पेशवा-शासन की तरफ से ब्राह्मणवाद का खुला समर्थन था। इसी बीच ब्रिटिश-शासन द्वारा पूना तथा महाराष्ट्र पर 1819 ई० में अधिकार कर लिया गया, और पेशवा को उत्तर भारत के कानपुर जिले के बिठुर नामक जगह में रहने की व्यवस्था दी गयी। ब्रिटिश शासन द्वारा पेशवा को आठ लाख रुपये वार्षिक पेंशन दी जाती थी और यह उन्हें जीवन भर मिलती रही। बाजीराव पेशवा द्वितीय की 1853 ई० में बिठूर ही में मृत्यु हुई।

1819 ई० में पेशवा के पतन तथा ब्रिटिश राज्य स्थापना होने में गरीब स्तर के लोगों को कोई तकलीफ नहीं हुई। पूना के स्त्री-समाज ने पेशवा के

पतन से आनंद मनाया। वैसे उस समय पूना विद्वान ब्राह्मणों का गढ़ था, परंतु सामान्य जनता में घोर निरक्षरता थी।

3. ज्योतिराव फुले का पालन व शिक्षा

फुले जब एक वर्ष का बच्चा था उसकी माता चिमना बाई का निधन हो गया। गोविंद राव ने अपना दूसरा विवाह नहीं किया। धाय द्वारा बच्चे का पालन-पोषण हुआ।

संस्कृत पाठशालाएं व्यक्तिगत थीं जिनके प्रबंध एवं शिक्षण ब्राह्मणों के हाथों में थे। उनमें केवल ब्राह्मण के बच्चे पढ़ते थे। व्याकरण, तर्कशास्त्र, दर्शन आदि पढ़ाये जाते थे। देवनागरी लिपि का ज्ञान ब्राह्मण ही कर सकते थे। जमींदारों तथा व्यापारियों के बच्चों के लिए प्रारंभिक शिक्षा की व्यवस्था थी। पाठ्य-पुस्तकें हाथों से लिखी होती थीं। केवल व्यापार-धन्धे के लिए पढ़ाई होती थी। इतिहास, भूगोल आदि नहीं पढ़ाये जाते थे। पुस्तकों में देवी-देवताओं की महिमाएं लिखी होती थीं। ब्रिटिश-शासन आने पर 1836 ई० में गांवों में पाठशालाएं स्थापित होने लगीं। अंग्रेज शासकों को भारत के लोगों को अंग्रेजी पढ़ाना था क्योंकि उनसे उसमें काम करवाना था। साथ-साथ यूरोपीय साहित्य और विज्ञान का भी प्रचार करना था। और हिन्दी इसलिए पढ़ाना था कि उसमें अंग्रेज लोग विद्वान होकर हिन्दुस्तान पर शासन कर सकें। साथ-साथ जनता को भी शिक्षित करना उद्देश्य था। "ब्रिटिश शासन ने 1821 ई० में पूना में हिन्दू कालेज खोला जिसे संस्कृत कालेज भी कहते थे, किन्तु उसमें केवल ब्राह्मण छात्र ही शिक्षा प्राप्त कर सकते थे।"[1]

ब्रिटिश-शासन ने इसाई मिशनरियों द्वारा पाठशालाएं चलवाई, उनमें अंग्रेजी का ज्ञान दिया जाने लगा। ब्राह्मण-समाज इससे कतराता था। यदि कोई ब्राह्मण बच्चा इंगलिश पढ़ने जाता था तो अन्य ब्राह्मण उसे हेय दृष्टि से देखते थे।

गोविंद राव ने अपने सात वर्षीय बच्चे ज्योतिराव फुले को मराठी पाठशाला में प्रवेश दिलाया। बच्चा मराठी भाषा में लिखने-पढ़ने लगा। गोविन्द राव के फूलों की दुकान पर एक ब्राह्मण लिपिक काम करता था, वह ज्योतिराव फुले को पढ़ने-लिखने से हतोत्साहित करता रहता था। "उन्हीं दिनों एक बार ऐसा हुआ कि बंबई नैटिव एजुकेशन सोसाइटी के संकेत पर सोसाइटी के विद्यालयों से छोटी जाति के छात्रों को निकाल दिया गया। गोविंदराव ने उसी समय अपने ज्योति को विद्यालय से निकाल लिया।"[2] ज्योतिराव पिता की फुलवारी में काम

---

1. **महात्मा ज्योतिराव फुले, पृष्ठ 8, डॉ० व्रजलाल वर्मा, भावना प्रकाशन, 90 टैगोर टाउन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1987 ई०।**
2. **महात्मा ज्योतिराव फुले, पृष्ठ 10।**

करने लगे। पिता ने परंपरागत पद्धति से बच्चे की तेरह वर्ष की उम्र में एक आठ वर्षीया कन्या से विवाह निश्चित कर दिया जिसका नाम सावित्री बाई था।

किशोर ज्योतिराव फुलवारी में काम करता, परंतु रात में दीपक के प्रकाश में पुस्तकें पढ़ता। बच्चे की लगन देखकर तथा मित्रों की भी सलाह से गोविंद राव ने उसे 1841 ई० में जब उसकी चौदह वर्ष की उम्र थी मिशन स्कूल में प्रवेश दिलाया।

ज्योतिराव फुले का एक सहपाठी मित्र ब्राह्मण का लड़का था जिसका नाम सदाशिव बल्लाल गोबंदे था। विद्या अध्ययन काल में थामसन्स लिखित 'मानव अधिकार' नाम पुस्तक पढ़कर दोनों मित्र बहुत प्रभावित हुए। ज्योतिराव और सदाशिव दूसरे लोगों को भी अंधविश्वास एवं गलत रूढ़ियों से बचने की प्रेरणा देते रहते थे। ज्योतिराव ने सन् 1847 ई० में मिशन स्कूल की शिक्षा पूरी कर ली।

4. ज्योतिराव फुले का अपमान

ज्योतिराव के एक ब्राह्मण मित्र का विवाह था। उसने उन्हें निमंत्रित किया था। बरात में ज्योतिराव ब्राह्मणों के साथ चल रहे थे। एक ब्राह्मण ने उन्हें पहचान लिया और कहा कि शूद्र होकर तुम्हें हम लोगों के साथ चलने की हिम्मत कैसे हुई? उसने ज्योतिराव को बहुत फटकारा। ज्योतिराव दुखी होकर बरात से लौट आये और उन्होंने सारी बातें पिता से कहीं। पिता ने कहा कि बेटा! वर्णव्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण बड़े होते हैं। हम शूद्र उनकी बराबरी नहीं कर सकते। ब्राह्मणों की यही बड़ी कृपा थी कि तुम्हें मारा-पीटा नहीं।

पिता सामाजिक नियमों का उल्लंघन करके ब्राह्मणों का कोपभाजन नहीं बनना चाहते थे। परंतु ज्योतिराव को चैन नहीं मिला। उनकी वह रात बिना नींद के कट गयी। उनके मानसचक्षु के सामने शिवाजी, वाशिंगटन तथा लूथर के आदर्श झूल रहे थे।

5. ज्योतिराव फुले की क्रांति

यूरोपियन शिक्षा ने महाराष्ट्र के उच्च घराने के कुछ युवकों को स्वतंत्र चिंतन करने के लिए प्रेरित किया और वे हिन्दू समाज को ऊंच-नीच की भावना तथा अनेक गलत रूढ़ियों से ऊपर उठाने के लिए प्रयत्नवान हो गये। उनमें प्रो० बालशास्त्री जाम्मेकर, माऊ महाजन, दबोबा, गोपाल हरि आदि के नाम प्रमुख है।[1] इन स्वतन्त्र चिंतकों के प्रभाव को देखकर रूढ़िवादी ब्राह्मण बौखला गये।

---

1. **म० ज्यो० फुले, पृष्ठ 16।**

ज्योतिराव फुले के अभिन्न ब्राह्मण मित्र सदाशिव बल्लाल गोबंदे की बदली हो गयी और वे पूना से अहमदनगर चले गये जिससे ज्योतिराव फुले अकेले पड़ गये, परन्तु उन्होंने अपनी इक्कीस (21) वर्ष की उम्र में सामाजिक विषमता दूर करने के लिए कार्यक्रम बनाना शुरू किया।

ज्योतिराव ने एक बालिका विद्यालय की स्थापना की। उसमें प्राय: तथाकथित छोटी जाति की बालिकाएं शिक्षा ग्रहण करने लगीं। ज्योतिराव ने मनुस्मृति की उन मान्यताओं का खंडन शुरू कर दिया जिनमें मानवता के बीच में खाई बनायी गयी है और अधिकतर शूद्र कहे जाने वाले लोगों का अत्यन्त तिरस्कार किया गया है। ज्योतिराव ने निम्न कहे जाने वाले बंधुओं को संबोधित करके उन्हें साहस दिया कि तुम लोग मेरी बातों पर ध्यान दो, वर्णाभिमानियों से मत डरो, शिक्षित बनो, पुरोहितों की धूर्तता को समझो, स्मृतियों की भेदभावपरक व्यवस्थाओं को कोटिश: धिक्कार है।

व्यवस्थावादी एवं परम्परावादी तथाकथित ब्राह्मण समाज क्षुब्ध हो गया। उसने समझा कि हमारा धर्म खतरे में है, ज्योतिराव तुच्छ जाति का है, हमारा शत्रु है, आज हमारा हिन्दू राज्य नहीं है, ब्रिटिश-राज्य है, अन्यथा हम ज्योतिराव को नियमानुसार हाथी के पैरों तले कुचलवा देते।

परम्परावादी ब्राह्मणों ने ज्योतिराव को संदेश दिलवाया कि वह अपना यह विनाशकारी रवैया समाप्त करे, अन्यथा इसका परिणाम भयंकर होगा, किन्तु ज्योतिराव कोई आस्थाहीन व्यक्ति नहीं थे। वे खीरा नहीं थे कि जरा-सी चोट में टूट जायें किन्तु हीरा थे जो घन से भी न टूटे।

ज्योतिराव के विद्यालय में पढ़ाने के लिए जो अध्यापक लगे थे ब्राह्मणों के डर से खिसक गये। ज्योतिराव ने अपनी पत्नी सावित्री बाई को अध्यापन में लगाया। जब वे पाठशाला में पढ़ाने जातीं तब उन पर गुंडे धूल-कंकड़ तथा कीचड़ फेंकते, कभी-कभी रास्ता रोककर खड़े हो जाते। इसके उत्तर में सावित्री बाई इतना ही कहतीं—भगवान तुम्हें क्षमा करे और सुखी रखे।

ब्रिटिश-राज्य के पहले कोई स्त्री अध्यापन नहीं कर सकती थी। परंपरावादी ब्राह्मण समझते थे कि यह धर्म का नाश है।

6. ज्योतिराव फुले का घर से निष्कासन

रूढ़िवादी ब्राह्मणों की मंडली में बैठक हुई और विचार तय हुआ कि ज्योतिराव के पिता को सावधान कर दिया जाय। ब्राह्मणों ने ज्योतिराव फुले के पिता से कहा कि तुम अपने इस छोकरे को धर्मविरुद्ध कार्य से रोको। यह हिन्दू धर्म का कलंक हो रहा है। उसकी पत्नी भी वैसे ही निर्लज्ज है। तुम भगवान के कोपभाजन न बनो। इस कार्य से उसे रोक दो और यदि तुम्हारी बात न माने तो अपने घर से निकाल दो।

गोविंदराव घबरा गये। ब्राह्मणों से लोहा लेना उन्हें असंभव लगा। उन्हें अपने अंतरात्मा के विरुद्ध कार्य करना पड़ा। उन्होंने अपने पुत्र ज्योतिराव फुले को बुलाकर कहा कि तुम पाठशाला बंद कर दो या घर से निकल जाओ। ज्योतिराव के लिए यह वज्रपात था। उन्होंने अपना उद्देश्य पिता को समझाना चाहा, परंतु पिता उच्चवर्ग के कहे जाने वाले लोगों से भयभीत थे, इसलिए अपने निर्णय पर अटल रहे। पिता-पुत्र दोनों कुछ समय मौन तथा स्तब्ध रहे। ज्योतिराव पाठशाला बंद करने के पक्ष में नहीं थे। पिता ने कहा—घर से निकल जाओ, और अपनी पत्नी को भी साथ ले जाओ। अंतत: विवश होकर ज्योतिराव फुले ने अपनी पत्नी को साथ लेकर घर छोड़ दिया। ज्योतिराव फुले ने अपनी पुस्तक में लिखा है—''मेरे पिता जी ने जब देखा कि मेरे द्वारा छोटी जातियों की शिक्षा देने से कहीं समाज के उच्च वर्ण के लोग माली जाति के लोगों से रुष्ट न हो जायें, तो मुझे घर से निकाल दिया और मुझे मेरे भाग्य पर छोड़ दिया। अत: स्कूल बंद कर दिया और मैं जीवनयापन के लिए व्यवसाय में लग गया।''[1]

7. पुन: विद्यालय स्थापन

ज्योतिराव तथा सावित्री बाई दंपती घर से निकल गये, परंतु निम्न कही जाने वाली जाति के बच्चों को पढ़ाने की योजना मन में बनी रही। सावित्री बाई बच्चों को पढ़ाने के लिए स्वयं पढ़ने लगीं। थोड़े दिनों में ज्योतिराव ने पुन: एक विद्यालय खोलना चाहा, परन्तु उन्हें विद्यालय चलाने के लिए कोई भवन किराये पर नहीं मिल रहा था, तो उनके ब्राह्मण मित्र सदाशिव बल्लाल गोबंदे ने जूनागंज में एक मकान की व्यवस्था कर दी। विद्यालय चलने लगा और ज्योतिराव तथा उनकी पत्नी सावित्री बाई पढ़ाने लगीं। उनके सहयोग में विष्णु पांत घाटे नाम के एक ब्राह्मण ने पढ़ाना आरम्भ किया। एक ब्राह्मण ने विद्यालय भवन की व्यवस्था की तथा दूसरे ब्राह्मण ने उसमें पढ़ाना शुरू किया, यह जान तथा देखकर रूढ़िवादी ब्राह्मण उद्विग्न हो गये।

''दो वर्षों तक शिक्षा के क्षेत्र में कार्य करने के पश्चात ज्योतिराव ने 3 जुलाई, 1851 ई० को एक दूसरा विद्यालय पूना के अन्ना साहेब चिपलूणकर भवन में खोला जो पूना के बुधवार पेठ मुहल्ले में स्थित था।''[2] ज्योतिराव ने विद्यालय को सुव्यवस्थित चलाने के लिए एक प्रबंध समिति का गठन किया। उसमें सरकारी तथा गैरसरकारी व्यक्ति सम्मिलित हुए। अन्ना सहस्र बुद्धे ने भी इसमें भाग लिया।

---

1. **म० ज्यो० फुले, पृष्ठ 20।**
2. **म० ज्यो० फुले, पृष्ठ 22।**

विद्यालय की प्रधानाचार्य सावित्री बाई थी। प्रबंध समिति की सम्मति बिना विद्यालय में किसी छात्र का प्रवेश नहीं होता था। इसके बाद ज्योतिराव ने तीसरा तथा चौथा विद्यालय भी खोला। इसाई मिशनरियों ने इन विद्यालयों की बड़ी प्रशंसा की। ज्योतिराव के अदम्य साहस एवं सेवा-भावना के फलस्वरूप उनको समाजसेवियों के बीच प्रथम स्थान मिला। उनकी नीतियों, विचारों तथा दृढ़ता से प्रभावित होकर कतिपय ब्राह्मणों ने स्वयं सामाजिक विषमताओं को दूर करने में सहयोग देना प्रारंभ कर दिया। इतना ही नहीं, सुधारवादी ब्राह्मणों तथा रूढ़िवादी ब्राह्मणों में हलका-हलका संघर्ष उत्पन्न हो गया।

8. ब्राह्मण-दक्षिणा और उसमें परिवर्तन

शिवाजी ने सन् 1674 ई० में अपने राजतिलक के समय से ब्राह्मणों को दक्षिणा दिलवाना आरंभ किया था। इसके बाद उनके पुत्र सांभा जी तथा राजाराम ने यह परिपाटी चालू रखी। इसके बाद शिवाजी के पौत्र शाहूजी ने यह दक्षिणा देने का दायित्व अपने सेनापति को सौंप दिया। अतएव यह ब्राह्मण-दक्षिणा महाराष्ट्र में कानून-सा बन गयी। पेशवा माधवराव ने यह दक्षिणा गरीब, असहाय तथा विकलांग ब्राह्मणों के लिए नियुक्त कर दिया। यह दक्षिणा श्रावण महीने में दी जाती थी। पेशवा बाजीराव ने यह दक्षिणा ब्राह्मणों तथा उनके शालग्राम[1] भगवान दोनों के लिए नियुक्त किया। शालग्राम पर चढ़ाई दक्षिणा भी अंत में ब्राह्मणों की ही होती थी। जब शालग्राम-पत्थर की कमी हो जाती थी तब घोड़े की लीद से बटिया बनाकर तथा भेद खुलने के डर से उसे फूल-पत्तियों से ढककर ब्राह्मण लोग राजपुरुषों से पुजवा लेते थे। बाजीराव पेशवा अपने अनजाने में लीद के इन शालग्रामों को भी पूजता तथा प्रणाम करता था।

जब ब्रिटिश-शासन आया तब उसने यह दक्षिणा केवल सुयोग्य ब्राह्मणों तक सीमित कर दिया। पीछे यह दक्षिणा नाम मात्र की रह गयी, प्रत्युत इसका धन ब्रिटिश-शासन ने पूना के हिन्दू कालेज के विकास के लिए नियुक्त कर दिया जिसकी स्थापना ब्रिटिश-शासन ने ही की थी। इस कालेज में केवल ब्राह्मणों के ही लड़के पढ़ते थे। अंग्रेज लोगों को भारत में राज करना था। वे मनोविज्ञान से काम लेते थे। पूना में ब्राह्मणों का वर्चस्व था। अंग्रेज उन्हें असंतुष्ट नहीं करना चाहते थे।

लोकहितवादी गोपाल राव देशमुख ने सन् 1849 ई० में इस दक्षिणा का घोर विरोध किया और 39 प्रभावशाली व्यक्तियों के हस्ताक्षर कराकर बंबई के

---

1. **गंडक नदी के किनारे बसे हुए एक ग्राम को शालग्राम कहते हैं और इस नदी के काले पत्थर की जलप्रवाह से घिसी बटिया को शालग्राम कहते हैं। इस पत्थर को वैष्णव तथा ब्राह्मण शालग्राम भगवान कहकर पूजते हैं।**

गवर्नर के पास प्रार्थना-पत्र भेजा। रूढ़िवादी ब्राह्मणों ने प्रार्थना-पत्र तथा उसके हस्ताक्षरकर्ताओं का विरोध किया। ज्योतिराव फुले इस प्रार्थना-पत्र के समर्थक थे। उन्होंने गोपाल राव देशमुख के संरक्षण में उस दिन दो सौ स्वयंसेवकों को भेजा जिस दिन इस पर निर्णय होना था। अंतत: सरकार ने इस प्रार्थना-पत्र को स्वीकार लिया, क्योंकि यह स्वाभाविक था। रूढ़िवादी ब्राह्मण हार गये। उनको सरकारी दक्षिणा मिलना बंद हो गयी। और उस धन में आधा संस्कृत पढ़ने वाले ब्राह्मणों के बच्चों को तथा आधा मराठी पढ़ने वाले सभी वर्ग के बच्चों को वितरित किया जाने लगा। इसकी प्रशंसा सब तरफ से हुई। रूढ़िवादी ब्राह्मण इससे क्षुब्ध हुए, परंतु उदार और विचारशील ब्राह्मणों ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। एक बल्लाचार्य नामक ब्राह्मण ने जो सरकारी कर्मचारी थे जिनका वेतन कुल बारह रुपये था, एक मास का वेतन ज्योतिराव फुले के विद्यालय में दान कर दिया। ज्योतिराव अपने विद्यालयों के लिए धनियों, दाताओं तथा यूरोपियन व्यापारियों और अधिकारियों से धन संग्रह करते थे। बीच में एक समस्या आयी तथाकथित छोटी जाति की बालिकाएं बालकों के साथ बैठकर नहीं पढ़ना चाहती थीं। ज्योतिराव ने बालक तथा बालिकाओं का विद्यालय अलग-अलग करके उसका समाधान कर दिया। ज्योतिराव के विद्यालयों में महार, भांग, डेढ़ तथा चमार कही जाने वाली जातियों की संतानें पढ़ती थीं।

''बाजीराव पेशवा द्वितीय शूद्रों की शिक्षा का नाम सुनकर क्रुद्ध हो जाता था। उसका कहना था कि यदि लिखने-पढ़ने का काम शूद्र करेंगे तो ब्राह्मण क्या बाल बनायेंगे!''[1] भांग जाति की एक चौदह वर्ष की बालिका-छात्रा ने शूद्र कहे जाने वाले वर्ग की अवदशा का चित्रण करते हुए एक लेख लिखा था। उसमें उसने पूछा था कि यदि वेद केवल ब्राह्मणों के धर्मग्रंथ हैं तो छोटी कही जाने वाली जातियों के धर्मग्रंथ कौन हैं? क्या ईश्वर ने उनके लिए धर्म और धर्मग्रन्थ नहीं दिये? बालिका ने अपने निबंध के उपसंहार में लिखा था— ''भगवान की अतिशय कृपा थी कि उसने हमारे लिए ब्रिटिश-शासन भेज दिया। अब हमको न तो कोई मार सकता है न पढ़ने से रोक सकता है, और न जीवित पृथ्वी में गाड़ सकता है। अब हम ठीक से वस्त्र पहन सकते हैं, कोई प्रतिबंध नहीं, कोई निषेध नहीं। अब हम बाजारों में खुले घूम सकते हैं।''[2]

9. ज्योतिराव को शाल भेंट

ज्योतिराव फुले की सुकीर्ति सर्वत्र फैल रही थी। उदार व्यक्तियों के समाज ने पूना के पेशवाओं के राजभवन में ज्योतिराव फुले के सम्मान में एक सभा

---

1. मा० ज्यो० फुले, पृष्ठ 28।
2. म० ज्यो० फुले, पृष्ठ 28।

का आयोजन किया। उसमें उनका सम्मान करना था तथा उन्हें दो सौ रुपये का शाल भेंट करना था। शिक्षा बोर्ड ने सरकार से प्रार्थना की कि वह फुले जी को सम्मानित करने की आज्ञा दे। सरकार ने भी स्वीकार किया। राजभवन में आयोजन हुआ। उस समय ज्योतिराव पचीस वर्ष के नवयुवक थे। समाज ने दो सौ रुपये का शाल ज्योतिराव के सम्मान में उन्हें समर्पित किया। और शिक्षा बोर्ड ने भी दो शाल समर्पित किये। संभ्रांत भारतीय लोग तथा कुछ यूरोपियन भी सभा में उपस्थित थे। अखबार वालों ने इसका विवरण छापा, परंतु रूढ़िवादी ब्राह्मणों ने इसे अपना अपमान समझा। दो सौ रुपये का शाल और फिर राजभवन में देना। देना था तो दस-पांच रुपये का शाल किसी गली-खोंची में आयोजन करके दे देना चाहिए था। शूद्र का इतना सम्मान! कलियुग विकराल है! यह रूढ़िवादी ब्राह्मणों की धारणा थी।

10. संस्कृत कालेज में सभी हिन्दुओं को पढ़ने की छूट

जनता की भावना और उदार ब्राह्मणों की राय से सरकार ने पूना के हिन्दू संस्कृत कालेज में पूरे हिन्दू समाज के बच्चों को पढ़ने के लिए स्वीकृति दे दी। इस पर रूढ़िवादी ब्राह्मण बहुत क्रुद्ध हुए। हिन्दू संस्कृत कालेज के प्राचार्य मेजर कैंडी थे। पंडितों ने उनसे कहा कि शूद्रों को संस्कृत पढ़ाना सनातन धर्म के विरुद्ध है। प्राचार्य ने उनसे पुनर्विचार करने की राय दी। पंडितों ने कहा कि सोनार और प्रभु जाति के छात्रों को तो बिलकुल नहीं पढ़ाया जा सकता है। परन्तु देश में सर्वत्र स्कूल-कालेज खुल रहे थे और उसमें सभी जातियों के बच्चों को पढ़ाने की घोषणा थी, अतएव रूढ़िवादी ब्राह्मणों का झूठे धर्म का रोना निरर्थक था। उदार ब्राह्मण भी उनके साथ नहीं थे। विद्वान अंग्रेज पंडितों को वैदिक उदाहरण देकर समझाते थे कि वैदिक काल में लोपामुद्रा आदि नारियां विदुषी थीं तथा शूद्र कहे जाने वाले लोग वेदमंत्रों के रचयिता थे।

"प्रभाकर" नामक पत्र के संपादक ने लिखा था कि पूना संस्कृत कालेज के पंडितों की यह नितांत मूर्खता एवं धृष्टता है। बंबई के सैकड़ों पंडित सोनारों, प्रभुओं तथा यूरोपियनों के घर जाकर संस्कृत पढ़ाते हैं। यदि पूना के पंडित सावधान न हुए तो उनको हटाकर पूना से बाहर के पंडित कम वेतन में पढ़ाने आ जायेंगे। उन्हें यह भी कहा गया कि पूना के पंडित ऋग्वेद लौटा दें, उसका प्रकाशन लंदन से किया जायेगा।

पूना के एक गंगाधर नाम के ब्राह्मण बंबई में पांच वर्षों तक यूरोपियनों को संस्कृत पढ़ाते रहे। जब वे पूना लौटे तो रूढ़िवादी ब्राह्मणों ने उनका तिरस्कार किया। अतएव वे उनसे ऊबकर संन्यासी हो गये।

19. ज्योतिराव फुले की हिन्दुत्व निष्ठा

पूरे भारत में अंग्रेजों का राज्य था। साथ-साथ इसाई मिशनरियां इसाइयत

का प्रचार करती थीं। इसाई-संप्रदाय में मानव मात्र के लिए द्वार खुला था, किन्तु हिन्दू-समाज में शूद्र तथा अतिशूद्र कहे जाने वाले हिंदुओं के लिए ही द्वार बंद था। अतएव अनेक शिक्षित-अशिक्षित हिन्दू, इसाई बन रहे थे। कुछ प्रलोभन में भी बन रहे थे।

ज्योतिराव फुले हिन्दुत्व में निष्ठावान थे। वे कहते थे कि हम जहां हैं उसमें जीवन भर रहकर उसकी त्रुटियों को सुधारेंगे। तथाकथित धर्मपरिवर्तन को वे कायरता मानते थे। कम-बेश बुराइयां अन्य संप्रदायों में भी हैं। इसाइयों की भी यह जड़ता है कि जो ईसा में विश्वास करेगा वही स्वर्ग पायेगा, शेष नरक में जायेंगे।

ज्योतिराव फुले हिन्दू शब्द का प्रयोग नहीं करते थे, परन्तु उपनयन संस्कार, विवाह संस्कार आदि वे अपनी देखरेख में हिन्दू पद्धति से कराते थे। कोई हिन्दू-समाज छोड़कर इसाई आदि बनना चाहे तो उसे ज्योतिराव समझाकर हिन्दू-समाज में ही रहने की राय देते थे। ज्योतिराव निर्गुण-निराकार ईश्वर में विश्वास करते थे। वर्णव्यवस्था के नाम पर ऊंच-नीच की भावना, छुआछूत, अंधविश्वास आदि को पुरोहितों की धूर्तता मानते थे। वे पाखंडपूर्ण कर्मकांड, मूर्तिपूजा, तीर्थ-व्रत आदि के विरोधी थे, नर-नारी को समान अधिकार दिलाने के पक्षधर थे और जाति-व्यवस्था को नहीं मानते थे। वे कहते थे मूल रूप में सब बराबर हैं। वे मांस, शराब, वेश्यागमन के विरोधी थे। वे कहते थे कि मनुष्य को एक पत्नीव्रती होना चाहिए। वे सांप, बिच्छू, जूं, चीलर तक को मारने से रोकते थे। वे कहते थे कि ईश्वर हमारी पहुंच के बाहर है। उसे पाने का हठ करना अज्ञान है, हमें मानव सेवा तथा प्राणिमात्र पर दया करना चाहिए। इसी में हमें शांति मिलेगी। वे शास्त्र-प्रमाण के विरोधी थे। वे कहते थे कि शास्त्रों की विवेकयुत बातें मानना चाहिए, शेष छोड़ देना चाहिए। सभी पुस्तकें मानव-रचित हैं। वे अवतारवाद नहीं मानते थे। वे श्रीराम तथा श्रीकृष्ण को मनुष्य तथा त्रुटिसहित बड़े पुरुष मानते थे। उन्होंने स्मृतियों के भेदभावपरक बातों का घोर विरोध किया था।

12. वे उदार ब्राह्मणों के प्रशंसक थे

''ज्योतिराव अपने वक्तव्यों में जहां सभी सहयोगियों की सराहना करते, उन ब्राह्मणों का भी सादर स्मरण करते थे जिन्होंने यत्किंचित भी सहायता की थी। ज्योतिराव के कुछ चुने हुए ब्राह्मण मित्र थे जो हर प्रकार का खतरा उठाकर भी ज्योतिराव का हृदय से खुला समर्थन करते थे। ज्योतिराव बीच-बीच में उन सबके प्रति अपनी ओर से सदैव कृतज्ञता ज्ञापित करते रहते थे। ज्योतिराव ने ऐसे सहयोगी ब्राह्मणों को अपने विद्यालयों की प्रबंधसमितियों में

सदस्य के रूप में रखा था।''[1]

ज्योतिराव फुले के बाद ज्योतिराव द्वारा संचालित समाज-सुधार संबंधी आंदोलनों के प्रमुख सूत्रधार केशवराव जेधे, दिनकरराव ज्वालकर ब्राह्मणों से सख्त नफरत करते थे। इन लोगों ने डॉ० बी० आर० अम्बेडकर से अनुरोध किया था कि अछूतोद्धार के आंदोलनों में जो भी ब्राह्मण शामिल हैं उनको वे अपने साथ से हटा दें, और ब्राह्मणों को अपने साथ में कभी न लें। अछूतोद्धार में प्रवृत्त नेताओं का यह परामर्श डॉ० अंबेडकर को तनिक भी नहीं रुचा। उन्होंने उनको बड़ी फटकार बतायी। सत्य शोधक समाज का उद्घाटन करते हुए गैर-ब्राह्मण नेताओं को फटकारते हुए डॉ० अंबेडकर ने कहा—समाज-सुधार अथवा अछूतोद्धार में लगे अ-ब्राह्मण नेताओं ने न केवल महात्मा ज्योतिराव फुले की कीर्ति को कलंकित किया है, प्रत्युत निर्लज्जतापूर्वक उनके दर्शन को भी नष्ट कर दिया है। सत्य शोधक समाज की विचारधारा को भारत के कोने-कोने में पहुंचाना चाहिए।[2]

13. ज्योतिराव की हत्या का प्रयास

कहा जाता है कि द्वेषी तथा प्रतिक्रियावादी ब्राह्मणों ने ज्योतिराव फुले की हत्या करने के लिए रोड़े तथा धोधीराव नामदेव नाम के दो व्यक्तियों को भेजा जो शूद्र कही जाने वाली जाति के थे। वे तलवार लेकर रात में ज्योतिराव के शयन-कक्ष के पास पहुंचे गये। ज्योतिराव को आहट मिली। वे शय्या पर बैठ गये और उन्हें अपने हत्यारे समझकर उन्होंने कहा कि गरीबों की सेवा में मेरा जीवन समर्पित है। यदि तुम लोगों का कल्याण मेरी हत्या से हो तो मेरा सिर सामने है।

वे दोनों स्तब्ध रह गये। कुछ क्षणों में ज्योतिराव के चरणों में गिरकर उन्होंने क्षमा मांगी और वे जीवन भर के लिए उनके अनुगामी हो गये। दोनों ने ज्योतिराव फुले के विद्यालय में शिक्षा ग्रहण की। रोड़े तो ज्योतिराव का अंगरक्षक बन गया तथा धोधीराव नामदेव पंडित बन गया। वह ज्योतिराव फुले द्वारा स्थापित 'सत्य शोधक समाज' का प्रमुख स्तंभ बना। उसने 'सत्य शोधक समाज वेदाचार' नाम की पुस्तक लिखी जो प्रकाशित हुई और सम्मानित हुई।

14. सन् 1857 ई० का सेना-विद्रोह

सन् 1857 ई० में उत्तरी भारत में सेना का ब्रिटिश-शासन के प्रति विद्रोह हुआ। ब्रिटिश-शासन अंग्रेज सिपाहियों को जो सुविधा, पदोन्नति आदि देती थी

---

1. म० ज्यो० फुले, पृष्ठ 45।
2. म० ज्यो० फुले, पृष्ठ 201।

भारतीयों के लिए दुर्लभ थी। इसी बीच एक बात की सेना में अफवाह उड़ी कि कारतूसों पर गाय और सूअर की चर्बी लगी रहती है जिससे हिन्दू और मुसलमान, दोनों सैनिक भड़क उठे। असंतोष की आग पहले से ही सुलग रही थी। अंतत: 10 मई, 1857 ई० में मेरठ में सेना के सिपाहियों ने कारतूस के प्रयोग करने से इन्कार कर दिया। इसके फलस्वरूप सेना के सिपाहियों को दंड दिया गया। इससे सेना भड़क गयी। उसने कुछ अंग्रेज अफसरों की हत्या कर दिल्ली की तरफ कूच कर दिया और लाल किले पर कब्जा कर लिया। इसमें हिन्दू–मुसलमान मिलकर अंग्रेजी–शासन को समाप्त करने पर आमादा हो गये। बनारस, इलाहाबाद, बरेली, लखनऊ, कानपुर, पटना आदि में अंग्रेजों के विरुद्ध भावना भड़क उठी। अंग्रेजों द्वारा शासन–सूत्र से अपदस्थ किये गये बहादुर शाह द्वितीय को भारत का शासक घोषित किया गया। कानपुर के पास बिठूर में रहने वाले बाजीराव पेशवा द्वितीय की 1853 ई० में मृत्यु होने के बाद उनके दत्तक पुत्र नाना साहेब को पेंशन देने से ब्रिटिश–शासन ने इन्कार कर दिया था। इसलिए नाना साहेब भी अंग्रेजी–शासन से क्रुद्ध थे। उन्होंने भी अंग्रेजी–शासन उखाड़ने के लिए इस विद्रोह में भाग लिया।[1]

अंतत: विद्रोही सिपाहियों का कोई कुशल नेता न होने से तथा निजाम हैदराबाद के मंत्री सर सालारगंज की उदासीनता, सिक्खों की तटस्थता तथा नेपाल राज्य का विद्रोहियों के साथ द्वेषभाव होने से विद्रोह निष्फल हुआ।[2] अंग्रेजों ने दिल्ली से लेकर पटना तक जो रक्तपात और लूट–फूंक किया उससे नादिरशाह की क्रूरता भी फीकी पड़ गयी। ऐसा भाव विचारक अंग्रेजों ने ही इतिहास में व्यक्त किया है। इसको लेकर ब्रिटिश शासन ने कितने क्रूर अंग्रेज अफसरों को उनके पद से हटा दिया। विद्रोह असफल होने पर नाना साहेब को अंग्रेज पकड़ नहीं पाये। उन्होंने कहीं अज्ञातवास में शरीरांत किया।

15. ज्योतिराव फुले का विद्रोह तथा स्वतन्त्रता के प्रति दृष्टिकोण

ज्योतिराव फुले उक्त विद्रोह से दुखी थे। वे देशभक्त थे, इसलिए भारतीयों के दमन से भी दुखी थे। ज्योतिराव मानते थे कि जातिभेद तथा वर्णभेद के गर्हित व्यवहार ने ही भारत को गुलाम बनाया है। ब्रिटिश–शासन में शूद्र कहे जाने वाले लोगों को खुला वातावरण मिलना शुरू हुआ है। उन्हें भी मनुष्य माना जाने लगा है। अंग्रेज चाहे जिस दृष्टि से सही शूद्रों के प्रति भी हमदर्द हैं। सामाजिक गुलामी की अपेक्षा राजनीतिक गुलामी सहने योग्य है। इन विचारों से ज्योतिराव फुले ने उक्त विद्रोह में भाग नहीं लिया।

---

1. **भारत का इतिहास, पृष्ठ 434, प्रगति प्रकाशन मास्को, 1981।**
2. **म० ज्यो० फुले, पृष्ठ 53-54।**

"ज्योतिराव तो चाहते थे कि जिस ब्रिटिश शासन ने भारत में मानव-मानव के भेद को मिटाने में सहायता की है, छोटी जातियों को शिक्षा तथा नौकरियों की व्यवस्था की है तथा कानून के माध्यम से मानवीय समानता स्थापित करने की चेष्टा की है, वह यहां बहुत दिन तक चले।"[1]

1885 ई० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई थी। ज्योतिराव कांग्रेस पर विश्वास नहीं करते थे। वे समझते थे कि इसमें भी ब्राह्मण और बनिया का बोलबाला है। यदि अंग्रेज गये और भारत स्वतन्त्र हुआ तो पुनः ब्राह्मणवाद का बोलबाला हो सकता है और भारत की शूद्र तथा अतिशूद्र कही जाने वाली जनता पशु से भी अधिक उपेक्षित हो सकती है। "ज्योतिराव का कथन था कि जब ब्राह्मण अंग्रेज अधिकारियों के साथ बैठकर अंडे, शराब, गोश्त आदि खाते-पीते हैं और मुसलिम रखैल स्त्रियों से संबंध रखते हैं तो उनकी मांगों और महारों के साथ स्नेहपूर्वक भोजन करने में क्या आपत्ति है।"[2]

एक विधवा ब्राह्मणी से पैदा हुए यशवंत नाम के बच्चे को अपना दत्तक पुत्र स्वीकार कर ज्योतिराव फुले ने अपने वसीयतनामे में लिखा था—"मेरी यशवंत से यह भी अपेक्षा है कि अपना संपूर्ण जीवन शूद्र और अतिशूद्रों को समझाये कि उनके क्या-क्या मानवीय अधिकार हैं तथा उनको ब्राह्मणों की गुलामी से मुक्त कराये। अपनी शक्ति भर ब्रिटिश-शासन के साथ हर प्रकार का सहयोग करे इसलिए कि मेरा ध्रुव विश्वास है कि ब्रिटिश-सरकार शूद्रों की रक्षक है।"[3]

उक्त वर्णनों से ज्योतिराव की देशभक्ति पर संदेह करने की आवश्यकता नहीं है। "उन दिनों कांग्रेस कुछ शहरों के उच्च श्रेणी के लोगों का आंदोलन था। ज्योतिराव को भय था कि यदि कांग्रेस अपने उद्देश्यों में सफल हुई तो वह उन्हीं लोगों के हितों पर ध्यान देगी।"[4]

वर्णव्यवस्था कभी केवल काम का बटवारा रही होगी और सभी मानव में समानता रही होगी, परन्तु जो अनुभव का विषय है वह यह है कि इसने भारतीय समाज को तोड़कर रख दिया है। ब्राह्मण-पुरोहितों ने क्षत्रियों से कहा कि तुम केवल हमसे छोटे हो, किन्तु वैश्य और शूद्र से बड़े हो। हम तुम्हारा उद्धार करेंगे, तुम्हारे शासन की भी रक्षा करेंगे। उन्होंने वैश्यों से कहा कि तुम शूद्र तथा अतिशूद्रों से बड़े हो, और शूद्रों से कहा कि तुम अतिशूद्र से बड़े हो। उन्होंने अतिशूद्रों से कहा कि तुम चिंता क्यों करते हो! ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा

---

1. **म० ज्यो० फुले, पृष्ठ 158।**
2. **वही, पृष्ठ 159।**
3. **वही, पृष्ठ 165।**
4. **वही, पृष्ठ 159।**

वैश्यों को नाना विधि-निषेध की झंझट है, तुम्हें कुछ नहीं है। तुम जैसा चाहो रहो; बस, अन्य तीन वर्णों की सेवा करके मुक्त हो जाओगे। इस प्रकार की भेद-नीति ने समाज को तोड़ा।

मानव मात्र मौलिक रूप में समान है, इसमें कोई छूत-अछूत नहीं, सबके साथ उत्तम व्यवहार करना चाहिए, जिसकी जैसी शक्ति होती है वह उस क्षेत्र में विकास करता है, इस उत्तम विचार का वर्णव्यवस्था में स्थान ही नहीं है।

ज्योतिराव को डर था कि अंग्रेज भारत से कहीं शीघ्र इंग्लैण्ड लौट गये तो भारत में निम्नवर्ग की गुलामी पूर्ववत बनी रह सकती है। उस समय की कांग्रेस से समानता की आशा नहीं की जा सकती थी। यह तो जब बीसवीं सदी के दूसरे दशक में महात्मा गांधी कांग्रेस में सक्रिय रूप से सम्मिलित हुए हैं तब उन्होंने राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ सामाजिक स्वतन्त्रता एवं समानता का प्रयोग कांग्रेस में आरंभ किया है। भारत स्वतंत्र होता और वह केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और बनियों के लिए होता, शेष विशाल जनता जिनका नाम शूद्र तथा अतिशूद्र रखा गया था, वह पशु से भी अधिक उपेक्षित रहती तो स्वतन्त्रता का क्या प्रयोजन होता। यह अलग बात है कि इस विकासशील वैज्ञानिक युग में इस अंधकार का नाश होना ही था।

16. समाज-सुधार का दिशापरिवर्तन

ज्योतिराव द्वारा संचालित गरीब छात्रों के पढ़ने के लिए तीन विद्यालय चल रहे थे। धनाभाव से उन विद्यालयों की दशा गिरने लगी। एक विद्यालय म्यूनिसिपैलिटी को दे दिया गया। दो विद्यालय चलते रहे। विद्यालयों की प्रबंध-समिति के सदस्यों से ज्योतिराव का मतभेद हो गया, अत: वे प्रबंध-समिति से हट गये। उन्होंने देखा कि अब तो बालिकाओं तथा गरीबों के बच्चों को पढ़ने के लिए पूरे महाराष्ट्र तथा देश में सरकारी विद्यालय खुलते जा रहे हैं, अत: उन्होंने समाजक्रांति की दिशा मोड़ दी।

भारत में पहले सती प्रथा थी। सवर्णों में स्त्री के मरने पर पुरुष तत्काल दूसरा विवाह कर सकता था, परंतु पुरुष के मरने पर स्त्री को उसकी लाश के साथ जल जाना चाहिए यह मान्यता थी। "1815 ई० से 1828 ई० तक पटना, बरेली और बनारस डिवीजनों में सतियों की संख्या क्रमश: 708, 193 तथा 1165 थी, किंतु कलकत्ता डिवीजन में यह संख्या 5099 थी।"[1] बंगाल के महामनीषी "राजा राममोहन राय ने अपनी भाभी को जबर्दस्ती सती किये जाने का दारुण दृश्य देखा था।"[2] अतएव उन्होंने इसके विरोध में आंदोलन

---

1. **हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ 368, हिन्दी संस्थान, लखनऊ।**
2. **वही, पृष्ठ 159।**

किया था। रूढ़िवादियों ने इसका विरोध किया था, परंतु राजा राममोहन राय ब्रिटिश शासन से 1829 ई० में कानूनन सतीप्रथा बंद करवाने में सफल हुए थे। इसी प्रकार बंगाल के महापुरुष ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने विधवाओं की करुण दशा से पीड़ित होकर आंदोलन किया था और उन्होंने रूढ़िवादियों से कठिन लोहा लेने के बाद काशी के उदार पंडितों का सहयोग पाकर ब्रिटिश-शासन से 25 जुलाई, 1856 ई० में विधवा विवाह कानून पास करवाया था।

महाराष्ट्र में भी विधवाओं की करुण कथा थी। ज्योतिराव ने 8 मार्च, 1860 ई० को एक विधवा का अपनी देखरेख में विवाह करवाया। आगे उन्होंने योजना बनायी कि एक इस प्रकार की शिशु-पोषण-शाला स्थापित की जाये जहां गर्भवती विधवाएं चुपचाप प्रसव कर सकें। विधवाओं को इसकी सूचना देने के लिए पर्चे छापकर बांटे गये। इससे रूढ़िवादी ब्राह्मण बहुत क्रुद्ध हुए। परंतु यह बहुत-सी भूली-भटकी विधवाओं के शिशुओं की रक्षक हुई। इसमें बहुधा ब्राह्मणी तरुणी विधवा ही अपना सिर छिपाने आती थीं, क्योंकि ब्राह्मणों में विधवा विवाह नहीं होता था। इसी शिशु-पोषण-शाला में काशी बाई नाम की विधवा ब्राह्मणी ने एक शिशु का प्रसव किया था जिसे ज्योतिराव दोनों प्राणियों ने पालकर अपना दत्तक पुत्र बनाया था। उसका नाम रखा था यशवंत। ज्योतिराव को कोई निजी पुत्र नहीं था। अत: यशवंत ही उनका उत्तराधिकारी हुआ।

17. व्यवसाय

ज्योतिराव ने अनुभव किया कि जीवन-निर्वाह के लिए स्वावलम्बी होना आवश्यक है, अत: उन्होंने टैंक बनाने की ठेकेदारी ली, उसके बाद गद्दे की एजेंसी ली। ठेकेदारी के समय में उन्होंने अनुभव किया कि किस तरह इंजीनियर ठेकेदारों तथा मजदूरों को ठगते हैं और फिर ठेकेदार भी उसमें सहभागी बनते हैं।

ज्योतिराव फुले पिता द्वारा घर से निष्कासित थे, पीछे पैतृक संपत्ति में चाचा से विवाद होने पर उससे भी वंचित थे, नि:संतान थे, बड़े स्तर के कहलाने वाले एक बड़े समुदाय से तिरस्कृत थे, कुछ मित्रों द्वारा प्रवंचित थे, परंतु इसके बीच में वे गरीब जनता की सेवा में समर्पित कुंदन की तरह चमक रहे थे।

18. सत्यशोधक समाज

ज्योतिराव अभी तक पर्चों, पुस्तकों तथा भाषणों से सामाजिक स्वतन्त्रता, समता और समान व्यवहार का प्रचार करते रहे साथ-साथ अंधविश्वास, कर्मकांड आदि पर प्रहार करते रहे। उन्होंने पूना में 24 सितम्बर, 1873 ई०

में एक सभा का आयोजन किया जिसमें उनके सभी मित्र तथा अनुगामी इकट्ठे हुए। उसी बीच में उन्होंने 'सत्यशोधक समाज' नाम की संस्था का स्थापन किया। "यह स्मरण रखना होगा कि ज्योतिराव के तीन ब्राह्मण मित्र विनायक बापू जी भंडारकर, विनायक बापू जी डेंगल तथा सीताराम सखाराम दातार ऐसे थे जिन्होंने सत्य शोधक समाज को हर प्रकार का सहयोग देने का वचन दिया। ज्योतिराव को संस्था का पहला अध्यक्ष चुना गया तथा नानाराव गोविंद राव कडलक को उसका मंत्री। सत्यशोधक समाज के उद्देश्य भी निर्धारित किये गये जिनमें मुख्य थे शूद्रों तथा अतिशूद्रों के द्वारा ब्राह्मणों की पौराणिक मान्यताओं का विरोध करना, उनको ब्राह्मणों की मक्कारी के जाल से मुक्त करना, पुराणोपदिष्ट जन्मजात जातीय गुलामी से छुटकारा दिलाना, छोटे एवं गरीब लोगों तथा उनके परिवारों को शिक्षित करना तथा अंधविश्वासों के प्रति उनको सावधान करना। संस्था के सदस्यों को खांडेराव देव के नाम से इस बात की शपथ लेनी पड़ती थी कि यह ब्रिटिश-शासन के प्रति स्वामिभक्ति रखेगा।[1]

राजा राममोहन राय का ब्राह्मसमाज, स्वामी दयानंद सरस्वती का आर्यसमाज तथा ज्योतिराव फुले का सत्यशोधक समाज इसी युग की देन हैं। तीनों मूर्तिपूजा के विरोधी थे।

सत्यशोधक समाज महाराष्ट्र में अपना काम करता रहा और उससे निम्न कहे जाने वाले एक विशाल समाज को बड़ा शंबल मिला।

19. महात्मा की उपाधि, साथ कुछ कुदिन

ज्योतिराव फुले के अनुगामियों, मित्रों एवं प्रशंसकों ने मांडवी के कोलीबाड़ा हाल में 11 मई, सन् 1888 ई० में एक विशाल सभा का आयोजन किया, जिसमें ज्योतिराव को सर्वसम्मति से महात्मा की उपाधि दी गयी।

ज्योतिराव फुले को अपने दत्तक पुत्र यशवंत की जिसकी उम्र सोलह वर्ष की थी, रूढ़ि के अनुसार एक ग्यारह वर्ष की लड़की से विवाह तय करना पड़ा। जो बाल-विवाह का विरोधी था उसे बाल-विवाह करना पड़ा।

इसी समय ज्योतिराव के कुछ अभिन्न सहयोगी मित्र उनसे असंतुष्ट होकर अलग हो गये। 1888 ई० को जुलाई में ज्योतिराव के दायें अंग को पक्षाघात हो गया। उनके अनेक मित्र उसकी चिकित्सा कराने में लगे रहे, परंतु सफलता नहीं मिली। इसी बीच अनुगामियों की प्रार्थना पर उन्होंने बिस्तर पर पड़े-पड़े सत्य शोधक समाज के नियमानुसार धार्मिक अनुष्ठानों, विवाह संस्कारों तथा मृतक क्रियाओं के संबंध में बायें हाथ से एक पुस्तक लिखी। 1888 ई० में दिसम्बर महीने में ज्योतिराव पुन: रुग्ण हो गये। 1889 ई० के फरवरी महीने

---

1. **वही, पृष्ठ 95।**

में उन्होंने अपने दत्तक पुत्र यशवंत की उक्त ग्यारह वर्षीया राधा नाम की लड़की से विवाह किया।

रूढ़िवादी ब्राह्मणों ने सत्यशोधक समाज पर मुकदमा चलाया था कि पौरोहित्य ब्राह्मण ही कर सकता है और वही विवाह, मृत्यु आदि में संस्कार करा सकता है, शूद्र नहीं। यह मुकदमा बंबई हाईकोर्ट में चल रहा था। अंत में ब्राह्मण हार गये और सत्य शोधक समाज की विजय हुई। बड़ौदानरेश ने भी ज्योतिराव को समय से आर्थिक सहयोग दिया था तथा उनकी अनेक बार प्रशंसा की थी।

20. अन्तिम दिन

ज्योतिराव का स्वास्थ्य गिरता जा रहा था। उन्हें आभास हो चला था कि अब शरीर जाने वाला है। एक इसाई मनीषी जो आपके मित्र थे, मिलने आये और उन्होंने पूछा—"आपको शांति है अथवा नहीं? क्या आपके हृदय में अपनी संभाव्य जीवन की अंतिम यात्रा को निकट आते देख किसी प्रकार की उद्विग्नता नहीं है?" महात्मा ज्योतिराव फुले ने शांतभाव से उत्तर दिया—"मैंने स्वार्थरहित उपयोगी जीवन जीया है, मेरे जीवन का उद्देश्य पूरा हो गया। मुझे किसी प्रकार की चिंता अथवा भय नहीं है। मेरा चित्त अत्यंत नीरव तथा परम शांत है।"[1]

ज्योतिराव की एक पुस्तक 'सार्वजनिक सत्यधर्म पुस्तक' अप्रकाशित थी। उसकी उन्हें चिंता थी कि कैसे प्रकाशित होगी। यह भाव देखकर उनके अभिन्न ब्राह्मण मित्र वाल्वेकर जी ने कहा कि मैं इसे अपने निजी पैसे से छपाकर प्रकाशित कर दूंगा। अपने मित्र का यह आश्वासन पाकर ज्योतिराव का मन हलका हो गया।

बृहस्पतिवार 27 नवम्बर, 1890 ई० को करीब पांच बजे सायं को परिवार एवं मित्रों को सांत्वना देकर उन्हें कहा कि परमात्मा की प्रार्थना करो और स्वयं भी प्रार्थना करते हुए कहा कि हे प्रभु! अब बिना विलम्ब किये शीघ्र ही मुझे उठा लो। रात होते-होते उन्होंने आंखें बन्द कर लीं और आधीरात के बाद दो बजकर बीस मिनट पर उस महापुरुष ने इस असार संसार को त्याग दिया।

उन्होंने अपने वसीयतनामे में लिखा था कि मेरा शव जलाया न जाये, बल्कि जमीन खोदकर उसमें समाधि दे दी जाये, परंतु संभवत: इस बात का किसी को स्मरण भी न रहा हो, या जो हो, उनका शव जलाया गया। उसके तीन दिन बाद उनके भस्मावशेष को एक कलश में रखकर उसकी समाधि दी गयी।

---

1. **म० ज्यो० फुले, पृष्ठ 191।**

उनकी अंत्येष्टि के समय सभी उपस्थित सज्जनों ने उनकी प्रशंसा की तथा "अच्छे शील स्वभाव के ब्राह्मणों ने उद्घोष किया, ज्योतिराव का नाम यशस्वी हो।"[1]

अनेक समसामयिक पत्र-पत्रिकाओं ने ज्योतिराव की प्रशंसा में लेख छापे। एक ब्राह्मण संपादक बी० के० ओक ने लिखा कि ज्योतिराव यशस्वी जनमंगलकर्ता थे। वे केवल दुश्शील ब्राह्मणों की भर्त्सना करते थे, अच्छे ब्राह्मणों की नहीं।

इसके सात वर्ष बाद 1897 ई० में ज्योतिराव की पत्नी सावित्री बाई का निधन हो गया। तथा इसके आठ वर्ष बाद 1905 ई० में लगभग बत्तीस वर्ष की उम्र में दत्तक पुत्र यशवंत का भी निधन हो गया।

सभी का शरीर थोड़े दिन रहकर अंतत: मिट्टी हो जाता है, परंतु लोकमंगलकारी मनीषियों का यश:शरीर तब तक बना रहता है जब तक जनता उनके सद्गुणों से प्रेरणा लेती रहती है। महात्मा ज्योतिराव फुले की सद्गुण-सुगंधी मानवीय वातावरण में फैलती रहेगी और वे यश:शरीर से लोगों के मानस में अमर रहेंगे।

---

1. **म० ज्यो० फुले, पृष्ठ 195।**

22
स्वामी विवेकानंद

स्वामी विवेकानंद भारत के एक तेज चमकदार सितारे हैं। उनका हृदय था अत्यन्त संवेदनशील सागर की लहरियों-जैसा। उस तप:पूत संन्यासी ने जो कुछ हमें दिया अत्यन्त मूल्यवान है।

1. जन्म और बालकपन

कलकत्ता के समुलिया मोहल्ला के गौरमोहन मुखर्जी स्ट्रीट पर दत्त परिवार का मकान था। राममोहन दत्त कलकत्ता सुप्रीम कोर्ट के वकील थे। उनके सुपुत्र दुर्गा दत्त थे। वे भी संस्कृत तथा फारसी पढ़े थे तथा कामचलाऊ अंग्रेजी भी जानते थे। पश्चिमोत्तर प्रदेशों के हिन्दी भाषी वेदांती साधुओं की संगत पाकर दुर्गा दत्त पच्चीस वर्ष की उम्र में ही घर छोड़कर संन्यासी बन गये। दुर्गा दत्त घर में अपनी पत्नी की गोद में विश्वनाथ दत्त नामक एक शिशु छोड़ गये थे। विश्वनाथ जवान होने पर वकालत करने लगे। इन्हीं विश्वनाथ दत्त के औरस तथा माता भुवनेश्वरी की कोख से नरेन्द्रनाथ नाम का वह तेजस्वी पुत्र 12 जनवरी, 1863 को पैदा हुआ जो स्वामी विवेकानन्द के नाम से विश्वप्रसिद्ध हुआ।

नरेन्द्रनाथ बचपन में स्वभाव से चंचल और उद्दण्ड थे। माता परेशान हो जाती थीं। माता घर में रामायण तथा महाभारत की कथा-कहानी नरेन्द्र को सुनाती थीं। नरेन्द्र पर उसका प्रभाव पड़ा। एक दिन बालक नरेन्द्र बाजार से सीताराम की युगलमूर्ति लाकर घर में उसकी पूजा करने लगा।

घर में जो गाड़ी का कोचवान था, उसे वैवाहिक जीवन से घृणा थी। एक दिन बात के क्रम में विवाह की बात चल पड़ी। कोचवान ने वैवाहिक जीवन की दुखरूपता एवं घृणास्वरूपता का चित्र बालक नरेन्द्र के सामने खींच दिया। बालक ने आंखों में आंसू भरकर माता से वैवाहिक जीवन की घृणारूपता की चर्चा की और कहा ''मैं सीताराम की पूजा कैसे करूं, क्योंकि सीता राम की पत्नी थी। वे विवाहित थे।'' मां ने कहा—''बेटा, सीताराम की पूजा मत करो, शिव की करो।''

बालक नरेन्द्र शाम को सीताराम की युगलमूर्ति लेकर छत पर चढ़ गया और उसे जमीन पर फेंक दिया। मूर्ति चूर-चूर हो गयी। पीछे वे शिव की मूर्ति पूजने लगे।

विश्वनाथ के एक मुवक्किल जो मुसलमान थे, वे उनके मित्र जैसे थे। नरेन्द्र उनकी गोद में बैठकर उनसे बातें करते थे। एक दिन नरेन्द्र ने उन मुसलमान सज्जन के हाथ का एक संदेश (मिठाई का टुकड़ा) खा लिया। इसको लेकर घर में बड़ा हो-हल्ला मचा। वकील विश्वनाथ तो जाति-पांति के लिए उदारदृष्टि वाले थे; किन्तु और घर वाले कट्टरपंथी थे। बालक नरेन्द्र के मन में जाति-पांति और छुआछूत के प्रति विद्रोह उत्पन्न हो गया।

नरेन्द्र को पांच वर्ष की उम्र से पढ़ाया जाने लगा। उनकी उद्दण्डता से अध्यापक भी परेशान रहते थे। नरेन्द्र को चौदह वर्ष की उम्र में पेट की बीमारी हुई। वे सूख गये। उनके पिता उस समय सरकारी काम से मध्य प्रदेश के रायपुर शहर में रह रहे थे। समय 1877 का था। नरेन्द्र को भी स्वास्थ्य-लाभ के लिए जलवायु परिवर्तन की बात सोचकर रायपुर बुलाया गया। उस समय मध्य प्रदेश में ज्यादा रेलवे लाइनें नहीं थीं। अत: कलकत्ता से इलाहाबाद, जबलपुर होते हुए नरेन्द्र ट्रेन से नागपुर गये तथा नागपुर से बैलगाड़ी से पंद्रह दिनों में रायपुर। रायपुर में उस समय स्कूल नहीं था; अत: पिता विश्वनाथ दत्त स्वयं नरेन्द्र को इतिहास, दर्शन, साहित्य आदि पढ़ाते थे। नरेन्द्र दो वर्ष रायपुर में रहे। उनका स्वास्थ्य ठीक हो गया और वे कलकत्ता लौट गये। नरेन्द्र अपनी किशोर अवस्था में ही अपने पिता से संगीत सीख लिये थे।

2. विवेकानन्द की पूर्वस्थिति

अंग्रेजों तथा इसाई मिशनरियों के प्रचार तथा विलायती शिक्षा-दीक्षा से कलकत्ता 18वीं सदी में आंदोलित हो चुका था। हिन्दू समाज तंद्राग्रस्त था। उस समय उसे झकझोरकर जगाने वाले हुए स्वनामधन्य राजा राममोहन राय (1772-1833 ई०) जो एक धनी तथा संभ्रांत ब्राह्मण घराने में जन्में थे। उन्होंने पटना में अरबी, फारसी, काशी में संस्कृत तथा कलकत्ता में इंगलिश, लैटिन एवं हिब्रू भाषा सीखकर कुरान, यूक्लिड, अरस्तू के ग्रंथ, वेदांत, बाइबिल आदि का अध्ययन किया। अत: वे तुलनात्मक अध्ययनकर्ता विचारों में उदार हुए। वे मूर्तिपूजा के विरोधी, एकेश्वरवादी, जाति-पांति को न मानने वाले तथा सतीप्रथा के विरोधी थे। उन्होंने बारह वर्षों के निरन्तर प्रयत्न से सतीदाह प्रथा को निषिद्ध ठहराने वाला कानून 4 दिसम्बर, 1829 ई० को सरकार से पास करवा लिया।

राजा राममोहन राय के आंदोलन से सनातनधर्मी कहलाने वाले लोग काफी क्षुब्ध हो गये। उन्होंने भी उनके विरुद्ध कुछ किया, परन्तु सफल न हुए।

राजा राममोहन राय ने हिन्दू-सुधार के लिए 'ब्राह्मसभा' की स्थापना की थी। विलायती हवा से हिन्दू युवकों के चारित्रिक पतन को देखकर वे बहुत दुखी थे। वे कुछ काम से विलायत गये। भारत के वे पहले पुरुष थे जिन्होंने

विलायत की यात्रा की। वे इंग्लैण्ड से लौटकर न आ सके। उनका वहां 27 सितम्बर, 1833 ई० में देहांत हो गया।

ब्राह्म समाज के प्रचार को विपिनचन्द्र पाल, महर्षि देवेन्द्र नाथ, केशव चन्द्र सेन आदि ने आगे बढ़ाया। 1850 ई० में अक्षयकुमार और राजनारायण के परामर्श से महर्षि देवेन्द्रनाथ ने वेदों की अपौरुषेयता तथा अभ्रांतता के सिद्धांत का त्याग कर दिया।

इसी काल में बंगाल के वीरसिंह नाम के गांव में महान पंडित ईश्वरचंद्र विद्यासागर पैदा हुए। वे बंगभाषा के निर्माता, शिक्षा के प्रचारक, दीनों के सेवक तथा मानवता की महामूर्ति थे। इन्होंने 'विधवा विवाह' का प्रचार किया और सरकार से उसे वैध करवा दिया। ईश्वरचंद्र विद्यासागर को हिन्दूसमाज का घोर विरोध सहना पड़ा था।

इसी काल में हुगली जिले के कामारपुर गांव में एक निर्धन ब्राह्मण परिवार में 17 फरवरी, 1836 ई० में एक महान पुरुष का जन्म हुआ था जिनका प्रसिद्ध नाम श्रीरामकृष्ण परमहंस हुआ। उन्होंने पढ़ाई-लिखाई को त्यागकर आध्यात्मिक साधना की। ये रानी रासमणि के बनवाये कलकत्ता में गंगा के पूर्व तट पर दक्षिणेश्वर के काली मंदिर में पुजारी बने और वहीं इनकी साधनास्थली बनी। इन्हें आगे चलकर तोतापुरी जी ने वेदांत का ब्रह्मज्ञान दिया था।

ब्राह्मसमाज के महानवक्ता केशवचंद्र सेन 1875 ई० में श्री रामकृष्ण परमहंस से मिले और वे उनके वैराग्य तथा आध्यात्मिक साधना से प्रभावित हुए। इसी प्रकार कई ब्राह्मसमाजी श्री रामकृष्ण के प्रति भक्ति-भावना रखने लगे। इसी काल में राजनारायण, बंकिम, भूदेव आदि के भी विचार गूंज रहे थे।

3. नरेन्द्रनाथ जिज्ञासु तथा साधक के रूप में

नरेन्द्र शांत स्वभाव के न थे। वे विधि-निषेध के बंधनों से अलग रहकर स्वतंत्र जीवन जीना पसन्द करते थे। वे व्यायाम, खेलकूद आदि में रुचि लेते थे। वे उच्च साहित्यिक ग्रंथ तथा दर्शनशास्त्रों का अध्ययन करते थे। वे न्यायशास्त्र तथा पाश्चात्य दार्शनिक ह्यूम, हर्बर्ट स्पेंसर आदि के दर्शनों का एफ० ए० पढ़ते समय ही अध्ययन कर लिये थे। "डेकार्ट के अहंवाद, ह्यूम और बेन की नास्तिकता, डार्विन का विकासवाद और सबसे ऊपर स्पेंसर का अज्ञेयवाद इत्यादि विभिन्न दार्शनिकों की विचारधारा में इतस्तत: बहते हुए नरेन्द्रनाथ सत्य की प्राप्त के लिए व्याकुल हो उठे।"[1]

नरेन्द्रनाथ ने राजा राममोहन राय की पुस्तकें पढ़ीं और ब्राह्मसमाज के सदस्य बन गये। क्योंकि वे शुरू से ही जाति-पांति विरोधी स्त्री-पुरुष के

---

1. **विवेकानंदचरित, पृष्ठ 79, संस्करण 8वां।**

समानाधिकार के समर्थक तथा पाखण्ड से घृणा करने वाले थे और ये बातें ब्राह्मसमाज में मिलती थीं। नरेन्द्रनाथ ब्राह्मसमाज में रविवार को जाकर गीत गाते तथा उसके नियमों का पालन करते थे। किन्तु उनका मन वैराग्यशील था। ब्राह्मसमाज में इसका अभाव होने से उनका मन उसमें ठीक से नहीं लगता था। ब्राह्मसमाज के महापुरुष महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने नरेन्द्र को ध्यान लगाने को कहा। महर्षि देवेन्द्र के प्रति नरेन्द्र की बड़ी श्रद्धा थी। वे उनके कथनानुसार ध्यान करने लगे। यहां तक कि निरामिष भोजन, धोती-चद्दर आदि वेशभूषा अपनाकर जमीन पर सोना—यह सब नरेन्द्र करने लगे।

कलकत्ता के शिमिला मोहल्ले के सुरेन्द्रनाथ मित्र एक दिन अपने किसी आनंदोत्सव में श्रीरामकृष्ण परमहंस को अपने घर बुलाये। उनको कोई अन्य अच्छा गायक न मिलने से वे नरेन्द्रनाथ को गाने के लिए बुलाये। 1881 ई० के नवम्बर महीने में यही नरेन्द्र का श्री रामकृष्ण परमहंस के प्रथम परिचय का समय है। नरेन्द्रनाथ का गीत सुनकर श्रीरामकृष्ण परमहंस बहुत खुश हुए। चलते समय वे नरेन्द्र को अपने मंदिर दक्षिणेश्वर आने के लिए आग्रहपूर्वक कह भी गये। परन्तु नरेन्द्र अपने एफ० ए० की परीक्षा की व्यस्तता से वहां जाना भूल गये।

नरेन्द्र के विवाह की परिवार में भीतर-भीतर चर्चा चलने लगी। लड़की वाले भारी दहेज देने पर भी तुले थे। नरेन्द्र के पिता विश्वनाथ, नरेन्द्र से यह चर्चा स्वयं नहीं करना चाहते थे। उन्होंने यह चर्चा अन्य से करवायी। डॉक्टर रामचंद्र दत्त विश्वनाथ बाबू के सम्बन्धी थे तथा श्री रामकृष्ण परमहंस के भक्त भी थे। उन्होंने नरेन्द्र से विवाह की चर्चा की। नरेन्द्र शुरू से ही विवाह के विरोधी थे। उन्होंने डॉ० रामचन्द्र दत्त को विवाह को आत्मोन्नति एवं आत्मशांति में विघ्न रूप बताकर उसकी बंधनशीलता तथा दुखरूपता समझा दी। तब रामचन्द्र दत्त ने कहा कि तुम्हें यदि इस प्रकार आध्यात्मिक पिपासा है तो दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण परमहंस के पास जाओ।

नरेन्द्रनाथ अपने मित्रों के साथ दक्षिणेश्वर गये और श्री रामकृष्ण के दर्शन किये। वार्ता तथा संगीत हुआ। सबके बाद परमहंस जी नरेन्द्र को अकेले एकांत में ले गये और उनका हाथ पकड़कर उनसे गद्गद हो कहने लगे—"तू इतने दिनों तक मुझे भूलकर कैसे रहा! कब से मैं तेरे आने की बाट जोह रहा हूं! विषयी लोगों के साथ बात करते-करते मेरा मुंह जल गया है। अब आज से तेरे समान सच्चे त्यागी के साथ बात करके मुझे शांति मिलेगी।"[1]

नरेन्द्रनाथ श्री रामकृष्ण को आश्चर्यवत अपलक देखते रहे। उनके मुख से कुछ न निकल सका, परन्तु नरेंद्रनाथ पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा।

---

1. **वही, पृष्ठ 85।**

नरेन्द्रनाथ की तरह राखालचंद घोष भी ब्राह्मसमाज के सदस्य थे, परन्तु वे भी श्री रामकृष्ण परमहंस के पास आते थे। एक दिन राखाल को दक्षिणेश्वर मंदिर में प्रतिमा को नमस्कार करते देखकर नरेंद्र उनको मिथ्याचारी आदि कठोर वचन कहकर डांटने लगे। इस पर परमहंस जी ने नरेन्द्र को समझाया कि तुम प्रतिमा को नहीं नमस्कार करते हो तो कोई बात नहीं, किन्तु दूसरे को बुरा न कहो। नरेंद्रनाथ अपने से भिन्न निराकार ईश्वर मानकर उसकी उपासना करते थे। इसलिए जब रामकृष्ण परमहंस कहते थे कि ''मैं ब्रह्म हूं'' तब नरेन्द्रनाथ कहते थे ''इससे अधिक पाप और कुछ नहीं है।''

नरेन्द्रनाथ गुरुजनों से यही पूछते फिरते थे ''महाशय! आपने ईश्वर के दर्शन किये हैं?'' लोग क्या उत्तर देते? जब वे श्री रामकृष्ण परमहंस से यही प्रश्न किये, तब उन्होंने कहा—''मैंने ईश्वर के दर्शन किया है। यदि तुम मेरे कथनानुसार काम करो, तो मैं तुम्हें भी उसके दर्शन करा सकता हूं।''

नरेन्द्रनाथ सोचते थे कि यह सहज रास्ता नहीं है। इसके लिए मुझे इस पागल बाबा के चरणों में अपने को समर्पित करना पड़ेगा और फिर पता नहीं ईश्वर के दर्शन होते हैं कि नहीं। नरेन्द्रनाथ ब्राह्मसमाज में जाते रहे, अतएव श्रीरामकृष्ण परमहंस को अपना गुरु नहीं चुन सके।

बहुत दिनों तक नरेंद्र को दक्षिणेश्वर न आते देखकर श्री रामकृष्ण परमहंस उन्हें देखने के लिए व्याकुल हो गये। वे सोचे ''नरेन्द्रनाथ ब्राह्मसमाज में जाता होगा। मैं वहीं जाकर उसे देख आऊं।'' अत: वे ब्राह्मसमाज के सभाभवन में गये। वहां वेदी पर से उसके आचार्य महोदय भाषण दे रहे थे। श्री रामकृष्ण परमहंस वेदी के पास पहुंचकर ध्यान के भावावेश में आ गये। नरेन्द्रनाथ उनके आने का कारण मन में समझ गये और उनकी गिरती देह को पकड़ लिये। उधर वेदी पर बैठे ब्राह्मसमाज के आचार्य तथा अन्य ब्राह्मों ने परमहंस जी के लिए कोई शिष्टाचार का पालन न किया, बल्कि कितने ही लोग उनके प्रति अरुचि प्रकट किये। इतने में परमहंस जी भावसमाधि में निमग्न हो गये। उन्हें अनेक लोग देखने का आग्रह करने लगे। इसलिए उस जगह गड़बड़ी तथा कोलाहल मच गया। अत: संचालकों ने गैस की बत्तियां बुझा दीं। इधर नरेन्द्रनाथ ने श्री रामकृष्ण परमहंस को किसी तरह उठाकर पीछे द्वार से निकालकर दक्षिणेश्वर भेजवा दिया। ब्राह्मों की इस प्रकार परमहंस जी के लिए उपेक्षा देखकर नरेन्द्रनाथ ने ब्राह्मसमाज उसी दिन से छोड़ दिया।

नरेन्द्रनाथ को श्री रामकृष्ण परमहंस के भावावेश की समाधि तथा भक्तिभाव में रोना अच्छा नहीं लगता था; परन्तु वे उनके एकनिष्ठ त्याग-वैराग्यमय जीवन से बहुत प्रभावित हो गये। नरेन्द्र आलोचक थे। उनकी आलोचना से ऊबकर एक दिन परमहंस देव ने कहा—''तू यदि मेरी बात नहीं

सुनता, तो फिर यहां क्यों आता है?'' नरेन्द्र ने उसी समय उत्तर दिया, ''आपको चाहता हूं, इसलिए देखने को आता हूं, बात सुनने के लिए नहीं।''[1]

श्री रामकृष्ण नरेन्द्र के प्रति जिस प्रकार स्नेह का प्रदर्शन करते थे, उसे देखकर नरेंद्र ने एक दिन मजाक में कहा था ''पुराण में लिखा है, भरत राजा हिरण के बारे में सोचते-सोचते मृत्यु के बाद हिरण हुए थे। आप मेरे लिए जैसा करते हैं, उससे आपकी भी दशा वैसी ही होगी।'' यह बात सुनकर बालक की तरह सरल श्री रामकृष्ण ने चिंतित होकर कहा, ''सच तो है रे, तो फिर क्या होगा भला? मैं तो तुझे देखे बिना नहीं रह सकता।''[2]

वस्तुत: वैराग्यप्रवण श्री रामकृष्ण देव नरेन्द्र की प्रतिभा को समझते थे और वे उन्हें वैराग्य के पथ पर खींच लाना चाहते थे जिससे नरेंद्र स्वयं अपना कल्याण करें, और संसार को जगायें। वे नरेंद्र में आसक्त नहीं थे। उनका नरेंद्र के प्रति स्नेह आसक्ति नहीं, किन्तु लोकमंगलकर था।

नरेंद्र बी० ए० की पढ़ाई के साथ अटर्नी का काम सीखने लगे। उधर पिता वकील विश्वनाथ दत्त नरेंद्र को गृहस्थ बनाने की सोच रहे थे। नरेंद्र अपने घर से अलग अपनी मातामही के मकान के एक शांत कमरे में रहकर पढ़ते तथा ध्यान, चिंतन करते थे। नरेंद्रनाथ धनी वकील की संतान थे, परन्तु वे स्वयं सादे ढंग से रहते थे। समय-समय श्री रामकृष्ण परमहंस दक्षिणेश्वर से आकर नरेन्द्र को आध्यात्मिक उपदेश दे जाते थे। नरेंद्र के साथ श्री रामकृष्ण की यह घनिष्ठता उनके घर वालों को अच्छी नहीं लगती थी।

एक दिन नरेंद्र के एक मित्र ने आकर उनसे कहा—''दर्शन शास्त्रों की चर्चा, साधुसंग, धर्मालोचना आदि पागलपन छोड़ जिससे सांसारिक सुख-सुविधा हो, उसी के लिए प्रयत्न करना कर्तव्य है।''[3] नरेन्द्र ने उत्तर दिया—''मैं समझता हूं कि संन्यास ही मानव जीवन का सर्वोच्च आदर्श होना चाहिए। नित्य परिवर्तनशील अनित्य संसार के पीछे सुख की कामना से इधर-उधर दौड़ने की अपेक्षा उस अपरिवर्तनीय 'सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्' को पाने के लिए प्राणपण से कोशिश करना सौ गुणा श्रेष्ठ है।''[4]

आगन्तुक मित्र ने उत्तेजित होकर कहा—''देखो नरेंद्र! तुम्हारी जिस प्रकार बुद्धि और प्रतिभा थी; उससे तुम जीवन में काफी उन्नति कर सकते थे, परंतु दक्षिणेश्वर के श्री रामकृष्ण देव ने तुम्हारी बुद्धि बिगाड़ दी है। यदि कुशल

---

1. वही, पृष्ठ 97।
2. वही, पृष्ठ 98।
3. वही, पृष्ठ 101।
4. वही, पृष्ठ 101।

चाहते हो, तो उस पागल का संग छोड़ दो, नहीं तो तुम्हारा सर्वनाश हो जायेगा।''[1]

नरेंद्र की बी० ए० परीक्षा समाप्त हो गयी। वे निमंत्रित होकर एक रात अपने मित्र के यहां बैठे थे, कि उनको संदेश मिला कि तुम्हारे पिता की हृदयगति रुक जाने से उनका देहांत हो गया। वे पागल की तरह घर को भागे। देखते हैं कि पिताजी की लाश के चारों ओर घोर कोहराम मचा है।

पिता विश्वनाथ प्रसिद्ध वकील थे। वे उस जमाने में महीने में एक हजार रुपये कमाते थे, किन्तु खर्चशील इतने थे कि कुछ बचा नहीं पाते थे। परिणाम यह हुआ कि घर दरिद्र बनकर रह गया। यहां तक कि खाने को ठिकाना न रहा। सम्पन्नता में पला परिवार दाने-दाने को तरसने लगा। कभी-कभी घर में कुछ खाने को नहीं होता था, तब नरेन्द्र माता से बहाना बनाकर चल देते थे कि मेरा एक मित्र के यहां निमंत्रण है। कई दिन नरेंद्र उपवास रहकर या बहुत थोड़ा खाकर रह जाते थे। वे आहार के अभाव में दुबले हो गये। नरेन्द्र के अन्य दो छोटे भाई तथा एक बहिन थी। भाई, बहिन और मां की भी वही दशा हो गयी। नरेंद्र कानून की परीक्षा की तैयारी करने लगे और साथ-साथ कहीं काम-धंधे की खोज करने लगे।

परिस्थिति देखकर नरेंद्र के मित्र उन्हें भोजन के लिए निमंत्रण देते; परन्तु उन्हें निमंत्रण खाने जाना चुभने लगा। उनके स्वाभिमानी दिल को ठोकर लगती। साथ-साथ यह सोचकर उनका हृदय दो टूक हो जाता कि घर में माता, भाई तथा बहिन भूखे पड़े रहें और मैं किसी के घर भरपेट भोजन कर आऊं, यह कैसे हो सकता है! कई दिन ऐसा अवसर पड़ता था कि नरेन्द्र भूख की ज्वाला से पीड़ित होकर मूर्च्छित जैसे पड़े रहते थे।

नरेन्द्र नंगे सिर, नंगे पैर दिन भर कलकत्ता में नौकरी ढूंढ़ते और शाम को खाली हाथ तथा टूटे मन घर पर लौट आते। इसी बीच उन पर एक और वज्रपात हुआ। उन्हीं के खानदान के एक व्यक्ति ने उनको घर से निकाल देने के लिए एक मुकदमा दायर कर दिया।

एक दिन नरेंद्र प्रात:काल ''हे भगवान!'' कहकर बिस्तर से उठे। उनकी माता ने झुंझलाकर कहा—''चुप रहो छोकरे, बचपन से ही केवल भगवान-भगवान! भगवान ने ही तो यह सब किया है।''[2] मां की उक्त बातें सुनकर नरेंद्र का चित्त डगमगा गया। उनको भी लगने लगा कि यदि भगवान है भी तो वह निर्विकार है, निष्ठुर है। उसको किसी से लेना-देना नहीं है।

---

1. **वही, पृष्ठ 101।**
2. **वही, पृष्ठ 105।**

लोगों में चर्चा फैल गयी कि नरेन्द्र का पहले जैसा धर्मभाव अब नहीं रहा। वे पतित हो गये। नरेन्द्र विपत्ति के कारण दक्षिणेश्वर भी नहीं जा पाते थे। श्री रामकृष्ण देव उन्हें देखने के लिए व्याकुल रहते। उनको संदेश देकर बुलाने की भी चेष्टा करते। नरेन्द्र के मन में श्री रामकृष्ण देव के लिए श्रद्धा बनी रही। नरेन्द्र के मन में यह बारम्बार होता था कि केवल धन कमाना तथा परिवार पोषना मेरा कर्तव्य नहीं है। उनके मन में संन्यास की आग जलती रहती थी।

एक दिन नरेंद्र दक्षिणेश्वर गये। श्री रामकृष्ण देव ने कहा—''बेटा! कांचन-कामिनी का त्याग किये बिना कुछ न होगा!'' श्रीरामकृष्ण देव के मन में डर था कि कहीं विपत्तिवश नरेंद्र सांसारिकता में न लिपट जाये। उन्होंने नरेंद्र को काफी सांत्वना दी।

घर पर मुकदमा होने से नरेंद्र की माता भुवनेश्वरी असहाय जैसे हो गयीं। अंतत: नरेन्द्र के स्वर्गीय पिता के मित्र बैरिस्टर उमेशचंद्र वन्द्योपाध्याय ने मुकदमा लड़ने का बीड़ा उठाया। मुकदमा में विजय हुई और नरेंद्र ने हर्ष में दौड़कर आ माता को बताया ''मां, मकान रह गया।'' यह दुख के बीच सुख के क्षण थे। विरोधी ने पुन: अपील की; परन्तु वह भी खारिज हो गयी।

विपत्तिवश तार्किक नरेन्द्र का चित्त डगमगा गया। उन्होंने एक दिन श्री रामकृष्ण देव से कहा—''गुरुदेव! कालीजी से निवेदन कर दीजिये कि हमारे मां, बहिन, भाई को दो दाने खाने को मिलने लगें।''

नरेंद्रनाथ अटर्नी ऑफिस में काम करके तथा कुछ पुस्तकों का अनुवाद करके धन कमाने लगे और घर के अभाव को दूर करने में सफल हो गये। अंतत: ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के स्कूल में अध्यापन का काम करने लगे।

1883-84 ई० के बीच तक श्री रामकृष्ण देव कलकत्ते के लोगों में प्रसिद्ध हो चुके थे। उनके दर्शन के लिए भीड़ आने लगी थी, किन्तु इसी बीच, सन् 1885 ई० के मध्य-भाग में उनके गले का रोग धीरे-धीरे बढ़ गया। भक्त लोग चिंतित हो उठे। उन्हें चिकित्सा के लिए शहर में लाया गया और शहर के उत्तर हिस्से में काशीपुर में एक बगीचा वाला मकान किराये पर लेकर वहां श्रीरामकृष्ण देव को रखा गया। राखाल, बाबूराम, शरद, शशी, काली, तारक, लाटू आदि बालक भक्तगण सेवा में रहने लगे और बलराम, रामचंद्र, गिरीश, ईशान आदि गृहस्थ भक्त देखभाल करने लगे।

नरेन्द्रनाथ ने श्री रामकृष्ण देव की सेवा के लिए अध्यापन कार्य छोड़ दिया तथा घर भी छोड़ श्री रामकृष्ण देव के पास आकर रहने लगे। उक्त चर्चित बालक भक्तगण धीरे-धीरे कालेज छोड़कर श्री रामकृष्ण देव की सेवा में ही रहने लगे। किन्तु श्री रामकृष्ण देव नरेंद्र से शारीरिक सेवा नहीं लेते थे। इसलिए उन्हें ऊपरी देखरेख करने में संतोष करना पड़ता।

श्रीरामकृष्ण देव की सेवा में ये कॉलेज से आये अनेक बालक भक्त आपस में सत्संग, कीर्तन, धार्मिक तथा वैराग्यवर्द्धक वार्तालाप भी करते और काशीपुर का वह बगीचा संन्यासियों का मठ जैसा बन गया।

एक दिन श्री रामकृष्ण देव ने उन सभी युवकों को संन्यास का वेष दिया। तत्पश्चात वे सभी संभ्रांत घराने के युवक संन्यासी लज्जा छोड़कर भिक्षान्न मांगने गये और वे जब भिक्षा करके लौटे, तब श्री रामकृष्ण देव बहुत प्रसन्न हुए।

नरेंद्र युवा-संन्यासियों के बीच में खूब वैराग्य चर्चा करते थे। एक बार वे महात्मा बुद्ध के गृहत्याग तथा वैराग्य की चर्चा करते-करते इतने भाव-विभोर हो गये कि एक रात को अपने दो संन्यासी मित्रों शिवानंद (तारक) तथा अभेदानंद (काली) को लेकर बुद्ध गया चले गये। यह समय 1886 ई० का अप्रैल महीना था। वे बुद्ध गया होकर पुन: काशीपुर आ गये।

इधर श्री रामकृष्ण देव के गले का रोग भयंकर हो गया। वे पानी में पकायी बार्ली को भी नहीं घूट पाते थे। 1886 ई० का 15 अगस्त, रविवार दिन उनका शरीर कांपने लगा और काली का तीन बार नाम लेकर शरीर त्याग हो गया। शरीर छोड़ने के कुछ पूर्व उन्होंने नरेंद्र से कहा था ''अरे, जो राम, जो कृष्ण, वही अबकी बार एक ही आधार में रामकृष्ण!'' वस्तुत: यह उनका भावातिरेक था।

4. स्वामी विवेकानन्द परिव्राजक के रूप में

श्री रामकृष्ण देव का दाह संस्कार हुआ। उनका भस्मावशेष एक ताम्रकलश में भरकर ले लिया और काशीपुर का बगीचा युवकों ने छोड़ दिया।

नरेंद्र अब स्वामी विवेकानंद हैं, इसलिए अब उनको इसी नाम से याद करना चाहिए। स्वामी विवेकानंद ने सोचा कि गुरुदेव के द्वारा गढ़े गये इन युवा संन्यासियों को यदि कोई सबल आधार न मिला तो बिखर जायेंगे। यह बात भक्तों को भी जंची, अत: श्री रामकृष्ण देव के गृहस्थ शिष्य सुरेंद्रनाथ मित्र ने वराहनगर में एक मकान किराये पर लेकर संन्यासियों को रहने का प्रबन्ध कर दिया।

स्वामी विवेकानंद के घर पर चलता हुआ मुकदमा खत्म नहीं हुआ था, इसलिए उनको घर के प्रबंध के लिए वहां पर जाना पड़ता था। उनका उदाहरण देकर अभिभावक लोग अपने बालकों को घर लौटा ले जाना चाहते थे। कुछ लड़कों को परीक्षा देने के लिए जोर देकर गृहस्थ लोग लौटा ले गये। स्वामी विवेकानंद इसका प्रतिवाद इसलिए नहीं कर पाते थे, क्योंकि वे स्वयं घर सम्हालते थे। अंतत: मुकदमें में विजय हुई और इसके बाद दिसम्बर महीने से

घर का सम्बन्ध एकदम छोड़कर स्वामी विवेकानन्द मठ में आकर रहने लगे और जो युवा संन्यासी घर लौट गये थे, सबको प्रेरित करके मठ में बुला लिये।

गृहस्थ भक्तों ने युवा संन्यासियों से श्री रामकृष्ण देव का भस्मावशेष मांगकर उस पर मंदिर बनाने की बात कही। संन्यासी लोग देने से इनकार करने लगे; परन्तु स्वामी विवेकानन्द ने समझाकर उसे भक्तों को दिला दिया। उन्होंने संन्यासियों से कहा कि हमारे लिए गुरुदेव की थाती उनके उपदेश तथा उनकी दिव्य रहनी है। अंतत: भक्तों ने ताम्रपात्र सहित उस भस्मावशेष को 'काकुरगाछी' के 'योगोद्यान' में स्थापित कर दिया।

वराहनगर के इस मठ की व्यवस्था के प्राणाधार थे स्वामी रामकृष्णानंद (शशी महाराज) जो स्वामी विवेकानंद के गुरुभाई थे। वे संन्यासी-गुरुभाइयों की, मां की तरह रक्षा करते थे।

स्वामी विवेकानंद सभी युवा-संन्यासियों को वैराग्य का जोश भरते, उपदेश करते, गीता पाठ करते-कराते और कभी-कभी गीता बंद करके अलग रख देते और कहते 'क्या होगा गीता पाठ करके'। 'गीता' का विलोम 'त्याग' चाहिए 'कामिनी-कंचन' का त्याग।

मठ में तीन कमरे थे, साधारण मकान था। संन्यासी भिक्षा कर लाते वही भोजन का आधार था। चावल का भात बना लेते और कुन्दरू के पत्ते को उबाल करके सब्जी बना लेते और युवा संन्यासी उसी से अपने पेट भर लेते। कई बार उन युवा संन्यासियों को पेट भर अन्न नहीं मिलता। कई बार उपवास ही रह जाना पड़ता। सुरेन्द्रनाथ मित्र को जब यह पता चला, तब वे अन्न के प्रबंध पर ज्यादा ध्यान देने लगे।

आश्रम में थाली-बरतन भी नहीं थे। मकान के पास वाले बगीचे में कुम्हड़े की बेलें तथा केले के पेड़ थे; परन्तु उसमें से एक-दो पत्ते लेते ही उसका उड़िया बागवान संन्यासियों को गाली देने लगता था। अत: विवश होकर संन्यासी लोग घुइयां के पत्ते पर रखकर साग-भात खाते और जैसे चार ग्रास खाते, उनके गले खुजलाने लगते थे।

कोई आकर संन्यासियों की परीक्षा लेना चाहता, कोई तर्क करता, किन्तु स्वामी विवेकानंद के सामने कोई ठहर नहीं पाता। स्वामीजी गुरुभाइयों से कहते—''अरे! ये कीड़े हैं। इनकी चिंता न करो कि ये क्या कहते हैं।''

कई संन्यासियों के मन में तीर्थभ्रमण की इच्छा उठने लगी। वे सोचने लगे कि शायद इसके लिए आज्ञा न मिले। अत: स्वामीजी की अनुपस्थिति में ही कुछ लोग मठ छोड़कर चले गये। बालक सारदाप्रसन्न (त्रिगुणातीतानंद) यह पत्र छोड़कर चले गये कि यहां रहने से घर का मोह खींचता है इसलिए वैराग्य की दृढ़ता के लिए मैं जा रहा हूं।

स्वामी विवेकानंद के मन में कुछ गुरुभाइयों का मनमाना व्यवहार देखकर क्षोभ हुआ। उन्होंने सोचा, ठीक है। मुझे भी इसकी चिंता क्यों करनी चाहिए। वे भी अन्य गुरुभाइयों के अनुरोधों की उपेक्षा करके भ्रमण के लिए निकल पड़े। वे 1888 ई० में बिहार तथा उत्तर प्रदेश में भ्रमण करते हुए काशी गये। वे वहां श्रीमत त्रैलिंगस्वामी जी तथा स्वामी भास्करानंद के दर्शन किये। बात-बात में स्वामी भास्करानंद तथा उनके शिष्यों ने श्री रामकृष्णदेव की आलोचना की। स्वामी विवेकानंद ने उनका प्रतिवाद किया और वे वहां से चल दिये। स्वामी जी भ्रमण करते हुए अयोध्या गये। वहां से पदयात्रा करते हुए लखनऊ, आगरा तथा वृन्दावन।

आगरा और वृंदावन के बीच में स्वामी विवेकानंद जा रहे थे। रास्ते के पास एक आदमी तम्बाकू पी रहा था। स्वामीजी ने उसकी चिलम पीने के लिए मांगी। उसने कहा—''महाराज! मैं मेहतर हूं।'' स्वामीजी आगे बढ़ गये। परन्तु उनके मन में अब यह विचार उठने लगे कि मैंने तो जाति, कुल, मान—सभी को त्यागकर संन्यास लिया है, तो मेहतर को नीच क्यों समझा! स्वामी जी ने लौटकर तथा मेहतर के हाथों से चिलम लेकर धूम्रपान किया।[1]

स्वामीजी वृन्दावन में कुछ रहकर हाथरस गये। हाथरस रेलवे स्टेशन के स्टेशन मास्टर शरच्चन्द्र गुप्त थे। उन्होंने स्वामीजी को देखा। वे उन्हें अपने घर बुला लाये। उनकी सेवा तथा सत्संग से लाभ लेने लगे। शरच्चंद्र बाबू उत्तम

---

1. **स्वामी विवेकानंद मांस, मछली, सिगरेट, सिगार आदि ग्रहण करते थे, किन्तु इन बातों को लेकर उनके सद्गुणों के महत्त्व को कम आंकना ठीक नहीं। उनके गुरु श्री रामकृष्णदेव कभी-कभी उन्हें ग्रहण कर लेते थे इसलिए वे स्वामीजी को भी नहीं रोक सके और जब बात बड़े पुरुषों द्वारा मान्य हो गयी तो अनुयायियों का उस पर चलना सहज ही है। यदि श्री रामकृष्णदेव स्वामी विवेकानन्द को शुद्ध शाकाहार का उपदेश दिये होते और धूम्रपान का निषेध किये होते, तो स्वामीजी जैसे तेजवान पुरुष इन तुच्छ चीजों को छोड़ने में जरा भी देर नहीं करते।**

   उसी बंगाल में श्री चैतन्य महाप्रभु की साधु-परम्परा में लहसुन-प्याज तक नहीं खाये जाते, मछली-मांस, सिगरेट, सिगार का प्रश्न ही क्या? आज उनकी परम्परा में हजारों विदेशी नर-नारी शुद्ध शाकाहारी हैं। इस परम्परा को आज 'हरे राम हरे कृष्ण' के नाम से लोग जानते हैं। इन्होंने यह भी भ्रम दूर कर दिया है कि शाकाहारी बनकर विदेशों में प्रचार नहीं हो सकता। अर्थात शाकाहारी सम्प्रदाय भी विदेशों में फैल सकता है। चीन के लोग घोर मांसाहारी होते हैं, परन्तु वहां के कुछ बौद्ध शुद्ध शाकाहारी बताये जाते हैं। वस्तुत; मांस, मछली, अंडे और शराब, सिगरेट आदि सभी नशीली चीजों का त्याग बहुत आवश्यक है।

जिज्ञासु थे। उन्होंने स्वामीजी से दीक्षा चाही। स्वामीजी ने कहा ''संन्यासी बनना पड़ेगा।'' उन्होंने स्वीकार किया और अपने माता-पिता से कहकर स्वामीजी के चरणों में अपने आपको अर्पित कर दिया। इस प्रकार स्वामी विवेकानंद का पहला संन्यासी शिष्य शरच्चंद्र बाबू हाथरस में बने और स्वामीजी के आज्ञानुसार अपने हाथरस स्टेशन पर उन्होंने कुलियों के पास जाकर भिक्षा मांगी। शरच्चंद्र का नाम रखा गया 'सदानंद'।

स्वामी विवेकानन्द कलकत्ता लौटकर वराहनगर मठ और बागबाजार बलराम बसु के मकान में एक वर्ष बिताये। स्वामी विवेकानंद के दो और छोटे भाई तथा एक बहिन थी और माता तो थीं ही। मझला भाई कालेज में पढ़ता था। कलकत्ता में रहकर घर की चिंता हो जाती है, ऐसा सोचकर स्वामीजी ने कलकत्ता छोड़ देने की सोची।

स्वामीजी बिहार होते हुए उत्तर प्रदेश के एक नगर गाजीपुर में 1890 ई० में पहुंचे, जहां एक योगी संत पवहारी बाबा रहते थे। उनसे उन्होंने योग की दीक्षा चाही; किंतु पीछे स्वयं उनको ग्लानि हुई कि श्री रामकृष्णदेव जैसे गुरु की शरण में होकर अब अन्य से किसी प्रकार की दीक्षा उचित नहीं है। वैसे पवहारी बाबा से स्वामीजी जीवनपर्यंत काफी प्रभावित रहे।

स्वामीजी काशी, ऋषीकेश, उत्तराखण्ड, पंजाब, राजस्थान आदि पहुंचे। स्वामीजी ने पहले वराहनगर मठ में दो वर्षों तक पाणिनि के अष्टाध्यायी का अध्ययन किया था। उन्होंने जयपुर में वहां के राजपुरोहित से पुनः दो सप्ताह तक अष्टाध्यायी का अभ्यास किया। वे जयपुर से अजमेर तथा पुनः खेतरी पहुंचे। खेतरी राजा निःसंतान थे। स्वामीजी के आशीर्वाद के बाद उन्हें संतान प्राप्त होने की योग्यता पड़ी थी इसलिए खेतरी के राजा स्वामीजी के लिए बहुत श्रद्धालु हो गये थे। फिर स्वामीजी अहमदाबाद, लिंबड़ी, जूनागढ़, भोज, वेरावल, प्रभास, सोमनाथ, पोरबन्दर, मांडवी, पालीटाना, बड़ौदा, काठियावाड़, बम्बई, मार्मागोआ, बेलगांव, मैसूर, कोची, त्रावणकोर, त्रिवेन्द्रम, पांडचेरी[1], कन्याकुमारी, मद्रास आदि स्थलों में अकेले घूमते रहे तथा गरीबों की झोपड़ियों से लेकर राजा-महाराजाओं के यहां जाकर अपने ज्ञान की चर्चा करते रहे। इस क्रम में ट्रेन में बालगंगाधर तिलक भी मिले जो उस समय नवयुवक थे। इसी समय अमेरिका के शिकागो नगर में विश्वधर्म सम्मेलन था और मद्रास के युवकों एवं खेतरी के राजा आदि के सहयोग से स्वामीजी ने बम्बई से जल-

---

1. **पांडचेरी में एक हिन्दू पण्डित ने जब यह समझा कि स्वामी विवेकानंद विदेश यात्रा पर जाने वाले हैं तब उसने स्वामीजी से बड़ा विवाद किया। यहां तक कि उसने उन पर आगबबूला होकर गाली भी बकी।**

जहाज के द्वारा शिकागो के लिए प्रस्थान किया। प्रस्थान का दिन 31 मई, 1893 ई० था।

5. स्वामीजी अमेरिका में

स्वामीजी जल जहाज द्वारा कोलम्बो, मलाया, सिंगापुर, हांगकांग, जापान, याकोहामा होते हुए वैंकुवर पहुंचे। वहां से ट्रेन द्वारा तीन दिनों में शिकागो पहुंचे, जहां सर्वधर्म सम्मेलन था। शिकागो की सड़कों पर गेरुवे वस्त्र में स्वामीजी को देखकर लोग घूरकर देखते थे, हंसी करते थे। वह धर्मसभा कई महीने के बाद के लिए टल गयी थी। प्रतिनिधि के रूप में धर्मसभा में जाने के लिए आवेदन पत्र भेजने का समय भी बीत गया था। उनके पास के रुपये खर्चीले होटल में समाप्त हो चले थे। स्वामीजी अपना भविष्य अंधकारमय देखने लगे। उनका भावुक मन विचलित हो गया। वे सोचने लगे—"कुछ हठधर्मी युवकों के परामर्श को मानकर मैं क्यों अमेरिका आया!"[1]

स्वामीजी शिकागो छोड़कर बोस्टन चले गये। वहां उन्हें एक वृद्ध तथा भद्र महिला मिल गयी। उसने उन्हें अपने घर में आश्रय दिया। स्वामीजी लिखते हैं—

"यहां पर रहने से मेरी पहली जो सुविधा हुई वह यह कि प्रतिदिन मेरा जो एक पौंड के हिसाब से खर्च हो रहा था वह बच रहा है और उनका लाभ यह है कि वे अपने मित्रों को आमंत्रित कर भारत से आये हुए एक अद्‌भुत जीव को दिखा रही हैं। इन सब कष्टों को सहन करना ही होगा। मुझे इस समय भूख, शीत, विचित्र पोशाक के कारण रास्ते के लोगों की हंसी आदि के साथ लड़ते हुए चलना पड़ रहा है।"[2]

स्वामीजी ने सोचा कि अमेरिका में यदि वेदांत के प्रचार की सुविधा न मिली, तो मैं इंग्लैण्ड चला जाऊंगा और यदि वहां भी सुविधा न मिली तो भारत लौट जाऊंगा।

स्वामीजी को शिकागो की धर्मसभा में सम्मिलित होने की कोई आशा न थी। वे मन से काफी निराश हो गये थे, फिर भी साहस नहीं छोड़े थे।

उसी महिला के घर पर रहते समय स्वामीजी को हार्वर्ड विश्वविद्यालय के ग्रीक भाषा के प्रोफेसर मि० जे० एच० राइट महोदय मिल गये। उन्होंने स्वामीजी को साहस दिया कि आप शिकागो धर्मसभा में अवश्य जायें। आप वहां सफल होंगे। उन्होंने उक्त महासभा से सम्बन्धित अपने मित्र मि० बनी के

---

1. **विवेकानंद चरित, पृष्ठ 217।**
2. **वही, पृष्ठ 218।**

नाम एक पत्र लिखकर स्वामीजी को दे दिया। परिचय के साथ उन्होंने उस पत्र में यह भी लिख दिया—"मेरा विश्वास है कि यह अज्ञात हिन्दू संन्यासी हमारे सभी पण्डितों को एकत्रित करने पर जो कुछ हो सकता है उससे भी अधिक विद्वान है।"[1]

स्वामीजी ने महिलाओं की राय से केवल सभा में भाषण करने के लिए गेरुवे रंग की पगड़ी और चोंगे को रखकर अन्य समय के लिए एक काला कोट बनवा लिया और वे समय आने पर शिकागो के लिए चल पड़े। वे शिकागो पहुंचकर जिनके नाम से परिचय पत्र था उनका आफिस नहीं ढूंढ़ सके। परिचय पत्र भी खो गया था। सड़क पर जिनसे पूछते, वह स्वामीजी को नीग्रो समझकर घृणा से अपना मुख फेर लेता। वे ठहरने के लिए होटल भी नहीं खोज पाये। अंततः वे रात में कहीं आश्रय न पाकर रेलवे के माल-गोदाम के सामने पड़े एक बड़े पैंकिंग बाक्स में घुस गये। रात में बर्फ पड़ती थी, ठंडी हवा भी चलती थी। बाक्स में घोर अंधकार था। उनके पास ठंडी निवारण के लिए पर्याप्त वस्त्र भी नहीं थे। उन्होंने किसी प्रकार रात काटी।

स्वामीजी सुबह निकलकर सड़क पर चलने लगे। वे बहुत भूखे होने से चलने में असमर्थ हो रहे थे। वे थोड़े से भोजन के लिए द्वार-द्वार पर भिक्षा मांगने लगे। स्वामीजी पर किसी ने दया नहीं की। कोई गाली देकर द्वार से हटाया, तो कोई घृणा से दरवाजा बन्द कर लिया और कोई अपने द्वार से बल प्रयोग करके हटा दिया। स्वामीजी थककर रास्ते के किनारे बैठ गये। इतने में सामने के एक विशाल भवन का दरवाजा खुला और एक अपूर्व सुन्दरी महिला निकली तथा उसने स्वामीजी से पूछा—"महाशय! क्या आप धर्मसभा के प्रतिनिधि हैं?" स्वामीजी ने अपनी बातें कह सुनायीं। वह भद्र महिला स्वामीजी को अपने घर में ले गयी और अपने नौकरों को उनकी सेवा करने की आज्ञा दी तथा स्वामीजी से उसने कहा कि मैं खुद आपको धर्मसभा में ले चलूंगी। इस महिला का नाम था "मिसेज जार्ज डब्ल्यू हेल"। यह महिला संभ्रांत और धनी घर की थी। इसी के सहारे स्वामीजी धर्मसभा में सम्मिलित हो सके।

उस धर्मसभा में भारत से अन्य प्रतिनिधि भी गये थे। ब्राह्मसमाज के प्रतापचंद्र मजुमदार, बम्बई के नगरकर, जैन समाज के वीरचंद्र गांधी, एनी-बेसेण्ट व चक्रवर्ती थियोसोफी के प्रतिनिधि थे। बौद्धमत की तरफ से अनागरिक धर्मपाल थे।

पहले दिन एक के बाद एक प्रतिनिधि का सभा में परिचय कराया जाता था और वे प्रतिनिधि दो-चार मिनट में थोड़ा बोलकर बैठ जाते थे। स्वामीजी का दिल धड़क रहा था। इतनी भीड़ में वे कभी नहीं बोले थे। किंतु समय

---

1. **वही, पृष्ठ 221।**

आने पर वे भी उठकर खड़े हुए और ''अमेरिका निवासी भाइयो तथा बहनो!'' का सम्बोधन करके थोड़ा बोलकर बैठ गये। उनके छोटे भाषण का जनता पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

धर्मसभा 11 सितम्बर से 27 सितम्बर तक चली। अन्य प्रतिनिधियों के साथ स्वामी विवेकानंद के ओजस्वी भाषण होते। उनके भाषण का प्रभाव पड़ा। किन्तु कुछ मिशनरियां उनकी गहरी आलोचना में लग गयीं। यहां तक कि भारत की मिशनरियां उनकी निंदा करने लगीं—''विवेकानंद नीच जाति के होने से जातिच्युत हैं। वे हिन्दू धर्म की चर्चा करने के अयोग्य हैं'' आदि।

अमेरिका की जनता स्वामीजी के उपदेशों के प्रति आकर्षित हुई। इससे इसाई समाज के संकुचित पादरी बौखला गये। वे स्वामीजी को दुश्चरित्र तक कहकर उनकी निंदा करने लगे। वे सुंदरी स्त्रियों को धन देकर स्वामीजी को विमोहित करने का भी षड्यंत्र करने लगे। वे कई जगह स्वामीजी के कार्यक्रमों को, कार्यक्रम कराने वालों को भड़काकर, कैंसिल करवा देते। कई बार स्वामीजी जब निमंत्रित घर पर पहुंचते, तो घर पर फाटक बंद होता तथा घर वाले कहीं बाहर चले गये होते थे। परन्तु पीछे वे स्वामीजी से जाकर क्षमा मांगते थे और बताते थे कि उन्हें पादरियों द्वारा भड़काया गया है। किंतु आम जनता उनसे प्रभावित होकर उनके भाषण जगह-जगह कराने लगी और अमेरिका में सैकड़ों लोग उनके शिष्य बन गये। स्वामीजी अनुकूलता-प्रतिकूलता को सहकर दृढ़ बने रहे।

अमेरिका के 'न्यूयार्क हेरल्ड' नामक प्रसिद्ध पत्र ने लिखा—''शिकागो धर्मसभा में विवेकानंद ही सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति हैं। उनका भाषण सुनकर ऐसा लगता है कि धर्ममार्ग में इस प्रकार के समुन्नत राष्ट्र (भारतवर्ष) में हमारे (इसाई) धर्मप्रचारकों को भेजना निर्बुद्धिता मात्र है।''[1]

स्वामीजी कुछ बनाकर नहीं कहते थे। वे जो सत्य समझते थे, बेधड़क कहते थे। इसलिए कितने लोग उनसे रुष्ट हो जाते थे; परन्तु वे कहते थे—''यह मूर्ख जगत मुझे जो कुछ करने के लिए कह रहा है, यदि मैं वैसा करने जाऊं तो मुझे एक निम्न श्रेणी के जीव विशेष में परिणत हो जाना होगा, उसके बजाय तो मृत्यु सहस्रगुणी श्रेयस्कर है। मुझे जो कुछ कहना है, मैं उसे अपने ही भाव में कहूंगा। मैं अपने वाक्यों को न तो हिन्दू ढांचे में ढालूंगा, न इसाई ढांचे में और न किसी दूसरे ढांचे में ही। मैं अपनी बातों को केवल अपने ही ढांचे में ढालूंगा।''[2]

---

1. **वही, पृष्ठ 231।**
2. **वही, पृष्ठ 240।**

भारत के कुछ सनातनधर्मी पंडित भी स्वामीजी की निंदा पर उतर आये। प्राचीन हिंदू सम्प्रदाय का मुखपत्र ''बंगवासी' तो स्वामी विवेकानंद की निंदा के प्रचार पर ही लग गया। किंतु दूसरी तरफ भारत के अनेक लोगों ने स्वामीजी की भूरि-भूरि प्रशंसा की। रामनद के राजा भास्कर वर्मा तथा खेतरी के राजा अजित सिंह बहादुर ने स्वामीजी के अमेरिका प्रचार की सफलता के उपलक्ष्य में सभाएं कीं। कलकत्ता में भी सभाएं हुईं। स्वामीजी को मानपत्र भेजे गये। स्वामीजी ने उत्तर में लिखा था—

''मैंने यह निश्चित रूप से समझ लिया है कि कोई व्यक्ति या जाति दूसरे से विच्छिन्न होकर जीवित नहीं रह सकती। भ्रांत श्रेष्ठत्व के अभिमान अथवा पवित्रता के बोध से जहां भी इस प्रकार की चेष्टा हुई है वहीं परिणाम अत्यन्त शोचनीय हुआ है। मैं समझता हूं, दूसरों के प्रति घृणा की नींव पर कुछ प्रथाओं की दीवार उठाकर अलिप्तता का अवलम्बन ही भारत के पतन व उसकी दुर्गति का कारण है। प्राचीनकाल में हिन्दुओं को पड़ोस वाले बौद्ध-सम्प्रदायों के सम्मिश्रण से रोकने के लिए ही उस प्रकार की व्यवस्था का अवलम्बन किया गया। इस व्यवस्था की यथार्थता को प्राचीनकाल में अथवा आजकल भी, किसी भी भ्रांत युक्ति के द्वारा प्रमाणित करने की चेष्टा क्यों न की जाये, पर जो दूसरों से घृणा करेगा, उसका पतन अवश्यंभावी है, यही निश्चित नीति है। फलत: प्राचीन जाति-समूह के बीच में जो अग्रगण्य हुए थे—आज तो यह केवल किवदंती के रूप में विद्यमान है—वे आज सभी की घृणा के पात्र हैं। हमारे पूर्वपुरुषों की भेदनीति के परिणाम में क्या स्थिति हुई है, हम उसके जीते-जागते उदाहरण हैं।''[1]

स्वामीजी ने अमेरिका में उस समय के प्रसिद्ध वक्ता एवं लेखक भौतिकवादी राबर्ट इंगरसोल तथा जर्मनी के प्रसिद्ध वेद विद्वान प्रो० मैक्समूलर से मुलाकात की और परिचय हुआ।

स्वामीजी इसी बीच इंग्लैण्ड भी गये। वहां इंग्लैण्ड वालों द्वारा उन्होंने अधिक निष्छल व्यवहार पाया। वहां भी वे करीब तीन महीने रहे तथा वहां के लोगों ने उनके भाषण सुने तथा उनके शिष्य भी हुए।

एक भाषण की कम्पनी ने स्वामीजी के प्रति अमेरिका वालों का आकर्षण देखकर उन्हें रुपये पर भाषण देने का करार किया। परन्तु आगे चलकर स्वामीजी के भाषण से कम्पनी वालों ने तो खूब रुपये कमाये, परन्तु स्वामीजी को निश्चित रुपये नहीं दिये। स्वामीजी को ग्लानि हुई और वे कम्पनी को त्यागकर नि:शुल्क भाषण देने लगे।

---

1. **वही, पृष्ठ 245।**

आगे चलकर स्वामीजी ने देखा कि भाषण से लोगों में सामाजिक उत्तेजना आ जाती है, किन्तु स्थायी लाभ के लिए स्थायी काम करना चाहिए; अत: वे वहां के लोगों में सत्संग के रूप में स्थायी भी काम करने लगे। वे प्रचार से थककर एकांत निवास भी किये और अंतत: वहां करीब चार वर्षों तक रहकर सन् 1896 ई० के 30 दिसम्बर को जल जहाज से भारत लौट पड़े। उनके साथ अनेक अमेरिकन एवं अंग्रेज शिष्य भी थे।

वेदांत प्रचार के साथ भावुक विवेकानंद का लक्ष्य था कि विदेश से धन लाकर भारत की गरीबी दूर करूंगा, परन्तु यह कहां सफल होने वाला था। अत: उन्होंने अपनी विदेशयात्रा सफल नहीं मानी।[1]

स्वामीजी कोलम्बो पहुंचे। वहां के हिन्दुओं ने उनका जोरदार स्वागत किया। शिकागो तथा अमेरिका-इंग्लैण्ड आदि में स्वामीजी के दिये गये भाषण का प्रभाव श्रीलंका में भी व्याप्त था। उनका श्रीलंका में जगह-जगह जोरदार स्वागत हुआ। उनको कई दिनों तक वहां जगह-जगह भाषण देने पड़े।

उसके बाद वे भारत में मद्रास आये। रामनद के राजा भास्कर वर्मा बहादुर ने उनका स्वागत किया। जगह-जगह हजारों लोग उनके दर्शन के लिए उमड़े। मद्रास में राजा ने तथा कलकत्ता में भी अनेक सम्भ्रांत लोगों ने स्वामीजी के रथ को स्वयं खींचा। कलकत्ता में भी उनका जोरदार स्वागत हुआ।

स्वामीजी ने अपने भाषणों में राष्ट्रप्रेम, पूरी मानवता तथा विशेषकर तथाकथित निम्न जातियों को उठाने की जोरदार अपील की। उन्होंने "भद्र वर्णाश्रमी ब्राह्मण-पंडितों की कुयुक्ति व कुतर्कों का खण्डन किया।....कुल-गुरुप्रथा को मूर्ख शास्त्रज्ञानविहीन ब्राह्मणों व वैष्णवों का धार्मिक व्यवसाय तथा अवैदिक व अशास्त्रीय बताया तथा तांत्रिक साधना के नाम से इंद्रियों की जो दासता पनप रही है उसकी भी तीव्र आलोचना की।"[2]

स्वामीजी ने जनता को बता दिया कि वे कुसंस्कार एवं कट्टरपन के साथ समझौता नहीं करेंगे। इसके बाद उन्होंने कलकत्ता में भाषण नहीं किया। वे व्यक्ति विशेष को उपदेश देने लगे।

6. मिशन की स्थापना

आलमबाजार मठ में स्वामीजी ने भक्तों तथा संन्यासियों के बीच में 1 मई, 1897 ई० को "श्री रामकृष्ण मिशन" की स्थापना करने के लिए बैठक बुलायी और सर्वसम्मत से प्रस्ताव पास होकर मिशन का गठन हो गया, जिसके अध्यक्ष स्वामीजी स्वयं हुए।

---

1. **वही, पृष्ठ 316।**
2. **वही, पृष्ठ 350-51।**

कुछ गुरुभाइयों का इस पर आक्षेप हुआ, कि श्रीरामकृष्ण का तो आदर्श था ध्यान, जप, वैराग्यादि साधना द्वारा आत्मसाक्षात्कार करना। जनसेवा, रोगीसेवा, मठस्थापन, देश-विदेश में प्रचार—यह सब साधकों को बहिर्मुख बनायेगा। स्वामी विवेकानन्द ने इन बातों का उत्तर देकर सबको समझाया। उन्होंने वैराग्य, ज्ञान के साथ कर्म तथा जनसेवा का महत्त्व बताकर सब का भ्रम दूर कर दिया। उसके बाद किसी को संदेह न हुआ।

स्वामीजी ने पुरुष-संन्यासी मठ की स्थापना के साथ अलग नारियों के लिए संन्यासिनी-मठ की स्थापना पर भी विचार किया।

अधिक श्रम से स्वामी जी का स्वास्थ्य गिरने लगा। वे स्वास्थ्य-सुधार के लिए कलकत्ता से अलमोड़ा गये। उनका वहां स्वागत हुआ।

भारत में उनका जोरदार स्वागत देखकर अमेरिका की कुछ मिशनरियां स्वामीजी की निंदा में तुल गयीं। शिकागो धर्मसभा के सभापति डॉ० बैरोज साहब भी स्वामी जी की निंदा करने लगे। समाचार पत्रों में भी उनकी निंदा छपने लगी। स्वामीजी इन सबसे विचलित नहीं हुए। संसार में सभी क्रांतिकारी पुरुषों को निंदा, अपयश आदि भी सहने पड़े हैं, यह जानकर वे धैर्यवान बने रहे।

स्वामीजी अलमोड़ा, पंजाब, कश्मीर, बरेली, अम्बाला, अमृतसर, रावलपिंडी, सियालकोट के कार्यक्रम करते हुए लाहौर पधारे।

पंजाब में तथा विशेष रूप से लाहौर में स्वामी विवेकानन्द आर्यसमाज से पूर्ण परिचित हुए। लौहपुरुष स्वामी दयानन्द (1824-1883 ई०) ने 1875 ई० में बम्बई मेें आर्यसमाज की स्थापना की थी और 1877 ई० में लाहौर में उसके नियम बनाये थे। आर्यसमाज नामक एक सबल संस्था ने उत्तरी भारत में धार्मिक आंदोलन का एक भूचाल ला दिया था। स्वामी विवेकानन्द को इसका लाहौर में बोध हुआ। अनेक आर्यसमाजी विद्वान स्वामी विवेकानंद से बातचीत करते रहे, सैद्धांतिक भेद को लेकर भी खूब तर्क-वितर्क चलते रहे, किन्तु आर्यसमाज के विद्वानों ने बड़े सौहार्दपूर्वक उनसे व्यवहार किया।

''दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालेज'' के अध्यक्ष आर्यसमाजी हंसराज जी एक दिन वार्तालाप में वेदों के अर्थों के विषय में अपनी कट्टरता व्यक्त कर रहे थे। स्वामी विवेकानंद ने के कहा—

''लालाजी, आप लोग जिस विषय के बारे में इतना आग्रह प्रकट कर रहे हैं, उसे हम Fanaticism अथवा कट्टरपन कहते हैं। मैं यह जानता हूं कि इसके द्वारा संप्रदाय को शीघ्र विस्तृत बनाने में सहायता होती है और मैं यह भी जानता हूं कि शास्त्र के कट्टरपन की अपेक्षा मनुष्य के कट्टरपन (इस प्रकार का प्रचार कि व्यक्ति विशेष को अवतार मानकर उनकी शरण लेने से ही मुक्ति

होगी) के द्वारा और भी आश्चर्यजनक तथा शीघ्रता से सम्प्रदाय का विस्तार होता है। और मेरे हाथ में यह शक्ति भी है। मेरे गुरुदेव श्री रामकृष्ण का ईश्वरावतार के रूप में प्रचार करने के लिए मेरे अन्य सभी गुरुभाई-गण कटिबद्ध हैं। एकमात्र मैं ही उस प्रकार के प्रचार का विरोधी हूं, क्योंकि मेरा दृढ़ विश्वास है—मनुष्य को उसके विश्वास व धारणा के अनुसार उन्नति करने देने पर यद्यपि बहुत ही मंद गति से उन्नति होती है, परन्तु जो उन्नति होती है वह बिलकुल पक्की होती है।''[1]

ब्राह्मसमाज के 'केशवचंद्र' ने स्वामी दयानंद को कलकत्ता बुलाया था यह जानकर कि दयानन्द स्वामी मूर्तिपूजा तथा जाति भेद के विरोधी हैं, तो हमारा तथा उनका पट जायेगा, परन्तु अन्ततः बात पटी नहीं। क्योंकि ब्राह्मसमाज ने वेद की अपौरुषेयता की मान्यता को 1850 में ही त्याग दिया था। स्वामी दयानन्द 15 दिसम्बर, 1872 से 15 अप्रैल, 1873 तक कलकत्ता में रहे थे। इसी समय श्री रामकृष्ण परमहंस ने स्वामी दयानन्द के दर्शन किये थे। परन्तु मूर्तिपूजा विरोधी स्वामी दयानन्द के विचार मूर्तिपूजक रामकृष्ण देव को नहीं जंचे थे।

स्वामी विवेकानन्द के इसी लाहौर प्रवास के समय उनका एक कॉलेज के गणित के युवा प्रोफेसर तीर्थ राम गोस्वामी से सम्पर्क हुआ था। इस प्रोफेसर ने स्वामीजी के प्रवचन आदि में प्रबंधक का काम किया था। स्वामीजी ने इस प्रोफेसर को वैराग्य तथा वेदांत प्रचार करने की प्रेरणा दी थी। यही तीर्थराम गोस्वामी युवक प्रोफेसर थोड़े दिनों में विरक्त होकर स्वामी रामतीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हुआ और अमेरिका आदि में प्रचार किया।

स्वामी विवेकानन्दजी का खेतरी के राजा के निमन्त्रण से वहां (राजपूताना) जाना हुआ। उन्होंने वहां के भाषण में व्यंग्य में कहा था.....हम न हिन्दू हैं, न वेदांती हैं, हम हैं 'छुआछूत पंथी', चौका हमारा मंदिर है, पकाने का बरतन उपास्य देवता तथा 'न छूओ न छूओ' हमारा मंत्र।

स्वामीजी किशनगढ़, अजमेर, जोधपुर, इन्दौर होकर खण्डवा पहुंचे। वे वहां बीमार हो गये। अतः खण्डवा से स्वामीजी कलकत्ता लौट गये।

7. बेलुड़ मठ स्थापन 1898 ई०

स्वामीजी का संकल्प था कि कलकत्ता में गंगातट पर एक स्वतन्त्र मठ स्थापित हो। निदान गंगा के पश्चिम तट पर बेलुड़ गांव की बड़ी जमीन खरीद ली गयी। उसमें एक पुराना मकान भी था। वहां पहले नावकाओं के अड्डे थे। जमीन समतल बनाकर मठ स्थापित हुआ जो आज श्री रामकृष्ण मिशन का

---

1. **विवेकानन्द चरित, पृष्ठ 383-384।**

केन्द्र है। इस जमीन के खरीदने में आर्थिक सहयोग किया स्वामीजी की शिष्या कु० हेनरिएटा मूलर ने। श्रीमती ओलीबुल ने मठ निर्माण में धन दिया तथा एक लाख रुपये मठ के खर्च के लिए दिये। उधर हिमालय में सेविअर दम्पत्ति के सहयोग से एक मठ स्थापित हुआ। मद्रास में भी मठ स्थापित हुआ।

विदेश से कु० नोबल ने स्वामीजी को पत्र देकर उनसे अपने आप को भारत आने तथा ब्रह्मचर्यव्रत लेकर मठ में रहने की आज्ञा मांगी। स्वामीजी ने लिखा—''निर्धनता, अध:पतन, कूड़ाकर्कट, फटे-मैले वस्त्र पहने हुए नर-नारियों को देखने की यदि इच्छा हो तो चली आओ। दूसरी किसी चीज की आशा करके न आना। हम तुम लोगों की हृदयविहीन आलोचना को सहन नहीं कर सकते।''[1] कु० नोबल आयीं और ये ही 'भगिनी निवेदिता' के नाम से एक साधिका जीवनभर रहीं। निवेदिता तथा स्वामीजी के विचारों में काफी दिनों तक फर्क बना रहा। स्वामीजी उनकी कई बार गहरी आलोचना कर देते थे। परन्तु अन्त में निवेदिता पूर्णतया स्वामीजी के अनुसार ढल गयीं।

स्वामीजी ने इसके बाद पुन: एक बार उत्तराखण्ड की यात्रा की। उन्होंने अलमोड़ा में ही गाजीपुर के पवहारी बाबा तथा अपने लिपि संकेत लेखक गुडविन के शरीरांत के समाचार सुने।

8. पुनः विदेश यात्रा

20 जून, 1899 ई० में स्वामीजी पुन: जल-जहाज से अमेरिका आदि देश गये। साथ में स्वामी तुरीयानन्द तथा भगिनी निवेदिता थीं। स्वामीजी का स्वास्थ्य अच्छा नहीं था। अब की बार वे विदेश जाकर कोई विशेष कार्य नहीं कर सके, किन्तु कुछ-न-कुछ कार्य तो होता ही रहा। उनका मन बीच-बीच में काफी उदास रहता था। अंतत: उनको पता चला कि मायावती (अलमोड़ा) मठ के स्थापक श्री सेवियर का देहांत हो गया है। वे यह जानकर तुरन्त भारत लौट पड़े। वे अबकी बार जहाज से बम्बई उतरकर ट्रेन द्वारा सीधे कलकत्ता आ गये।

9. पुनः भारत में

8 दिसम्बर, 1900 ई० की 8-9 बजे रात को स्वामी विवेकानन्द अमेरिका से लौटकर बेलुड़ मठ के दरवाजे पर खड़े हैं। मठ में भोजन के लिए घंटी लगी है। इतने में बाग का माली आया और कहने लगा—''एक साहब आये हैं, दरवाजे की चाबी दीजिये खोलना है।'' दरवाजा खोलने पर साहब गाड़ी में नहीं दिखे। स्वामीजी तो भोजनालय के सामने खड़े थे। स्वामी प्रेमानन्द ने दीपक लेकर देखा तो स्वामी विवेकानन्द खड़े हैं। स्वामीजी ने जोर से हंसते

---

1. **वही, पृष्ठ 398।**

हुए कहा—''भाई, तुम्हारे भोजन करने की घंटी मैंने सुनी तो दीवार फांदकर भीतर आ गया, अन्यथा भोजन मिलना कठिन हो जाता।'' सारा साधु तथा ब्रह्मचारी समाज आनंदित हो गया। खिचड़ी बनी थी। उन्होंने उसे बड़े प्रेमपूर्वक खाया।

समय कितना परिवर्तनशील होता है! पहली बार स्वामी जी जब विदेश से भारत लौटे थे तब मद्रास तथा कलकत्ता में उनका कितना जोर-शोर से स्वागत हुआ था और अबकी बार वे चुपचाप बेलुड़ मठ के भोजनालय के सामने आकर अकेले खड़े हो गये। किन्तु ज्ञानी के लिए सब समान है।

मायावती के सेवियर जी के निधन से स्वामी जी वहां (अलमोड़ा) शीघ्र चले गये। उन्होंने सेवियर की पत्नी को सांत्वना दी और मठ का प्रबन्ध देखा।

''आश्रम के कुछ संन्यासियों ने मिलकर एक कमरे में श्रीरामकृष्ण की मूर्ति की स्थापना की थी—वहां पर रोज पूजा, भोग, भजन आदि होते थे। सहसा एक दिन उस पर स्वामी जी की दृष्टि पड़ी। इस बाह्यपूजा को देखकर उन्होंने भला-बुरा कुछ न कहा, परन्तु सायंकाल जब अग्निकुंड के सम्मुख सब लोग एकत्रित हुए तो उस समय वे ओजस्वी भाषा में बाह्यपूजा की असारता प्रमाणित करने लगे। उन्होंने बहुत दिन पहले ही अपना यह उद्देश्य व्यक्त किया था कि अद्वैत आश्रम में किसी प्रकार की बाह्य पूजा का अनुष्ठान न रहे।

''परन्तु आज इसके विपरीत भाव को देखकर स्वामीजी कुछ क्षुब्ध हुए। उन्होंने अद्वैत आश्रम में बाह्यपूजा की अनावश्यकता के सम्बन्ध में तीव्रभाषा में बहुत कुछ तो कहा, परन्तु सहसा ठाकुर-घर को उठा देने का निर्देश न दिया। अधिकार का प्रयोग करना अथवा किसी के मन पर आघात करना उन्होंने उचित न समझा। स्वामीजी के मन में यही इच्छा थी कि जिन्होंने श्रीरामकृष्ण देव की मूर्ति की स्थापना की है वे अपनी भूल समझकर उसका संशोधन कर लेंगे। स्वामी स्वरूपानन्द तथा श्रीमती सेवियर ने स्वामी जी के उद्देश्य को भलीभांति समझकर अद्वैत आश्रम के नियमानुसार श्रीरामकृष्ण देव की पूजा बन्द कर दी।''[1]

स्वामी जी बेलुड़ मठ लौट आये। वे आश्रम के छोटे-छोटे काम भी करते थे; जैसे आश्रम की घास साफ करना, झाड़ू लगाना, भोजन पकाना आदि। स्वामीजी का स्वास्थ्य बहुत गिर गया था। उनको दमा भी जोर पर था।

स्वामी विवेकानन्द को बचपन में कोई बड़ा रोग हो गया था। अत: उनकी माता[2] ने माना था ''मेरा बच्चा अच्छा हो जाय तो कालीघाट के कालीमंदिर में

---

1. **वही, पृष्ठ 489।**
2. **स्वामी विवेकानंद के देहांत के बाद उनकी माता नौ वर्षों तक जीती रहीं। उनका 25 जनवरी 1911 ई० को निधन हुआ।**

विशेष पूजा दूंगी और श्री मंदिर में बच्चे को लोटपोट कराऊंगी।'' परन्तु यह बात उनकी माताजी भूल गयी थीं। जब स्वामी जी अपने जीवन के अन्तिम दिनों में बहुत अस्वस्थ चल रहे थे, तब उनकी माता को उक्त बात की याद आयी और उन्होंने स्वामी जी से कहा। स्वामीजी ने माता जी की बात सुनकर कालीघाट की आदि गंगा में स्नान करके गीले कपड़े से काली-मन्दिर में तीन बार लोटपोट किये और फिर होम भी किये।

4 जुलाई, 1902 ई० को स्वामी जी का रात में देहांत हो गया।

10. उपसंहार

स्वामी विवेकानन्द एक तो भावुक हृदय थे, दूसरी खास बात थी श्री रामकृष्ण देव उन्हें मिल गये थे जो एक भक्त-हृदय देव-पूजक थे। अत: स्वामी विवेकानन्द कालीपूजा, दुर्गापूजा या कुछ अनुष्ठान कर लेते थे, अन्यथा वे हृदय से गलत रूढ़ियों के विरोधी थे। यदि स्वामी जी को श्री रामकृष्ण देव जैसे भावुक भक्तहृदय संत न मिले होते तो स्वामी विवेकानन्द साधु होकर भी विद्रोही संत होते। श्री सत्येन्द्रनाथ मजुमदार ने 'विवेकानन्द चरित' में लिखा भी है—''सत्यान्वेषी विवेकानन्द यदि युवावस्था में परम कारुणिक श्रीरामकृष्ण देव को गुरु के रूप में न पाते, तो सम्भव है हम उन्हें दयानन्द की तरह विद्रोही देखते।''

स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू शब्द को जगह-जगह काफी श्रेय दिया है। इसमें कारण समसामयिक वातावरण है। कलकत्ता में स्थापित ब्राह्मसमाज जिसमें विद्वानों का जमघट था, उसके द्वारा हिन्दू शब्द एवं समाज को काफी कोसा जा रहा था। साथ-साथ उस समय इसाई मिशनरियां सांप्रदायिकतावश हिन्दू समाज एवं उसकी रीति-नीति के कटु आलोचक थीं। इन सबसे क्षुब्ध होकर स्वामी जी ने बारम्बार हिन्दू शब्द एवं हिन्दू समाज की कुछ रीति-नीति की प्रशंसा की है। अन्यथा स्वामी जी का दिल संकुचित हिन्दू-मुसलिम-इसाई आदि शब्दों से ऊपर था। तभी स्वामी जी कह सके थे ''मुझे जो कुछ कहना है मैं उसे अपने ही भावों में कहूंगा। मैं अपने वाक्यों को न तो हिन्दू ढांचे में ढालूंगा, न इसाई ढांचे में और न किसी दूसरे ढांचे में ही।''[1] स्वामी विवेकानन्द कहते हैं—'नहीं, समझौता नहीं, लीपापोती नहीं, सड़े-गले मुर्दों को फूलों से न ढको।...अति निंदनीय कापुरुषता से ही समझौता करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। साहस का आलंबन करो मेरे प्यारे पुत्रो! सबसे बढ़कर तुम साहसी बनो। किसी भी कारण से असत्य के साथ समझौता करने न जाना। चरम सत्य का प्रचार करो। इससे मत डरो कि तुम्हें लोक-समाज की श्रद्धा

---

1. **विवेकानन्द चरित, पृष्ठ 240।**

प्राप्त न होगी अथवा तुमसे अवांछनीय झगड़े का कारण उत्पन्न होगा।[1]

''शंकर (आदि शंकराचार्य) की बुद्धि क्षुरधार के समान थी। वे विचारक थे और पण्डित भी; परन्तु उनमें गहरी उदारता नहीं थी और ऐसा अनुमान होता है कि उनका हृदय भी उसी प्रकार था। इसके अतिरिक्त उनमें ब्राह्मणत्व का अभिमान बहुत था। एक दक्षिण पुरोहित जैसे ब्राह्मण थे, और क्या? अपने वेदान्त भाष्य में कैसी बहादुरी से समर्थन किया है कि ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य जातियों को ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता! उनके विचार की क्या प्रशंसा करूं। विदुर का उल्लेख कर उन्होंने कहा है कि पूर्व जन्म में ब्राह्मण का शरीर होने के कारण वह (विदुर) ब्रह्मज्ञ हुए थे। अच्छा, यदि आजकल किसी शूद्र को ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो तो क्या शंकर के मतानुसार कहना होगा कि वह पूर्वजन्म में ब्राह्मण था? क्यों, ब्राह्मणत्व को लेकर ऐसी खींचातानी करने का क्या प्रयोजन है?...भाष्य में ऐसे अद्‌भुत पांडित्य प्रदर्शित करने का कोई प्रयोजन न था। फिर उनका हृदय देखो, शास्त्रार्थ में पराजित कर कितने बौद्ध श्रमणों को आग में झोंककर मार डाला! इन बौद्ध लोगों की भी कैसी बुद्धि थी कि तर्क में हारकर आग में जल मरे। शंकराचार्य के कार्य संकीर्ण दीवानेपन से निकले हुए पागलपन के अतिरिक्त और क्या हो सकते हैं? दूसरी ओर बुद्धदेव के हृदय का विचार करो। बहुजन हिताय बहुजन सुखाय का तो कहना क्या, वे बकरी के बच्चे की जीवन-रक्षा के लिए अपना जीवन भी देने को सदा प्रस्तुत रहते थे। कैसा उदार भाव!—एक बार सोचो तो।''[2]

''स्मृति और पुराण सीमित बुद्धि वाले व्यक्तियों की रचनाएं हैं और भ्रम, त्रुटि, प्रमाद, भेद तथा द्वेषभाव से परिपूर्ण हैं।''[3]

''राम, कृष्ण, बुद्ध, चैतन्य, नानक, कबीर आदि सच्चे अवतार हैं; क्योंकि उनके हृदय आकाश के समान विशाल थे।.....रामानुज, शंकर इत्यादि संकीर्ण हृदयवाले, केवल पण्डित मालूम होते हैं....पुरोहितों की लिखी हुई पुस्तकों में ही जाति जैसे पागल विचार पाये जाते हैं।''[4]

स्वामीजी में देशप्रेम था। वे कहते हैं—''जब तक मेरी जन्मभूमि का एक कुत्ता भी भूखा रहेगा तब तक उसे आहार देना ही मेरा धर्म है। इसके अतिरिक्त और जो कुछ भी है—अधर्म है।''[5]

---

1. **वही, पृष्ठ 443।**
2. **विवेकानन्द साहित्य, खण्ड 6, पृष्ठ 82।**
3. **वही, पृष्ठ 326।**
4. **वही, पृष्ठ 326-27।**
5. **विवेकानन्द चरित, पृष्ठ 441।**

स्वामी जी साधुता, वैराग्य तथा ब्रह्मचर्य पर काफी बल देते थे। कुछ उदाहरण देखें—

"क्या विवाह कर लेने पर धर्म का आचरण या अन्य कोई महान कार्य नहीं किया जा सकता? क्यों नहीं—मोक्ष पर केवल संन्यासियों का अधिकार नहीं है। परन्तु जनक ऋषि ने गृही होकर भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लिया था, यह उदाहरण देकर जो लोग जनक ऋषि बनने की चेष्टा करते हैं, उनमें से अधिकांश अभागे बच्चों के जनक मात्र हैं—ऋषि जनक नहीं। कहते हैं घर में रहकर धर्म का आचरण करना, योग व भोग दोनों को ही रखते हुए मोक्ष प्राप्त करना ही विशेष बहादुरी है। परन्तु साथ-ही-साथ अनेक व्यक्ति यह भूल जाते हैं कि बहादुरी कर दिखाना ही जीवन का उद्देश्य नहीं है। और यह भी ठीक है कि यदि सभी व्यक्ति बहादुरी दिखाने में व्यस्त रहें तो फिर मानव-जीवन के उच्चतम सभी व्रत नि:संदेह लुप्त हो जायेंगे।

"हम लोग तो मूर्खों का एक दल जैसे हैं—स्वार्थपर, कापुरुष। बस सिर्फ जबान से स्वदेश के कल्याण की कुछ व्यर्थ की बातें रट रहे हैं और अपने महा धार्मिकपन के अभिमान में हम फूले नहीं समाते। मद्रासी लोग दूसरों की तुलना में अधिक तेज हैं तथा दृढ़ता के साथ वे किसी काम पर डंटे भी रह सकते हैं, परन्तु सभी अभागे विवाहित हैं। विवाह! विवाह!! विवाह!!! मानो पाखंडियों ने उस एक ही कर्मेन्द्रिय को लेकर जन्म ग्रहण किया है—योनिकीट—इधर फिर अपने को धार्मिक व सनातन धर्मावलंबी कहते हैं। अनासक्त गृहस्थ होना बहुत अच्छी बात है, परन्तु इस समय उसकी इतनी आवश्यकता नहीं है। अब चाहिए अविवाहित जीवन।"[1]

सन् 1900 ई० में न्यायमूर्ति श्री रानडे ने लाहौर की एक सामाजिक सभा में अपना निबन्ध पढ़ा था। उसमें संन्यास-विरोधी बातें थीं। श्री रानडे संन्यास-विरोधी बातें किया करते थे। इसके प्रतिवाद में स्वामी विवेकानन्द ने एक लम्बा निबन्ध लिखा था।

श्री रानडे ने लिखा था कि प्राचीनयुग में जातिप्रथा नहीं थी और ऋषिगण विवाहित होते थे। इसके प्रमाण में उन्होंने क्षत्रियों की कुमारियों के साथ ऋषियों के विवाह की एक लम्बी सूची दी थी। रानडे का मतलब था कि पहले अविवाहित धर्माचार्य नहीं होते थे, तो अब भी नहीं होना चाहिए। स्वामीजी ने इसका जोरदार प्रतिवाद किया था। केवल एक अनुच्छेद लें—

"एक ओर विवाहित गृहस्थ ऋषि कुछ अर्थविहीन अद्‌भुत, केवल यही नहीं, भयानक अनुष्ठानों के लिए बैठे हैं—कम-से-कम इतना तो कहना ही

---

1. **विवेकानन्द चरित, पृष्ठ 300-01**

होगा कि उनका नीतिज्ञान भी जरा मैला-सा है और दूसरी ओर हैं अविवाहित ब्रह्मचर्यपरायण संन्यासी ऋषिगण, जो मानवोचित अभिज्ञा की कमी होते हुए भी इस प्रकार उच्च धर्म, नीति तथा आध्यात्मिकता का प्रस्त्रवण खोल गये हैं जिसके अमृतवारि को संन्यास के विशेष पक्षपाती जैनों तथा बौद्धों ने और उसके बाद शंकर, रामानुज, कबीर, चैतन्य तक ने आकण्ठ पान करके अद्‌भुत आध्यात्मिक तथा सामाजिक संस्कारों को चलाने की शक्ति प्राप्त की थी, और जो पाश्चात्य देशों में जाकर वहां से कई रूपांतरित होकर हमारे समाज-संस्कारों को संन्यासियों की समालोचना करने की शक्ति तक दे रहा है।''[1]

स्वामी जी का हृदय बड़ा भावुक था। वे बात करते-करते उग्र हो जाते और आंसू भी बहाने लगते थे। वे दया के सागर थे। उन्होंने स्वयं लिखा है—''मैं नारी अधिक हूं, पुरुष कम...मैं सदा दूसरे के दुख को अपने ऊपर ओढ़ता रहता हूं—बिना किसी प्रयोजन के, किसी का कोई लाभ पहुंचाने में समर्थ हुए बिना—ठीक उन स्त्रियों की तरह जो सन्तान के न होने पर अपने सम्पूर्ण स्नेह को किसी बिल्ली पर केन्द्रित कर देती हैं।''[2]

स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है—पहले समय में जो ईश्वर को नहीं मानता था, वह नास्तिक कहलाता था, और आज जो अपने आप को, अर्थात अपने आत्मा को नहीं मानता है, वह नास्तिक कहलाता है।

स्वामी जी कभी अपने शिष्यों को कहते ''प्यारे बच्चो! पूरे भारत पर टूट पड़ो; अर्थात धर्मप्रचार और जनसेवा के लिए फैल जाओ।'' और जब वे अनेक अड़चनों से उद्विग्न होते तब कहते—''कुछ नहीं, अब मैं हिमालय जाना चाहता हूं। छोड़ो प्रपंच।'' परन्तु वे पुनः शिष्यों को प्रचार तथा सेवा के लिए ललकारने लगते थे। वस्तुतः स्वामी जी का हृदय गंगा की लहर की तरह निर्मल और तरंगायित था जनसेवा तथा धर्मप्रचार के लिए! ऐसे हृदय के लोग ही कुछ कर सकते हैं। पत्थर का आदमी क्या कर सकता है!

स्वामी विवेकानन्द ने भारत को श्री रामकृष्ण मिशन नाम की एक बलवान साधु संस्था दी, जिसके साधु एवं ब्रह्मचारी त्यागी, सेवापरायण, विद्वान तथा कर्मठ होते हैं। वे साधु-संन्यासियों की व्यर्थ संख्या नहीं बढ़ाते, किन्तु सच्चरित्र और कर्मठ साधु गढ़ते हैं और धर्मोपदेश, सत्साहित्य, चिकित्सा, शिक्षा आदि से जनता की सेवा करते हैं। भारत के अन्य साधु मण्डल भी उनसे प्रेरणा लें तो भारत का बड़ा कल्याण हो।

---

1. **वही, पृष्ठ 494।**
2. **विवेकानन्द-साहित्य-6, पृष्ठ 359।**

23
महात्मा गांधी

महात्मा गांधी युगपुरुष थे। विश्व के राजनीतिक इतिहास में महात्मा गांधी जैसा उदाहरण नहीं मिलता जिसने अपने सत्य और अहिंसा के बल से विश्वव्यापी बलवान विदेशी शासन को अपने देश से उखाड़ फेंका हो। महात्मा गांधी ने यही किया। उनके सत्य, अहिंसा और शत्रु को भी न धोखा देने के मानवीय सद्‌गुण ने विश्व के जन-मानस को मोह लिया।

1. जन्म

महात्मा गांधी का पूरा नाम था 'मोहनदास करमचंद गांधी'। 'मोहनदास' तो उनका नाम था, 'करमचंद' उनके पिता का नाम था और 'गांधी' उनके परिवार की उपाधि थी। गुजरात में व्यक्ति के नाम के साथ उसके पिता का नाम भी कहा और लिखा जाता है।

पिता 'करमचंद' के औरस तथा माता 'पुतलीबाई' के गर्भ से 'मोहनदास करमचंद गांधी' का पोरबन्दर गुजरात में 2 अक्टूबर, 1869 ई० में जन्म हुआ। जिस परिवार में जन्म हुआ वह मध्यम वर्गीय बनिया था, परन्तु वह अपने परम्परागत धंधा व्यापार को छोड़ कई पीढ़ियों से काठियावाड़ के रियासतों में नौकरी करता था और दीवान तथा मंत्री तक के पदों पर आसीन रहता था। मोहनदास के पिता करमचंद गांधी स्वयं एक रियासत में दीवान थे और स्वभाव से सच्चरित्र, कुटुम्बप्रेमी, सत्यवादी, साहसी और उदार थे। माता पुतलीबाई भी धर्मपरायणा और सदाचारनिष्ठ थीं। साथ-साथ बुद्धिमान थीं और उनकी सूझबूझ से रनिवास की नारियां भी लाभ उठाती थीं।

2. विद्यार्थी जीवन

गांधी जी अपने बचपन में लज्जालु और संकोची थे। यह उनका स्वभाव इंग्लैण्ड में अध्ययन करते समय तक रहा। परन्तु वे कर्तव्यनिष्ठ, समय के नियमबद्ध, सत्य में निष्ठा रखने वाले और धर्मभीरु थे। वे पढ़ाई में कभी नकल नहीं करते थे।

एक विद्यार्थी ने गांधी जी को सुझाया कि अंग्रेज लोग इसलिए संसार में उन्नत हैं, क्योंकि वे मांस खाते हैं। इससे प्रभावित होकर वे चोरी से मांस खाने

लगे। परन्तु उन्होंने इसे शीघ्र ही छोड़ दिया; क्योंकि यह भक्त माता-पिता को धोखा देना था।

3. विवाह

गांधी जी का तेरह वर्ष की अवस्था में ही विवाह कर दिया गया। वे अपनी पत्नी पर बहुत आसक्त थे। परन्तु अपने आचरणनिष्ठ स्वभाव से वे प्रात: उठकर अपने नित्यकर्म में लग जाते थे। किसी को धोखा नहीं देना चाहिए इस धारणा के कारण वे संयमित बने रहे। वे स्वयं लिखते हैं कि मैं यदि अपने कर्तव्य के लिए दृढ़ निष्ठावान न होता, तो किसी भयंकर बीमारी में फंस जाता या मेरी अकाल मृत्यु हो जाती।

4. इंग्लैण्ड प्रस्थान

गांधी जी ने मैट्रिकुलेशन परीक्षा पास की। पिता का देहान्त हो चुका था। गांधी के बड़े भाई ने उन्हें बैरिस्ट्री पढ़ने के लिए इंग्लैण्ड भेजने की योजना बनायी, परन्तु उन दिनों तथाकथित उच्च हिन्दू जाति के लोगों को पण्डित समुद्र पार विदेश जाने की अनुमति नहीं देते थे। इसमें कारण था कि वहां कट्टर हिन्दू-आचार-विचार का निभना कठिन था। इसके साथ प्राय: जो युवक विलायत जाते थे वे सुरा, सुन्दरी और मांसाहार में लीन हो जाते थे। उनके खान-पान, वेष, व्यवहार सब बेढंगे हो जाते थे।

पिता के देहांत से घर की आर्थिक स्थिति बिगड़ गयी थी। भाई ने रुपये उधार लेकर गांधी जी को विलायत भेजने का प्रबन्ध कर लिया। अंतिम निर्णय माता को देना था। गांधी जी विदेश जाने के उत्सुक थे। माता ने गांधी जी को तीन प्रतिज्ञाएं करायीं—"तुम्हें स्त्री, शराब और मांस नहीं छूने हैं।" गांधी जी ने नियमपूर्वक व्रत लिया। गांधीजी के एक भाग के खर्चे के लिए रुपये उनकी पत्नी के आभूषण बेचकर दिये गये। वे अपनी अठारह वर्ष की अवस्था में इंग्लैण्ड गये।

5. इंग्लैण्ड प्रवास

गांधीजी को इंग्लैण्ड में कई कठिनाइयां आयीं। एक तो उनका स्वभाव दब्बू था। वे अधिक चुपचाप रहते थे। दूसरे उस मांसाहारी देश में उनको शुद्ध भोजन मिलना कठिन था। उन्हें कई बार भूखा या आधा पेट रह जाना पड़ता था। वहां के मित्र उन्हें मांस खिलाना चाहते, परन्तु वे अपने शपथ में दृढ़ थे। अंतत: बहुत खोज के बाद उन्हें एक शाकाहारी होटल मिल गया। उन्होंने वहां पेट भर भोजन किया।

अभी तक तो वे माता से शपथ लेने के कारण मांस नहीं खाते थे और सोचते थे कि कभी भारत जाकर मैं खुले रूप में मांस खाऊंगा और हर

भारतीय को राय दूंगा कि वह मांस खाये। परन्तु आगे चलकर यह विचार बदल गया। उन्होंने इंग्लैण्ड में देखा कि बहुत-से अंग्रेज मांसाहार के विरोध में हैं। वहां उन्होंने शाकाहारी भोजन पर बहुत-सी पुस्तकें पढ़ीं। वहां शाकाहारियों की इस विषय में गोष्ठियां होती थीं। उसमें गांधी जी सम्मिलित होने लगे। उनसे भी गोष्ठी में बोलने के लिए कहा जाता, परन्तु वे अपने संकोची स्वभाव-वश बोल नहीं पाते थे। वे लिखते हैं कि मुझे कुछ सूझ ही नहीं होती थी कि मैं अपनी बात कैसे प्रस्तुत करूं। उनका यह स्वभाव पूरे इंग्लैण्ड-प्रवास तक रहा। परन्तु उन्होंने लिखा है कि इससे मेरी हानि होने के बदले लाभ ही हुआ। इससे बोलने में मेरी मितव्ययिता की आदत हुई।

गांधी जी मांसाहारी भोजन न करने से अपने मित्रों को संतुष्ट नहीं कर सके, परन्तु उन्होंने उन्हें संतोष देने के लिए उन-जैसा वेशभूषा अपनाया, नाचना तथा वायलिन बजाना शुरू किया, परन्तु वे इनमें सफल न हो सकने से छोड़ दिये। हां, वे कपड़े उन जैसे पहनते रहे।

गांधी जी ने इंग्लैण्ड में बैरिस्ट्री तो पढ़ी ही, फिर से मैट्रिक परीक्षा भी दी और उसमें वे उत्तीर्ण हुए। साथ-साथ उन्होंने लैटिन भाषा भी सीख ली जिससे रोमन कानून मूल रूप में पढ़ सकें। वे वहीं रहते-रहते 1891 ई० में बैरिस्टर घोषित हुए।

इंग्लैण्ड में रहते-रहते गांधी जी शाकाहारियों, सुधारकों एवं पादरियों से मिलते रहे। पादरी उन्हें अपनी तरफ खींचने के प्रयास में रहे, परन्तु वे नहीं खिंचे। हां, इससे अपने हिन्दुत्व के धर्मशास्त्रों को पढ़ने के लिए उनका मन प्रेरित हुआ। उन्होंने वहीं रहते हुए ''आर्नल्ड' का गीता-अनुवाद पढ़ा और उससे वे बहुत प्रभावित हुए। फिर 'आर्नल्ड' कृत 'लाइट ऑफ एशिया' पढ़ी। इसके बाद बाइबिल पढ़ी। बाइबिल के पुराने नियम से वे कुछ लाभ न ले सके। उन्हें उसके नये नियम से लाभ मिला। क्योंकि उसके उपदेश गीता तथा हिन्दू-परम्परा के शास्त्रों से मेल खाते थे।

वे वहां अन्त तक लज्जाशील बने रहे। वे तभी बोलते, जब उनसे कोई बोलता। इंग्लैण्ड से लौटते समय जब उन्होंने मित्रों को विदाई-पार्टी दी, तब उसमें वे केवल इतना बोल सके—''आप लोगों को धन्यवाद, महाशयो, मेरे आमंत्रण को कृपया स्वीकार कर यहां पधारने के लिए।''[1]

वे तीन वर्ष इंग्लैण्ड में रहकर भारत लौट आये और केवल बैरिस्ट्री में ही उत्तीर्ण होकर नहीं, किन्तु अपनी पूज्य माताजी से लिए तीन शपथों में भी उत्तीर्ण होकर।

---

1. **जीवतराम भगवान दास कृपलानी कृत ''महात्मा गांधी : जीवन और चिंतन'', पृष्ठ 9 (प्रकाशन 1978 ई०)। सूचना और प्रकाशन विभाग भारत सरकार।**

6. भारत में वकालत में असफल

गांधी जी 1891 में भारत आये। वे राजकोट में वकालत नहीं कर सके। उन्हें वहां के वकीलों के पास भी खड़े होने की हिम्मत नहीं रहती थी। वे बम्बई चले गये। वहां खर्चा लम्बा, परन्तु आमदनी नहीं के बराबर। वे जब एक छोटी अदालत में एक मुकदमें के सिलसिले में बहस करने खड़े हुए, तो उनके पैर कांपने लगे और सिर चकराने लगा। अत: वे हतप्रभ होकर बैठ गये। उन्होंने मुकदमा दूसरे वकील को दे दिया। फिर उनको लौटकर जानने की भी उत्सुकता नहीं हुई कि उसमें क्या हुआ।

एक कठिनाई थी उनकी ईमानदारी। कोई मुकदमा उनके पास आता तो उसमें दलाल को कमीशन देने का प्रश्न आता। उन्होंने सुना कि बड़े वकीलों में भी कुछ ऐसा करते हैं। परन्तु गांधी जी इसे नहीं स्वीकार पाते। वे स्कूल में अध्यापन का काम खोजने लगे, परन्तु नहीं मिला। अन्तत: बम्बई से पुन: राजकोट आ गये और वकीलों से कागजी काम लेकर मुकदमें का मसौदा बनाने लगे। परन्तु यहां भी वही बात थी वकीलों को मसौदे में भी कमीशन देना।

गांधीजी का मन ऊब गया। उन्हें लगा कि चाहे अंग्रेज हों या भारतीय, सभी अफसर एवं नौकरशाही दंभी-व्यवहार के हैं। इधर रियासतों के काम षड्यंत्र भरे होते थे। उनका काम लेना भी कठिन था। अत: वे अवसर पाकर दक्षिण अफ्रीका चले गये।

7. दक्षिणी अफ्रीका प्रवास

दक्षिण अफ्रीका में भारत के विविध प्रांतों से हिन्दू, मुसलमान, पारसी आदि आकर बसे थे। उनमें छोटे सरकारी नौकर, व्यापारी, स्वतन्त्र-मजदूर, गिरमिटिया (शर्तबंद मजदूर) आदि थे। एक गुजराती मुसलमान का वहां फर्म था ''दादा अब्दुल्ला एण्ड कम्पनी।'' उसका एक मुकदमा था। इस मुकदमें के सिलसिले में गांधी जी दक्षिण अफ्रीका गये। काम एक वर्ष का था। उस मुकदमें में अंग्रेज वकील था। कागज तथा चिट्ठी-पत्री गुजराती भाषा में होने से गुजराती वकील की सहायता आवश्यक थी। कम्पनी के आग्रह पर गांधी जी जल-जहाज से अप्रैल, 1893 ई० में बम्बई से दक्षिण अफ्रीका गये।

दक्षिण अफ्रीका में गोरे अंग्रेजों का राज्य था। वहां के मूल निवासियों को भी गोरे अंग्रेज उपेक्षा से देखते थे फिर भारतीयों को तो कहना ही क्या। अंग्रेज भारतीय मजदूरों से गुलामों-जैसा व्यवहार करते थे। भारतीयों को जमीन खरीदने, सम्पत्ति, व्यापार सब में असुविधा थी। भारतीय लोग ट्रेन तथा ट्रामों में अंग्रेजों के साथ नहीं बैठ सकते, उन्हें अलग से बैठना पड़ता था। वे सब

होटलों में नहीं जा सकते थे। हर भारतीय को तीन पौंड कर देना पड़ता था। वे ऐसी जगह रहने की अनुमति पाते थे जहां प्रकाश तथा जल की असुविधा होती थी और गन्दा पानी निकलने की सुविधा नहीं रहती थी।

गांधी जी 'डरवन' के कोर्ट में गये। वे लम्बा कोट तथा पगड़ी पहने थे। अंग्रेज जज ने उनसे पगड़ी उतारने को कहा। गांधी जी ने नहीं उतारी और कोर्ट से बाहर चले गये। वैसे उनका मुख्य काम 'प्रीटोरिया' में था, अत: वे वहां के लिए चल दिये। उन्हें फर्म की तरफ से प्रथम श्रेणी के टिकट का पैसा मिलता था। अतएव वे टिकट कटाकर गाड़ी में जा बैठे। अंग्रेज यात्रियों ने उन्हें भारतीय होने से उस डिब्बे से उतरकर दूसरी श्रेणी के डिब्बे में जाने की बात कही। गांधी जी ने अपना प्रथम श्रेणी का टिकट दिखाया। अंग्रेजों ने उन्हें धक्का देकर डिब्बे से उतार दिया और उनका सामान प्लेटफार्म पर फेंक दिया। गांधी जी ने स्टेशन के प्रतीक्षालय में रात ठण्डी में ठिठुरकर बितायी। उन्हें किसी अंग्रेज के होटल में भी ठहरने की सुविधा न मिली। जब गांधी जी ने भारतीयों से मिलकर अपनी बातें बतायीं तब उन लोगों ने कहा कि यहां अपमान का घूंट पीकर ही पैसे कमाये जा सकते हैं।

गांधी जी गोरों के व्यवहार से ऊबकर भारत लौटने की बात सोचने लगे। परन्तु पुन: वे अपने कर्तव्य पर ध्यान देकर रुक गये। वे एक वर्ष का काम लेकर यहां आये थे। गांधी जी अपनी वकालत की सफलता इसमें मानते थे कि वादी तथा प्रतिवादी को कोर्ट के बाहर ही बैठाकर तथा समझा-बुझाकर मामला सुलझा दिया जाये और उन्होंने वहां यही किया भी। इस समझौता में दोनों पक्षों ने अपना सम्मान सुरक्षित समझा। गांधी जी ने जन-सेवा के साथ बीस वर्षों तक वकालत भी की, परन्तु उनका मुख्य काम तो वादी-प्रतिवादी को समझाकर उनमें सुलह कराना होता था। उन्होंने अपनी वकालत के दरम्यान कभी झूठ का आश्रय नहीं लिया।

वर्ष पूरा हुआ। गांधी जी भारत लौटने वाले थे। सेठ अब्दुल्ला तथा अन्य भारतीयों ने उनसे अफ्रीका रुकने की बात कही। उन्हें लगा कि अंग्रेजों के कुशासन को गांधी जी कम करा सकते हैं। तत्काल वहां की सरकार ने एक घोषणा की कि भारतीय लोग चुनाव में मत (वोट) नहीं दे सकते।

गांधी जी रुक गये। भारतीयों ने उनके निर्वाह का खर्चा उठाना चाहा। गांधी जी ने इसे नहीं स्वीकारा। उन्होंने कहा कि आप लोग मुकदमें का काम मुझे दें, उससे मेरा गुजर हो जायेगा। गांधी जी ने प्रवासी भारतीयों को संगठित किया। उन्होंने ''नेटाल इण्डियन कांग्रेस'' नाम से संस्था कायम की। भारतीयों का भी चुनाव में मतदान का अधिकार सुरक्षित हो, इसके लिए एक प्रार्थना-पत्र नेटाल-विधानसभा को भेजा गया, परन्तु सरकार ने उसकी उपेक्षा करके

विधेयक पास कर दिया। किन्तु अभी सम्राट की स्वीकृति बाकी थी। हजारों भारतीयों के हस्ताक्षर कराकर सम्राट के पास प्रार्थना-पत्र भेजा गया। सम्राट ने इस पर ध्यान दिया और विधेयक रुक गया। इससे भारतीयों को प्रसन्नता हुई। गांधी जी के नेतृत्व में भारतीयों ने अपना आंदोलन तथा समाज-सुधार के कार्यक्रम चलाया। गांधी जी ने सफाई, सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा शिक्षा पर बल दिया। उन्होंने प्रांतवाद, जातिवाद, संप्रदायवाद आदि का भेद मिटाकर सभी भारतीयों को संगठित रहने का बिगुल फूंका।

गांधी जी थोड़े समय के लिए 1896 में भारत आये। उन्होंने भारत के कांग्रेसी नेताओं—गोखले, तिलक, फिरोजशाह मेहता आदि से भेंट की, अफ्रीका में भारतीयों की दशा की पुस्तक छपवाकर बम्बई, मद्रास आदि में प्रचार किया, जगह-जगह भाषण दिये। उनके समाचार अखबारों में छपे। कलकत्ता के इंग्लिशमैन अखबार के अंग्रेज संपादक मि० सांडर्स गांधी जी की इन बातों से बहुत प्रभावित हुए कि वे अफ्रीका के अंग्रेजों की गलतियां बढ़ा-चढ़ाकर नहीं कहते थे। गांधी जी का मत था कि दूसरों को न्याय देकर ही हमें शीघ्र न्याय मिल सकता है।

जब गांधी जी कलकत्ता में थे अफ्रीका से उनको तार से बुलाया गया। वे तुरन्त जल-जहाज से अफ्रीका के लिए चल दिये। अबकी बार उनका परिवार भी साथ में था। उन्होंने भारत में अफ्रीका के लिए जो काम किया था उसकी विकृत व्याख्या अफ्रीका के गोरों ने की थी। अत: वे गांधी जी पर बहुत क्रुद्ध थे। वे जैसे जल-जहाज से उतरे, गोरों ने उन पर आक्रमण कर दिया। परन्तु पुलिस ने उनकी रक्षा की। यदि पुलिस उनकी रक्षा न करती तो वे मार डाले जाते। उनका परिवार सकुशल उनके मित्र रुस्तम के यहां पहुंच गया था। वे भी किसी प्रकार वहां पहुंचे। गोरों ने रुस्तम जी का घर घेर लिया और कहा कि यदि गांधी को नहीं देते हो तो तुम्हारे घर में आग लगा दी जायेगी। परन्तु पुलिस गांधी जी को भारतीय पुलिस की वर्दी पहनाकर उन्हें चुपके से मकान से निकाल ले गयी।

जब हलचल शांत हुई तब वहां के अधिकारियों ने गांधी जी से कहा कि यदि आप चाहें तो आक्रमणकारियों पर मुकदमा चलाया जाये। गांधी जी ने कहा—"मैंने यह निर्णय कर लिया है कि अपने आक्रमणकारियों पर मुकदमा नहीं चलाना है। मैं नहीं समझता कि उनकी कोई गलती है। जो कुछ उन्हें पता लगा था, वह अपने नेताओं से।....मैं अदालत से इसमें मदद नहीं चाहता।"[1] इसके बाद गांधी जी ने अफ्रीका के लिए जो काम भारत में किया था उसका

---

1. **कृपलानी कृत महात्मा गांधी, पृ० 15।**

दस्तावेज वहां के अधिकारियों एवं संवाददाताओं को दिखाया, तब अंग्रेज लोग केवल शांत ही नहीं हुए, किन्तु गांधी जी के मित्र हो गये।

गांधी जी की पत्नी, उनके दो बच्चे तथा एक इनकी बहिन साथ में थे। इन तीन बच्चों को पढ़ाना था। वे उन्हें न इसाई स्कूल में भेजना चाहते थे और न विदेशी भाषा के माध्यम से उनकी शिक्षा चाहते थे। अत: उन्होंने स्वयं उन्हें अपनी भाषा में शिक्षा देना शुरू किया। वे भारतीयों के समाज-सुधार का भी काम करते थे, और उनके राजनीतिक तथा सामाजिक स्तर उठाने का भी काम करते थे। परन्तु यह सब करने में उन्हें बड़ी कठिनाई उठानी पड़ती थी। कई बार जिनको वे उठाना चाहते थे उन्हीं से उपेक्षा पाते थे। उन्होंने कहा था— ''समाज का सुधार करने के लिए आतुर तो सुधारक होता है, परन्तु समाज नहीं।''

गांधी जी इस बार वकालत भी खूब जमकर करते थे। इसी बीच वहां की गोरी-सरकार एक युद्ध में फंस गयी। गांधी जी ने उसकी सेवा के लिए भारतीयों की एक संस्था बनायी और भारतीयों ने पीड़ित गोरों की सेवा की। इससे भारतीयों में संगठन बढ़ा तथा गोरों की दृष्टि में भारतीयों की इज्जत बढ़ गयी।

इसके बाद गांधी जी पुन: भारत लौटना चाहे। गांधी जी के मुवक्किलों एवं प्रशंसकों ने उन्हें बहुत उपहार दिये। कुछ तो खास कस्तूरबा को दिये। गांधी जी के मन में प्रश्न उठा कि क्या इनका मुझे व्यक्तिगत उपभोग करना चाहिए? इस उधेड़बुन में वे पूरी रात सो नहीं पाये। अन्तत: उन्होंने प्रात: यह निर्णय लिया कि इस धन का एक ट्रस्ट बना देना चाहिए जिससे यहां के समाज की सेवा हो। उन्होंने कस्तूरबा को भी समझाया और उनको व्यक्तिगत दिये गये उपहार भी ट्रस्ट को दे दिया गया। इसके बाद गांधी जी 1901 में भारत लौट आये और बम्बई में रहकर वकालत करने लगे।

वे कांग्रेस में तथा सार्वजनिक सेवा में जाने लगे। उस समय कांग्रेसी नेता वही थे जो अंग्रेजी जानते थे। वे वर्ष में केवल तीन दिन का अधिवेशन भारत के किसी कोने में कर लेते थे। अंग्रेजी में भाषणबाजी हो जाती थी। किसी में सेवाभाव नहीं रहता। सब स्वयंसेवकों को काम करने की बात कहते। सब एक दूसरे को हुक्म देते। भोजन भी कई लोगों के अलग-अलग पकते। अस्पृश्यता की भावना व्याप्त थी। गांधी जी जहां कांग्रेस में जाते विनम्रतापूर्वक काम करते थे। वे गुरुजनों के प्रति अति विनयी तथा मोटा काम करने में आगे रहते थे।

गांधी जी एक वर्ष के भीतर पुन: अफ्रीका से तार आने पर वहां चले गये। अबकी बार गांधीजी ने अफ्रीका में बड़ा आश्रम खोला जिसमें हिन्दू, मुसलमान, पारसी, यूरोपियन सभी एक समान रहते थे। उनमें बड़े-बूढ़े बच्चों के लिए

स्कूल चलाते थे। गांधी जी ने इसी आश्रम में अपनी सैंतीस (37) वर्ष की अवस्था में ब्रह्मचर्य व्रत लिया। यहां का नियम था कि कोई किसी से छुआछूत नहीं मानता था।

अफ्रीका की गोरी सरकार ने प्रवासी भारतीयों के लिए एक आज्ञा-पत्र निकाला जिनके सारे शब्द भारतीयों के लिए घृणा व्यंजक थे, जैसे—हर भारतीय नर या नारी तथा आठ वर्ष का बच्चा अपनी रजिस्टरी कराये और अपना नया प्रमाण-पत्र ले। उनके शरीर के मुख्य चिह्न लिखे जायेंगे। जो व्यक्ति यह काम नहीं करायेगा उसे दण्ड, कारावास तथा देश निकाला की सजा दी जा सकती है। बच्चों की ओर से उनके माता-पिता रजिस्ट्रार के सामने पेश होकर अंगूठे का निशान देंगे। रजिस्टरी का प्रमाण-पत्र पुलिस के मांगने पर दिखाना पड़ेगा। पुलिस जब चाहे भारतीयों के घर में घुसकर तलाशी ले सकती है। यह प्रमाण-पत्र उसे अपने कार्य क्षेत्र में साथ रखना पड़ेगा और मांगने पर दिखाना पड़ेगा।

गांधीजी ने कहा कि ऐसा घृणित कानून तो संसार के किसी देश में मेरी जानकारी में नहीं है। यदि यह कानून पास हो गया तो भारतीयों की दुर्गति हो जायेगी। अत: इसको लेकर 19.9.1906 में वहां बड़ी सभा हुई। सभा में तय किया गया कि इस कानून का विरोध किया जाये। यदि इस पर भी यह पास हो जाये तो इसे न माना जाये और इसके रास्ते में जो कठिनाई आये सहा जाये।

उपर्युक्त काला कानून पास हो गया। भारतीयों ने धरना दिया। वे गिरफ्तार कर जेल भेजे गये। गांधी जी भी दो महीने के लिए कारावास भेजे गये। गोरी सरकार ने भारतीयों के सामने यह प्रस्ताव रखा कि यदि वे स्वेच्छा से अपनी रजिस्ट्री करा लें तो उनके ऊपर से सारे काले कानून समाप्त कर दिये जायेंगे। गांधी जी अगले पर विश्वास करते थे। उन्होंने भारतीयों की एक बड़ी सभा में उन्हें समझाया कि वे रजिस्ट्री करवा लें। गांधी जी की इस राय को कुछ लोग नापसंद किये। एक पठान ने तो कहा कि यदि कोई अपना नाम रजिस्टर कराने जायेगा तो उसे मैं मार गिराऊंगा। गांधी जी ने सभा को समझाया कि हठ छोड़कर बात मान लेनी चाहिए। दूसरे दिन गांधी जी कुछ नेताओं के साथ रजिस्टरी ऑफिस को अपना नाम रजिस्टरी कराने जा रहे थे। उन्होंने अपना उदाहरण पहले इस काम में पेश करना चाहा। रास्ते में वह पठान मिला और यह जानकर कि अपना नाम रजिस्ट्री कराने जा रहे हैं, उसने गांधी पर लाठी से आक्रमण कर दिया। गांधी जी चोट खाकर 'हा राम' कहकर गिरे और मूर्छित हो गये। गांधी जी के मित्र पादरी डॉ० डॉक महोदय ने उन्हें अपने घर ले जाकर बड़ी सेवा की। पठान पकड़ा गया। सरकार ने उस पर मुकदमा चलाया। गांधी जी ने सरकार से अपील की कि मैं पठान पर मुकदमा नहीं

चलाना चाहता। मैं चाहता हूं कि उसे छोड़ दिया जाये, परन्तु सरकार ने कहा कि यह केवल गांधी जी का विषय नहीं है। पठान को तीन महीने की कड़ी सजा हुई। पीछे पठान ने अपनी गलती महसूस की और वह गांधी जी का मित्र हो गया।

गांधी जी को न समझकर एक पठान उन्हें एक सभा में मारने के लिए एक बार पुन: लाठी लेकर गया था, परन्तु रक्षकों ने सम्हाल लिया। गांधी जी के प्रयास से करीब सभी भारतीयों ने अपने नाम रजिस्टर्ड करा लिये। परन्तु सरकार ने अपने प्रण को मेट दिया और काला कानून बना दिया।

इसके बाद गांधी जी ने समस्त भारतीयों से कहा कि वे रजिस्टर्ड प्रमाण-पत्रों की होली जला दें। लोगों ने अपने प्रमाण-पत्र जला दिये। वहां की सरकार ने दमन शुरू किया। गांधी जी के नेतृत्व में भारतीयों ने सत्याग्रह किया और जेल गये। कस्तूरबा ने, जो गांधी जी की पत्नी थीं, नारियों का दल लेकर आन्दोलन किया, जेल गयीं, कष्ट सहीं।

इसी बीच संघीय रेलवे के गोरे कर्मचारियों ने अपनी मांगों को लेकर हड़ताल किया। गांधीजी ने देखा कि यहां की सरकार परेशानी में है, अत; उन्होंने अपना आन्दोलन रोक दिया। उन्होंने कहा "हम सरकार को कष्ट देकर उसकी कठिनाइयों से लाभ नहीं उठाना चाहते।" गांधी जी की इस उदात्तभावना से गोरे बहुत प्रभावित हुए। एक गोरे सचिव ने गांधी जी से विनोद में कहा—

"मैं भारतीयों को बिलकुल पसंद नहीं करता और उनकी सहायता करने की भी बिलकुल परवाह नहीं करता। परन्तु मैं क्या करूं, आप वक्त जरूरत पर हमारी मदद करते हैं। आप पर हम कैसे हाथ छोड़ सकते हैं। कई बार हम सोचते हैं कि अच्छा हो कि अंग्रेज हड़तालियों की तरह आप भी हिंसा अपना लें, क्योंकि तब हम फौरन जान जायेंगे कि आप को कैसे खत्म कर दिया जाये। परन्तु आप तो शत्रु को भी चोट नहीं पहुंचायेंगे। आप स्वयं कष्ट सहकर विजय की कामना करते हैं और आपने अपने ऊपर स्वयं ही शिष्टाचार तथा सभ्यता का जो अनुशासन लगाया है उससे कभी नहीं हटते। इससे हम बिलकुल निरुपाय हो जाते हैं।"[1]

इसके बाद वहां की सरकार द्वारा भारतीय-प्रवासियों पर लगाये गये सारे प्रतिबंध हटा लिये गये और गांधी जी ने 18 जुलाई, 1914 ई० को अफ्रीका सदैव के लिए छोड़ दिया।

8. भारत में

गांधी जी पहले इंग्लैण्ड गये। गोखले जी इंग्लैण्ड में थे। गांधी जी उनसे

---

1. **कृपलानी कृत महात्मा गांधी, पृ० 50।**

मिलना चाहते थे। गोखले जी इंग्लैण्ड से गांधी जी के सहयोग में एक बार अफ्रीका आये थे। गांधी जी गोखले जी को ही अपना राजनीतिक-गुरु कहते थे। गांधी जी गोखले जी से मिलकर बंबई लौट आये। उसके बाद पोरबंदर आकर शान्तिनिकेतन चले गये जो रवींद्रनाथ टैगोर का शिक्षण संस्थान था। इधर गोखले की मृत्यु हो गयी। गोखले जी ने गांधी जी को राय दी थी कि तुम भारत का पूरा भ्रमण करके उसे ठीक से जान लो, तब राजनीति में प्रवेश करो। गांधी जी ने यही किया।

9. काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का शिलान्यास

पण्डित मदनमोहन मालवीय जी ने 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय' का शिलान्यास करने का उत्सव किया। शिलान्यास करने वाले थे तत्कालीन भारत के वाइसराय लार्ड हार्डिज। इसमें गांधी जी, एनीबेसेण्ट आदि भी आमंत्रित थे। सभा के अध्यक्ष थे दरभंगा के महाराजा। वाइसराय तो शिलान्यास करके चले गये, सभा की कार्यवाई चलती रही।

इस सभा में जब गांधी जी ने अपना भाषण आरम्भ किया तब उन्होंने पहली बात यह कही कि काशी में स्थित विश्वनाथ-मंदिर की गली बहुत सकरी है। उस पर ध्यान देना चाहिए। दूसरी बात में अपना दुख यह प्रकट किया कि सभा की सारी कार्रवाई इंग्लिश में हुई। वस्तुत: हिन्दी में होना चाहिए था। इसके बाद उन्होंने कहा कि महाराजा ने तथा अन्य राजे-महाराजे एवं विद्वानों ने भारत की गरीबी की बहुत चर्चा की, परन्तु यहां सभा में क्या देखा जा रहा है—शानदार तमाशा, रत्नों एवं आभूषणों का ऐसा प्रदर्शन कि पेरिस का जौहरी भी चौधियां जाये। आभूषणों से लदे ये बड़ी जाति के कहलाने वाले लोगों की तुलना जब मैं गरीबों से करता हूं तो कहने की इच्छा होती है कि भारत का तब तक उद्धार नहीं होगा जब तक आप लोग इसे उतारकर देशवासियों की थाती रूप में उन्हें नहीं लौटाते। "महाशय, जब कभी मैं भारत की किसी महानगरी में एक विशाल महल के निर्माण की बात सुनता हूं, तो मुझे फौरन ईर्ष्या होती है और मैं कहता हूं, अच्छा, यह तो वही रुपया है जो किसानों से आया है।"[1]

गांधी जी ने वाइसराय की सुरक्षा में पूरे बनारस में फैले सिपाहियों की व्यवस्था की निंदा की जिससे शहर की घेराबंदी जैसी कर दी गयी थी। इसके बाद भारत के क्रांतिकारियों की देशभक्ति की प्रशंसा करते हुए उनके हिंसात्मक गतिविधि की आलोचना की। इसे सुनकर एनीबेसेण्ट ने चिल्लाकर कहा "कृपया इसे बंद कीजिए" परन्तु गांधी जी बोलते रहे।

---

1. **तेंदुलकर, महात्मा, खण्ड 1, पृ० 223।**

परिणाम यह हुआ कि दरभंगा महाराजा, एनीबेसेण्ट तथा कई राजे-महाराजे सभा से उठकर चल दिये। पुलिस कमिश्नर ने रात में गाधी को बनारस छोड़कर चले जाने का निर्देश दिया। मालवीय जी के हस्तक्षेप से कमिश्नर मान गया, परन्तु गांधी जी प्रात:काल स्वयं बनारस से चले गये।

10. हिन्दुस्तानी भाषण

गांधीजी ने लखनऊ में कांग्रेस के मंच से जब बोलना शुरू किया तो वे अपनी टूटी-फूटी भाषा में हिन्दुस्तानी (सरल हिन्दी) में भाषण देने लगे। अध्यक्ष ने संकेत किया कि वे इंग्लिश में बोलें, परंतु गांधी जी हिन्दुस्तानी में ही बोलते गये तथा उन्होंने कहा कि मैं अपने श्रोताओं को एक वर्ष देता हूं कि वे हिन्दुस्तानी सीख लें। मैं अब कांग्रेस के मंच से कभी इंग्लिश में नहीं बोलूंगा।

गांधीजी की मातृ-भाषा गुजराती थी और पढ़ाई इंग्लिश में, परन्तु वे जानते थे कि भारत की राष्ट्रीय भाषा हिन्दी ही हो सकती है और भारत की अनेक भाषाओं के बीच सम्पर्क-भाषा होने में हिन्दी ही समर्थ है। वाइसराय ने जब एक सम्मेलन में गांधी जी को बुलाया, तो उन्होंने उसमें हिन्दी में भाषण दिया जो वाइसराय के सामने पहली घटना थी।

11. चंपारन (पश्चिमोत्तर बिहार)

चम्पारन क्षेत्र में अंग्रेज लोग रहते थे। उन्होंने बेतिया के राजा को बातचीत में खुश करके बहुत थोड़ी लगान में बहुत बड़ा भूखण्ड ले लिया था। उसे वे किसानों को लगान पर देते थे और उसमें नील की खेती करने के लिए प्रतिबंधित करते थे। नील पैदा करने में बड़ी मेहनत लगती थी और उस नील को गोरे थोड़े दाम में लेकर इंग्लैण्ड भेजते थे। वहां उन्हें काफी दाम मिलता था।

ये गोरे अंग्रेज किसानों से समय-समय नाजायज रुपये वसूलते थे। इनके कारिंदे गुस्से में किसानों के गांव लूटते थे, स्त्रियों के साथ दुर्व्यवहार करते थे, खड़ी फसल नष्ट करते थे। इन गोरों के सामने कोई भारतीय घोड़े पर नहीं बैठ सकता था, छाता नहीं लगा सकता था। उच्च शिक्षा प्राप्त भारतीय भी इन गोरों के दरवाजों पर घंटों प्रतीक्षा के बाद उनसे मिल सकता था, परंतु गोरों के बैठकखाने में वह बैठ नहीं सकता था। किसानों की कोई सुनने वाला नहीं था; क्योंकि बड़े अफसर सब अंग्रेज थे।

चम्पारन के किसान 'राजकुमार शुक्ल' ने गांधीजी से लखनऊ में चम्पारन के किसानों की विपत्ति बतायी। गांधी जी कुछ दिन में अवसर निकालकर पहले पटना पहुंचे। राजेन्द्र बाबू के घर गये। वे पुरी गये थे। उनके मुंशी ने गांधी जी को घर में प्रवेश नहीं करने दिया। छूत के डर से उन्हें कुएं से पानी नहीं लेने

दिया। गांधी जी मुजफ्फरपुर गये। कृपलानी जी वहां के कालेज में प्रोफेसर थे। उन्होंने प्रिंसिपल से गांधी जी को ठहराने की बात कही। वह अंग्रेज था। उसने इन्कार कर दिया।

वहां के अंग्रेज कमिश्नर ने गांधीजी को धमकाया और कहा कि वे मुजफ्फरपुर शीघ्र छोड़कर चले जायें। गांधीजी ने कहा कि भारत हमारा देश है। हम इसमें कहीं भी रह तथा काम कर सकते हैं। हम चम्पारन अवश्य जायेंगे। गांधी जी चम्पारन पहुंचे। वे गांवों में जाकर किसानों की दशा देखना चाहते थे। जिला मजिस्ट्रेट ने नोटिस जारी की कि गांधी जी चौबीस घण्टे में चम्पारन छोड़कर चले जायें। गांधीजी ने मजिस्ट्रेट को पत्र लिखा कि मैं जो काम करने के लिए आया हूं वह करके ही जाऊंगा। मजिस्ट्रेट ने उनके नाम सम्मन भेजा कि वे अदालत में हाजिर हों।

गांधीजी अदालत में हाजिर हुए। सरकारी वकील ने यह सिद्ध करना चाहा कि गांधी जी ने सरकारी आज्ञा का उल्लंघन करके अपराध किया है। मजिस्ट्रेट और सरकारी वकील समझते थे कि गांधी जी को इसका उत्तर देना पड़ेगा। देखते हैं कि वे अपने आप को कैसे निर्दोष सिद्ध करते हैं। परन्तु बात उलटी हुई। गांधी जी ने कहा कि मैं सरकार की आज्ञा का आदर करता हूं। मैंने आज्ञा भंग की है इसलिए मैं दोषी हूं। मुझे जो दण्ड देना हो दें; परन्तु मैं जिन पीड़ित भाइयों की सेवा में आया हूं उसे बिना किये यहां से नहीं जा सकता; क्योंकि यह पुनीत कर्तव्य है।

मजिस्ट्रेट गांधीजी की उक्त बातें सुनकर दंग रह गया। ऐसा आदमी उसे देखने-सुनने को कभी नहीं मिला था जो अपने बचाव के लिए कोई सफाई न देकर केवल अपने कर्तव्य पर दृढ़ हो।

इधर अंग्रेज सरकार चम्पारन की इस घटना से परिचित हो गयी थी। गांधीजी ने भी इस बात को तार द्वारा वाइसराय, मालवीय जी तथा पटना अपने मित्रों को सूचित कर दिया। गांधी जी के वक्तव्य का प्रचार समाचार-पत्रों द्वारा भारत भर में हुआ। चम्पारन के किसान पुलिस का डर छोड़कर शहर में आने लगे। जो पीड़ित मानवता के लिए स्वेच्छा से कारावास में जाना चाहता हो ऐसे अद्वितीय पुरुष के दर्शन के लिए क्षेत्र के लोग उमड़ पड़े।

सरकार डर गयी। उसने सोचा कि यदि गांधी जी को जेल भेजा गया तो हम भारत ही में नहीं, पूरे संसार में बदनाम हो जायेंगे। अतएव गांधीजी को स्वतंत्र छोड़ दिया गया।

गांधी जी चम्पारन के गांवों में गये। वहां अपनी शिकायत लिखाने तथा उनके दर्शन करने के लिए भीड़ उमड़ पड़ती थी।

गांधीजी के सहयोग के लिए अनेक भारतीय वकील तथा नेता उनके पास आ गये। उच्च श्रेणी के नेताओं के पास उनकी सेवा के लए नौकर रहते थे। गांधीजी ने कहा कि सभी नेता अपने नौकर घर भेज दें और यहां का सारा काम स्वयं मिल-जुलकर करें। गांधीजी ने अहमदाबाद, साबरमती आश्रम से कस्तूरबा को बुला लिया। उन्हें भोजन-भंडार का काम सौंप दिया। गांधी जी के पास एक बड़ा समाज बन गया। गांधी जी ने केवल निलहे गोरों से ही वहां की जनता को नहीं छुड़ाया, किन्तु गांव की सफाई में काम किया। जो कार्यकर्ता पढ़ाने लायक थे, उन्हें गांव के बच्चों को पढ़ाने में लगाया। गांधी जी चाहे शान्ति-निकेतन गये, चाहे अन्य जगह, वे सफाई, शिक्षा, स्वास्थ्य सभी सामाजिक कामों पर कार्रवाई करते थे।

यहां नेता, वकील तथा सामान्य लोग सब काम अपने हाथों करते थे। एक दिन गांधी जी को अपना संदेश-पत्र जिला-मजिस्ट्रेट को भेजना था। यह काम अनुग्रह बाबू तथा कृपलानी जी को सौंपा गया। आगे यही अनुग्रह बाबू मुख्यमंत्री हुए थे। तो अनुग्रह बाबू एवं कृपलानी जी गांधी जी का पत्र लेकर मजिस्ट्रेट के पास गये। वहां के नौकरों ने उनसे पूछा कि आप लोग अंग्रेजी भी जानते हैं? उन लोगों ने नम्रता से कहा ''कुछ टूटी-फूटी''। इतने में एक चपरासी जो उन्हें जानता था उसने कहा—अरे, ऐसा क्यों पूछते हो, ये सब 'एल्ला-बेल्ला'' (एल०एल० बी०) हैं।

गांधीजी का अभियान सफल हुआ। किसान स्वतन्त्र हुए और निलहे गोरे एक वर्ष के भीतर बोरिया-बिस्तर समेटकर इंग्लैण्ड चले गये।

गांधीजी इस समय धोती और कुर्ता पहनते थे, गोरे लोगों ने अपने समाचार पत्रों में इसकी खिल्ली उड़ाई। गांधी जी ने उत्तर दिया—

''मैं चम्पारन में जो पोशाक पहनता हूं उसे भारत में सदा पहनता रहा हूं। श्री इरविन के पत्र की यह ध्वनि है कि मैं चम्पारन में काश्तकारों पर असर डालने के लिए उनके सम्मुख ऐसी पोशाक पहनकर जाता हूं और इसका उपयोग मैं अस्थायी तथा विशेष रूप से चम्पारन में ही करता हूं। तथ्य यह है कि मैं राष्ट्रीय पोशाक इसलिए पहनता हूं कि एक भारतीय के लिए यह अत्यन्त स्वाभाविक और शोभनीय है। मेरा विश्वास है कि यूरोपीय पोशाक की नकल करना हमारे पतन, अपमान और दुर्बलता का चिह्न है और हम अपनी इस राष्ट्रीय पोशाक को छोड़कर राष्ट्रीय पाप कर रहे हैं। भारतीय आबहवा के अनुकूल होने के साथ-साथ यह सादगी, कला और सस्तेपन में दुनिया में अपना सानी नहीं रखती....यदि अंग्रेजों में झूठा घमण्ड और गौरव के झूठे भाव न होते तो उन्होंने भारत में यहां की पोशाक को बहुत पहले ही अपना लिया होता। साथ ही मैं यह भी कहना चाहता हूं कि चम्पारन में मैं नंगे पैर नहीं

जाता। जूते तो मैं धार्मिक कारणों से नहीं पहनता, किन्तु मैं यह भी देखता हूं कि यथासम्भव उन्हें न पहनना अधिक स्वाभाविक और स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद है।''[1]

गांधीजी को चम्पारन से ही लोग महात्मा कहने लगे। इस समय उनकी अवस्था सैंतालीस (47) वर्ष की थी।

12. जलियांवाला बाग

गोरी सरकार भारतीयों पर अनेक काले कानून पास करने वाली थी। इसका कांग्रेसियों ने देश भर में हड़ताल एवं शांति जुलूस से विरोध किया। सरकार उनका दमन करने लगी। पंजाब में भयंकर कांड हुआ। अमृतसर में जलियांवाला बाग में एक विराट सम्मेलन हुआ। इसमें करीब बीस हजार स्त्री, पुरुष और बच्चे इकट्ठे हुए। चारों तरफ से बहुमंजिले मकान थे। उस मैदान में जाने का एक संकीर्ण मार्ग था। इस मार्ग पर जनरल 'डायर' की आज्ञा से सोलह सौ (1600) राउण्ड गोलियां बरसायी गयीं। इसमें सैकड़ों नर, नारी तथा बच्चे मारे गये तथा सैकड़ों घायल हुए। गांधी जी इस घटना को सुनकर हतप्रभ हो गये। यह घटना 13 अप्रैल, 1919 ई० को हुई।

13. असहयोग आन्दोलन

गांधीजी ने असहयोग आंदोलन की घोषणा की। इसमें भारतवासियों को आदेश था कि सरकार के दिये हुए उपाधियों को वापस कर दें, सरकारी संस्थाओं से त्यागपत्र दे दें, सरकारी समारोहों का बहिष्कार करें, विद्यार्थी विद्यालयों तथा वकील अदालतों का बहिष्कार करें, सदस्य विधानसभाओं का बहिष्कार करें, विदेशी सामानों का बहिष्कार करें, सरकार को कर न दें, इसके साथ भारतीय लोग सांप्रदायिक एकता, अछूतोद्धार, खादी, स्वदेशी ग्रामोद्योग, ग्रामीणविकास, राष्ट्रीय शिक्षा, मद्य-निषेध, ग्राम पंचायतों का संघटन आदि रचनात्मक काम करें।

भारत भर में आंदोलन शुरू हुआ। यह घटना 1920 ई० की है। हजारों विद्यार्थी एवं वकीलों ने स्कूल तथा अदालत छोड़कर कांग्रेस का साथ दिया। सरकार द्वारा दमनचक्र शुरू हुआ। करीब बीस हजार आंदोलनकर्ता जेल में डाल दिये गये। गांधीजी पर मुकदमा चला। फैसले के समय अंग्रेज न्यायाधीश ने गांधीजी की बहुत प्रशंसा की, परन्तु उसने उनको छह वर्ष की कड़ी सजा एवं कारावास सुनाया। परन्तु गांधी जी 5 फरवरी, 1924 को जेल से छोड़ दिये गये। वे इस समय दो वर्ष जेल में रहे।

---

1. **कृपलानी कृत महात्मा गांधी, पृष्ठ 67-68।**

14. विदेशी वस्त्रों की होली

गांधीजी ने विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार करने का आह्वान किया और साथ-साथ उसे जलाने का भी। उन्होंने कलकत्ता में अभियान चलाया। लोग उनके आदेशों पर विदेशी वस्त्रों को इकट्ठा कर जलाने लगे। सरकार परेशान हुई।

15. नमक-सत्याग्रह

सरकार का नमक पर काला कानून था। गांधीजी ने इसे तोड़ने के लिए सत्याग्रह करने की ठानी। उन्होंने सरकार को इसका सन्देश दे दिया। चौहत्तर (74) चुनित कार्यकर्ताओं को साथ लेकर गांधी जी ने साबरमती (अहमदाबाद) आश्रम से 12 मार्च, 1930 ई० को प्रस्थान किया। पद-यात्रा थी। रास्ता 385 किलोमीटर था, तब जाकर समुद्र तट पर पहुंचना था। रास्ते में जनता उनके साथ होती गयी। इस क्रम में चार सौ गांव के मुखिया अपने पद को त्यागकर उसमें मिल गये। मार्ग में श्रीमती सरोजनी नायडू भी सम्मिलित हो गयीं। 5 अप्रैल को वे सब समुद्र तट पर पहुंचे। 6 अप्रैल को गांधी जी ने समुद्र तट पर नमक हाथ में उठाया जिसके लिए प्रतिबंध था। वे वहां दलबल सहित 4 मई तक काम करते रहे। वे 4 मई को आधीरात को पकड़ लिये गये और पूना के यरवडा जेल में ले जाकर बन्द कर दिये गये।

देश के विभिन्न क्षेत्रों में आंदोलन हुए। पुलिस ने दमन किया, गोलिया चलायी। लोग मारे गये और करीब एक लाख सत्याग्रही जेल में बन्द कर दिये गये। वल्लभभाई पटेल, सरोजनी नायडू, जयराम दास दौलतराम, मोतीलाल नेहरू, जवाहरलाल नेहरू आदि सब जेल में थे।

मोतीलाल नेहरू बीमार होने से नमक सत्याग्रह में नहीं सम्मिलित हो सके थे। इसलिए उन्होंने अपने घर पर एक स्प्रिटलैम्प के ऊपर एक शीशी की नली में नमक बनाकर कानून भंग किया था। वे भी जेल में डाल दिये गये थे। परन्तु वे ज्यादा बीमार हो गये। सरकार ने उन्हें छोड़ दिया। वे लखनऊ चिकित्सा के लिए लाये गये और 6 फरवरी, 1931 को उनका शरीरांत हो गया। कुछ दिनों के बाद गांधी जी तथा अन्य लोग भी छोड़ दिये गये।

16. पुनः आन्दोलन तथा कारावास

अंग्रेज सरकार भारतीयों का दमन करने में लगी थी। गांधी जी ने पुन: 'सविनय अवज्ञा आंदोलन' शुरू किया। गांधी जी का आन्दोलन द्वेषरहित तथा अहिंसात्मक होता था। वे पुन: गिरफ्तार कर यरवडा जेल में डाल दिये गये। सरदार पटेल, जवाहरलाल नेहरू आदि सारे नेता गिरफ्तार कर लिये गये। जवाहरलाल नेहरू की माता स्वरूपरानी जुलूस के साथ थीं। उनके सिर पर पुलिस की लाठी पड़ी। कस्तूरबा गिरफ्तार कर ली गयीं और बत्तीस हजार लोग जेल में डाल दिये गये।

17. हिन्दुओं की एकता के लिए घोर तप

17 अगस्त, 1932 ई० को अंग्रेज सरकार ने घोषणा की कि भारत में सम्प्रदायों का अलग निर्वाचन होगा। इसके साथ हिन्दुओं में अछूतों को अलग निर्वाचन का अधिकार दिया जायेगा। गांधी जी ने इसका विरोध किया। उन्होंने कहा कि सम्प्रदाय के आधार पर निर्वाचन एकदम गलत है। परन्तु अछूत कहे जाने वाले बन्धुओं को हिन्दुओं से काटकर अलग निर्वाचन का अधिकार देना हम बिलकुल नहीं सहेंगे। इससे अछूतत्व और पक्का हो जायेगा। गांधी जी ने इसके विरोध में आमरण अनशन करने की घोषणा की। इंग्लैण्ड में इसकी प्रतिक्रिया हुई कि गांधी जी दबाव डालकर राजनीतिक लाभ लेना चाहते हैं। गांधी जी ने कहा कि मेरा अनशन अंग्रेजों को दबाने के लिए नहीं, किन्तु हिन्दुओं को जगाने के लिए है।

जब गांधी जी अफ्रीका में थे तथा कांग्रेस से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था, तभी अर्थात सन् 1909 ई० में ही ब्रिटिश शासन ने मुसलमानों के अलग निर्वाचन अधिकार का वातावरण बना दिया और 1917 ई० में कांग्रेस-लीग ऐक्ट में उन्हें अलग निर्वाचन अधिकार मिल गया था। यह सब लोकमान्य तिलक के कार्यकाल में हुआ था। इसी प्रकार डॉ० भीमराव अम्बेडकर चाहते थे कि अछूत कहे जाने वाले लोगों का अलग निर्वाचन अधिकार हो। इसमें कोई डॉ० अम्बेडकर को दोषी ठहरा सकता है कि जैसे जिन्ना भारत को तोड़कर पाकिस्तान बनाना चाहते थे, वैसे अम्बेडकर भारत को तोड़कर अछूतिस्तान बनाना चाहते थे। परन्तु जब हम डॉ० अम्बेडकर के दिल में बैठकर सोचें तब कुछ अन्य ही विचार उदय होगा। किसी अपनी मानी हुई परम्परा में रहकर क्या लाभ है जहां सदैव पशु से भी अधिक तिरस्कृत होकर रहना पड़े। जब हिन्दू नामधारी अपने ही एक वर्ग को अछूत मानकर उसकी हर बात में उपेक्षा करता है तब वह हिन्दुओं में क्यों बना रहे। डॉ० अम्बेडकर ने अछूत कहे जाने वाले लोगों का अलग निर्वाचन अधिकार मांगकर हिन्दुओं को जोर से झकझोर दिया। गांधीजी इस बात को ज्यादा समझते थे इसलिए वे सर्वाधिक पीड़ित हो गये। अंग्रेज तो चाहते ही थे कि हम भारत को जितना बन सके अधिक टुकड़े-टुकड़े करके तथा उसे दुर्बल बनाकर इंग्लैण्ड जायें।

गांधी जी ने कहा कि मैं अंग्रेजों की यह चाल नहीं चलने दूंगा। कम-से-कम जो हिन्दू हैं, किन्तु भूल से अछूत कहे जाते हैं उनको मैं हिन्दू से अलग नहीं होने दूंगा। अछूत भावना तो सवर्णों का दिया हुआ पाप है। इसको उन्हें धोना है। गांधी जी अपने कैशोर से ही छुआछूत नहीं मानते थे, अब इसको लेकर इनका मन काफी मथ उठा।

गांधीजी ने यरवडा जेल में ही 20 सितम्बर, 1932 ई० से अनशन शुरू कर दिया। राजेंद्रबाबू, राजा जी आदि कई नेता जेल से अभी बाहर थे। उन्होंने सवर्ण कहे जाने वाले हिन्दुओं से अपील की कि वे अपने मंदिर अछूत कहे जाने वाले बंधुओं के लिए खोल दें और छुआछूत का कलंक हिन्दू-समाज से धो देने का प्राणपण से प्रयत्न करें। अछूतों के एक नेता ए० जी० राजा थे। उन्होंने डॉ० अम्बेडकर के नेतृत्व को अस्वीकार कर दिया और सम्प्रदाय तथा जाति के नाम पर लिए हुए निर्णय की निन्दा की।

इलाहाबाद, वाराणसी, कलकत्ता और देशी रियासतों के सैकड़ों मंदिर अछूत कहे जाने वाले भाइयों के लिए खोल दिये गये। जगह-जगह सवर्ण कहे जाने वाले लोगों का अछूत कहे जाने वाले लोगों के साथ समारोह, सहभोज होने लगे। गांधीजी के अनशन ने भारत के सवर्ण कहे जाने वाले लोगों को हिला दिया। साथ-साथ दूसरे वर्ग के लोग तथा गोरी सरकार भी स्तम्भित रह गयी।

डॉ० अम्बेडकर भी हिन्दू-हृदय के थे, देशभक्त थे। वे देश को तोड़ना नहीं चाहते थे, केवल दलितवर्ग का अधिकार उसे दिलाना चाहते थे। अन्तत: गांधी-अम्बेडकर समझौता हुआ और दलितवर्ग के लिए विधानसभाओं में 147 सीटें सुरक्षित कर दी गयीं। 25 सितम्बर को समझौता हुआ और 26 सितम्बर को लंदन और दिल्ली में सरकार ने इसकी स्वीकृति दे दी। गांधी जी ने उसी दिन अपना अनशन समाप्त कर दिया। गांधीजी की इस सफलता पर जवाहरलाल नेहरू ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की। ''कैसा जादूगर है! मैंने सोचा था कि यह यरवडा जेल में बैठा एक लघु मानव है। और उसे कितनी कुशल जानकारी इस बात की थी कि किस तरह लोगों की हृदयतंत्री के तार बजाये जाते हैं।[1]

18. हरिजन आंदोलन

गांधीजी ने इस घटना के बाद अछूत कहे जाने वलो बंधुओं को 'हरिजन' कहना आरम्भ किया। उन्होंने कारावास में रहते हुए भी हरिजनों के उद्धार के लिए बड़े जोरों से काम शुरू कर दिया। उन्होंने इसके लिए एक संस्था बनायी जिसका अध्यक्ष घनश्यामदास बिड़ला थे और मंत्री ठक्कर बापा। गांधीजी ने कहा कि मैं अस्पृश्यता का समूल नाश करने के लिए कटिबद्ध हूं। उन्होंने कहा कि हिन्दू समाज के मूल ग्रन्थों में कहीं भी छूआछूत की बात नहीं है। कवींद्र रवींद्रनाथ ठाकुर ने गांधीजी का जोरदार समर्थन किया। कांग्रेस के सभी नेता एवं तथाकथित सवर्णों में अगणित लोग गांधी जी का साथ दिये। भारत भर में

---

1. **कृपलानी कृत महात्मा गांधी, पृष्ठ 152।**

अछूतत्व को मिटाने के लिए अभियान चलने लगा। 'अस्पृश्यता निवारण सप्ताह' पूरे भारत में मनाया गया। इससे संकुचित हृदय के ज्ञानहीन हिन्दू क्रोध से आगबबूला हो गये। गांधी जी ने फरवरी 1933 ई० से 'हरिजन' नाम का पत्र निकालना आरम्भ किया, जिससे अस्पृश्यता-निवारण आंदोलन में बल मिला।

गांधी जी चाहते थे कि हरिजनों को नागरिक एवं सामाजिक अधिकार मिलने के साथ-साथ उनका मंदिरों में भी प्रवेश हो। डॉ० अम्बेडकर तथा समाजवादी नेता उनके मंदिर प्रवेश को उतना महत्त्व नहीं देते थे। वे चाहते थे कि उनकी नागरिक तथा सामाजिक योग्यताएं बढ़ाई जायें। परन्तु गांधी जी समझते थे हरिजनों के मंदिर प्रवेश से उन्हें आत्मबल मिलेगा।

छुआछूत के जिस महापाप को बुद्ध, महावीर, कबीर, नानक आदि ने ढाई हजार वर्षों से काटने का प्रयत्न किया है, वह गांधी जी के समय तक भी बहुत जड़दार था। उन्होंने इसकी भयंकरता समझी और हिन्दुओं की अन्तरात्मा को जगाने के लिए 8.5.1933 को इक्कीस (21) दिन का अनशन घोषित कर दिया। परन्तु वे उसी दिन जेल से छोड़ दिये गये। उन्होंने जेल से निकलकर लेडी 'थैकरसे' की पर्णकुटी में इक्कीस दिन का अनशन पूरा किया।

जातिगत छुआछूत की भावना से पैदा हुए पाप को गांधी और अंबेडकर ने समाप्त करने का प्रयास किया। इसके लिए गांधी जी ने अपनी तपस्या से सवर्ण कहे जाने वाले लोगों में विवेक एवं उदारता पैदा किया और अम्बेडकर ने दलितवर्ग में उनका स्वाभिमान जगाया, जिससे वे अपना महत्त्व समझ सकें। ये दोनों महापुरुषों के काम एक दूसरे के पूरक हैं।

19. हरिजन आंदोलन में दौरा

गांधीजी साबरमती आश्रम (अहमदाबाद) आ गये। सेठ जमनालाल बजाज का आग्रह था कि गांधी जी वर्धा चलें। अत: गांधी जी साबरमती आश्रम 'हरिजन सेवक संघ' को देकर वर्धा आ गये और वहां सेगांव नाम के गांव में आश्रम स्थापित किया और उसे सेवाग्राम नाम दिया। इसके बाद वे भारत भर में हरिजन-उद्धार के लिए दौरा करने लगे। डॉ० अम्बेडकर के अनुगामी गांधीजी की यह मानकर आलोचना करते थे कि वे हमें (दलितों को) सवर्ण हिन्दुओं का दास बनाकर रखना चाहते हैं, और संकुचित विचार के सवर्ण हिन्दू नामधारी गांधी को यह मानकर गाली देते थे कि वे हिन्दू-धर्म का नाश कर रहे हैं। इस प्रकार गांधी जी पर दोनों तरफ से पथरझोर पड़ रहा था। संकीर्ण मन के हिन्दुओं ने गांधीजी को जगह-जगह काले झण्डे दिखाये। उनकी सभाओं के वातावरण खराब करने की चेष्टा की, समाचार-पत्रों में विवाद उठाया। यहां तक कि पूना की तरफ उन पर बम फेंका गया, परन्तु वे बच

गये। उनके कुछ साथी घायल हो गये। गांधी जी ने कहा—''मैं शहीद होने के लिए लालायित नहीं हूं, परन्तु यदि उस धर्म की रक्षा के कर्तव्य-पालन में, जो करोड़ों हिन्दू भाइयों की तरह मेरा धर्म है, यह मुझे प्राप्त होना है, तो मैं सचमुच इस पद का अधिकारी होऊंगा।''[1]

20. बिहार का भयंकर भूकम्प

15 जनवरी, 1934 ई० को उत्तर बिहार में भयंकर भूकंप आया, जिसमें 77, 700 वर्ग किलोमीटर का क्षेत्रफल प्रभावित हुआ। इस क्षेत्रफल में डेढ़ करोड़ आदमी बसते थे। इस भूकम्प में जमीन ऐसी फटी कि साठ (60) मीटर लम्बी तथा दस (10) मीटर गहरी तक दरारें पड़ गयीं। जमीन की उथल-पुथल से कई जगह धरती के भीतर की बालू ऊपर आकर ढेर बन गयी, कुआं-तालाब, बालू से पट गये। हजारों एकड़ जमीन खेती लायक नहीं रह गयी। दस लाख मकान नष्ट हो गये और हजारों लोगों की जानें गयीं। डेढ़ हजार किलोमीटर लम्बी रेल की पटरियां मुड़कर विचित्र स्थिति में हो गयीं।

इस भयंकर भूकंप से वहां की जनता बेहाल हो गयी। बाहर के लोग स्तंभित रह गये। सरकार भी किकर्तव्यविमूढ़ हो गयी। राजेन्द्र बाबू जेल में थे। सरकार ने उन्हें छोड़ दिया, जिससे वे पीड़ित उत्तर बिहार की सेवा कर सकें। गांधीजी पीड़ितों के लिए धन बटोरने लगे और मार्च 1934 में बिहार पहुंचे। गांधीजी इस समय अछूतोद्धार की भावना से ज्यादा प्रभावित थे, अत: उन्होंने भावना में आकर एक भावुक स्टेटमेंट दे डाला—''यह भूकंप अछूत कहे जाने वाले लोगों के प्रति किये गये पाप का प्रतिशोध है।'' इसकी प्रतिक्रिया में शिक्षित समुदाय एवं रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी अपने-अपने वक्तव्य दिये। उन्होंने कहा कि यह प्रकृति की कारण-कार्य-व्यवस्था की व्याख्या के विपरीत अन्धविश्वास एवं अविवेक को बढ़ावा देना है। और फिर छूआछूत के पाप के फल को भोगने के उत्तराधिकारी एकमात्र उत्तरी बिहार के लोग ही नहीं थे जिसमें कि बेचारे तथाकथित अछूत भी थे।

गांधीजी प्रभावित क्षेत्र का दौरा करके सेवा का काम करते थे और छुआछूत छोड़ने की राय देते थे। उनके दर्शन करके जनता को शान्ति मिलती थी। वे जहां जाते थे वहां जनता उमड़ पड़ती थी। सब लोग उनके चरणों तक नहीं पहुंचते थे। इसलिए लोगों ने उनके चरण-स्पर्श का एक विचित्र तरीका भी निकाला। लोग दूर से भीड़ के पैरों के बीच में अपनी लाठी डालकर गांधीजी के पैरों में छुआते थे। इससे वे मान लेते थे कि हमने उनके चरण-स्पर्श कर लिए। इससे गांधीजी के पैर छिल जाते थे।

---

1. **वही, पृष्ठ 158।**

21. अहिंसात्मक आंदोलन तथा जनजागरण

गांधीजी तथा राजनीतिक नेतागण अनेक बार जेल गये, सताये गये और प्रताड़ित किये गये, परन्तु वे अपना आन्दोलन अहिंसात्मक ढंग से चलाते रहे। जब विलायत की अंग्रेज सरकार यूरोप के युद्ध में फंस गयी थी तब गांधी जी ने अपना आंदोलन छोड़कर सरकार की सहायता की थी। गांधीजी कहते थे कि हमें भारत को स्वतन्त्र कराना है, अंग्रेजों को कष्ट नहीं देना है। वे सदैव अहिंसा पर जोर देते थे। इसलिए जो अपने आप को गांधी का शत्रु मानते थे वे भी उनसे आश्वस्त रहते थे और उनका आदर करते थे। गांधीजी का सारा सत्याग्रह और गतिविधि यहां लिखना असंभव है।

22. अंग्रेजो, भारत छोड़ो

गांधीजी ने सन् 1942 ई० में घोषणा की ''अंग्रेजो, भारत छोड़ो'' और उन्होंने भारतवासियों से कहा ''करो या मरो'' अर्थात भारत को स्वतन्त्र करो और यदि इसके लिए मरना पड़े, तो मर जाओ। परन्तु उन्होंने अंग्रेजों एवं किसी विरोधी को मारने की बात नहीं कही।

गांधीजी सहित करीब सारे नेता और सत्याग्रही कार्यकर्ता गिरफ्तार कर लिए गये। इसके विरोध में भारत भर में उग्र जन-विद्रोह हुआ। जमशेदपुर में टाटा इस्पात कारखाने के श्रमिकों ने नेताओं एवं सत्याग्रहियों की गिरफ्तारी के विरोध में पन्द्रह दिनों की हड़ताल कर दिया। विश्वविद्यालय के 80 प्रतिशत छात्रों ने पढ़ना बन्द कर दिया। छात्रों ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय परिसर के दरवाजों को बन्द कर पुलिस का आना रोक दिया और संगठन बनाकर विश्वविद्यालय में अधिकारियों का आना रोक दिया।

गोरी सरकार ने क्रूर दमनचक्र शुरू किया। दिल्ली, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, मैसूर, पंजाब, कलकत्ता, मेदनीपुर आदि में पुलिस ने सत्याग्रही जनता पर गोलियां चलायीं, जिसमें एक हजार से अधिक लोग मारे गये तथा तीन हजार से अधिक लोग घायल हुए।

शासन के अत्याचार से जनता भड़क गयी और वह तोड़फोड़ तथा हिंसा पर उतर आयी। जनता ने कई पुलों, पुलिस स्टेशनों, रेल की पटरियों, तार के खंभों को नष्ट किया एवं उखाड़ा। मेदनीपुर तथा चौबीस परगना के करीब तीस हजार लोग जिनमें राष्ट्रवादी भी सैकड़ों थे, अंग्रेज-सेना के डर से एक निचली भूमि वाले टापू में शरण लिये। यहां संयोग से समुद्री तूफान आ गया। इसमें सबके प्राण संकट में आ गये। गोरे अफसरों ने इनकी सहायता नहीं करनी चाही। परन्तु कांग्रेस द्वारा उनकी कुछ सहायता हुई।

मध्य प्रदेश के चांदा जिले में चमूर नामक एक बड़े गांव में चार अफसरों की हत्या कर दी गयी। सरकार ने इसके बदले में इस गांव पर सामूहिक

जुर्माना किया, बीस को फांसी तथा छब्बीस को आजीवन कारावास दिया और पुलिस ने साठ स्त्रियों का सतीत्व नष्ट किया।

गांधीजी किसी भी आन्दोलन में हिंसा और सार्वजनिक संपत्ति की क्षति करने के विरुद्ध थे। परन्तु भीड़ को सम्हालना कठिन होता है। फिर वे जेल में थे। यदि गांधीजी जेल के बाहर होते तो वे इन सब बातों को रोकते। यदि जनता न मानती, तो वे अनशन शुरू कर देते। परन्तु वे जेल में बन्द थे।

गांधीजी का पत्राचार वाइसराय से होता रहता था, परन्तु कोई फल नहीं मिलता था। अंग्रेजों का काम था फूट डालना और राज्य करना। उन्होंने जब मजबूर होकर जिस देश को छोड़ा है तब उसे तोड़कर। आयरलैण्ड, फिलिस्तीन, साइप्रस तथा अफ्रीका के अनेक देशों के साथ उन्होंने यही किया।[1] वाइसराय ने गांधी जी के विचारों को छलपूर्ण कहा। अन्ततः गांधीजी ने जेल में ही 10 फरवरी, 1943 को इक्कीस दिन का अनशन शुरू कर दिया। इसके समर्थन में वाइसराय की कार्यकारिणी परिषद के सदस्य श्री एच० पी० मोदी, श्री नलिन रंजन सरकार तथा श्री माधव, श्री हरि अणे ने इस्तीफा दे दिया। गांधीजी का स्वास्थ्य गिरता गया। गांधी जी को जेल से मुक्त कराने के लिए दिल्ली में निर्दलीय नेताओं का सम्मेलन हुआ। गांधी जी ने इक्कीस दिन का उपवास पूरा कर लिया।

गांधीजी की पत्नी कस्तूरबा भी जेल में बन्द थीं। उनका अपने पति के पास ही 22 फरवरी, 1944 ई० को शरीरांत हो गया। गांधीजी अस्वस्थ हो गये। अतः वे बिना शर्त 6 मई, 1944 ई० को छोड़ दिये गये।

गांधीजी जेल से छूटने के बाद बम्बई में जिन्ना के घर पर उनसे मिले, परन्तु जिन्ना ने उनकी बात पर ध्यान नहीं दिया। जिन्ना पाकिस्तान बनाना चाहते थे, धीरे-धीरे कट्टर मुसलमान गांधी जी को मुसलमानों का दुश्मन मानने लगे और कट्टर हिन्दू उन्हें हिन्दुओं का शत्रु।

2 अक्टूबर, 1944 ई० को सेवाग्राम में गांधीजी की जयंती मनायी गयी। श्रीमती सरोजनी नायडू ने गांधी जी के मस्तक पर कुमकुम का तिलक लगाया और ठक्कर बापा ने उन्हें पैंतालीस लाख रुपये की थैली भेंट की जो कस्तूरबा की स्मृति में इकट्ठा किया गया था। गांधी जी ने इसका ट्रस्ट बना दिया जो ग्रामीण क्षेत्रों के स्त्रियों और बच्चों की सेवा करता रहे।

सुभाष बाबू ने भारत को आजाद करने के लिए विदेश में ''आजाद हिन्द फौज'' का संघटन किया था। गांधी जयंती के उक्त अवसर पर उन्होंने रंगून में तिरंगा झंडा फहराया और भाषण में कहा—''राष्ट्रपिता गांधी जी! हिन्दुस्तान की

---

1. **वही, पृष्ठ 216।**

आजादी की इस लड़ाई में हम आपसे आशीर्वाद मांगते हैं।''[1] यह गांधी जयंती पूरे भारत में तथा संसार के अनेक हिस्से में मनायी गयी।

23. विभाजन पूर्व दंगे

मुसलिम लीग के नेता सुहरावर्दी बंगाल के तात्कालिक मुख्यमंत्री थे। वे सिद्धान्तहीन और निर्दय थे। उन्होंने सुनियोजित ढंग से बाहर से मुसलमानों को बुलाकर कलकत्ता में दंगा करवाया। यह 16 अगस्तर, 1946 ई० को शुरू हुआ और दो दिन चलता रहा। इसमें बहुत हिन्दू मारे गये और उनकी संपत्ति नष्ट की गयी। गोरी केन्द्र सरकार ने जब कोई रक्षात्मक सहायता नहीं की, तब हिन्दू समाज संघटित होकर मुसलमानों से बदला लेने लगा। जब मुसलमान मारे जाने लगे, तब वाइसराय ने हस्तक्षेप किया। इसमें दोनों तरफ के पांच हजार स्त्री, पुरुष एवं बच्चों की जानें गयीं तथा पन्द्रह हजार घायल हुए।

इसके बाद 10 अक्टूबर को नोआखाली में भयंकर दंगा हुआ। जिसमें मुल्ला लोग साथ में रहकर जेहाद बोलते थे, और इस प्रकार वहां गांव-के-गांव हिन्दू तबाह हो गये। नोआखाली का दंगा भयंकर था। वहां पुरुष मारे गये, स्त्रियों का चरित्र हनन हुआ, बलात मुसलमान बनाया गया आदि।

गांधीजी की आज्ञा से जीवतराम भगवानदास कृपलानी तथा सुचेता कृपलानी पहले नोआखाली गये थे। कृपलानी जी ने दिल्ली लौटकर गांधी जी को सब विवरण दिया, परन्तु सुचेता कृपलानी नोआखाली में ही पीड़ितों की सेवा में रह गयी थीं। उन्होंने एक शीशी संखिया अपने पास रख लिया था कि इज्जत पर आंच आने पर जीवन समाप्त किया जा सके। गांधीजी नोआखाली गये। उन्होंने गांव-गांव घूमकर राहत कार्य शुरू करवाया तथा साम्प्रदायिक सौहार्द की महत्ता बतायी।

नोआखाली में ज्यादा तो हिन्दू पीड़ित हुए थे, परन्तु मुसलमान भी तबाह हुए थे। यह शैतानियत ऐसी है कि सबका नुकसान करती है। सुचेता कृपलानी दोनों वर्ग के पीड़ितों की सेवा में लगी थीं। जब गांधीजी पहुंचे तब उन्होंने सुचेता कृपलानी से पूछा कि जिनको सहायता दी गयी है, उनसे कुछ काम लिया गया है? सुचेता ने कहा नहीं, मैं इतना काम कहां दे पाती! और एक पीड़ित नारी गोद में बच्चा लेकर आये तो मैं उसे क्या तुरन्त भोजन या वस्त्र न दूं?

गांधीजी ने कहा ''अपना मन पत्थर का बना लो और उसको चाहे हलका काम दो, परन्तु कुछ काम दो। तुमने लोगों से बिना कुछ काम लिये जो सहायता की, वह अनुचित हुआ। उनका सर्वस्व लुट गया है, उनका स्वाभिमान

---

1. **वही, पृष्ठ 226।**

भी न लुटने दो।'' यह था गांधीजी का रचनात्मक सिद्धान्त।

उन्होंने जो लोग गांव छोड़कर भाग गये थे उन्हें समझाकर गांवों में भेजा और कहा कि तुम लोग कायर मत बनो, अपने घर में रहो। गांधीजी जी गांव-गांव नंगे पांव चलते थे। सुचेता कृपलानी ने पूछा कि आप चप्पल क्यों नहीं पहनते हैं। गांधी जी ने कहा कि मेरे लिए यहां ऐसा ही चलना ठीक है। अपने लोगों द्वारा किये गये पाप का प्रायश्चित कर रहा हूं। गांधीजी गांव-गांव में बताते थे कि राम-रहीम एक है।

गांधी जी कुछ महीने नोआखाली में रहकर बिहार गये, क्योंकि वहां भी 25 नवम्बर, 1946 ई० से दंगा शुरू हो गया था। यहां हिन्दुओं द्वारा मुसलमान तबाह किये गये थे। जैसे नोआखाली में हिन्दुओं की दुर्गति हुई, वैसे बिहार में मुसलमानों की। गांधीजी ने बिहार में भी आकर उनमें शान्ति का काम किया।

इसके पहले ही पंजाब के थोवा खालसा गांव में बहुत-से हिन्दुओं और सिखों को लूटकर उन्हें मार डाला गया था। जब हिन्दू और सिख मुसलमानों से लड़कर मर गये, तब बच्चों सहित चौहत्तर स्त्रियों ने श्रीमती लाजवंती के नेतृत्व में जपुजी का पाठ करते हुए कुएं में कूदकर आत्मविसर्जन किया।[1] वस्तुतः ये सारे दंगे मुसलिम लीग की क्रूरता के फल थे। ये शीघ्र पाकिस्तान चाहते थे, परन्तु उसे देना न कांग्रेस के वश की बात थी और न हिन्दुओं के वश की। सारे दंगे पहले मुसलिम लीगियों ने मुसलमानों से शुरू करवाये। पीछे जहां हिन्दू समर्थ थे वहां उन्होंने प्रतिक्रियास्वरूप वही किया। किन्तु चाहे हिन्दू हों या मुसलिम, जो सज्जन थे, दोनों वर्गों की उन्होंने रक्षा की। हिन्दुओं ने मुसलमानों की रक्षा की तथा मुसलमानों ने हिन्दुओं की। साधारण हिन्दू-मुसलमान परस्पर प्रेम से रहना चाहते हैं। ये राजनीतिबाज लोग अपने स्वार्थ के लिए दोनों को आग में झोंकते हैं।

24. देश विभाजन और स्वतन्त्रता

मिस्टर जिन्ना के नेतृत्व में अधिकतम मुसलमानों ने पाकिस्तान बनने का समर्थन किया। अंग्रेज तो भारत को काटना चाहते ही थे। जब यह बात गांधीजी के सामने आयी तब गांधी जी ने कहा कि पहले मुझे काट दो, तब भारत को काटो, परन्तु होनी बलवान होती है। भगवान कृष्ण न महाभारत युद्ध रोक सके और न उसके छत्तीस वर्ष बाद यादवों का सर्वनाश! जवाहर, पटेल तथा कोई भी नेता देश-विभाजन नहीं चाहते थे। परन्तु जब नेताओं ने देखा कि विभाजन अवश्यंभावी है, तब उन्होंने इसका कड़वा घूंट पीया और पाकिस्तान बन गया।

---

1. **वही, पृष्ठ 276।**

विभाजन से उत्पन्न समस्या से निपटने के लिए गांधी जी कलकत्ता तथा नोआखाली के लिए चल दिये। जब 15 अगस्त, सन् 1947 ई० को भारत स्वतन्त्र हुआ तब गांधी जी कलकत्ता में थे। उन्होंने वहीं स्वतंत्रता दिवस मनाया। उन्होंने उस दिन उपवास, प्रार्थना तथा गीतापाठ किया।

पश्चिमी पाकिस्तान से मुसलमानों के क्रूर व्यवहार से हिन्दू, सिख आदि भागने लगे। वे लूट लिए जाते थे, मार दिये जाते थे। उसकी प्रतिक्रिया में पूर्वी पंजाब में हिन्दुओं द्वारा मुसलमानों का उत्पीड़न शुरू हुआ। वही विपत्ति मुसलमानों पर आयी, जो हिन्दुओं पर थी। गांधीजी पंजाब जाना चाहते थे परन्तु नेहरू और पटेल ने उन्हें रुकने के लिए प्रार्थना की। वे नहीं चाहते थे कि पाकिस्तान से भारत आने वाले दुख में विक्षिप्त लोगों से उनका सामना हो जाये। उन्होंने अपने शासन-बल से स्थिति से निपटने तथा समस्या सुलझाने का प्रयत्न किया। गांधीजी की आवश्यकता बंगाल में ज्यादा थी।

कलकत्ता तथा बंगाल के अन्य क्षेत्रों में हिन्दू-मुसलिम दंगे चल रहे थे। गांधीजी ने उसे रोकने के लिए अनशन शुरू कर दिया। इसका सभी वर्गों पर गहरा प्रभाव पड़ा। हिन्दू, मुसलमान, सिख आदि के लोग दल-के-दल गांधी जी के पास आकर अहिंसा का आश्वासन देने लगे और उनसे अपना अनशन तोड़ने के लिए अनुरोध करने लगे।

गांधीजी दिल्ली आये। वे शरणार्थियों की शिविरों में उन्हें देखने गये जिनमें हिन्दू और मुसलमान दोनों पड़े थे। एक शिविर में पहुंचते ही गांधीजी पर गालियों की बौछारें पड़ने लगीं। यह गाली बीस मिनट तक चलती रही। गांधीजी ने सिर झुकाकर नम्रता से उसे सहा और कहा—"इन्हें गुस्सा होने का अधिकार था। ये ही तो असली दुख उठाने वाले थे। मुझे खुशी है कि इन्होंने अपना गुस्सा मेरे ऊपर उतारा। यह अच्छा ही हुआ।"[1]

25. अन्तिम दिन

भारत स्वतंत्र हुआ। कांग्रेस ने देश का शासन सम्हाला। जवाहरलाल तथा सरदार पटेल में विचार-भिन्नता बढ़ रही थी। सरदार और मौलाना आजाद भी एक-दूसरे से दूर होते जा रहे थे। गांधीजी की बातों पर नेता लोग कम ध्यान देने लगे। श्री कृपलानी जी लिखते हैं कि गांधीजी ने मुझसे कहा—"जवाहरलाल कम-से-कम मुझे समझने की कोशिश करते हैं, भले ही वे मेरी सलाह न मानें, परन्तु बल्लभ भाई समझते हैं कि मैं बुड्ढा हो गया हूं और वस्तुस्थिति समझने में असमर्थ हूं।"[2]

---

1. वही, पृष्ठ 303।
2. वही, पृष्ठ 308।

देश का बटवारा, हिन्दू-मुसलिमों का पारस्परिक रक्तपात, नेताओं द्वारा अपनी कुछ उपेक्षा की स्थिति उपस्थित होने से गांधीजी मन से पीड़ित थे। उन्होंने कहा—"यदि किसी ने अपने को प्रभु में पूरी तरह विलीन कर दिया है, तो वह निश्चिंत होकर अच्छाई और बुराई, सफलता और विफलता को प्रभु पर छोड़, किसी बात की चिंता नहीं करेगा। मुझे ऐसा लगता है कि मैं उस अवस्था को नहीं पहुंचा और इसीलिए मेरी तपस्या अधूरी रही।"[1]

हिन्दू और मुसलमानों के वैमनस्य मिटें और वे परस्पर प्रेम से रहें, इस हितचिंतन में गांधी जी ने दिल्ली में 13 जनवरी, 1948 को अनशन शुरू कर दिया। इससे प्रभावित होकर हिन्दू, सिख तथा मुसलमान उनके पास आकर उन्हें परस्पर प्रेम से रहने का आश्वासन देने लगे। वातावरण काफी शान्त हो गया। अतएव गांधी जी ने 18 जनवरी को अपना अनशन समाप्त कर दिया।

26. हे राम!

जो ऊपर उपवास की बात कही गयी है वह समय था। मंत्रिमण्डल की बैठक गांधी जी की शय्या के पास हुई। भारत और पाकिस्तान के बटवारे में भारत के हिस्से में अचल सम्पत्ति कुछ अधिक आयी थी इसके बदले में भारत ने पाकिस्तान को पचपन (55) करोड़ रुपये देने के लिए वचन हारा था। गांधीजी ने उसे दिलाया। यदि वे ऐसा न करते तो पाकिस्तान इस बात को राष्ट्रसंघ में ले जाता। रुपये तो अन्त में देने ही पड़ते। फजीहत अलग से होती। अतएव यह हस्तान्तरण बटवारे का ऊंचा आदर्श था। परन्तु इसको लेकर कट्टरवादी हिन्दू बहुत क्रुद्ध हो गये। ये लोग गांधीजी के लिए जगह-जगह 'विषवमन' करने लगे। इन लोगों का विचार हुआ कि गांधी को समाप्त करके ही देश की भलाई है।

महाराष्ट्र और ग्वालियर के कुछ षड्यंत्रकारियों ने मिलकर एक मदनलाल नामक व्यक्ति को गांधीजी की हत्या करने के लिए तैयार किया। उसने 20 जनवरी को गांधीजी की प्रार्थना-सभा में बम फेंका। इसमें गांधीजी बच गये, केवल बिड़लाभवन के एक प्राचीर की क्षति हुई, मदनलाल पकड़ा गया। गांधीजी ने सरकार से कहा कि उसे क्षमा कर दिया जाये।

षड्यंत्रकारियों का षड्यंत्र चलता रहा। बम्बई-सरकार तथा दिल्ली-सरकार को यह सूचना मिल रही थी कि गांधीजी की जान लेने के लिए लोग षड्यंत्र रच रहे हैं, परन्तु सरकार ने इसे गंभीरता से नहीं लिया, जबकि 20 जनवरी को उन पर बम फेंका जा चुका था। गांधीजी तो निर्भय थे। उन्हें अपने माने हुए शरीर के छूटने की कोई चिंता नहीं थी। 30 जनवरी, 1948 ई० को एक

---

1. **वही, पृष्ठ 308-309।**

विक्षिप्त हिन्दू नामधारी ने प्रार्थना-सभा में गांधीजी को गोली मार दी। गांधीजी के अन्तिम शब्द थे—हे राम!

27. हानि किसकी हुई?

सद्गुरु कबीर की साखी है—"जो ऊगै सो आथवै, फूलै से कुम्हिलाय। जो चूने सो ढहि परे, जन्मै सो मरि जाय।" गांधीजी अठहत्तर (78) वर्ष से ऊपर के हो चुके थे। जब बच्चे और जवान मरते हैं तब 78 वर्ष के बूढ़े कब तक रहते। गांधीजी की हत्या से उनकी तो कोई हानि नहीं हुई, प्रत्युत सत्य और अहिंसा के लिए अपने आप की बलि देकर वे इतिहास के पन्ने में चमकदार और अमर हो गये। हानि तो उस हत्यारे और षड्यंत्रकारियों की हुई जिन्होंने अपने मन को एक महात्मा की हत्या कर गंदा किया। और उस पवित्र हिन्दू-समाज के मस्तक पर सदैव के लिए कलंक का टीका लग गया, जो जातीय गंदगी में लिपटे होने पर भी अपनी वैचारिक उदारता के लिए इतिहास में प्रसिद्ध है। कैसा संसार है, हिन्दुत्व का केवल दंभ रखने वाले ने सच्चे हिन्दुत्व का नक्शा तोड़ दिया। हम ऐसे नालायक ठहरे कि जिन्होंने अपने आप को तिल-तिल गलाकर हमें स्वतन्त्रता दिलायी, उन्हीं के हम घातक हुए।

गांधीजी की हत्या पर सारा संसार रो दिया। भारत में तो कुहराम मच गया। हिन्दू-समाज में अपने स्वजन के मरने के तेरहवें दिन भोज करते हैं जिसे तेरही कहते हैं। गांधीजी की तेरही भारत के गांव-गांव तथा मोहल्ले-मोहल्ले में हुई। जब तक संसार का इतिहास रहेगा, तब तक गांधी जी के प्रकाश-पुंज जीवन तथा उनकी वाणी से संसार प्रेरणा लेता रहेगा।

28. सत्य गरिष्ठ होता है

गरिष्ठ खाद्य सब नहीं पचा पाते, फिर भी उसके पचाने वाले बहुत हैं, परन्तु सत्य अत्यन्त गरिष्ठ होता है। उसको पचाने वाले बहुत कम होते हैं। गांधीजी के जीवन और मिशन सत्य और अहिंसा पर आधारित थे, और ऐसा तत्त्व सार्वभौमिक होता है। इसे छोटे दिल वाले नहीं पचा पाते।

जो एक वर्ग की बात करता है वह उसका मसीहा बन जाता है, परन्तु जो वर्गविहीन पूरी मानवता की बात करता है उसे वर्गवादी बुद्धि वाले नहीं समझ पाते। इसी का फल है कि कट्टर मुसलमान गांधीजी को अपना शत्रु मानते थे और वैसे ही कट्टर हिन्दू भी उन्हें अपना शत्रु मानते थे। दलित-नेताओं ने उन्हें भला-बुरा कहा और उनके कट्टर अनुगामी आज तक वही कहते हैं, तो तथाकथित उच्च वर्गीय सनातनधर्मियों ने उन्हें गाली दी और आज भी देने के लिए तैयार बैठे हैं, परन्तु अन्त में जब मानवता की बात आती है तब सभी नेता यही कहते हैं कि हम गांधीजी के रास्ते पर हैं।

सत्य और अहिंसा छोड़कर सुख-शान्ति का कोई रास्ता ही नहीं है। चाहे हिन्दू-मुसलमान लड़ें, चाहे हिन्दू-हिन्दू, मुसलमान-मुसलमान तथा इसाई-इसाई लड़ें और चाहे परिवार के लोग लड़ें, आखिर कब तक लड़ेंगे! थोड़े समय की लड़ाई में जीवन नरक बन जाता है, फिर उसे जीवनभर कैसे चलायी जा सकती है! अतएव आवश्यकता है अहिंसा की, प्रेम की एवं समता की। यही बात गांधीजी से पांच सौ वर्ष पहले कबीर साहेब ने संसार को बतायी थी। कबीर साहेब का चरखा-करघा, राम-रहीम की एकता, धर्म की एकता, मानवता की एकता, सहनशीलता, समता, अहिंसा, सत्य, सदाचार-निष्ठा गांधीजी में प्रतिबिम्बित होते थे। इसीलिए लब्धप्रतिष्ठित विद्वान डॉ० पीताम्बर बड़थ्वाल ने कबीर और गांधी का तुलनात्मक अध्ययन ही लिख डाला है। उन्होंने लिखा है कि जब गांधीजी की हरिजन-यात्रा में उनका काशी कबीर चौरा पहुंचना हुआ, तब उन्होंने कहा कि मेरी माता कबीरपंथी थीं। बड़थ्वाल जी ने लिखा है कि गांधीजी के विचारों के स्रोत रसकिन एवं टाल्स्टाय के पास खोजने की आवश्यकता नहीं। उसका गोमुख तो कबीर-विचारों में है जिसे गांधी जी ने अपनी माता के दूध के साथ दाय रूप में पाया था। जो हो, कबीर साहेब के अधिकतर विचार गांधीजी में उतरे थे और उनके आचरण भी।

29. विचार एवं आचार पक्ष

गांधीजी ईश्वर मानते थे, परन्तु उसे विश्वनियम एवं सत्य के रूप में। वे कहते थे कि सत्य और प्रेम ही ईश्वर है। वे मानव मात्र में भेद नहीं करते थे। वे अस्पृश्यता के घोर विरोधी थे। वे राजनीति में पूर्ण अहिंसा व्रत पालन करने के लिए कटिबद्ध रहते थे। इसलिए उनके विरोधी भी उन पर विश्वास करते थे कि वे उनका अहित नहीं करेंगे। वे स्त्रियों को भी पुरुषों के समान शिक्षित होने एवं सभी दिशाओं में आगे बढ़ने की प्रेरणा देते थे। वे वर्ग-संघर्ष एवं हिंसा से दूर अहिंसात्मक और प्रजातंत्रात्मक समाजवाद में विश्वास करते थे। वे ब्रह्मचर्य के समर्थक थे। उन्होंने अपनी सैंतीस (37) वर्ष की अवस्था में ब्रह्मचर्य-व्रत ले लिया था। साथ-साथ कस्तूरबा ने भी इस व्रत को लिया। वे सादा वस्त्र पहनते थे और मिर्च-मसाले से रहित सादा भोजन करते थे। वे मांस, मछली, अण्डा एवं हर प्रकार के नशा से दूर रहते थे। वे नित्य प्रातः-सायं सर्वधर्म समभाव संबलित प्रार्थना करते थे और गीतादि धर्मशास्त्रों का अध्ययन करते थे। वे राजनीतिज्ञ होते हुए भी एक महात्मा थे।

वे सजग मितव्ययी थे। इसलिए उन्होंने जितनी भी संस्थाएं चलायीं, कहीं उन्हें घाटा नहीं पड़ता था, किन्तु हर जगह बचत ही रहती थी। वे अपने विरोधियों की सहते थे, और उन्हें या किसी को कटु शब्द नहीं कहते थे। संत संसार से निष्फिक्र होने से वे लोगों को कड़ी भाषा में भी फटकार देते हैं,

परन्तु गांधीजी जी राजनीतिज्ञ होने से ऐसा करके लोगों को एक साथ लेकर चल नहीं सकते थे। इसलिए उनकी भाषा लोचदार होती थी। इसीलिए अंग्रेज उन्हें "एशियाई धूर्त" तथा उनके विरोधी भारतीय 'चतुर बनिया' कहते थे। जैसे वे कहते थे कि मैं वर्ण-व्यवस्था मानता हूं। परन्तु वे छुआछूत नहीं मानते थे और अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन करते थे। इसका अर्थ यही है कि वे वर्णव्यवस्था का खुला खंडन करके 'बाभन' और 'बनिया' को नाखुश नहीं करना चाहते थे, क्योंकि उनसे भारत स्वतन्त्र करने में सहयोग लेना था, परन्तु अपने व्यवहार से वर्णव्यवस्था की दीवार को तोड़ने वाले थे।

एक उदाहरण और लें। गांधीजी कहते हैं—"एकमात्र वेद ही अपौरुषेय या ईश्वर प्रणीत हों, ऐसा मैं नहीं मान सकता। मैं तो बाइबिल, कुरान और जिंदावेस्ता को भी वेदों जितना ही ईश्वरप्रेरित समझता हूं। हिन्दू शास्त्रों को मैं मानता हूं, इसका यह अर्थ नहीं कि उनके एक-एक शब्द या हर एक श्लोक को मुझे ईश्वर प्रेरित ही मानना चाहिए।.....शास्त्रों के किसी भी ऐसे अर्थ को मैं नहीं मान सकता जो तर्क और नैतिकता से प्रतिकूल हो, फिर वह कितने विद्वतापूर्ण ढंग से क्यों न किया हो।"[1]

जब आप वेद, बाइबिल, कुरान, जिंदावेस्ता को ईश्वरप्रदत्त मानते हैं, तब उनमें विचार करने की गुंजाइश कहां है! क्या ईश्वर आपसे भी अल्पज्ञ है जो उसने उनमें कुछ सही तथा कुछ गलत रख दिया है! वस्तुतः गांधी जी चाहते थे कि सांप मर जाये और लाठी न टूटे। हिन्दू, यहूदी, इसाई, पारसी तथा मुसलमान अपनी मूल किताबों को ईश्वर-वचन मानते थे, जो जनता को एक धोखा देना है। सारी किताबें मनुष्य-रचित हैं। इसलिए सब में विचार कर सत्य को लेना चाहिए और असत्य को छोड़ना चाहिए। परन्तु ऐसा कहकर गांधीजी उन्हें खिझाना नहीं चाहते थे। इसलिए वे कहते हैं कि वे ग्रंथ ईश्वर-वचन तो हैं, परन्तु उनके सारे वचन ईश्वर के कैसे मान लें! हमें परखकर मानना चाहिए।

वे अपने छोटे दोषों को बड़े मानकर उसे त्यागने पर तत्पर रहते थे और दूसरे के बड़े दोषों को भी क्षमाकर उसे अपनाने का प्रयास करते थे। वे दूसरों की बुराइयों को कभी उभाड़ना नहीं चाहते थे। मुसलिम लीग और ब्रिटिश सरकार के विषय में उनके पास ऐसे दस्तावेज थे जिन्हें वे प्रकाशित कर देते तो जनता में उन (लीग और सरकार) के प्रति रोष प्रकट हो जाता। उन्होंने अपनी आत्मकथा इसलिए अधूरी छोड़ दी कि उसमें कई लोगों का पर्दाफाश होता।[2]

---

1. **वही, पृष्ठ 359।**
2. **वही, पृष्ठ 348।**

30. उपसंहार

संसार के इतिहास में ऐसा दूसरा उदाहरण नहीं है कि जो इतनी बड़ी राजनीति का संचालन करता हो जिसमें कि एक महा बलवान विदेशी शासन को उखाड़ फेंकना हो, फिर भी वह पूर्ण अहिंसा और साधुता का प्रयोग करता हो। कुछ-कुछ अंशों में कितने ऐसे पुराने राजनीतिक पुरुष हुए हैं जिन्होंने यात्रा में कभी स्वयं ऊंट पर बैठे हों और कभी अपने थके हुए नौकर को बैठा दिये हों, धर्मशास्त्र की प्रतिलिपि करके स्वयं की रोटी जुटाई हो या अन्त में राज-पाट छोड़कर संन्यस्त हो गये हों; परन्तु उन्होंने अपने राजनीति-काल में दूसरे संप्रदायों के पुस्तकालय जलवाये हैं, पूजास्थलों को भ्रष्ट किये हैं; निरपराधों की हत्याएं करवायी हैं, दूसरे संप्रदाय वालों को बलात अपने संप्रदाय कबूल करवाये हैं और दूसरे के राज्य हड़प गये हैं। अपने पूरे राजनीति-काल में सम्पूर्ण अहिंसा का बरताव, तप और साधुत्व की रहनी एक महात्मा गांधी में ही दिखती है। अतएव राजनीति में महात्मा गांधी विश्व में अद्वितीय हैं।

तिलक, गोखले, सुभाष, मौलाना आजाद, भगतसिंह, चंद्रशेखर आजाद, नेहरू, पटेल आदि नेताओं की राष्ट्रभक्ति को कोई उंगली नहीं दिखा सकता; परन्तु महात्मा गांधी का आदर्श अद्वितीय है। यह वे लोग स्वयं मानते थे। हमें महात्मा गांधी के प्रकाशपुंज जीवन से प्रेरणा लेना चाहिए।

महात्मा गांधी ने अपनी ''आत्मकथा'' के बिलकुल अन्त में लिखा है—

''सत्य से भिन्न किसी परमेश्वर के होने का अनुभव मुझे नहीं हुआ है। सत्यमय होने के लिए अहिंसा ही एकमात्र मार्ग है। यह बात इन प्रकरणों के पन्ने-पन्ने से प्रकट न हुई हो तो इस प्रयत्न को व्यर्थ मानूंगा। प्रयत्न भले ही व्यर्थ हो, पर वचन व्यर्थ नहीं है। मेरी अहिंसा सच्ची होते हुए भी कच्ची है, अपूर्ण है। इससे मेरी सत्य की झांकी हजारों सूर्यों के इकट्ठा होने पर भी जिस सत्य रूपी सूर्य के तेज का पूरा अनुमान नहीं हो सकता, उस सूर्य की एक किरण मात्र का दर्शन रूप ही है। इसका संपूर्ण दर्शन अहिंसा के बिना अशक्य है, इतना तो मैं अपने आज तक के प्रयोगों के अन्त में अवश्य कह सकता हूं।

''ऐसे व्यापक सत्यनारायण के साक्षात्कार के लिए जीवमात्र के प्रति आत्मवत प्रेम होने की परम आवश्यकता है और उसकी इच्छा रखने वाला मनुष्य जीवन के एक भी क्षेत्र के बाहर नहीं रह सकता। इसी से सत्य की मेरी पूजा मुझे राजनीति में घसीट ले गयी है। जो कहता है कि धर्म का राजनीति से सम्बन्ध नहीं है वह धर्म को जानता नहीं है, यह कहने में मुझे संकोच नहीं है। यह कहने में कोई अविनय नहीं करता।

''आत्मशुद्धि के बिना जीवमात्र के साथ एकता नहीं सध सकती। आत्मशुद्धि के बिना अहिंसा धर्म का पालन सर्वथा अशक्य है। अशुद्धात्मा

परमात्मा के दर्शन करने में असमर्थ है। अत: जीवनपथ के सब क्षेत्रों में शुद्धि की आवश्यकता है। यह शुद्धि साध्य है; क्योंकि व्यष्टि और समष्टि के बीच ऐसा निकट सम्बन्ध है कि एक की शुद्धि अनेक की शुद्धि के बराबर हो जाती है, और व्यक्तिगत प्रयत्न करने की शक्ति सत्यनारायण ने सबको जन्म से ही दे रखी है।

''पर शुद्धि का मार्ग विकट है, उसका मैं तो प्रतिक्षण अनुभव करता हूं। शुद्ध होने के मानी हैं, मन, वचन और काया से निर्विकार होना, राग-द्वेष से रहित होना। इस निर्विकारिता को प्राप्त करने का प्रतिक्षण प्रयत्न करते हुए भी मैं उस स्थिति तक अभी पहुंच नहीं सका हूं, इससे लोगों की स्तुति मुझे भुलावे में नहीं डाल सकती। यह स्तुति अक्सर मुझे चुभती है। मन के विकारों को जीतना जगत को शस्त्र-युद्ध से जीतने की अपेक्षा भी मुझे कठिन लगता है। हिन्दुस्तान में आने के बाद भी मैंने अपने अन्तर में छिपे हुए विकारों को देखा है। देखकर शरमाया हूं, पर हिम्मत नहीं हारी है। सत्य के प्रयोग करने में मैंने रस लूटा है। आज भी लूट रहा हूं। पर मैं जानता हूं कि अभी मुझे विकट रास्ता तय करना है। उसके लिए मुझे शून्यवत बनना है। मनुष्य जब तक स्वेच्छा से अपने को सबसे पीछे न रखे—सबसे छोटा न माने, तब तक उसकी मुक्ति नहीं है। अहिंसा नम्रता की पराकाष्ठा है और इस नम्रता के बिना मुक्ति किसी काल में भी नहीं है, यह अनुभव-सिद्ध बात है। ऐसी नम्रता की प्रार्थना करते हुए उसमें जगत की सहायता की याचना करते हुए इस समय तो इन प्रकरणों को समाप्त करता हूं।''[1]

महात्मा गांधी के ग्यारह सूत्र हैं—

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंग्रह, शरीरश्रम, अस्वाद, सर्वत्रभय-वर्जन, सर्वधर्म समानत्व, स्वेदशी, स्पर्शभावना—विनयव्रत निष्ठा से ये एकादश सेव्य हैं।

---

1. **महात्मा गांधी कृत : आत्मकथा, पृष्ठ 455-56।**

24
स्वामी रामतीर्थ

स्वामी रामतीर्थ मस्तमौला संन्यासी थे। क्या ज्ञान, क्या भक्ति, क्या वैराग्य—तीनों रस में दीवाने थे। इतना ही कहना काफी होगा कि उन जैसा वे ही थे।

1. जन्म

स्वामी रामतीर्थ का जन्म पंजाब प्रांत के गुजरांवाला जिले के मुरारिवाला ग्राम में सन् 1873 ई० में एक उच्च कुलीन माने जाने वाले ब्राह्मण घराने में हुआ। परिवार बड़ा गरीब था। रामतीर्थ के जन्म के बाद कुछ ही दिनों में उनकी माता का देहांत हो गया। फिर उनके बड़े भाई गोस्वामी गुरुदास तथा उनकी वृद्धा चाची ने उनका पालन-पोषण किया।

2. शिक्षण काल

उनका बचपन का नाम 'तीर्थ राम' था, संन्यास लेने पर उनका नाम रामतीर्थ पड़ा। कहा जाता है वे बचपन से ही एकांतप्रेमी और उदासवृत्ति के थे। पढ़ते समय वे अपने गुरु से मन्दिर में भजन-पूजन करने के लिए समय मांग लेते थे। वे अपने एक मुसलिम शिक्षक का हार्दिक आदर करते थे। कहा जाता है कि एक बार उन्होंने अपने पिता से कहा—मौलवी साहेब को घर की दुधार भैंस दक्षिणा में दे दी जाये; क्योंकि उन्होंने हमें दूध से भी अधिक मीठी विद्या दी है।

तीर्थराम ने जब गांव में अपनी शिक्षा समाप्त की तब मैट्रिक की शिक्षा पाने के लिए जिले पर अर्थात गुजरांवाला गये और वहां के हाईस्कूल में उनका नाम लिखाया गया। गुजरांवाला में ही एक धन्ना भगत नाम का व्यक्ति था जो कुछ योग-युक्ति जानता था। उससे तीर्थराम ने आध्यात्मिक प्रेरणा पाई। तीर्थराम को एक प्रतिभासंपन्न कुशाग्र बुद्धि का बालक देखकर और साथ-साथ गरीब समझकर धन्ना भगत ने उनकी पढ़ाई में रुपयों से भी सहयोग किया। तीर्थराम धन्ना भगत को अपना आध्यात्मिक गुरु तथा ईश्वर स्वरूप मानते थे।

तीर्थराम मार्च सन् 1888 ई० में हाईस्कूल पास करके उसी वर्ष इंटरमीडिएट में पढ़ने के लिए गुजरांवाला से लाहौर चले गये और वे वहां के

मिशन कालेज में 18 मई, 1888 ई० में भरती हो गये। एक रुपया मासिक पर उन्होंने छोटा मकान लिया और उसमें रहकर कालेज में पढ़ने लगे।

पढ़ाई के क्रम में उन्होंने धन्ना भगत को पचासों पत्र लिखें होंगे। उनकी उनमें बहुत श्रद्धा थी। तीर्थराम का हृदय बड़ा कोमल, भावुक और पवित्र था। उनके पत्रों से इसकी झलक मिलती है। वे धन्ना भगत को लाहौर के मिशन कालेज से पत्र लिखते हैं—

''5 नवम्बर, 1888 ई०, मैं अपने आप को, अपना सर्वस्व आपके चरणों में भेंट करता हूं। मेरे प्रभू! सम्भव है, मुझे आपकी दया से वजीफा मिल जाये।''

बालक तीर्थराम को विद्याध्ययन काल में एक-एक पैसे के लिए कठिनाई होती थी। परन्तु कभी उन्हें कुछ वजीफा मिला, कभी ट्यूशन पढ़ाने को मिला और कभी दानदाता मिले। निश्चित ही यदि आपका उद्देश्य सही है और उस तक पहुंचने के लिए आप कृतसंकल्प हैं, तो आपको हर कठिनाई पर सहायक अवश्य मिलेंगे।

तीर्थराम की गरीबी देखकर एक झण्डूमल नामक सज्जन ने उन्हें बहुत दिनों तक नियमित भोजन दिया, समय से कपड़े भी दिये। लाला ज्वालाप्रसाद ने भी उनकी सहायता की। कभी तो प्रिंसिपल ने सहयोग किया। वे कभी-कभी इसलिए अधपेट, भूखे तथा फटे वस्त्रों में रहते थे कि रात को पढ़ने के लिए दीपक के लिए तेल जुटा लें।

एक बार उनको इतनी तंगी थी कि वे दो पैसे में दुकान पर सुबह का भोजन तथा एक पैसा में शाम का भोजन करते थे। कुछ दिनों के बाद दुकानदार ने यह कहकर युवक तीर्थराम को भोजन देने से सदा के लिए इंकार कर दिया कि तुम थोड़ी रोटी खरीदते हो और दाल मुफ्त में लेते हो। फिर तीर्थराम एक ही समय खाकर रहने लगे।

डिग्री लेने के लिए उन्हें पहनने को गाउन नहीं था। इतने रुपये नहीं थे कि उसे बनवा सके। इतना ही नहीं, एक दूसरे का गाउन जिसकी मरम्मत के लिए पांच रुपये चाहिए थे, नहीं थे। उन्होंने धन्ना भगत को पत्र में लिखा—''पांच रुपये उसकी मरम्मत में लगेंगे क्या किया जाये?''

युवक तीर्थराम को 11 अप्रैल, 1894 ई० में महाकवि दाग की निम्न कविता पढ़कर बड़ी प्रेरणा मिली—

खाली हाथ वाले श्रेष्ठ होते हैं धनवानों से।
सुरा के खाली प्याले को भरने के लिए
सुरापात्र को ही फिर झुकना पड़ता है।

युवक तीर्थराम को ऐसे भी समय आते हैं जब पत्र लिखने को एक पैसा पोस्टकार्ड के लिए नहीं रहता था, थोड़ा मार्ग-व्यय नहीं रहता। उनके पत्र इस

प्रकार हैं जो धन्ना भगत को लिखे गये हैं—

''6 दिसम्बर, 1894 ई० : ''पत्र में देरी का एकमात्र कारण था कि मेरा हाथ बिलकुल खाली था। मैंने एक पैसा किसी से उधार भी नहीं लिया, यह सोचकर कि मुझे समय पर वजीफा मिल जायेगा। पर जब वह वजीफा अभी तक नहीं मिला तब मैंने इस कार्ड के लिए एक पैसा उधार लिया है।''

''25 जून, 1895 ई० : ''आप यहां आकर मुझे क्यों नहीं देख जाते। मेरा आना कठिन हो रहा है। एक बड़ा कारण तो यह है कि मेरे पास पैसा नहीं है। यद्यपि वहां जाने में सिर्फ दो रुपये लगते हैं, फिर भी इन दिनों दो रुपये जुटाना मेरे लिए कठिन है।''

3. अध्यापन काल

वे 1895 ई० के अन्त तक लाहौर के अपने ही मिशन कालेज में प्रोफेसर का पद पा गये थे और वे वहां पढ़ाने लगे। वे पांच-छह वर्षों तक प्रोफेसर के पद पर रहकर कुशलतापूर्वक अध्यापन करते रहे, परन्तु वे उस बीच में भक्ति-वैराग्य के रस में काफी सराबोर रहते थे। वे एकांत में अनेक बार कृष्ण-विरह में व्याकुल होकर फूट-फूट कर रोते थे। बादलों में कृष्ण की कल्पना करके पागलों की तरह कृष्ण को पुकारते थे। कहीं नदी की धारा की ओर उन्हें निहारते थे। उनका भावोन्माद चरमसीमा पर पहुंचा था।

एक बार द्वारका मठ के शंकराचार्य स्वामी माधवतीर्थ लाहौर पधारे थे। उनके जीवन, विद्वता एवं वेदांतज्ञान का प्रभाव युवक तीर्थराम पर पड़ा और उनके मन में साधु होने की आग भड़की। दूसरी मुख्य बात है एक बार इसी बीच युवा संन्यासी स्वामी विवेकानन्द जबकि वे अमेरिका से लौटे थे लाहौर में पधारे। उनके व्यक्तित्व, कर्तृत्व, वेदांतज्ञान एवं साधुता का गहरा प्रभाव युवक तीर्थराम पर पड़ा।

वे उर्दू, फारसी और इंगलिश के अच्छे विद्वान थे। उन्होंने 1900 ई० में 'अलिफ' नाम का एक पत्र निकाला। उन्होंने उसके लिए एक छोटा-सा प्रेस स्थापित किया, जिसका नाम 'आनन्द प्रेस' रखा, परन्तु उन्होंने 1900 ई० की जुलाई में ही लाहौर को सदैव के लिए त्याग कर हिमालय का क्षेत्र पकड़ लिया।

4. गृहत्याग और साधना

युवक तीर्थराम जब लाहौर छोड़कर सदैव के लिए हिमालय जाने लगे तब उनके प्रशंसकों की एक बड़ी भीड़ स्टेशन पर एकत्र हुई। तीर्थराम ने लाहौर की भीड़ के सामने स्वरचित गीत गाया—

''अलविदा, मेरी रियाजी! अलविदा!
''अलविदा, ऐ प्यारी रावी! अलविदा!

''अलविदा, ऐ दोस्तो-दुश्मन! अलविदा!
''अलविदा, ऐ दिल! खुदा ले अलविदा!
''अलविदा, ऐ दिल! खुदा ले अलविदा!
''अलविदा, राम! अलविदा ऐ अलविदा!

गृहत्याग के बाद पिता के पत्र का उत्तर देते हुए उन्होंने ऋषिकेश से लिखा—

''आपने अपने पत्र में मुझे घर लौटने का उत्साह दिलाया है। आपका पत्र गंगा की बहती धारा में विसर्जन कर दिया गया। आश्चर्य, आप भी मुझसे यह पूछते हैं कि क्या मुझे अपने कर्तव्यों का पालन न करने के कारण कोई दुख नहीं होता?

दुख किस बात का?

''इन चीजों की उत्पत्ति कहां से हुई? कौन जाने! इन चीजों का अंत कहा होगा? कौन जाने!''

''जो कुछ थोड़ा-सा पता है वह केवल बीच ही बीच में—वर्तमान में। और जब सब कुछ अज्ञात-ही-अज्ञात—तब दुख काहे का?''

और लोग क्या कहेंगे?

उत्तर में यह उर्दू शेर काफी है—

'अपनी पगड़ी से अपना ही कफन
बना मैं आया कूचे यार में—
ताना लगा ले जिसका जी चाहे!
मुझे ऐसे-वैसों की परवाह नहीं।'

''फिर आपने आज्ञा-पालन का आदेश दिया है। मैं आपकी आज्ञा का ही पालन कर रहा हूं। अपने शरीर के पंचनद में से द्रुत गति के साथ भगवान के मन्दिर की ओर बढ़ रहा हूं। मैं तो सत्य के साथ घुलमिल जाना चाहता हूं।

''आधी रात होने वाली है। पास में न कोई आदमी और न भूत-प्रेत, भीतर निजानन्द की उफान की धूमधाम है और बाहर माता जाह्नवी के प्रवाह का संगीत। मेरे भीतर शांति, शांति, शांति का महासागर है और मेरे बाहर कल्याण का साम्राज्य। यह मेरे मिलन की रात्रि है, इसे अंधेरी कौन कहता है—यह तो मिलन की घड़ी ने गोपनीय संसार के मुख पर काला परदा डाल रखा है।''

''मेरा मतलब है कि मिलन रात्रि में भीतर और बाहर—दोनों लोक घुलकर बह गये हैं। नेत्रों में अमृत का नद बह रहा है। ऐसे समय में मुझे सांसारिक सुखों की याद दिलाना! राम! राम!''

''मेरे घरवालों से कह दीजिये कि यदि मुझसे मिलने की इच्छा है तो केन्द्र पर आकर मिलें, जहां सब मिलते हैं, न कि परिधि पर, जहां कोई नहीं मिलता।''

''क्या किसी ने कभी मृतक के पास भी लौटने का सन्देश भेजा है? जिन्हें मृतकों के दर्शनों की इच्छा हो वे स्वयं मर जावें। मैं मर चुका! मैं शरीर में रहते हुए ही मर गया। अब मेरे घर वाले मुझे वापस बुलाने की चेष्टा न करें। हां, यदि वे भी मेरे जैसे बन जावें तब तो मिलन कुछ भी कठिन नहीं।''

(स्वामी राम जीवनकथा, पृष्ठ 103-105)

मुमुक्षु तीर्थराम एक वर्ष पर्वतों में अज्ञातवास करते रहे। उसके बाद वे संन्यासी का भगवा वस्त्र पहन लिए और वे गंगोत्री, यमुनोत्री, केदारनाथ, बदरीनाथ का लम्बा स्वच्छन्द भ्रमण करने लगे। कुछ दिनों के बाद वे पर्वतों से उतरकर मथुरा आये और स्वामी शिवगणाचार्य द्वारा गठित सर्वधर्म-सम्मेलन के दो अधिवेशनों में सभापतित्व किये। साधुवेष पहनने के बाद उन्होंने अपना नाम तीर्थराम से उलटकर रामतीर्थ रख लिया। यह पता नहीं चलता कि उन्होंने किसी गुरु से वेष लिया था। मालूम होता है वे स्वयं भगवा वस्त्र धारण कर लिये थे या कौन जाने किसी दूसरे संन्यासी से ही ग्रहण किये हों।

वे टिहरी गढ़वाल के आस-पास रह रहे थे। उस समय टिहरी नरेश स्वामीजी का बड़ा भक्त हो गया। सन् 1902 ई० की बात है, राजा ने स्वामी जी को एक समाचार सुनाया कि जैसे सन् 1893 ई० में शिकागो (अमेरिका) में एक बृहत् सर्वधर्म सम्मेलन हुआ था उसी प्रकार टोकियो (जापान) में एक सम्मेलन होने वाला है और उसमें आराम से पहुंचा जा सकता है।

5. जापान तथा अमेरिका में

स्वामीजी जहाज से जापान पहुंचे। रास्ते में हिन्दू व्यापारियों ने उनका आदर किया। स्वामी रामतीर्थ के साथ उनके शिष्य स्वामी नारायण भी थे। दोनों टोकियो के 'इंडो-जापानी' क्लब में गये जिसके समसामयिक मंत्री एक भारतीय सरदार श्री पूरन सिंह थे। पीछे इन्होंने इंगलिश में The Story of Swami Ram (दी स्टोरी आफ स्वामी राम) नामक पुस्तक लिखी।

स्वामी रामतीर्थ जापान तो गये, परन्तु वहां किसी कारण-वश सर्वधर्म सम्मेलन हो नहीं सका।

एक बार स्वामीजी केनकोवा पार्क (जापानी बाजार) में घूम रहे थे, तो उनको सामान बेचने वाली अनेक लड़कियों ने घेर लिया और सरदार पूरन सिंह से हंसकर कहने लगीं ''यह साधु हम लोगों से भी सुन्दर है। हम सब इनसे शादी करने के लिए तैयार हैं।'' वे सब स्वामी जी के वस्त्रों को छूतीं और हंसतीं। स्वामीजी जापानी भाषा समझ नहीं पाते। अत: उन्होंने सरदार पूरन सिंह से पूछा—''ये क्या कह रही हैं?'' सरदार जी ने बातें बनाकर कह दिया, ''ये

वेदान्त पर आपका भाषण सुनना चाहती हैं।''

स्वामी रामतीर्थ के जापान में कई भाषण हुए और वहां का समाज उनके भाषणों से काफी प्रभावित हुआ।

टोकियो में स्वामी जी ने एक भाषण ''सफलता का रहस्य'' पर दिया था, जिसमें उन्होंने सात सिद्धान्त बतलाये थे—

1. काम करना, कार्यरत रहना
2. आत्म त्याग, स्वार्थ त्याग,
3. आत्म विस्मृति, अहंकार शून्यता,
4. सार्वभौमिक प्रेम,
5. प्रसन्नता, सब समय खुशहाल रहना,
6. निर्भीकता,
7. आत्म निर्भरता एवं स्वावलम्बन।

इस पर उन्होंने काफी विस्तार से बोला था।

वे जापान से अमेरिका सन् 1902 ई० में गये और वहां बुफैलो, लिलीडेल, शिकागो, बोस्टन, ग्रोनेकर, मेन, न्यूयार्क, फ्लोरिडा आदि स्थानों में सैकड़ों व्याख्यान दिये; एकान्त स्थलों में रहकर सैकड़ों पुस्तकें पढ़ीं, सैकड़ों कविताएं तथा अनेक लेख लिखे। वे अपने त्याग, सरलता, ज्ञान एवं वैराग्य से अनेक को आकर्षित करके 8 दिसम्बर, 1904 ई० को भारत लौट आये।

स्वामी जी अमेरिका के एक नगर में रह रहे थे। एक दिन वहां की एक प्रसिद्ध अभिनेत्री स्वामी जी से मिलने आयी। वह मोती-हीरों से लदी थी और उसने शरीर तथा वस्त्रों में इतना इत्र लगा रखा था कि वह पूरे वातावरण को सुगन्धी से भर रहा था। उसकी मुस्कान भी माहौल में कुसुम की कलियां बिखेर रही थीं। वह आकर स्वामी जी के पास बैठ गयी और लगी अपना दुखड़ा रोने। वह कहने लगी ''स्वामीजी! मेरे वस्त्रालंकारों के कारण आप मुझे सुखी न समझें और यह मेरी मुस्कान तो यन्त्रवत स्वभाव बन गया है। ये सब मेरी आत्मा को निरन्तर कचोटते हैं। मैं एक क्षण भी सुखी नहीं हूं।'' मानो वह भौतिकवाद के खोखलेपन की नंगी मूर्ति थी।

दूसरी एक स्त्री आयी जिसका बच्चा मर गया था। वह बहुत पीड़ित और संतप्त थी। स्वामीजी ने सबको अपने ज्ञानामृत से सन्तोष दिया।

6. भारत पुनरागमन

स्वामीजी दिसम्बर 1904 में भारत लौट आये और बम्बई से मथुरा आ गये। वे उत्तरी भारत तथा उत्तराखण्ड में कुछ समय व्यतीत करते रहे। वे हरिद्वार के पास थे। एक दिन उनकी पत्नी, एक छोटा बच्चा तथा विमाता—ये तीन पंजाब से स्वामी जी के दर्शनार्थ आये।

सरदार पूरन सिंह जी उस समय स्वामी जी की सेवा में थे। स्वामी जी कुछ बीमार थे। पूरन जी ने कहा ''घर वाले पंजाब से आपके दर्शनार्थ आये हैं।'' स्वामी जी ने कहा ''उन्हें ले जाकर स्टेशन पर ट्रेन में बैठा दो, वे मुझसे नहीं मिल सकते।''

पूरन जी स्वामी जी के अनन्य भक्त थे; परन्तु उनको स्वामी जी पर प्रेम का क्रोध आया और उन्होंने कहा ''अच्छा, नमस्कार! मैं भी जाता हूं। घर वाले आपसे न कुछ मांगने आये हैं और न तो आपको घर लौटाने। केवल दर्शनार्थ आये हैं फिर भी आप उन पर कठोर हो रहे हैं।'' पूरन जी जब फाटक खोलकर बाहर जाने लगे, स्वामी जी खिलखिलाकर हंस पड़े और कहे ''अच्छा पूरन! उन लोगों को बुला लो।'' स्वामी जी घरवालों से मिले, फिर उन्हें विदा किये। वस्तुतः स्वामी जी शास्त्रोक्त संन्यासधर्म निभा रहे थे जिसमें यह मान्यता है कि ''साधु को घर वालों से नहीं मिलना चाहिए।'' मोह या विशेष सम्बन्ध तो घर वालों से अवश्य नहीं करना चाहिए; परन्तु शील का निर्वाह न करना तो साधुता का लक्षण नहीं कहा जा सकता।

अमेरिका से लौटने के बाद स्वामी जी के दिल में राष्ट्रीय भावना प्रदीप्त हो गयी थी। इसीलिए अंग्रेज गवर्नमेण्ट की खुफिया भी उनके पीछे यत्र-तत्र लग जाया करती थी। वे गलत वेषधारियों से काफी ऊब गये थे तथा गेरुवा वस्त्र तक उनको बुरा लगने लगा था।

स्वामी जी टिहरी (गढ़वाल) में आकर टिहरी नरेश के अतिथि बनकर उनके सिमलसू वाले चन्द्रभवन में निवास करने लगे। स्वामीजी उस समय कुछ अस्वस्थ चल रहे थे। वे उस समय भी सामयिक पत्र-पत्रिकाओं के लिए लेख लिखा करते थे और वैराग्य-ज्ञान की मस्ती में रहा करते थे। वे शायद कार्तिक दीपावली के दिन एक लेख लिखकर पूर्ण किये और गंगा में स्नान करने के लिए उतरे। वे छाती भर पानी में जाकर डुबकी लगाये। अनुमान किया जाता है कि उनके पैर फिसल गये और वे अपने शरीर को सम्हाल न सके तथा नीचे चले गये। उन्होंने नीचे से ऊपर आने की चेष्टा की और ऊपर आ गये; परन्तु गंगा की तेजधारा उनको बहा ले गयी और इस प्रकार इस महान संत का केवल तैंतीस (33) वर्ष की आयु में 1906 ई० में शरीरांत हो गया।

स्वामी जी का पार्थिव शरीर तो नहीं रहा; परन्तु यशःशरीर, उनका त्याग-तपोमय जीवन-दर्शन, उनकी दुर्लभ कृतियां आज भी उपस्थित हैं जो लाखों-लाखों लोगों के प्रेरणास्रोत सदा के लिए बने रहेंगे।

25

रमण महर्षि

जो वैराग्य के मूर्तिमंत स्वरूप थे, किसी की प्रतिक्रिया न करने वाले और तप:पूत थे, जिनका प्राय: मौन ही जिज्ञासुओं का उत्तर हुआ करता था, जिसने आत्मविश्वास और आत्मशुद्धि को साधना समझा, जिसने जीवनभर 'मैं कौन हूं' को समझने का उपदेश दिया और जिसने 'मैं' (शुद्ध चेतन) में ही स्थित होकर उसी में स्थित होने की जीवनपर्यन्त राय दी, उस महान विरक्त संत महर्षि रमण का यहां सक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

1. जन्म और जन्मस्थान

रमण महर्षि का जन्म 29-30 दिसम्बर, 1879 ई० की आधी रात को तिरुचुली में ब्राह्मण परिवार में हुआ। यह तमिलनाडु प्रांत में पड़ता है। पिता का नाम सुंदरम अय्यर तथा माता का नाम अलगम्माल था। रमण महर्षि का प्रथम नाम वेंकटरमण था। उनके बड़े भाई का नाम नागस्वामी और उनसे छोटे भाई का नाम नागसुंदरम और छोटी बहिन का नाम अलामेलु था। वेंकटरमण के पिता सुंदरम अय्यर तिरुचुली में वकालत करते थे। वेंकटरमण ने प्राथमिक शिक्षा तिरुचुली में पायी। इसके बाद वे डिंडिगल में एक वर्ष मिडिल स्कूल में पढ़ते रहे।

1892 ई० में वेंकटरमण के पिता की अचानक मृत्यु हो गयी। अतएव उनके चाचा सुब्ब अय्यर उनको तथा बड़े भाई नागस्वामी को मदुरै ले गये, और छोटे दो बच्चे माता के साथ अपने ताऊ नेल्लैयप्प अय्यर के साथ मानमदुरै में रहने लगे।

कुछ दिनों में वेंकटरमण ने मदुरै के अमेरिकी मिशन हाईस्कूल में प्रवेश किया। उन्हें पढ़ने-लिखने में अधिक दिलचस्पी नहीं थी। वे स्वस्थ शरीर के थे। उन्हें खेलकूद में ज्यादा रुचि थी।

मदुरै से कुछ दूरी पर अरुणाचल नाम का एक पर्वत है, जिसकी चर्चा सुनकर वेंकटरमण बचपन से ही प्रभावित हो जाते थे। उन्होंने नवम्बर 1895 ई० में अपने एक वयोवृद्ध पुरुष से सुना कि वे अभी-अभी अरुणाचल घूमकर आये हैं। उन्हें यह भी पता लगा कि अरुणाचल तो तिरुवण्णामलाई ही है जो मदुरै से बहुत दूर नहीं है। इसी बीच वेंकटरमण को पेरियपुराणम् की एक प्रति

मिली जिसमें तिरसठ संतों की कथाएं थीं। उसे पढ़कर वेंकटरमण गद्गद हो गये।

2. मृत्यु का आभास

जिस घटना से वेंकटरमण के जीवन में अभूतपूर्व मोड़ हुआ वह यह है। वे मदुरै में अपने चाचा के घर के पहले तल्ले पर बैठे थे। समय 16 जुलाई, 1896 ई० का है। वे पूर्ण स्वस्थ थे। उन्हें एकाएक ऐसा आभास हुआ कि मैं अब मर रहा हूं। उन्होंने मृत्यु के अभिनय में हाथ-पैर अकड़ लिए, मुंह भींच लिया, सांस रोक ली और सोचना आरंभ किया कि अब तो शरीर मर गया है। लोग इसे श्मशान ले जाकर जला देंगे। क्या मैं शरीर हूं। शरीर तो मर गया है, परन्तु मेरा अस्तित्व बना है। मैं भीतर अपने अस्तित्व का अनुभव करता हूं। 'मैं हूं' यह भीतर-भीतर अनुभव हो रहा है। मैं कौन हूं, यह जीवन का महत्त्वपूर्ण विषय है। उनकी यह अवस्था आधा घंटा रही।

इस घटना के बाद वेंकटरमण को बारंबार आत्मलीनता के दौरे जैसे पड़ने लगे। पढ़ाई-लिखाई ठंडी पड़ गयी। उनमें सौम्यता और विनम्रता बढ़ने लगी। वे मंदिर अधिक जाने लगे। वे शिव मंदिर में जाकर शिव से यही आशीर्वाद चाहते थे कि मेरी आप में भक्ति बढ़े। महर्षि रमण ने अपने उपर्युक्त अनुभव को अपने भक्तों में अनेक बार व्यक्त किया था।

वेंकटरमण इंगलिश का ग्रामर कापी में उतार रहे थे। उनका मन उसमें लग नहीं रहा था, अतएव कापी, किताब एक तरफ सरकाकर और आंखें बंदकर ध्यान की मुद्रा में बैठ गये। बड़े भाई नागस्वामी दूर से बैठे वेंकटरमण की दशा देख रहे थे। उन्होंने झिड़कते हुए कहा "परिवार के बीच रहते हो, पढ़ाई का ढोंग करते हो, और बैठे हो जैसे कोई योगी हो।"[1] उक्त बात सुनकर वेंकटरमण को मानो संकेत मिल गया कि तुम योगी हो। तुम यहां से अरुणाचल चलो। अतएव उन्होंने बड़े भाई से कहा कि आज मुझे स्कूल जाना है। वहां आज विशेष कक्षा लगेगी। बड़े भाई ने कहा कि नीचे पेटी से पांच रुपये ले लेना और कालेज में मेरे नाम से फीस जमा कर देना।

वेंकटरमण ने चाची से चाबी मांगी और पेटी खोलकर उसमें से तीन रुपये निकाले। उन्हें कालेज में बड़े भाई की फीस तो जमा नहीं करनी थी, उन्हें तो अरुणाचल जाना था। वे समझते थे कि वहां तक पहुंचने के लिए तीन रुपये पर्याप्त हैं। उन्होंने पांच में से तीन रुपये लिए और दो वापस पेटी में रख दिये तथा उसके साथ तमिल भाषा में एक पत्र लिखकर रख दिया जिसका आशय

---

1. **रमण महर्षि, पृष्ठ 12। लेखक-कृष्ण स्वामी नाथन, नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया, नई दिल्ली।**

यह था—''मैं अपने पिता की खोज में जा रहा हूं और उन्हीं के आदेश पर जा रहा हूं। इस कार्य पर कोई दुखी न हो और इसको ढूंढ़ने के लिए कुछ भी खर्च न किया जाये। आपकी कालेज की फीस नहीं दी गयी। दो रुपये इसके साथ रखे हैं।''[1] पत्र में वेंकटरमण ने अपने आपको अन्य पुरुष के रूप में 'इसको' लिखा था और पत्र पर हस्ताक्षर नहीं किया था।

रमण महर्षि ने उक्त बातों का स्मरण कर अपने भक्तों के बीच 1949 ई० में खेद प्रकट किया था कि मेरी चाची बड़ी सीधी-सादी थीं, मुझ पर विश्वास करती थीं, मैं कभी झूठ नहीं बोलता था, परंतु गृहत्याग में अड़चन न पड़े इसलिए झूठ बोलकर निकला कि स्कूल जा रहा हूं। मुझे सदा के लिए गृहत्याग के समय चाची से सच्चाई छिपानी पड़ी।

3. गृहत्याग

वेंकटरमण अपने स्टेशन पर गये। उन्होंने दो रुपये तेरह आने में थिडिवनम का टिकट खरीदा। वे समझते थे कि इसी स्टेशन के पास तिरुवण्णामलाई होगा। वे ट्रेन में बैठ गये। पीछे एक मौलवी से पता लगा कि एक नयी रेलवे लाइन चालू हो गयी है जिससे विल्लूपुरम से गाड़ी बदलकर तिरुवण्णामलाई सरलता से पहुंचा जा सकता है। इसमें कुल तीन रुपये का टिकट लगता है।

वे मौलवी के निर्देशानुसार विल्लपुरम स्टेशन पर उतर गये। वे बचे हुए पैसे से टिकट खरीदकर माबलपट्टू तक दस मील ट्रेन से गये। आगे पैसे न होने से दस मील पैदल गये। परन्तु उससे वे बहुत थक गये। अत: उन्होंने अपने कान में पहने हुए लौंगें जिनमें लाल नग जड़ी थी, मुतुस्वामी भागवतर नाम के एक व्यक्ति के पास चार रुपये लेकर गिरवी रख दी और टिकट कटाकर ट्रेन में बैठ गये। उन्होंने गिरवी की रसीद को फाड़कर फेंक दिया, क्योंकि उन्हें उसे छुड़ाना नहीं था। मुतुस्वामी भागवतर की पत्नी ने वेंकटरमण को भोजन करा दिया था और मिठाई का पैकेट दे दिया था।

वे पहली सितम्बर, 1896 ई० को सुबह तिरुवण्णामलाई पहुंचे और अरुणाचलेश्वर मंदिर में जाकर देवता के सामने खड़े हो गये। उन्होंने समझा कि मैं अपने पिता के पास आ गया हूं तथा अपने घर पहुंच गया हूं।

4. तप और समाधि

वेंकटरमण मंदिर से बाहर निकलकर सिर के बाल छिलवा दिये और उनके पास जो कुछ था—यज्ञोपवीत, तीन रुपये, मिठाई का पैकेट और शरीर के कपड़े फेंक दिये। उन्होंने अपनी पहनी हुई धोती से केवल एक कौपीन फाड़

---

1. **वही, पृष्ठ 13।**

ली और उसे पहन ली। वे मंदिर में गये। उसमें वे मौन होकर ध्यान में लग गये। वे उसमें कई सप्ताह तक रहे। वे सदैव समाधि में लीन रहते थे। इस अवस्था में उनकी देखभाल शेषाद्रि स्वामी नाम के एक विद्वान साधु ने की।

वेंकटरमण को उन्मादी लड़के परेशान करने लगे, तब वे उस मंदिर के मंडप के नीचे तलघर में जाकर रहने लगे। वहां उन्हें चींटियां, कीड़े, मच्छड़ आदि काटते-खाते थे, परन्तु वे तलघर[1] में पड़े रहते थे।

वेंकटरमण को लोग ब्राह्मण स्वामी कहते थे। जब कुछ भक्तों को पता लगा कि वे तलघर में रहते हैं तब उन्होंने वहां जाकर देखा तो उनके शरीर में घाव हो गये हैं, जिनमें कीड़े रेंगते हैं और पीप बहता है। भक्तों ने उन्हें पास के दूसरे देवालय गोपुरम सुब्रह्मण्यम के मंडप में पहुंचाया। इसके बाद कुतूहलवश उनके दर्शन के लिए भीड़ आने लगी। अतएव भक्त उन्हें भीड़ से बचाने के लिए अनेक स्थानों पर ले जाते रहे। भक्तजन उन्हें भोजन दे जाते थे। वे एक बार भोजन लेकर समाधि में लीन रहते थे।

"वर्षों बाद उन दिनों की याद कर महर्षि ने बताया कि तिरुवण्णामलाई आने के बाद उन्हें पहला स्नान चार महीने के बाद एक भक्त ने जबरदस्ती कराया था, जो उन पर माता का-सा स्नेह रखता था। और एक वर्ष बाद जब वे गुरुमूर्तम में थे, ऐसे ही एक और भक्त ने उन्हें दूसरी बार स्नान कराया था। अठारह महीने तक उनके सिर के बाल नहीं बने।"[2] वर्षों बाद उन्होंने बताया था कि उनके सिर के बाल उलझकर डलिया-सी बन गये थे और उसमें धूल भरी थी और कंकड़ फंसे थे। सिर भारी लगता था। नाखून बड़े-बड़े हो गये थे। लोगों के बहुत जोर डालने पर उन्होंने बाल बनवाया।

भक्त लोग सन् 1897 ई० में ब्राह्मण स्वामी को गुरुमूर्तम मठ में ले गये जो वर्तमान मंदिर से दूर था। यहां का वातावरण शांत था। ब्राह्मण स्वामी की देखभाल में दो साधु रहते थे। जब वे दोनों कहीं बाहर जाते थे तब उन्हें ताले के भीतर बंद कर देते थे। ब्राह्मण स्वामी सदैव समाधि में रहा करते थे। एक भक्त ने जब उनकी धूप-दीप, कपूर, फूल आदि से पूजा करना चाहा तब उन्होंने कोयले से दीवार पर तमिल भाषा में लिख दिया कि भोजन देना काफी है। जब कुछ लोगों ने उनके नाम और स्थान जानने का अधिक प्रयत्न किया तब उन्होंने रोमन लिपि में वेंकटरमण, तिरुवली दो शब्द लिख दिये। इसके बाद लोगों को पता लगा कि यह जंगली-सा दिखता लड़का पढ़ा-लिखा है तथा

---

1. **इस तलघर में 1949 ई० में समसामयिक गवर्नर जनरल राजगोपालाचारी ने रमण महर्षि के चित्र का अनावरण कर उसे उन्हें समर्पित कर दिया था।**
2. **रमण महर्षि, पृष्ठ 16।**

इंगलिश भी जानता है। पलणि स्वामी नाम के एक मलयाली साधु रमण महर्षि के पास आये और वे उनकी सेवा में लग गये । आगे उन्होंने उनकी बीस वर्षों तक सेवा की थी।

इधर मदुरै तथा मानमदुरै में वेंकटरमण के घरवालों को उनका कहीं कोई पता न लगा। करीब दो वर्षों के बाद घरवालों को पता लगा, अतएव महर्षि के चाचा नेलैयप्प अय्यर गुरुमूर्तम में जाकर उनके दर्शन किये। उनके बाल रूखे और उलझे थे, नाखून बड़े-बड़े थे। उनका सब कुछ अस्त-व्यस्त था। चाचा नेलैयप्प अय्यर वेंकटरमण को घर ले जाना चाहते थे, परन्तु उन्होंने अपना मौन नहीं तोड़ा। अंततः चाचा घर लौट गये। घर लौटते समय गुरुमूर्तम के पास एक पंडित से वेंकटरमण के विषय में उनकी राय जानना चाहा तो पंडित ने कहा "वह लड़का जो वहां बैठा है बे-पढ़ा-लिखा है और उसका दर्शन भी अधकचरा है।" विद्याभिमान-वश कम पंडित महात्माओं को समझ पाते हैं।

गुरुमूर्तम में 19 महीने रहने के बाद रमण महर्षि अरुणगिरिनाथ देवालय में आ गये। वे भिक्षा करके भोजन कर लेते थे। एक गली में एक दिन जाते थे। किसी के द्वार पर खड़ा होकर ताली बजा देते थे। गृहपति जो दे देता उसे खाकर सिर के बाल में हाथ पोंछकर चल देते। उन्होंने बहुत पीछे भक्तों को बताया था कि पहली बार भिक्षा मांगने में लज्जा लगी थी। उसके बाद कभी लज्जा नहीं लगी।

रमण महर्षि अब अरुणाचल पर्वत के 'पवल कुंडू' नामक स्थान में रहने लगे थे। उनके घर से निकलने के अट्ठाइस (28) महीने के बाद उनकी माता अलगम्माल अपने बड़े पुत्र नागस्वामी को लेकर वहां आयीं। रमण महर्षि एक शिला पर बैठे थे। माता ने उनसे घर लौटने का आग्रह किया। उन्होंने माता की बातें सुनकर अपनी आंखें कुछ मिनट के लिए बंद कर लीं। माता अलगम्माल तथा पुत्र नागस्वामी कहीं ठहरकर रोज-रोज रमण महर्षि के पास आते। माता घर चलने का आग्रह करती, परंतु वे अचल बैठे रहते। जब माता रोने लगती; तब वे उठकर चल देते। एक भक्त ने रमण महर्षि से उत्तर देने की राय दी, तो रमण महर्षि ने लिख दिया—"भवितव्य होकर रहता है, सर्वोत्तम मार्ग है मौन रहो।" इसके बाद माता अपने बड़े पुत्र के साथ मानमदुरै लौट गयीं।

5. सहज अवस्था में प्रत्यागमन

महर्षि 1899 ई० के आरंभ में पवलकुंडू छोड़कर विरुपाक्ष गुफा में रहने लगे, साथ में मलयाली साधु पलणि स्वामी भी रहते थे। वे दोनों के लिए बस्ती से एक बार भोजन मांगकर लाते थे। किन्तु थोड़े ही दिनों में मांगने की आवश्यकता नहीं रही। भक्त लोग खाने-पीने की वस्तुएं स्वाभाविक लाने लगे। अब रमण महर्षि नित्य स्नान भी करने लगे और मौन तोड़कर समय-समय से

पलणि स्वामी से ज्ञानचर्चा भी करने लगे। पलणिस्वामी पुस्तकालय से अध्यात्म-रामायण, योगवासिष्ठ, कैवल्यनवनीतम्, विवेक चूड़ामणि आदि ले आते थे और दोनों यथाशक्ति उनका अध्ययन करते थे। रमण महर्षि ने पलणि स्वामी से मलयालम भाषा सीखी तथा आगे चलकर जब काव्यकंठ गणपति शास्त्री मिले तब उनसे संस्कृत सीखी।

महर्षि रमण घर से निकलकर तिरुवण्णामलाई तथा आसपास में रहकर मौन और समाधि में करीब तीस (30) महीने बिताये। उसके बाद वे बोलने, पढ़ने तथा भक्तों-संतों से बातचीत करने लगे। उन्होंने आगे चलकर भक्तों को बताया था कि तीस महीने के मौन, तप एवं समाधि उनका कोई योजनाबद्ध कार्यक्रम नहीं था, अपितु अंतर्मुखता की एक खुमारी थी।

रमण महर्षि की प्रसिद्धि एक सिद्ध पुरुष के रूप में चारों तरफ फैलती जा रही थी। उनके दर्शनार्थ साधारण जनता, व्यवसायी, विद्वान, साधक—सभी प्रकार के लोग आते थे।

6. अत्याश्रमी

रमण महर्षि सच्चे संन्यासी थे, परन्तु उन्होंने किसी से विधिवत संन्यासदीक्षा नहीं ली थी। जब वे विरुपाक्ष गुफा में रहते थे तब एक प्रसिद्ध मठ के एक शास्त्री जी ने रमण महर्षि से आग्रह किया कि आप विधिवत संन्यासदीक्षा ले लें। उन्होंने कहा कि मैं सामग्री ले आऊंगा और दीक्षा भी दे दूंगा। वे इतना कहकर भोजन करने गये। इतने में एक दूसरे सज्जन आये जिनके पास पुस्तकों का एक बंडल था। वह बंडल महर्षि के पास रखकर स्नान-भोजन के लिए गये और उसे उन्होंने उनसे देखते रहने का आग्रह किया। रमण महर्षि ने सोचा कि देखें ये कौन पुस्तकें हैं। जैसे उन्होंने ऊपर की पुस्तक का पन्ना पलटा वैसे उसमें एक श्लोक मिला, जिसका आशय था ''जो भी इस अरुणाचल के तीन योजन के घेरे में रहते हैं, वे दीक्षा न भी लें तो जन्मों के बंधन से मुक्ति पायेंगे और मुझमें लीन होंगे—यह मेरा (देवता का) वचन है।'' जब शास्त्री जी भोजन करके महर्षि से दीक्षा के लिए स्वीकृति लेने आये तब उन्होंने वह श्लोक दिखा दिया, फिर शास्त्री जी नमस्कार कर चुपचाप चले गये। महर्षि ने आगे चलकर यह कहा था कि मैं अत्याश्रमी हूं।[1]

7. भगवान रमण महर्षि और भक्त

काव्यकंठ गणपति शास्त्री संस्कृत के विद्वान थे। परंतु उन्हें संतोष नहीं मिला था। जब वे ब्राह्मण स्वामी से मिले तब संतोष मिला। उन्होंने उन्हें ''भगवान रमण महर्षि'' नाम दिया, तब से उन्हें रमण महर्षि कहा जाने लगा।

---

1. **ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास-चारों आश्रमों से पार को अत्याश्रमी कहते हैं।**

काव्यकंठ गणपति शास्त्री, टी० वी० कपाली शास्त्री तथा देवरात आदि विद्वान जिज्ञासुओं के प्रश्न तथा महर्षि के उत्तर में संस्कृत में 'रमणगीता' नामक पुस्तक की रचना हुई। टी० वी० कपाली शास्त्री ने महर्षि के लिए श्रद्धा समर्पित किया, परंतु अंत में उनके उपदेश उनको बहुत कड़े लगे, अतएव वे श्री अरविंद के अनुयायी हो गये।

अंग्रेजी शासन का समय था। एक इक्कीस वर्ष की आयु के अंग्रेज पुलिस अधिकारी थे जिनका नाम 'हंफ्रीज' था। वे साधक थे। उन्हें चमत्कार पर विश्वास था। रमण महर्षि ने उन्हें चमत्कार से विरत रहने की सीख दी थी। उन्होंने हंफ्रीज को बताया था कि दिखनेवाली वस्तुओं एवं घटनाओं को महत्त्व मत दो, किन्तु उसे महत्त्व दो जो इन्हें देखता है। वह देखने वाला तुम्हारे भीतर है। हंफ्रीज ने पूछा क्या मैं संसार की सहायता कर सकता हूं। महर्षि ने उत्तर दिया था कि यदि तुम अपनी सहायता करते हो तो संसार की सहायता करोगे। महर्षि के कहने का भाव शायद यह था कि यदि मनुष्य अपने को शुद्ध बना ले तो उसके द्वारा दूसरे की सहायता निश्चित होगी। हंफ्रीज ने महर्षि से मिलने तथा उनसे लाभान्वित होने की बातें लिखकर अपने मित्र के पास लंदन भेजी थी जो वहां की एक पत्रिका में प्रकाशित हुई।

8. दलितों से प्रेम

महर्षि दलित, गरीब एवं निम्न कहे जाने वाले लोगों से प्रेम करते थे। गर्मियों में दलित समाज की नारियां जब घास का बोझा लेकर महर्षि के निवास तक पहुंचतीं तब वे वहीं रुक जातीं और पानी पीने की आशा करतीं। महर्षि पहले से ही पानी भर रखते और वे उन्हें पानी पिलाते।[1]

एक दिन एक व्यक्ति ने आश्रम के बाहर से पुकारा कि क्या मैं महर्षि के दर्शन कर सकता हूं। लोगों ने कहा, आते क्यों नहीं। उसने कहा—मैं अछूत हूं। भक्तों ने कहा, महर्षि के पास जाति-भेद नहीं है। वह आया और महर्षि के चरणों में लोट गया।

एक बार पर्वत पर एक बच्ची अपने भेंड़ें चरा रही थी। उसके भेड़ का एक बच्चा दरार में फिसलकर फंस गया। उसे निकालना बच्ची की शक्ति के

---

1. **बात ऐसी थी कि वहां के 'मुलैपाल तीर्थम' नाम के जलाशय का पानी दलित या उनकी नारियां छू नहीं सकते थे, क्योंकि वे तथाकथित ब्राह्मणों की भाषा में अछूत थे। महर्षि उनके हाथ में घड़े से पानी डालकर पिलाते थे। उत्तर के ब्राह्मणों से दक्षिण के ब्राह्मण आगे थे। वे जलाशयों को भी उनसे बचाते थे जिन्हें वे अछूत मानते थे। हिन्दुत्व के पतन में ऐसे ब्राह्मणों का सहयोग प्रशंसनीय रहा है। विद्वान कहे जाने वालों को इतनी भी अक्ल नहीं थी कि मनुष्य मूलतः समान है। जो पशु को तो पूजता हो और मनुष्य को अछूत मानता हो वह अपने समाज को गड्ढे में न ले जायेगा तो क्या करेगा!**

बाहर था। महर्षि रमण घूम रहे थे। उन्होंने यह स्थिति जानी और वे दरार में उतर गये तथा भेंड़ के बच्चे को अपने कंधे पर रखकर ऊपर आ गये।

रमण महर्षि के गृहत्याग के बाद तीस महीने तक मौन तथा समाधिपूर्वक अवधूत जैसी दशा बनी रही। उसके बाद उनका पूरा जीवन सहज रहा। उनके पास साधक एवं भक्त आते और महर्षि उनकी समस्या एवं शंकाओं का समाधान करते थे।

9. माता अलगम्माल का पुरागमन

जब माता अलगम्माल महर्षि के पास से निराश होकर घर लौट गयी थीं, तब 1898 ई० में उनके ऊपर भयानक विपत्ति आयी, उनके ज्येष्ठ पुत्र नागस्वामी की मृत्यु हो गयी। पंद्रह वर्षों के बाद वे काशी और तिरुपति तीर्थयात्रा में गयीं और रमण महर्षि के पास भी आयीं। दूसरी बार आने पर वे बीमार हो गयीं। वे तीन सप्ताह तक ज्वर से पीड़ित रहीं। अच्छी होने पर घर लौट गयीं। कुछ ही दिनों में उनके ज्येष्ठ नेलैयय्प अय्यर का निधन हो गया। उसके बाद उनके छोटे पुत्र नागसुंदरम् की पत्नी अपने दूध पीते बच्चे को छोड़कर चल बसी।

इन दुखद घटनाओं के बाद माता अलगम्माल को लगा कि मुझे अपने संन्यासी बेटे के पास चली जाना चाहिए और वे उनके पास आ गयीं। कुछ दिनों में उनका छोटा पुत्र नागसुंदरम् भी महर्षि के पास आ गया और वह महर्षि के आश्रम में निरंजनानंद नामक संन्यासी के रूप में प्रसिद्ध हुआ तथा आश्रम की देखभाल करने लगा। माता भोजन बनाने का काम करने लगी।

10. स्कंदाश्रम

अब आश्रम के विस्तार की आवश्यकता पड़ी। स्कंदस्वामी नाम के एक भक्त थे जो शरीर से बलवान थे, उन्होंने मजदूरों की सहायता लेकर आश्रम का विस्तार किया; इसलिए इस आश्रम का नाम स्कंदाश्रम पड़ गया। माता अलगम्माल एक भक्त की तरह रहती थीं। उनका 19 मई, 1922 ई० में शरीर छूट गया। उनके शव की पर्वततल पर समाधि दी गयी।

11. रमणाश्रम

स्कंदाश्रम में महर्षि 1916 ई० से रह रहे थे। 1922 ई० में माता के मरने के बाद वे उनके समाधिस्थल पर बार-बार जाते थे। वे दिसम्बर 1922 ई० में समाधि पर जाने के बाद स्कंदाश्रम लौटे ही नहीं। फिर यहीं आश्रम बना जो 'रमणाश्रम' के नाम से प्रसिद्ध हुआ जिसमें वे जीवन के अंत 1950 ई० तक रहे और वहीं उन्होंने शरीर त्यागा।

यह आश्रम पहले एक फूस के बरामदे से शुरू हुआ। अब यहां बहुत-से भवन खड़े हैं। आश्रम की व्यवस्था महर्षि के छोटे भाई स्वामी निरंजनानंद करते थे। महर्षि के शरीरांत के तीन वर्ष बाद उनका निधन 1953 ई० में हुआ था।

महर्षि पहले अरुणाचल पर्वत की परिक्रमा किया करते थे और दूसरे को भी उसके लिए उत्साहित करते थे, परन्तु 1926 ई० से उन्होंने परिक्रमा करना छोड़ दिया। वे भोजन बनाने में सहयोग करते थे, कुछ दिनों में वह भी छोड़ दिये। अब वे अपने कक्ष में ही रहते थे। उनके प्रातः-सायं घूमने, स्नान, भोजन, विश्राम आदि के समय निर्धारित रहते थे, जिससे दर्शनार्थियों को दर्शन के समय की सुविधा रहती थी।

एक बार उनके भक्तों ने उनसे कहा कि यदि आप एक बार भारत भ्रमण कर लें तो बहुत मनुष्य आपके दर्शन से कृतार्थ हो जायें। उन्होंने भक्तों की बातों पर हास्य व्यंग्य करते हुए कहा—"मुझ लंगोटी वाले भिखारी पर कौन ध्यान देगा! हां, गले में अपने नाम की पट्टी लटका लूं या भक्तों का एक दल मेरे पीछे चिल्लाता फिरे कि लोगो, सावधान, यह रमण महर्षि आ रहे हैं। तो जरूर काम बन सकता है।" महर्षि जब से घर त्यागकर अरुणाचल आये तब से मृत्युपर्यंत वहीं रह गये। उन्होंने कभी भ्रमण नहीं किया।

12. उनकी सहनशीलता

पहले जिस पर्वत पर रमण महर्षि रहते थे, कुछ दूर पर एक दूसरे साधु रहते थे। उनकी उम्र महर्षि से अधिक थी। पहले महर्षि उनसे मिला करते थे। पीछे जब महर्षि की ख्याति बढ़ी और उनके पास बहुत-से भक्त आने लगे तब उस साधु के मन में महर्षि के लिए ईर्ष्या-जलन होने लगी। धीरे-धीरे उसकी ईर्ष्या इतनी बढ़ गयी कि वह महर्षि का अनिष्ट या उनकी हत्या करने तक सोचने लगा। कई बार उसने बुरा व्यवहार किया। एक बार महर्षि एक पत्थर की चट्टान पर बैठे थे। उस बूढ़े साधु ने ऊपर पर्वत से एक पत्थर ढकेल दिया जो महर्षि के ऊपर तो नहीं आया, उनके पास गिरा। महर्षि ने ऊपर जाकर उसे रंगे हाथों पकड़ लिया, परंतु उसने उसे विनोद में टाल दिया। उस साधु ने स्वयं तो हार मान ली, परंतु उसने एक दूसरे जवान साधु वेषधारी को उनके पीछे लगा दिया जो गुंडा था।

वह वेषधारी लोगों से कहता कि वेंकटरमण (रमण महर्षि) तो मेरा चेला है। एक दिन अकेले में उसने महर्षि से कहा कि मैं तुम्हारे भक्तों से कहूंगा कि वेंकटरमण मेरा चेला है और उनसे रुपये वसूला करूंगा। तुम्हें इसमें कुछ भी एतराज नहीं होना चाहिए। महर्षि जिस गुफा में रहते थे उसके बरामदे में उस वेषधारी ने एक दिन टट्टी कर दी। एक दिन उसने महर्षि रमण पर थूक दिया,

महर्षि ने कुछ भी नहीं कहा, अंततः वह थककर चला गया।

एक साधुवेषधारी ने एक बार महर्षि से कहा कि भगवान ने मुझसे स्वप्न में कहा है कि तुम वेंकटरमण को दीक्षा देकर उन्हें अपना शिष्य बनाओ। महर्षि ने कहा कि जब इसी प्रकार भगवान मुझसे भी स्वप्न में कह देगा तब मैं आपसे दीक्षा ले लूंगा।

पर्वत की तलहटी में अब आश्रम बन गया था, महर्षि आश्रम में थे। अन्य कई साधु भी थे। रात में कई चोर आये। चोरों ने एक जंगला तोड़ डाला। महर्षि अपने साधुओं के साथ जग गये थे। साथ के संतों ने प्रतिरोध करने की बात कही। महर्षि ने कहा उन्हें अपना काम करने दो। हम साधु हैं, हम अपना क्षमा-धर्म पालन करें। महर्षि ने चोरों से कहा कि यहां अंदर आ जाओ और जो कुछ यहां है, ले जाओ। चोरों ने उनका यह कथन छल समझा और कहा कि हम छप्पर में आग लगा देंगे। महर्षि ने कहा कि आग मत लगाओ। हम लोग आश्रम से निकल जाते हैं और तुम लोग आकर यहां जो कुछ है ले जाओ।

जब एक साधु आश्रम से निकला तब एक चोर ने उन्हें एक लाठी मारी जिससे साधु लोग प्रतिरोध न करें। जब महर्षि निकले तब उनकी जंघे में भी चोर ने लाठी मारी। महर्षि ने कहा कि यदि संतोष न हुआ हो तो दूसरी जंघे में भी मार दो।

महर्षि अपने साधुओं के सहित पास की झोपड़ी में बैठ गये। एक साधु चुपके से गांव में सहयोग मांगने के लिए चला गया। इधर एक चोर ने आकर महर्षि से कहा कि लालटेन दीजिए। उन्होंने अपने साधु से लालटेन जलाकर देने की बात कही। साधु ने लालटेन जलाकर दे दी। फिर एक चोर ने आकर कहा कि अलमारी की चाभी दीजिए। साधु ने कहा कि चाभी जिस साधु के पास है वह यहां नहीं है। चोरों ने दराज तोड़ डाली। उन्हें उसमें दस रुपये का सामान और छह रुपये नकद मिले। एक चोर छड़ी घुमाते हुए महर्षि के पास आया और पूछा कि आप धन कहां रखते हैं। महर्षि ने कहा कि हम गरीब साधु हैं, दान के सहारे गुजर-बसर करते हैं। हमारे पास धन कहां है! चोरों को झुंझलाहट आ रही थी। अंततः वे निराश होकर चले गये।

जब चोर आश्रम की अलमारी का ताला तोड़ रहे थे, एक साधु जान पाया कि चोर ने महर्षि को भी मारा है तो उसने लोहे का एक छड़ लेकर महर्षि से आज्ञा मांगी कि चोर को मारें। महर्षि ने उसे समझाकर शांत किया कि यह साधु का धर्म नहीं है। ये तो घोर अंधकार में पड़े वज्र मूर्ख हैं। यदि तुम्हारे छड़ की चोट से कोई चोर मर जाये तो हमारी बड़ी बदनामी होगी।

इतने में जो साधु गांव गया था वह पुलिस लेकर आश्रम पर आया। पुलिस के पूछने पर महर्षि ने कहा कि चोर यहां कुछ न पाने से निराश होकर चले

गये। पुलिस ने यही बात लिख ली और वे चल दिये। पीछे एक साधु ने दौड़कर पुलिस को बताया कि चोरों ने मुझे तथा महर्षि को मारा भी है तथा जो कुछ पाये ले गये हैं। सुबह पुलिस के बड़े अफसर भी जांच में आये। अंततः चोर पकड़े गये और गया हुआ सामान उनसे बरामद हुआ और चोर जेल गये।

जब चोर आश्रम से चले गये थे तब महर्षि ने साधुओं से कहा कि जिनको चोट लगी है, चोट पर मलहम लगा लें। एक साधु ने महर्षि से कहा कि महाराज, आपकी चोट पर भी मलहम लगा दें। महर्षि ने विनोद में कहा कि भाई, मेरी तो पूजा हुई है। सत्कार करना पूजा कहलाता है और पीटा जाना भी पूजा कहलाता है।

एक बार रमण महर्षि एक इमली के पेड़ के नीचे बैठे थे। इमली के फल पके थे। उन्हें चुराने के लिए कई चोर आ गये। एक ने इन्हें देखकर अपने साथी से कहा ''इस बैठे हुए आदमी की आंखों में कोई जहरीली चीज छोड़ दो जिससे यह देख न सके।'' रमण महर्षि यह बात सुनकर न हिले-डुले तथा न कुछ बोले। तो एक दूसरे चोर ने कहा ''इस बैठे हुए आदमी की कोई चिंता न करो। यह तो मिट्टी की मूर्ति है।''

13. उनकी सरलता

महर्षि बहुत सरल थे। उनसे कोई सहज ही मिल सकता था। वे लोगों के साथ मधुर बरताव करते थे। वे कोई चमत्कार की बात नहीं करते थे, किन्तु 'मैं कौन हूं' पर जोर देते थे। वे आत्मज्ञान की चर्चा करते थे। उनका व्यवहार इतना सरल था कि उन्हें कई नये आगंतुक, राज-मजदूर या रसोइया समझ लेते थे। एक बार तो एक व्यक्ति ने एक भक्त से कहा कि आपके महर्षि में क्या विशेषता है, वे तो साधारण मनुष्य की तरह खाते, पीते और व्यवहार बरतते हैं। भक्त ने समझाया था कि जीवन्मुक्त महात्मा को बाहर से नहीं पहचाना जा सकता।

''सरल जीवन, मितव्ययिता और चीजों की बरबादी व फिजूलखर्ची को रोकने की शिक्षा वे आश्रमवासियों को उपदेश से नहीं, बल्कि स्वयं अपने उदाहरणों से देते थे। डाक में जो लिफाफे और पुस्तकों आदि पर लिपटा कागज निकलता, उस सबको वे लिखने व अन्य कामों के लिए संभालकर रख लेते थे। नारियल के खोलों के वे प्याले और चम्मच बना लेते, उन्हें आबनूस जैसा चमका लेते और सहायकों से कहते, 'इन्हें संभालकर रखना और ध्यान से इस्तेमाल करना, ये हमारे चांदी के प्याले और सोने के चम्मच हैं।' संतरे के छिलके अचार बनाने के लिए और मुरझाए गुलाब की पंखुड़िया पायस (खीर) को सुगंधित करने के लिए बचायी जाती थीं। वे बड़ी मेहनत से पांडुलिपियों और प्रूफों का संशोधन करते, पद्यों को बिलकुल शुद्ध सुंदर अक्षरों में उतारते,

जिल्दसाज की-सी कुशलता से पुस्तकों की जिल्द बांधते, सब्जियां काटते, पत्तलें बनाते और रसोई के काम में हाथ बंटाते थे। इस प्रकार श्रम की गरिमा और सादगी की मनोहरता का उदाहरण प्रस्तुत करते थे। कर्म उनके लिए कोई विशेष कर्मकांड नहीं बल्कि रोजमर्रा के वे काम थे जो हम सभी को करने होते हैं।''[1]

''महर्षि ने एक बार खिन्न होकर कहा था—'मेरी मां जब गुजरी तो मैंने सोचा था कि मैं अब बंधन से छूट गया और किसी गुफा-वुफा में एकांत में रह सकता हूं। परंतु वस्तुत; मैं अब और भी ज्यादा बंधन में हूं। मैं बाहर तक नहीं जा सकता।'....1945 ई० में उन्होंने एक बार असंतोष प्रकट करते हुए कहा साधु होना बड़ी टेढ़ी खीर है, यह बात मैं पचास साल के अनुभव से कह रहा हूं। इन्होंने मेरे चारों ओर जंगला खड़ा कर दिया है जिसे मैं पार नहीं कर सकता। बारी-बारी से मुझ पर नजर रखने के लिए लोग विशेषरूप से नियुक्त हैं। अपने इच्छानुसार मैं घूम नहीं सकता। इसमें और जेल में फरक ही क्या है?''[2]

14. उनसे प्रभावित

देश-विदेश के अनेक लोग रमण महर्षि से प्रभावित हुए और उनके आश्रम में दर्शनार्थियों एवं जिज्ञासुओं का जमघट बना रहता था। किसी भी सदाचारी के प्रति लोगों का आकर्षण होता है। समसामयिक कांची के शंकराचार्य ने अपना भाव प्रकट किया था—''कोई भी धर्म अपने सिद्धान्तों के कारण नहीं फैलता। लोग सिद्धान्त की कोई खास परवाह नहीं करते। जब कोई मनुष्य ऐसा प्रकट होता है जिसके जीवन और आचरण में असाधारण अच्छाई होती है, जो करुणा और शांति से पूर्ण होता है, तो लोग उसको एक नजर देखते ही उस पर विश्वास करने लगते हैं। उसकी शिक्षा को वे स्वीकार कर लेते हैं क्योंकि उन्हें विश्वास होता है कि इस तरह का मनुष्य जिन सिद्धान्तों का समर्थन कर रहा है उनमें जरूर सार होगा। दूसरी ओर कोई सिद्धान्त चाहे जितना ही सारवान हो या सच्चा हो, पर यदि उसके समर्थक आचरण में विफल रहते हैं तो वह जन साधारण को आकर्षित नहीं करता।''[3]

विदेश से ''आर्थर ऑजबर्न'' 1945 ई० में तिरुवण्णामलाई आये और रमणाश्रम में रहने लगे। उन्होंने महर्षि पर बहुत कुछ लिखा। उनकी इंगलिश में लिखी महर्षि रमण की प्रामाणिक जीवनी है जिसका हिन्दी अनुवाद भी मिलता है।

---

1. **रमण महर्षि, पृष्ठ 50।**
2. **वही, पृष्ठ 55।**
3. **वही, पृष्ठ 56-57।**

15. अंतिम दिन

रमण महर्षि की बायीं कोहनी पर फरवरी, 1949 ई० में कैंसर हुआ और वह ऊपर को फैलता गया। महर्षि आपरेशन कराने के इच्छुक नहीं थे, किन्तु भक्तों ने जोर डालकर उसका चार आपरेशन कराया, किन्तु सफलता न हुई। अंतत: कंधे के निकट तथा भुजा के ऊपर कैंसर की गांठ निकली। इसी का चौथा आपरेशन हुआ। इसके बाद 14 अप्रैल, 1950 ई० को उनका शरीरांत हो गया।

महर्षि के उपदेशों का संकलन एवं उनकी वाणियां आज भी समाज को प्रेरणा देती हैं। उन्होंने कहा था ''जीव की ब्रह्म से एकता होने में ब्रह्म श्रुत मात्र है तथा जीव का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। तुम प्रत्यक्ष अनुभव से ही लाभ उठा सकते हो; अत: देखो तुम कौन हो।''[1] महर्षि प्रष्टाओं से बारंबार कहते थे ''मैं'' को पहिचानो।

---

1. **रमण महर्षि से बातचीत, पृष्ठ 331।**

26

पेरियार ई० वी० रामास्वामी

जो कर्मकांड और पांखड के विरोधी थे, मनुष्य समाज के बीच में उठायी गयी वर्णवादी एवं भेदवादी दीवारों के ध्वंसक थे, पूरी मानवता को एक सूत्र में बांधने के लिए व्याकुल थे, दीनों पर करुणाशील और अपने समतावादी सिद्धान्त के लिए पूर्ण समर्पित थे, उस सामाजिक क्रान्ति के वीर योद्धा पेरियार ई० वी० रामास्वामी के जीवन और संघर्ष का यहां संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत है।

1. जन्म और जन्मभूमि

तमिलनाडु (मद्रास) प्रदेश में 'ईरोडु' नाम का एक बड़ा कस्बा है। उत्तरी भारत में जिसे गड़रिया कहा जाता है, मद्रास प्रदेश में उसे 'नायकर' कहते हैं, ये लोग भेड़ पालते हैं। इसी समाज का एक व्यक्ति था जिसका नाम 'वेंकट नायकर' था। वेंकट नायकर के माता-पिता उनके बाल्यकाल में ही दिवंगत हो गये थे, अत: उन्हें अपनी अठारह वर्ष की उम्र से ही अपने परिवार को पालने का भार उठाना पड़ा। वेंकट नायकर पत्थर की जुड़ाई करने वाले राजमिस्त्री के अधीन सहायक का काम करते थे और उनकी पत्नी साथ में पत्थर की ढुलाई की मजदूरी करती थी। कुछ दिनों बाद इन दोनों प्राणियों ने चावल बेचने की दुकान खोली और वेंकट नायकर अपनी अड़तीस वर्ष की उम्र में थोक व्यापारी तथा आढ़तिया हो गये। आगे चलकर इनका व्यापार खूब बढ़ा।

1877 ई० में वेंकट नायकर तथा उनकी पत्नी चिन्नत तायम्माल को एक पुत्र पैदा हुआ। जिसका नाम ई० वी० कृष्णास्वामी रखा गया और दो वर्ष बाद 17 सितम्बर 1879 ई० में दूसरा पुत्र पैदा हुआ जिसका नाम रखा गया ई० वी० रामास्वामी जिसे संसार पेरियार ई० वी० रामास्वामी नायकर के नाम से जानता है और जो तमिलनाडु प्रदेश के लिए एक युगप्रवर्तक हुआ तथा पूरी मानवता के लिए प्रेरणास्रोत। उनका मुख्य नाम ई० वी० रामास्वामी था। 'पेरियार' तमिल भाषा में 'महान' को कहते हैं। यह समाज द्वारा उनकों दिया गया विशेषण है। ई० का पूरा शब्द है 'ईरोडु' जो उनके जन्मस्थान (कस्बा) का नाम है, वी० का पूरा शब्द है 'वेकट' जो उनके पिता का नाम है, रामास्वामी उनका मूल नाम है और नायकर तथाकथित जातिबोधक शब्द है जो भेड़ पालने वाले के लिए प्रयुक्त होता है। इस प्रकार उनका पूरा नाम 'पेरियार

ई० वी० रामास्वामी नायकर' कहा जाता है।[1] परन्तु वे न जाति मानते थे और न जातिवाचक शब्द अपने नाम में लगाते थे, इसलिए यहां भी उसे नहीं लगाया जायेगा।

2. बालपन एवं कैशोर में ही क्रान्ति के संस्कार

रामास्वामी बालक को उसकी नानी ने गोद ले लिया, अत: वह अपने ननिहाल में रहने लगा। नानी बहुत गरीब थी, इसलिए बालक का पालन-पोषण बहुत विपन्नता में होता था। इधर उसके बड़े भाई कृष्णास्वामी का पालन संपन्न माता-पिता के घर सुखपूर्वक होता था। यह देखकर पिता वेंकट ने अपने छोटे पुत्र रामास्वामी को अपने घर बुला लिया।

बालक रामास्वामी को छह वर्ष की उम्र में विद्यालय में प्रवेश दिलाया गया और वह छह वर्षों तक पढ़ता रहा। परन्तु उसे विद्यालय तथा उसकी शिक्षा पद्धति रुचिकर नहीं लगते थे। उसको लगता था कि शिक्षा में भी पोंगापंथी पाठ पढ़ाया जा रहा है।

किशोर रामास्वामी शूद्र, अतिशूद्र तथा अछूत कहे जाने वाले लोगों की गंदी बस्तियों में जाता और उन लोगों को मानवीय एकता का पाठ पढ़ाता, उनके जल-भोजन खाता-पीता और पुरोहितों के असंगत कर्मकांड का परदाफाश करता। सामाजिक विषमता, जातिवादी भावना, छुआछूत, पांखड तथा असंगत कर्मकांड का खंडनकर समाज में समता और सत्यज्ञान लाने का प्रयास करना उनका मुख्य अभियान था। परिवार वालों को उपर्युक्त बातें पसंद नहीं थीं। वे समझते थे कि बच्चे को अच्छे संस्कार के लिए पढ़ाया जा रहा है, परन्तु यह तो उद्दंड हो रहा है। अत: उसकी पढ़ाई रोक दी गयी। पेरियार ई० वी० रामास्वामी ने अपना संस्मरण स्वयं प्रस्तुत किया है—

"अतंत: मेरी पढ़ाई रोक दी गयी। पैक किये गये बंडलों और नीलामी से सम्बन्धित वस्तुओं के ऊपर पते लिखने के लिए दुकान भेजा गया। वहां भी मैं अवकाश के समय पुराणों के सम्बन्ध में वाद-विवाद करता था। मेरे घर में संन्यासियों, पंडितों, संतों और पुरोहितों की निरन्तर आवभगत होती थी। चूंकि मैं उनको पसंद नहीं करता था, अत: वे जो भी कहते उसका मैं न केवल विरोध करता, प्रत्युत मजाक भी उड़ता था। धीरे-धीरे मेरी यह सहज अभिरुचि बन गयी। यद्यपि मैंने पुराणों अथवा धर्मग्रंथों का अध्ययन नहीं किया था, किन्तु मेरे घर में शैव और वैष्णव पंडित निरंतर धर्म-चर्चाएं करते रहते थे। उन लोगों से मुझे पंडितों से बहस करने के लिए पर्याप्त सूचना और सामग्री मिल

---

1. **विशेषत: दक्षिणी तमिलनाडु में व्यक्ति के नाम में उसके स्थान और पिता के नाम जोड़े जाते हैं।**

जाती थी। मेरे प्रश्नों के उन पंडितों द्वारा दिये उत्तरों में अंतर तो हो ही जाता था, साथ ही उनमें आपस में ही मतभेद हो जाता था। पंडितों के विचारों से उन्हीं के तर्कों को काटने और उनको परेशान करने में मुझे अतुल आनन्द मिलता था। मुहल्ले-पड़ोस के लोगों में मैं कुशल वाग्मी के रूप में प्रतिष्ठित होने लगा। मेरा विश्वास है कि इसी अनुभव ने संप्रदायों, धर्मों, पुराणों तथा शास्त्रों यहां तक कि देवताओं तक से मेरा विश्वास समाप्त कर दिया।''[1]

रामास्वामी में स्वतन्त्र चिंतन के संस्कार जन्मजात थे। इधर वे व्यापार में भी कुशलता प्राप्त कर रहे थे। वे पाखंड और मतभेद के विरोधी थे। वे सत्य के अनुसंधान के पथ पर निर्भीक होकर चलते थे, इसमें वे परम्परा, समाज, पिता, परिवार, ईश्वर—किसी की परवाह नहीं करते थे।

इतना होने पर भी वे अपने कर्तव्य में दृढ़ रहते थे। पिता द्वारा उनको जो दायित्व दिया जाता था उसे पूर्ण रूप से निभाते थे। उनका स्वयं का उद्‌गार है—

''मेरे पिताजी स्वयं सामाजिक एवं सार्वजनिक कार्यकलाप से अपने को अलग रखते थे, किन्तु मुझे अपने प्रतिनिधि रूप में उन कार्यों में भाग लेने के लिए भेजते रहते थे। हमारा परिवार ईरोडु के मंदिर के सभी उत्सवों में गहरी रुचि रखता था। मेरे पिताजी अपेक्षा रखते थे कि उन सभी धार्मिक कृत्यों एवं उत्सवों में उनकी ओर से मैं भाग लेता रहूं। उनकी इस इच्छा की पृष्ठभूमि में उनका विचार यह था कि ऐसा करने से मेरे हृदय में शुचिता का संचार किया जा सकेगा। मैं 'देव स्थानम समिति' का मंत्री और बाद में उसका अध्यक्ष नियुक्त किया गया। मुझे जो भी कार्य और जिम्मेदारी सौंपी गयी उसका पूरा निर्वाह मैं करता था। मंदिर सम्बन्धी किसी कार्य को न करने अथवा उसकी उपेक्षा करने का मेरे लिए प्रश्न ही नहीं उठता। भले ही मेरी धर्म में कोई आस्था न हो।''[2]

3. विवाह, व्यापार और मंथन

रामास्वामी के पिता वेंकट इस द्वितीय पुत्र से काफी असंतुष्ट थे, क्योंकि यह परम्परा का विरोध करता था। वेंकट परम्परावादी भक्त थे। वे पुरोहितों की बातों को सर-आंखों पर रखते थे। इसके उलटे रामास्वामी पुरोहितों के सारे आचरण को पाखंड मानते थे और भेदभाव के खिलाफ थे।

पिता वेंकट ने सोचा कि यदि इस छोकरे को विवाह के बंधन में डाल दिया जाय तो शायद संयत हो जाय। अंततः अठारह वर्षीय रामास्वामी का

---

1. **डॉ० व्रजलाल वर्मा, पेरियार ई० वी० रामास्वामी, पृष्ठ 8-9, भावना प्रकाशन, 90 टैगोर टाउन, इलाहाबाद।**
2. **पेरियार ई० वी० रामास्वामी, पृष्ठ 9-10 ।**

विवाह एक तेरह वर्षीया 'नागम्मै' नामक कन्या से कर दिया जो पूर्व रिश्तेदारी में पड़ती थी। नागम्मै देवी-देवता और सारी परम्परा को मानने वाली लड़की और रामास्वामी सब कुछ अस्वीकारने वाला लड़का था। परन्तु धीरे-धीरे नागम्मै ने रामास्वामी को समझने की चेष्टा की। नागम्मै उसी प्रकार पतिव्रता पत्नी थी जैसे साम्यवाद के प्रसिद्ध सूत्रपात करने वाले कार्ल मार्क्स की पत्नी 'जेनी' थी।

विवाह के दो वर्ष बाद नागम्मै को एक पुत्री हुई, किन्तु पांच महीने में वह मर गयी। इसके बाद नागम्मै को कोई संतान नहीं हुई। नि:संतान दंपती प्राय: असंतुष्ट और परस्पर उदासीन हो जाते हैं और पुरुष दूसरी शादी करने के लिए उतावला हो जाता है जिससे प्राय: पहली वाली पत्नी उपेक्षित हो जाती है। यह सब रामास्वामी तथा नागम्मै में कभी नहीं हुआ। रामास्वामी का लक्ष्य ऊंचा था। उनको निजी संतान की इच्छा ज्यादा नहीं थी, किन्तु समाज की उपेक्षित करोड़ों संतानों को ऊपर उठाने की तीव्र उत्कंठा थी।

रामास्वामी की सत्यनिष्ठा, कार्य करने की कुशलता, लगनशीलता आदि से उनका पैतृक व्यापार चमक गया। पिता की मूल पूंजी से कई गुना धन बढ़ गया। रामास्वामी की व्यापारियों में खूब प्रतिष्ठा हुई। वे गरीबों की सहायता करते थे और शूद्र तथा अतिशूद्र कहे जाने वालों को ब्राह्मणी कुचक्रों से अवगत कराते थे और कहते थे कि तुम छोटे और अछूत नहीं हो।

रामास्वामी अल्पशिक्षित होने से शास्त्र-पुराण नहीं पढ़ सके थे, परन्तु उनके घर में पुरोहितों का जमघट लगा रहता था। वे उनके मुख से पुराणों और शास्त्रों की बातें सुनकर ग्रहण कर लेते थे और अपने पैने तर्कों से उन्हें परास्त कर देते थे। उनका पूरा परिवार तथा पुरोहित वर्ग एक तरफ तथा केवल रामास्वामी एक तरफ, परन्तु अकेले रामास्वामी के तर्कों से दूसरे पूरे पक्ष को चुप हो जाना पड़ता था।

उपर्युक्त स्थिति ने उग्र रूप धारण कर लिया। घर में कटुता बढ़ गयी। घर के सभी लोग रामास्वामी को बुरी नजर से देखने लगे। वे अपने घर में उपेक्षित-जैसे हो गये। वे जब अति शूद्र कहे जाने वालों के साथ खाते-पीते तथा घर वालों को ऐसा करने के लिए प्रेरित करते तब लोग अधिक भड़क जाते। रामास्वामी भेदभाव, अंधविश्वास तथा असंगत कर्मकांड के सामने घुटने टेककर घर में नहीं रहना चाहते थे।

4. गृहत्याग

नित्य-नित्य की पारस्परिक किचकिच से ऊबकर बिना किसी को सूचना दिये रामास्वामी अपनी लगभग अठ्ठाईस वर्ष की उम्र में एक दिन गृह त्यागकर उत्तरी भारत की तरफ चल दिये। वे कुछ ब्राह्मण साधुओं के साथ कलकत्ता,

काशी आदि उत्तरी भारत के अनेक नगरों तथा तीर्थों में भ्रमण करते रहे। उन्होंने काषाय वस्त्र धारण किये, लंगोटी और साधु वेष पहना, पूजा, जप, ध्यान, योगाभ्यास आदि किया, ठंडी, गरमी, भूख-प्यास सहे। उनको कई दिन भोजन न मिलने से भूखा रहना पड़ा, फटे वस्त्रों में रहना पड़ा तथा वर्षा, ठंडी आदि में कई बार खुले आकाश में रहना पड़ा, उनका शरीर कृश हो गया।

5. गृहवापसी

रामास्वामी ने कोई वैराग्य से प्रेरित होकर गृहत्याग नहीं किया था, किन्तु पारिवारिक कलह से ऊबकर घर छोड़ा था। अत: उन्हें घर आना ही था। रामास्वामी ने अपने गृहत्याग को गलत पाया। उन्हें उद्देश्यहीन बाहर भटकने की अपेक्षा विवादयुत घर अच्छा लगा और वे घर लौट आये।

घर वाले भी अब नम्र हो गये थे। रामास्वामी घर पर आकर अपना व्यापार पुन: सम्भाल लिये। अपनी सत्यता और कार्यकुशलता के कारण उनकी व्यापार में पुन: धाक जम गयी।

6. पिता का निधन, सार्वजनिक सेवा

सन् 1911 ई० में पिता वेंकट का शरीरांत हो गया। रामास्वामी में समाज के प्रति करुणा और सार्वजनिक सेवा की भावना थी। वे दुखियों के दुख दूर करने के लिए प्रयत्न करते थे। उन्होंने अनेक सार्वजनिक सेवा संस्थानों में अवैतनिक पद ग्रहण कर जनता की सेवाएं कीं। वे देवस्थानम संस्था की सेवा करते रहे। वे बारह वर्ष तक अवैतनिक मजिस्ट्रेट रहे, नगरपालिका के सदस्य रहे और सन् 1919 ई० में ईरोडु नगरपालिका के अध्यक्ष चुने गये। ईरोडु में जब भयंकर प्लेग फैला तब आपने जनता की सेवा में अपनी पूर्ण दक्षता दिखाई और अनेक धनियों को सेवा के लिए प्रेरणा दी। "सन् 1920 ई० तक पेरियार लगभग 29 सार्वजनिक महत्त्व के पदों पर प्रतिष्ठित हुए।"[1] जब आप नगरपालिका के अध्यक्ष रहे, सड़क पर अनधिकृत कब्जा करने वालों की बिल्डिगें तोड़कर नगर को सुन्दर बनाया। इससे व्यापारी समाज क्रुद्ध हुआ, किन्तु जनता रामास्वामी के साथ होने से सब चुप रहे।

ईरोडु के मंदिरों की दुर्दशा थी, क्योंकि उनके प्रबंधक भ्रष्ट थे। रामास्वामी ने उनकी उत्तम व्यवस्था करवायी और उनके लेखे-जोखे ठीक करवाये। ईरोडु नगर की स्वच्छता देखकर चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने जो सेलम नगर के अध्यक्ष थे पेरियार से मांग की कि ऐसी व्यवस्था के लिए मेरे नगर में आप सहयोग करें।

---

1. **वही, पृष्ठ 21 ।**

पेरियार ने अपने पिता के नाम ट्रस्ट का गठन किया। उनके पास पर्याप्त संपत्ति थी। ट्रस्ट के द्वारा वे सार्वजनिक सेवा करने लगे। उन्होंने उसके द्वारा स्कूल और चिकित्सालय खोले और जनसेवा होने लगी।

वे मांस तो खा लेते थे, परन्तु किसी प्रकार के नशा का सेवन कभी नहीं करते थे। इसलिए किसी उत्सव में शराबपान को उन्होंने नहीं स्वीकारा।

7. कांग्रेस में प्रवेश

चक्रवर्ती राजगोपालाचारी द्रविड़ देश के प्रतिष्ठित कांग्रेसी थे, विद्वान ब्राह्मण और चरित्रवान तो थे ही, पेरियार की प्रतिभा, सेवाभावना तथा समतावादी दृष्टिकोण से प्रभावित थे। उन्होंने पेरियार को कांग्रेस में निमंत्रित किया। पेरियार कांग्रेस में 1920 ई० में शामिल हुए। ब्रिटिश सरकार के अधिकारियों ने आपको रायबहादुर का पद देकर कांग्रेस से विरत करना चाहा, परन्तु पेरियार कांग्रेस में दृढ़ रहे।

पेरियार महात्मा गांधी के कट्टर अनुगामी बने। उन्होंने खादी कपड़े बुने, पहने, बेचे और ऐसी दुकानें भी खुलवायीं जिनमें खादी कपड़े के अलावा कुछ नहीं बेचा जाता था। मद्रास के साधारण लोग एवं मजदूर ताड़ी पीकर अपना धन तथा स्वास्थ्य नष्ट करते थे, गांधीजी ने इसका विरोध कराया। उन्होंने आन्दोलन चलवाया कि लोग ताड़ी न पीयें, न बेंचे। गांधीजी के निर्देश पर ताड़ी के पेड़ कटवाये गये। इन सब कामों में पेरियार गांधीजी के पक्के सिपाही बनकर काम करते थे। अपने गुणों के कारण पेरियार तमिलनाडु कांग्रेस कमेटी के मंत्री एवं अध्यक्ष के पद पर भी रहे।

पेरियार ने कांग्रेस में राजनीति के लिए प्रवेश नहीं लिया था। उनका उद्देश्य था समाज-सुधार। वे समझते थे कि कांग्रेस भारतव्यापी संस्था है, गांधीजी की नीति भी समतावादी है अतएव पेरियार का भाव था कि कांग्रेस के द्वारा वर्णभेद, जातिभेद, छुआछूत आदि को दूरकर समाज को समता के स्तर पर लाना सरल है।

पेरियार जब कांग्रेस कमेटी में उक्त बातें उठाते तब नेतागण व्यवस्था के नाम पर उन्हें शान्त कर देते। कांग्रेसी ही जाति-पांति की भावना से ग्रस्त थे। यह भी एक सच्चाई है कि जैसे पेरियार चाहते थे कि पूरे मद्रास तथा भारत में तथाकथित वर्ण और जाति को लेकर जो ऊंच-नीच और छुआछूत का विषाक्त वातावरण और कोढ़ है, कांग्रेस द्वारा समाप्त हो जाय, यह सम्भव भी नहीं था। कांग्रेस का मुख्य उद्देश्य था भारत को स्वतन्त्र करना। इसमें मुख्य योद्धा थे बाभन, ठाकुर और बनिया और इन सबमें पूर्व संस्कार गहरे पड़े थे। पेरियार की बात परम सत्य थी, परन्तु उनकी बातों में उलझा देने से भारत की आजादी

का काम पीछे पड़ जाता और जातीयता का कोढ़ तो तत्काल दूर होना असम्भव था। सत्य से संस्कार अलग हैं। सत्य है कि मानव मूलतः समान है। परन्तु हजारों वर्षों से भारतीयों के मन में इस जहर के संस्कार घुले हैं कि जन्म से ही कोई वर्ग ऊंचा एवं शुद्ध है तथा कोई वर्ग नीचा और अपावन है। इस कुसंस्कार को शिक्षा एवं आचरण से धीरे-धीरे नष्ट किया जा सकता है। दुर्भाग्य है कि हिन्दू कहे जाने वाले समाज के अधिकतम धर्मग्रंथों में तथाकथित सर्वज्ञ देवताओं, भगवानों और ऋषियों के मुख से यही जहर उगलवाया गया है कि अमुक वर्ण, वर्ग एवं जाति जन्म से ही ऊंचे और पावन हैं तथा अमुक नीच और अपावन हैं। अंग्रेजों को खदेड़ना अपेक्षतया सरल था, किन्तु उक्त भेदभाव की नीति को तत्काल समाप्त करना सरल नहीं था। अतएव कांग्रेस की भी अपनी विवशता थी।

पेरियार की सूझ थी कि राजनैतिक परतंत्रता की अपेक्षा सामाजिक परतंत्रता कष्टकर है। अभी कुछ दिन अंग्रेज और रह जायं तो कोई हर्ज नहीं, किन्तु मुट्ठी भर तथाकथित सवर्णों द्वारा जो अधिकतम जनता शूद्र तथा अतिशूद्र मानकर उपेक्षित है, यह भाव समाप्त हो। चाहे अंग्रेज राज करें चाहे बाभन, ठाकुर तथा बनिया; शूद्र तथा अतिशूद्र को तो उपेक्षित ही रहना है। अंग्रेज तो चाहे अपने राजनैतिक स्वार्थ से ही सही, शूद्रों को उठाना भी चाहते थे; बाभन, ठाकुर, बनिया तो उन्हें छूना भी नहीं चाहते थे। पेरियार का मन इन बातों को सोचकर उद्विग्न हो गया।

8. वायकोम-संघर्ष

ट्रावनकोर रियासत के वायकोम नगर में एक मंदिर के पास के रास्ते पर तथाकथित सवर्णों ने एक विशेष हिन्दू जाति के लोगों को आने-जाने से रोक रखा था। इसके विषय में जार्ज जोसेफ ने जो मदुराई के वकील थे और कांग्रेसी भी थे, पेरियार को सूचना दी। पेरियार ने इसके लिए संघर्ष किया। वे कहते थे कि मंदिर के पास के रास्ते पर हर मनुष्य को चलने का अधिकार है। अंत में ट्रावनकोर की महारानी के आदेश से यह रास्ता सबके लिए खुल गया। महारानी ने महात्मा गांधी से पूछा था कि पेरियार मेरे इस आदेश से संतुष्ट हैं कि नहीं। वे सबके मंदिर प्रवेश के लिए तो आन्दोलन नहीं छेड़ेंगे? गांधीजी के पूछने पर पेरियार ने कहा कि मंदिर में सभी हिन्दू का प्रवेश होना चाहिए यह मेरा लक्ष्य तो है, परन्तु अभी तो मैं इतने से सन्तुष्ट हूं कि रास्ता सबके लिए खुल गया।

वे कैसे हिन्दू सवर्ण थे जो हिन्दू समाज के ही एक वर्ग को उस रास्ते पर नहीं चलने देना चाहते थे क्योंकि वहां एक देवमंदिर है। इन महापुरुषों का चलता तो ये शूद्र कहे जाने वाले लोगों को हवा-प्रकाश भी न लेने देते।

9. कांग्रेस का त्याग

कांचीपुरम में सन् 1925 ई० में कांग्रेस का प्रांतीय अधिवेशन हुआ था। पेरियार ने उसमें यह प्रस्ताव रखा था कि ब्राह्मणों, अब्राह्मणों, इसाइयों, मुसलमानों और दलितों को उनके अनुपात के अनुसार उन्हें सरकारी कार्यालयों में नौकरियां मिलें। वहां तो यह प्रस्ताव नहीं पास हो सकता था, परन्तु ट्रावनकोर सरकार पर इसका दबाव पड़ा और एक वर्ष बाद सरकार ने यह आदेश लागू कर दिया।

पेरियार ने यह अनुभव किया कि कांग्रेस में रहकर हम अपने लक्ष्य में नहीं सफल हो सकते, अतः उन्होंने कांग्रेस छोड़ दिया।

10. आत्मसम्मान संघर्ष समिति

पेरियार ने जस्टिस पार्टी को पसंद किया। यह पार्टी अब्राह्मण समाज के उत्थान का काम करती थी, परन्तु इसमें भी उनको संतोष नहीं हुआ। अतः उन्होंने सेल्फ रेस्पेक्ट मोवमेंट अर्थात 'आत्मसम्मान संघर्ष समिति' का गठन किया। इसका अधिवेशन 17-18 फरवरी सन् 1929 ई० को चेनगल पाट्टू में सम्पन्न हुआ। इस अधिवेशन में दो प्रस्ताव पारित किये गये जिनका संक्षेप निम्न है—

1. चतुर्वर्ण नाम पर समाज का विभाजन घोर अपराध है, छुआछूत की भावना समाप्त की जाय और सड़कों, कुओं, तालाबों, बावड़ी आदि का प्रयोग करने के लिए सबको समान अधिकार हो।

2. मंदिर में पूजा करने के लिए पैसे न खर्च करवाये जायं, पूजा-उपासना में दलाल की मान्यता न हो, पुरोहिताई समाप्त हो, पूजा-प्रार्थना में संस्कृत तथा उत्तरी भारत की किसी भाषा का प्रयोग न हो।[1] नये मंदिर, मठ, वैदिक पाठशाला बनवाने से लोगों को विरत किया जाय, लोग अपने नाम में जातिबोधक शब्द न लगायें और सार्वजनिक सम्पत्ति का उपयोग शिक्षा तथा लोक-कल्याण में हो।

पेरियार का इन अधिवेशनों तथा अन्य सभाओं में प्रभावी भाषण होते थे। उनसे प्रभावित होकर अंतर्जातीय विवाह, विधवा विवाह आदि होने लगे। आदि द्रविड़ बच्चों के लिए पढ़ने की व्यवस्था हुई जो पहले कभी नहीं पढ़ते थे। शूद्र कहे जाने वाले बच्चों के लिए निःशुल्क शिक्षा व्यवस्था हुई।

---

1. **जातिवादी रोग उत्तरी भारत से आया मानकर उन्हें उत्तरी भारत से चिढ़ हो गयी थी। उन्होंने सार्वजनिक स्थानों पर देवनागरी में लिखे हुए सूचना-पटों को पुतवाकर तमिल भाषा में लिखवाने का भी अभियान छेड़ा था।**

पेरियार द्वारा संचालित 'आत्मसम्मान संघर्ष समिति' का तमिलनाडु में व्यापक प्रभाव पड़ा। इससे ब्राह्मण कहे जाने वाले लोगों के व्यवहार में भी नम्रता आई।

19. विदेश यात्रा, फिर द्राविड़ कझगम पार्टी

पेरियार ने पहले मलेशिया का भ्रमण किया था। उसके बाद एक विद्वान के साथ जर्मनी, इंग्लैंड, स्पेन, फ्रांस, रूस आदि का भ्रमण किया। उन्होंने रूस से अधिक प्रेरणा ग्रहण की थी।

पेरियार ने द्रविड़ कझगम पार्टी बनायी और उसका संगठन कर उसे चलाने लगे।

12. हिन्दी विरोध

भारत सरकार हिन्दी भाषा को पूरे भारत की एक संपर्क भाषा बनाना चाहती थी। उसको राजभाषा घोषित किया गया और उद्देश्य था कि हिन्दी पूरे भारत में पढ़ी-पढ़ाई जाय जिससे देश की एकता हो और हिन्दी देश की संपर्क भाषा बने।

पेरियार ने इसका विरोध किया। उनको इसमें संदेह होता था कि इससे पूरे देश में ब्राह्मणवाद न लद जाय और अन्य भाषा वाले विरोध में न आ जायं। उन्होंने कहा कि यह जल्दबाजी का कदम है।

फिर सरकार ने उपर्युक्त घोषणा को वापस ले लिया कि जब तक लोग तैयार नहीं हो जाते उन पर हिन्दी लादी नहीं जायेगी।

13. सत्तर वर्ष की उम्र में पुनर्विवाह

पेरियार की पत्नी का 1933 ई० में निधन हो गया। उन्होंने इसके सोलह वर्ष के बाद 1949 ई० में सत्तर वर्ष की उम्र में अपनी युवती सचिव से विवाह कर लिया। इसमें यह बताया गया कि उनके पास करीब पंद्रह लाख का धन था। उनकी कोई संतान नहीं थी। वे अपना धन रिश्तेदारों को नहीं देना चाहते थे। विवाह कर लेने पर वह धन स्वाभाविक विवाहिता पत्नी के नाम पर आ जाता और उससे लोककल्याण होता।

यह कोई नहीं जानता कि किसका शरीर पहले छूटता है। धन का सार्वजनिक ट्रस्ट बना देना सबसे उत्तम काम है। अंत में पेरियार की नवविवाहिता पत्नी अन्नैमणिम्मै ने यही काम किया। उनको भी कोई संतान नहीं थी। अतएव उन्होंने पेरियार से पाये सारे धन का उनके शरीरांत के बाद सार्वजनिक ट्रस्ट बना दिया जिससे असहायों की सेवा हो।

14. सहयोगियों में मतभेद

पेरियार द्वारा स्थापित आत्मसम्मान संघर्ष समिति के पदाधिकारियों एवं कार्यकर्ताओं में मतभेद शुरू हो गया। बड़े पुरुषों का व्यामोह अनुगामियों को

धक्का देता है। पुनर्विवाह ही तर्कहीन है, फिर सत्तर वर्ष की उम्र में विवाह करना अपने आप में हास्यास्पद है। पेरियार जैसे महापुरुष भी.ऐसे चक्र में फंस गये। फलत: उनकी संस्था के अधिकारी और कार्यकर्ता उनका साथ छोड़ दिये, किन्तु उनको पूर्णरूपेण समर्पित अनुगामी श्री के० वीरामणि ने साथ नहीं छोड़ा। वे उनके विचारों के उत्तराधिकारी प्रचारक आज भी सेवारत हैं।

15. भैंसे की हत्या का विरोध

एक काली मंदिर में प्रतिवर्ष उसकी तथाकथित प्रसन्नता के लिए एक भैंसे की बलि देने के नाम पर हत्या की जाती थी। द्राविड़ कझगम के नेता ने इस वीभत्स कर्म का परिचय पेरियार को दिया। पेरियार ने इसके विरोध में झंडा उठा लिया। अंतत: यह कुकृत्य सदा के लिए बंद हो गया।

16. शंकराचार्य से प्रश्न

तात्कालिक शंकराचार्य ने कहा था कि ''वर्णाश्रम धर्म की जब भारत में पूर्ण प्रतिष्ठा हो जायेगी तब भारत अपनी चरम उन्नति पर पहुंच जायेगा।'' पेरियार ने शंकराचार्य के इस वक्तव्य की कटु आलोचना की थी। उन्होंने पूछा था कि शंकराचार्य उक्त बातें अज्ञानवश कह रहे हैं कि अहंकारवश।

17. द्राविड़ कझगम से द्राविड़ मुनेत्र कझगम

'द्राविड़ कझगम' के एक वरिष्ठ नेता अन्नादुराई थे। उनका द्राविड़ कझगम से गहरा मतभेद हो गया। इसलिए उन्होंने उस पार्टी से निकलकर 'द्राविड़ मुनेत्र कझगम' पार्टी बनायी जिसको संक्षेप में 'डी० एम० के०' कहते हैं । इस पार्टी का विस्तार हुआ ।

परम कांग्रेसी राजगोपालाचारी ने आपसी मदभेद के नाते कांग्रेस को ही हराने के लिए 'डी० एम० के०' का सन् 1967 ई० में चुनाव में समर्थन कर दिया और 'डी० एम० के०' पार्टी जीत गयी तथा कांग्रेस हार गयी।

मद्रास विधान सभा के शपथ ग्रहण में 'डी० एम० के०' के किसी सदस्य ने ईश्वर के नाम पर शपथ नहीं ली । 'डी० एम० के०' के सहयोगी ब्राह्मणों ने पार्टी को राय दी थी कि द्राविड़ मुनेत्र कझगम की जगह पर पार्टी का नाम धर्म मुनेत्र कझगम रख दिया जाय, परन्तु पार्टी ने इस राय को स्वीकार नहीं किया। ब्राह्मणों को यह भी आशा थी कि 'डी० एम० के०' पार्टी के लाल-काला रंग के झंडे को पार्टी के लोग बदल देंगे, क्योंकि उनके ख्याल से यह भेदभाव का व्यंजक है, किन्तु पार्टी ने झंडा नहीं बदला। 'डी० एम० के०' के मुख्यमंत्री ने यह भी घोषणा की कि संस्कृत शब्द के श्री तथा श्रीमती के स्थान पर तमिल भाषा के तिरु तथा तिरुपति का प्रयोग किया जायेगा। इसी समय सत्तासीन पार्टी ने मद्रास प्रांत का नाम तमिलनाडु कर दिया। तमिलनाडु सरकार

ने यह भी घोषणा की कि प्रदेश में सरकारी कार्यालयों में देवी-देवताओं के चित्र न लगाये जायं, और अंतर्जातीय विवाह को पुरस्कृत किया जाय। सन् 1970 ई० में मद्रास में कानून पास हो गया कि मंदिरों में हर जाति के लोग पुजारी रह सकते हैं। इन कारणों से पेरियार 'डी० एम० के०' से प्रसन्न हुए। उन्होंने समझा कि अन्नादुराई ने मेरी पार्टी से निकलकर अलग पार्टी अवश्य बनायी, परन्तु वे मेरा ही काम कर रहे हैं। अन्नादुराई उस समय तमिलनाडु के मुख्यमंत्री थे। उन्होंने पेरियार को मिनिस्टर बनने का निमंत्रण दिया था। परन्तु पेरियार मिनिस्टर से ऊंचे थे। उन्होंने उसे नहीं स्वीकार किया।

पेरियार ईश्वरवाद के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने घोषणा की थी—1."ईश्वर नहीं है, नहीं है, नहीं है; 2. जिसने ईश्वर का आविष्कार किया वह मूर्ख है; 3. जिसने ईश्वर का प्रचार किया वह दुष्ट है; तथा 4. जिसने ईश्वर की पूजा की वह असभ्य है।"[1] जब विधान सभा के शपथ समारोह में 'डी० एम० के०' के किसी सदस्य ने ईश्वर के नाम पर शपथ नहीं ली तो यह पेरियार की विजय मानी गयी।

18. ब्राह्मणों के प्रति नरमी

जब कांग्रेसी राजगोपालाचारी के समर्थन से 'डी० एम० के०' की विजय हुई, तब पेरियार ने कहा कि ब्राह्मणों की विजय हुई। राजगोपालाचारी ब्राह्मण कहे जाने वाले परिवार के थे, चरित्रवान तथा विद्वान तो थे ही। पेरियार के मन में ब्राह्मणों के प्रति नरमी आयी थी यह अन्य संकेतों से भी पता चलता है। इससे उनके अनुगामियों के मन में संदेह भी उत्पन्न हुआ था और उन्होंने कहा था कि ऐसा होने से तो अब्राह्मणों के मन में निराशा होगी। पेरियार ने उन्हें समझाया था कि इसमें निराशा की कोई बात नहीं है।

उन्होंने कहा था कि मैं किसी ब्राह्मण से व्यक्तिगत घृणा नहीं करता हूं, किन्तु ब्राह्मणवाद से घृणा करता हूं। उन्होंने कहा, *"मैं यहां स्पष्ट करना चाहता हूं कि आज गैर-ब्राह्मण मंत्रियों ने ब्राह्मण-मंत्रियों की अपेक्षा मुझे और द्रविड़ आन्दोलन को अधिक क्षति पहुंचायी है। आप उन रियायतों को रोक रहे हैं जो ब्राह्मण-मंत्रियों द्वारा पिछड़े वर्गों के बच्चों को दी जाती थी।'*[2]

19. उनकी उदारता

कांग्रेस के नेता कामराज की मूर्ति का अनावरण-समारोह था। सेलम महापालिका ने यह आयोजन किया था। इस सभा की अध्यक्षता करने के लिए पेरियार को निमन्त्रित किया गया था। सभा में प्रथम विषय था ईश-प्रार्थना।

---

1. **वही, पृष्ठ 141 ।**
2. **वही, पृष्ठ 196 ।**

लोगों ने सोचा था कि पेरियार ईश्वर नहीं मानते, अत: ईश-प्रार्थना के बाद उन्हें सभा में लाया जायेगा, परन्तु पेरियार पहले से सभा में आकर अध्यक्ष-गद्दी पर बैठ गये। कार्यकर्ता असमंजस में पड़ गये। किन्तु पेरियार ने विषय के अनुसार स्वयं घोषणा की कि सभा का पहला कार्यक्रम ईश-प्रार्थना है और स्वयं उठकर खड़े हो गये और जब तक प्रार्थना चलती रही, वे खड़े रहे। उनके उक्त उदार व्यवहार से सभा स्तंभित रह गयी।

पेरियार की उम्र जब तीस वर्ष की थी, वे प्रसिद्ध थे ही, वे अपने कणप्पन नाम के एक साथी के सहित रेलगाड़ी से मद्रास जा रहे थे। पास में एक वृद्ध ब्राह्मण भी बैठा यात्रा में था। कणप्पन तथा ब्राह्मण के बीच किसी बात में वाद-विवाद चलने लगा। कणप्पन जरा उत्तेजित होकर बोल रहे थे। पेरियार ने उन्हें राय दी कि कटु शब्द प्रयोग न कर तर्क से अपनी बातें समझाओ।

उस ब्राह्मण ने पेरियार की तरफ मुड़कर कहा—महाशय! आप इसको अपनी सम्मति नहीं दे पायेंगे। यह उस समाज का सदस्य है जिसके नेता रामास्वामी नायकर हैं।

ब्राह्मण के ऐसा कहने पर पेरियार उठकर थोड़े समय के लिए दूसरी तरफ चले गये। तब कणप्पन ने वृद्ध ब्राह्मण से कहा कि जिसने मुझे सत्सम्मति दी है वे रामास्वामी नायकर ही हैं। इतना सुनकर बेचारा वृद्ध ब्राह्मण पेरियार के सामने हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। उसने पेरियार से क्षमा मांगी और कहा कि लोग आपके विषय में जैसा बताते हैं मैंने उससे आपको भिन्न पाया।

20. उनकी बेताबी

पेरियार चाहते थे जाति-पांति का भेदभाव मिटाकर मनुष्य की एक जाति मानी जाय और समाज अंधविश्वास से मुक्त होकर शुद्ध तर्कपूर्ण बुद्धि के पथ पर चले। इसलिए उन्होंने समय-समय पर उत्तेजक घोषणाएं भी कीं। उन्होंने आम जनता, राजनीति के लोगों तथा राज-कर्मचारियों से अनुरोध किया कि वे सरकारी कार्यालयों तथा सार्वजनिक स्थानों से देवी-देवताओं के चित्र हटावें, धार्मिक ग्रंथों में जहां कहीं ब्राह्मणवादी सूक्तियां हो उन्हें मिटावें, जनता ईश्वर का त्याग करे तथा तर्कनिष्ठ हो, समाज से जातिप्रथा को सर्वथा उखाड़कर फेंक दिया जाय और संसार में कहीं कोई ब्राह्मण न रहे।

उनका यह अर्थ नहीं था कि ब्राह्मण मार डाले जायं। उनका अर्थ था कि ब्राह्मण कहलाने वाले लोगों ने ही यह भेदभाव का प्रपंच फैलाया है। अत: ये अपना प्रपंच छोड़ दें। संसार में कोई अपने को ब्राह्मण न कहे। उन्होंने सिनेमा का बहिष्कार करने की भी जनता से अपील की और कहा कि लोगों को रोका जाय, वे सिनेमा देखने न जायं।

"पेरियार तमिल भाषा में ही लिखते, बोलते और बात करते थे। तमिल भाषा के लिपि सम्बन्धी कतिपय सुधार पेरियार ने सुझाये थे। वे तमिल भाषा के विकास और व्यापक प्रचार के पक्षपाती थे। चाहते थे कि वह बौद्धिक विचार और विज्ञान की भाषा बने।"[1]

परन्तु वहीं वे कहते थे, *"हमें सारी अंग्रेजी जीवन पद्धति को अपना लेना चाहिए। भोजन, वस्त्र, साड़ी, धोती, कमीज में भी परिवर्तन करना चाहिए। खाने, पहनने और बोलने में हमें यूरोपियन पद्धति ग्रहण करना चाहिए। हमको तमिल में बातचीत नहीं करना चाहिए।"*[2] इतना ही नहीं, एक बार एक कालेज में भाषण करते हुए उन्होंने छात्रों से पूछने के लहजे में कहा—*"तुम लोग भाषाओं पर अनुसंधान करने नहीं आये हो, किन्तु मैं तुमसे पूछता हूं कि किसी व्यक्ति को सम्मान देने के लिए तमिल भाषा में क्या एक भी शब्द है! इसीलिए मैं तमिल भाषा को असभ्यता की भाषा कहता हूं। कुछ लोग इस बात पर नाराज हो जाते हैं।"*[3]

वे एक तरफ कहते थे कि ईश्वर नहीं, नहीं है, नहीं है और दूसरी तरफ कहते थे कि—*"मैंने अपने अनुयायियों को निर्देश दिया है कि वे ईश्वर को चप्पलों से पीटें।"*[4] जब ईश्वर है ही नहीं तब उसको पीटने की बात कैसी! उनका मतलब था कि ईश्वर सबके मन से निकल जाय। वे मानते थे कि धूर्त लोगों ने ईश्वर को गढ़ लिया है और उसकी आड़ में जातिवाद तथा अंधविश्वास चलाया जाता है और कमजोर वर्ग का शोषण किया जाता है।

तमिल भाषा में कंबन रामायण है। पेरियार ने एक बार अभियान चलाया कि उनके अनुयायी एक कागज पर कंबन रामायण शब्द लिखकर उसे जला दें और उसकी राख उनके आफिस को भेज दें, इस अभियान में उनके आफिस में राख की ढेर इकट्ठी हो गयी।

पेरियार ने 'रामायण : एक सही अध्ययन' नामक एक पुस्तक लिखी। इसका हिन्दी अनुवाद उत्तर प्रदेश में छपा। हिन्दुओं के आपत्ति करने पर उत्तर प्रदेश सरकार ने उस पर रोक लगा दी, किन्तु अनुवादक की अपील से इलाहाबाद हाईकोर्ट ने उस पर से रोक हटा दी और उसे मुक्त कर दिया। वस्तुत: पेरियार का सारा कथन रामायण के अनुसार था, केवल शैली तथा भाषा प्रहारात्मक थी और कहीं-कहीं अतिक्रमण भी था।

---

1. **वही, पृष्ठ 159 ।**
2. **वही, पृष्ठ 148 ।**
3. वही, पृष्ठ 156 ।
4. **वही, पृष्ठ 163 ।**

सन् 1971 ई० में सेलम में अंधविश्वास के विरोध में पेरियार ने दो किलोमीटर लंबा जुलूस निकाला। जुलूस में श्रीराम का दस फीट लंबा व्यंग्य चित्र था। किसी ने जुलूस पर एक पत्थर फेंक दिया, तो एक जुलूस वाले ने श्रीराम के चित्र पर एक चप्पल फेंक दिया। इससे पूरे भारत में यह हल्ला हुआ कि पेरियार ने राम के चित्र को चौराहे पर जूते से पिटवाया है। परन्तु पत्थर फेंकने की प्रतिक्रिया में केवल एक व्यक्ति ने ही चप्पल फेंका था। यह एक संयोग था। उनका यह लक्ष्य नहीं था। यह अलग बात है कि श्रीराम का व्यंग्य चित्र निकालना ही गलत था।

रामायणों में श्रीराम के द्वारा शूद्र कहे जाने वालों को नीच कहलवाया गया है तथा शंबूक की उनसे हत्या करवायी गयी है। इन बातों को लेकर रामास्वामी को श्रीराम पर ही रोष था। परन्तु श्रीराम द्वारा शंबूक की हत्या आदि की कल्पना वर्णाभिमानियों का षड्यंत्र था। इसमें श्रीराम का दोष नहीं।[1]

पेरियार समझते थे कि कांग्रेस सरकार ब्राह्मणवाद का पक्षपाती है, अत: अब भारत से अलग होकर ही मद्रास का कल्याण है। इसलिए उन्होंने 'द्राविड़स्तान' की मांग की। अर्थात जैसे पाकिस्तान भारत से अलग है, वैसे मद्रास भी अलग हो जाय। यह उनकी बेताबी का अतिरेक था। इस संदर्भ में डॉक्टर ब्रजलाल वर्मा ने ठीक ही लिखा है—*"कभी-कभी अत्याचार का अतिरेक पीड़ित व्यक्ति के विवेक को प्रसुप्त बना देता है।"*[2]

दक्षिण भारत में मंदिरों में देवदासियों की प्रथा कुछ अवशेष थी। पेरियार ने इसका घोर विरोध किया था। अंतत: वहां की सरकार ने देवदासी प्रथा का कानूनी तौर पर अंत करवा दिया।

पेरियार ई०वी० रामास्वामी अंधविश्वास-विरोधी, सत्य-अनुसंधाता, अध्य-वसायी, कुशल-व्यवसायी, समतावादी, मानवता के उन्नायक, करुणाशील और सच्चे अर्थ में महामानव थे। उन्होंने जीवन भर कोई सरकारी पद नहीं स्वीकारा। उपेक्षितों और गरीबों को उठाने के लिए इतने बेताब थे कि वे इसको लेकर अनेक बार सत्य के जोश में संस्कारों और भावनाओं की परवाह नहीं करते थे और जो लोक में अनुचित कहा जा सकता है वैसा बोलने तथा करने लगते थे।

उनका हृदय पवित्र था। वे क्रुद्ध थे उन पर जिन्होंने धर्मशास्त्र कहे जाने वाली पोथियों में दूध में पानी की तरह भेदभाव का जहर घोल रखा था। इसीलिए हिन्दूसमाज की नस-नस में समाया है कि अमुक तथाकथित वर्ण एवं जाति छोटे एवं अमुक बड़े हैं, कोई वर्ण एवं जाति जन्म से ही पवित्र है और कोई जन्म से ही अपवित्र है। इस धारणा का समूल नाश जब तक नहीं हो

---

1. **लेखक के 'कबीर पर शुक्ल की और मेरी दृष्टि' में इसका स्पष्टीकरण पढ़ें।**
2. **पेरियार ई० वी० रामास्वामी, पृष्ठ 175।**

जाता तब तक हिन्दू समाज एवं मानवता का कल्याण नहीं है। भारत सरकार का संविधान मानवता के साथ है। लोगों के संस्कार भी शुद्ध होने की दिशा में बढ़ रहे हैं। कुछ राजनेताओं के भेदभाव के घृणित प्रचार इसमें अवरोधक हैं, परन्तु प्रगतिकाल उनको भी क्षमा नहीं करेगा।

एक सिंह मारकर यदि हम स्वयं सिंह बन जायं तो बात वहीं-की-वहीं रही। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यवाद नहीं होना चाहिए, परन्तु यदि हम ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य को गाली दें और उनके प्रति समाज में शत्रुता के बीज बोयें तो बात वहीं-की-वहीं रही। इससे समाज, हिन्दू समाज तथा भारत का पतन के सिवा क्या हो सकता है! ब्राह्मणवाद ने एक तरह का पतन किया और अब उसका उलटावाद दूसरी तरह पतन में लगे तो यह उसी तरह निरी बेसमझी होगी।

आवश्यकता है ऊंच-नीच की भावना का समाप्त होना। सभी वर्ग का सभी दिशाओं में समान अधिकार होना और छुआछूत की भावना का प्रयोग दंडनीय अपराध माना जाना और यह सब भारत सरकार द्वारा हो चुका है। अब आवश्यकता है कि सभी वर्ग के लोग विवेकी बनें और परस्पर प्रेम तथा समता का व्यवहार करें। किसी तथाकथित वर्ण और जाति का गीत गाने से व्यक्ति तथा समाज का कल्याण नहीं है। सभी तथाकथित वर्ण एवं जाति के लोगों में से कुछ ऐसे होते हैं जो अपने-अपने वर्ण एवं जाति के लोगों की हत्या करते, उन्हें ठगते, उनके घर में चोरी करते तथा डाका डालते हैं। अतएवं वर्ण और जातिवादी भावना हमारे दिल से निकल जाने के साथ राग-द्वेष निकलना चाहिए। बिना मन शुद्ध हुए न व्यक्ति का कल्याण है और न समाज का।

संस्कृत भारत की प्राचीनतम तथा समृद्ध भाषा है और उसमें ज्ञान के असंख्य रत्न भरे हैं। वह भारत की अन्य प्राय: सभी भाषाओं की जननी भी है। हिन्दी भारत की बहुव्यापी तथा समृद्ध भाषा है, उसके भी असंख्य रत्न हैं और वही पूरे भारत को जोड़ सकती है। इन भाषाओं के ग्रंथों में वर्ण और जातिवादी उल्लेख हैं तो इसलिए न इन भाषाओं का त्याग हो सकता है न इनमें बने ग्रंथों का, प्रत्युत भेदभाववादी उल्लेखों का ही त्याग करना है।

तमिलनाडु में रहने वाले वर्ण और जातिवादी लोगों ने तमिलभाषा के ग्रंथों में भी वर्णवादी तथा जातिवादी जहर घोला होगा, तो इसलिए तमिल भाषा का भी त्याग नहीं किया जा सकता। भाषा तो बातों को जानने तथा जनाने का माध्यम है। वह अपने आप में निर्दोष है। किसी भी भाषा में अच्छी बात कही जा सकती है और गाली भी दी जा सकती है। फसल में घास उगने से हम पूरी फसल में आग नहीं लगाते, किन्तु घास को निकाल देते हैं। हमें चाहिए

कि संसार की सभी भाषाओं के ग्रंथों में जहां कहीं भी जातिवादी तथा सत्य, स्वर्ग, मोक्ष आदि की एकाधिकार ठेकेदारी सम्बन्धी सांप्रदायिक भावनाएं हों, उन्हें अपने मन से उतार दें। भारत के उत्तरी, दक्षिणी, पूर्वी, पश्चिमी या विश्व के किसी कोने में रहने वाले हिन्दू समाज के लोगों को चाहिए कि पेरियार या उन जैसे लोगों से घृणा एवं उपेक्षा न करें। किन्तु उन्हें सहृदयता से समझने की चेष्टा करें। हिन्दू कहे जाने वाले लोग विचारें कि पेरियार रामास्वामी ने ऐसा क्यों कहा!

पेरियार का व्यक्तित्व नकारात्मक नहीं था। वे जीवनपर्यंत निस्स्वार्थभाव से दलितों के उत्थान में लगे रहे। उन्होंने अन्यथा और कटु लगने वाली बातें भी मानवता के उत्थान के लिए ही कहीं। ऐसे महापुरुष बराबर होने चाहिए जो समाज में आयी हुई जड़ता को जोर से झकझोरकर मिथ्याभिमानियों के झूठे घमंड को झाड़ दें। धर्म, ईश्वर, देवता, अवतार, पैगम्बर, वर्ण, जाति, संप्रदाय आदि के नाम पर बड़ी-बड़ी धांधलियां, चमत्कार, अधंविश्वास, दुर्बलों का हनन और समाज की बुद्धि का शोषण चल रहा है। ये केवल मीठी-मीठी बातों से नहीं दूर हो सकते हैं। इनके निवारण के लिए खरी करनी, रहनी तथा कथनी के महापुरुष चाहिए।

21. अंतिम दिन

संसार के महान-से-महान पुरुष का अंत आता है। पेरियार ने अपनी 95 वर्ष की उम्र में 24 दिसम्बर 1973 ई० को प्रात: काल सात बजकर बाईस मिनट पर शरीर छोड़ दिया। उनके शव के दर्शन एवं अंतिम संस्कार के उपलक्ष्य में आम जनता, राजनैतिक नेता तथा सरकारी पदाधिकारियों की विशाल भीड़ इकट्ठी हुई। तमिलनाडु के मुख्यमंत्री के आदेश से राजकीय सम्मान से उनके शव की मद्रास में समाधि दी गयी। राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, केन्द्रीयमंत्री, राज्यपाल, मुख्यमंत्री आदि ने अपनी श्रद्धांजलियां अर्पित कीं।

22. उपसंहार

उपसंहार में स्वयं कुछ न लिखकर डॉक्टर ब्रजलाल वर्मा के ही दो अनुच्छेद पाठकों की सेवा में समर्पित करता हूं—

'पेरियार ई० वी० रामास्वामी भी एक साधारण मनुष्य के रूप में ब्राह्मणों की भाषा में शूद्र परिवार में जनमें। तमिलनाडु की नायकर जाति उत्तर भारत में गड़रिया (पाल) जाति कहलाती है। भले ही शिष्टाचार में ब्राह्मण उत्तर भारत के पिछड़े वर्ग को खुलकर शूद्र न कहते हों किन्तु ब्राह्मणों द्वारा निर्धारित शूद्रों की श्रेणी में ही कुर्मी, काछी, अहीर, गड़रिया, लोधी, जाट, भर, कुम्हार, कहार, कलवार, नाई, बारी, हलवाई, दर्जी, बढ़ई, लोहार आदि जातियों को ब्राह्मणों ने शूद्र ही माना है। ब्राह्मण अपनी संकीर्णता में सर्वोपरि थे। उन्होंने

अपनी जाति में भी शूद्र बना रखे थे। दूबे, चौबे, पाठक जैसे ब्राह्मण को उच्च ब्राह्मणों ने नीचा माना है। इस दृष्टि से ब्राह्मणों ने अपने वर्ग में भी वही संकीर्णता, दुर्व्यवहार तथा छुआछूत की श्रेणियां बना रखी थीं। आज के वैज्ञानिक युग में भारत में अवश्य ही कुछ नवयुवकों ने अपनी जाति की इस गंदी संकीर्णता तथा अभद्रता को निराकृत करने का बीड़ा उठाया है। ऐसे ब्राह्मण युवकों को प्रेरित एवं प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। इतना ही नहीं, उनके साथ अतीव सुखद व्यवहार करना चाहिए।

"इस देश में विश्वविख्यात साहित्यकार, कलाकार एवं सांस्कृतिक व्यक्तित्व आये और चले गये, किन्तु उनमें से एक प्रतिशत भी ऐसे लोग नहीं दिखे जिनके संवेदन ने देश की शोषित मानवता की मर्मांतक पीड़ा से अपने को जोड़ा हो।[1] दुर्भाग्य यह रहा कि इस देश की कला-साहित्य और संस्कृति विशाल नगरों के धनाधीशों के आसपास घूमती रही। कभी यहां के कवियों ने, कलाकारों अथवा साहित्यकारों ने उपेक्षा, घृणा एवं अवमानना के गर्त में गिरायी गयी उस जनता के जीवन पर दृष्टि भी नहीं डाली जिसे पिछड़ा एवं शूद्र कहा जाता है। कहना चाहिए कि वर्णव्यवस्था तथा जातिप्रथा से उद्‌भूत भेदभाव यहां के साहित्यकारों को कभी अरुचिकर नहीं लगा। उच्चवर्ग के लोगों ने साहित्य और कला को भी अपनी आरक्षित संपत्ति समझकर उसमें उन पिछड़ों-निर्बलों को भागी बनने का अवसर नहीं दिया। वे बेचारे सामाजिक विषमता का आज तक आखेट बने हुए हैं। कहने का आशय यह कि भारत के शास्त्र, पुराण, विचार, दर्शन, साहित्य, कला, धर्म और संस्कृति सभी पर ब्राह्मणों का एकाधिकार रहा तथा घृणा, निर्धनता, अशिक्षा, अज्ञान, अपमान और शोषण की पीड़ा ब्राह्मणेतरों के हिस्से में पड़ी। कुछ भी हो, अन्याय ही अंततः पराभूत होता है। आज भारत का सामाजिक अन्याय अपनी दुर्गति के कगार पर खड़ा है। जाति व्यवस्था के ध्वजाधर अब अविभक्त मानवता के महत्त्व को धीरे-धीर समझने लगे हैं। सामाजिक समता से उनका मन तो जुड़ा है, किन्तु परम्परा-जर्जर उनकी बुद्धि अभी उसे पूर्णतः अंगीकार करने से कतरा रही है। हमारी आशा और अपेक्षा है कि महात्मा कबीर, नानक, रविदास, दादू, रज्जब, तुकाराम, ज्योतिराव फुले, नारायण गुरु, छत्रपति साहू, बाबा साहब डॉक्टर भीमराव अम्बेडकर तथा पेरियार ई०वी० रामास्वामी का जातिप्रथा के अंत तथा सामाजिक समता के उदय का स्वप्न शीघ्र ही साकार हो, तथा भारत की सामाजिक समता अक्षुण्ण बने।"[2]

---

1. वही, पृष्ठ 203 ।
2. वही, पृष्ठ 212 ।

27
संत श्री विशाल साहेब

जो संत-शिरोमणि सद्गुरु कबीर के पथ के पथिक थे, त्यागी, तपस्वी और दिव्य रहनी संपन्न थे, जिनका मौन-बोध रहनी की पूरी व्याख्या कर देता था, जो निरंतर एकांतवासी और असंगता में रमने वाले थे, जिनकी उपस्थिति में शांति का साम्राज्य होता था, जो जीवन्मुक्ति के महान आदर्श थे, उन परम वैराग्यवान सद्गुरु विशालदेव का यहां संक्षिप्त जीवन-परिचय देने का प्रयास किया जाता है।

1. जन्म और बाल्यकाल

संत श्री विशाल साहेब कबीरपंथ पारख सिद्धांत के महान संतों में एक हैं। आपका जन्म उत्तर प्रदेश, बाराबंकी जिला के जफ्फरपुर ग्राम में विक्रमी संवत् 1942 तदनुसार ईस्वी सन् 1885 में हुआ। आपके पिता का नाम सीताराम वर्मा था। आपके माता-पिता ने आपका नाम वैरीसाल रखा। आपके माता-पिता अपने परिवार सहित कुछ दिनों में जफ्फरपुर ग्राम छोड़कर बाराबंकी जिले के ही मझगवां शरीफ के पास सरैया ग्राम में बस गये। इस प्रकार वैरीसाल का जन्म जफ्फरपुर तथा पालन-पोषण सरैया ग्राम में हुआ।

''होनहार बिरवान के होत चीकने पात'' कहावत के अनुसार वैरीसाल बालक शुरू से ही तेजस्वी था। उस समय गांवों में प्राय: पाठशालाएं बहुत कम हुआ करती थीं। किसानों के बच्चे पढ़ाये भी बहुत कम जाते थे। बालक वैरीसाल भी एक साधारण किसान का बच्चा था, अत: वह भी अपने आठ-दस वर्ष की उम्र से भाई के साथ खेती-गृहस्थी के काम में लग गया। उसे पाठशाला में पढ़ने का अवसर नहीं मिला।

वैरीसाल संकल्पशक्ति के दृढ़ थे। वे छुटपन से ही खेती के काम में लगते तो देर तक काम करते रहते। साथी कहते कि काम कभी पूरा नहीं होता। चलें खायें-पीयें और विश्राम करें, पीछे फिर आकर करेंगे। वैरीसाल कहते कि जब तक किसी काम को देर तक नहीं किया जाता तब तक वह पूर्ण सफल नहीं होता।

2. कबीरपंथ के प्रति अश्रद्धा

बाराबंकी जिले में कबीरपंथ का प्रचार था और जहां-तहां कबीरपंथी कुटिया थीं। वैरीसाल अपनी कुमार अवस्था में श्रीराम-श्रीकृष्ण को भगवान

मानकर उनके प्रति श्रद्धालु थे और सामान्य सनातन धर्म कहे जाने वाली परंपरा में जन्मे होने से उसमें श्रद्धा थी। उन्होंने सुन रखा था कबीर साहेब तो एक महान सिद्ध संत हो गये हैं, परंतु कबीरपंथी लोग भगवान तथा वेद-शास्त्र का खंडन करते हैं, उनकी निंदा करते हैं। इसलिए वैरीसाल को कबीरपंथ में श्रद्धा नहीं थी।

संत श्री रघुवर साहेब नाम के एक कबीरपंथी पारखी संत उनके दरवाजे पर बने चौपाल में कई बार आकर ठहरते थे, परंतु वैरीसाल उनके पास नहीं बैठते थे। वे समझते थे कि जो भगवान तथा वेद-शास्त्र की निंदा करता है उसके पास क्या बैठना!

3. मत परिवर्तन

जब वैरीसाल की उम्र तेरह-चौदह वर्ष की थी, एक बार संत श्री रघुवर साहेब उनके चौपाल में विराजमान थे, परंतु वैरीसाल वहां से दूर थे। श्री रघुवर साहेब के पास बहुत लोग बैठे थे और वे ज्ञान की बातें उन्हें समझा रहे थे। एक व्यक्ति ने वैरीसाल से कहा "हे भैया, जरा यहां आकर देखो-सुनो, ये संत क्या कह रहे हैं?" वैरीसाल उदास मन से आकर बैठ गये और संत की बातें सुनने लगे।

संत कह रहे थे कि मनुष्य भोगों से संतुष्ट नहीं हो सकता। कुछ लोग भोगों से तो विरक्त हो जाते हैं, परंतु वे परोक्ष में अपने सुख का निधान खोजते हैं। मनुष्य समझता है कि परमात्मा कहीं बाहर है। जब वह मिल जायेगा तब हम सुखी हो जायेंगे। मनुष्य का यह भी भटकना है। उसे चाहिए कि वह अपने आप को पहचाने कि मैं कौन हूं। जब वह इंद्रियबोध और मन की कल्पनाओं से ऊपर उठेगा तब उसे अपने वास्तविक स्वरूप का बोध होगा। इंद्रिय और मन से प्रतीतमान सारा संसार छूट जाता है, परन्तु आत्मा अपने आपसे कभी अलग नहीं होता। अतएव परम ज्ञातव्य और प्राप्तव्य आत्मस्वरूप ही है। हमें चाहिए कि हम 'मैं' को पहचानें।

संत का उपर्युक्त प्रवचन सुनकर वैरीसाल का संसार बदल गया। उन्हें लगा कि ये घर-द्वार, गांव तथा समाज ही नहीं, नदी, पर्वत, भूमंडल, चांद, सूरज भी मानो दूसरी तरह के हो गये हैं। उनके मन का मोह भंग हो गया। उन्हें लगा कि मेरी कबीरपंथ के प्रति अश्रद्धा अनभिज्ञता का परिणाम था।

4. अक्षरज्ञान, स्वाध्याय और साधना

संत श्री रघुवर साहेब तो चले गये, परंतु वैरीसाल को लगा कि यदि इस दिशा में आगे बढ़ना है तो इस सिद्धान्त की पुस्तकें पढ़ना चाहिए और इसके लिए अक्षरज्ञान आवश्यक है। उन्होंने पुरोहित से देवनागरी वर्णमाला के वर्ण,

मात्रा तथा संधि का ज्ञान प्राप्त किया और हिन्दी के ग्रंथ पढ़ने लगे। समय-समय पर श्री रघुवर साहेब आते और उनके उपदेशों से वैरीसाल का ज्ञान बढ़ता गया। आगे चलकर श्री रघुवर साहेब ने वैरीसाल को हस्तलिखित कबीर परिचय तथा बीजक मूल दिये। इसके बाद वैराग्यशतक, निर्णयसार तथा पंचग्रंथी दिये। वैरीसाल ने इनका खूब अध्ययन किया। इसके बाद उनको अपने गुरुदेव से श्री पूरण साहेब रचित बीजक टीका त्रिज्या मिली। फिर तो उनको मानो ज्ञान का खजाना मिल गया।

अब वैरीसाल घर का काम-काज करना कम कर दिये और गांव से कुछ दूर गुफाबाग नामक बाग में जाकर देर-देर तक ठहरकर स्वाध्याय और साधना में लीन रहने लगे। वे खाने-पीने की चिंता नहीं रखते थे। घर वाले गुफाबाग में ही उन्हें भोजन दे आते थे। घर वाले समझ लिये कि अब लड़का घर में नहीं रहेगा, विरक्त हो जायेगा।

5. साधुवेष में प्रवर्जित

वैरीसाल के अध्ययन और साधना गुफाबाग में अखंडरूप से चलने लगे। बीच-बीच में गुरुवर श्री रघुवर साहेब आते और वैरीसाल को उपदेश दे जाते। वैरीसाल अपने गुरुदेव से कहते कि आप कृपया मुझे साधुवेष देकर प्रवर्जित कर दें। परंतु श्री रघुवर साहेब उन्हें केवल सत्योपदेश देकर चले जाते। इस तरह छह-सात वर्षों तक साधना देखकर श्री रघुवर साहेब ने वैरीसाल को साधुवेष दे प्रवर्जित किया और वैरीसाल नाम बदलकर 'विशाल दास' नाम रख दिया, जिन्हें हम श्री विशाल साहेब के नाम से जानते हैं।

श्री रघुवर साहेब ने अपने शिष्य विशाल दास को उस समय यह उपदेश दिया "देखना, साधुवेष में कलंक नहीं लगाना। जैसे काछ काछे, वैसे नाच नाचे। कहीं नौताय-बैदाय में नहीं फंसना। किसी महंत के मठ, गद्दी, महंती एवं ऐश्वर्य को देखकर उनमें प्रलुब्ध नहीं होना। शुद्ध वैराग्य से जीवन बिताना। सिंह का बच्चा सिंह होता है। कभी गीदड़ नहीं बनना।"

सद्गुरु श्री विशाल साहेब गुरु के उपर्युक्त उपदेशों को बराबर याद रखते थे और कई बार अपने शिष्यों में उन्हें दोहराते रहते थे।

श्री विशाल साहेब ने 'गुफाबाग' और 'बंधिया बाग' में जो उनके पालन-पोषण स्थान के निकट ही पड़ते थे, रहकर खूब साधनाएं कीं और अध्ययन किया। उन्होंने बीजक, त्रिज्या, पंचग्रंथी, निर्णयसार, वैराग्यशतक, कबीर परिचय आदि ग्रंथों का अनेक बार गहन अध्ययन किया। इसके साथ गीता, रामचरितमानस, विश्रामसागर आदि का भी खूब अध्ययन किया। गीता के श्लाकों का हिन्दी दोहा-अनुवाद तो उनको अधिकतम याद ही था। बीजक टीका जिज्या का तो उन्होंने बारह वर्षों तक निरंतर अध्ययन किया। आगे

चलकर निर्पक्ष सत्यज्ञान दर्शन, सत्यज्ञान बोध नाटक, तत्त्वयुक्त निजबोध विवेक, जड़-चेतन भेद प्रकाश का गहन अध्ययन किया। "जो तू चाहे मुझको, छांड़ सकल की आस। मुझ ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास।[1] आशा तृष्णा न मिटी, मिटा न मन अनुराग। कलह कल्पना न गई, तब लग नहिं वैराग।[2] आतम में संतुष्ट जो, आतम सो रति होय। तृप्त जो आतम में रहे, ताहि न करनो कोय।"[3] इन दोहों को बारंबार दोहराते रहते थे। आपने बीजक-पंचग्रंथी तथा उनसे संबंधित ग्रंथों का तो पूर्ण अभ्यास किया ही, विनय पत्रिका के भी कई पदों को गाते तथा उनके भाव लोगों को सुनाते रहते थे। श्री विशाल साहेब सबके असंगत अंशों को छोड़कर सत्यसार का संग्रह करते रहते थे।

6. साधुवेष के बाद की साधना

श्री विशाल साहेब की जब बीस-इक्कीस वर्ष की उम्र हुई थी, तब उन्होंने अपने गुरु से साधुवेश पाया था। इसके एक वर्ष बाद गुरु श्री रघुवर साहेब का शरीर छूट गया। श्री विशाल साहेब का जहां बचपन बीता वह सरैया ग्राम है। इसी के आस-पास मझगवां शरीफ, वाजिदपुर तथा असोहना ग्राम हैं। इन चारों ग्रामों के बीच में, सभी ग्रामों से दूर बंधिया बाग है जो एकांत स्थल है। श्री विशाल साहेब ने गुफाबाग को छोड़कर उक्त बंधिया बाग में अपनी तपस्थली बनायी। आप किसी ग्रंथ को दर्जनों बार पढ़ते थे। बीजक टीका (त्रिज्या) तथा वैराग्यशतक जैसे ग्रंथ असंख्य बार पढ़ते रहते थे। वैराग्य शतक जैसे ग्रंथ का तो एक आसन से बैठे-बैठे कई बार पाठ कर जाते थे।

वे एक बार श्री पूरण साहेब के वैराग्य शतक का एक ही आसन पर बैठे कई बार पाठ करते रहे। कुछ दूर पर एक किसान अपने खेत में पानी लगा रहा था। उसने आकर श्री विशाल साहेब से कहा कि आप उन्हीं-उन्हीं दोहों को अनेक बार क्यों दोहराते हैं? श्री विशाल साहेब ने कहा कि तुम उसी-उसी पानी को दिन भर क्यों उलीचते हो? जैसे तुम्हें उसी पानी को बराबर उलीचने से लाभ दिखता है वैसे मुझे उन्हीं-उन्हीं वाणियों का बारंबार पाठ करने से लाभ दिखता है।

बंधियाबाग में गुड़ पकाने का एक कड़ाह उलटा पड़ा रहता था। जमीन में सीलन होने पर आप उस पर बैठकर साधनारत रहते थे। आप कभी-कभी दूर

---

1. **बीजक, साखी 298 ।**
2. **वैराग्य शतक, श्री पूरण साहेब।**
3. **गीता 3/17- "यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।**
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥" का अनुवाद।

तक भ्रमण में निकल जाते, कभी-कभी संतों के भंडारे तथा सम्मेलनों में भी चले जाते। वहां आप सबसे मिलजुलकर एकांत में ही रहते। आपने अयोध्या, मथुरा, हरद्वार, ऋषिकेश, गोरखाली आदि में भ्रमण किया। अयोध्या तो अनेक बार घूम आते। भक्तों द्वारा पूजा रूप में दिए हुए कुछ पैसे रहते। उन्हीं से गुड़-चना खरीदकर खा लेते और अयोध्या का भ्रमण कर आते।

आप सदैव एकांतवास के प्रेमी थे। आप जब किसी संतमंडली में जाते तब वहां आगे बढ़कर दंडवत-बंदगी करते, किन्तु बैठने-उठने में पीछे और नीचे बैठने का प्रयास करते। समूह में सेवा का काम कर देते और फिर सबसे अलग तथा मौन रहकर निवास करते।

आप कई दिनों तक नदी तट, बाग, जंगल आदि में रहकर साधना में लीन रहते। वहां साथ में ले गये चने-गेहूं आदि जलपात्र में एक-दो मुट्ठी भिगाकर खा लेते। कई बार वन के कोमल पत्ते, नीम के पत्ते खा-खाकर तथा पानी पी-पीकर कई दिनों तक एकांत साधना में लगे रहते। विशालदेव कहते थे कि मैंने सोचा कि यदि साधना करना है तो खाने-पीने से लापरवाह होना पड़ेगा। जब वे गांव में आते तब भक्तों के यहां अपने हाथों से सादा भोजन बनाकर खा लेते।

आपके तेजोमय तथा प्रतिभाशाली व्यक्तित्व को देखकर मत-मतांतर के कई संत-महंतों ने आपको राय दी की संस्कृत तथा वैद्यक पढ़ लें तो आगे चलकर जीवन-निर्वाह में सरलता होगी, आपका सम्मान भी बढ़ेगा और प्रचार भी होगा। कई संत-महंत आपको अपने पास रखना चाहते थे। परंतु आपको न विद्वान बनने की इच्छा थी, न वैद्य, न महंत और न प्रचारक। आपको केवल अखंड वैराग्यपूर्वक रहकर साधना द्वारा पूर्ण शांति प्राप्ति की इच्छा थी। अतएव आप जीवनपर्यंत किसी प्रलोभन में नहीं पड़े।

विशालदेव के आरंभिक साधना-काल में बाराबंकी क्षेत्र में कई कबीरपंथी संत और महंत थे। उनमें श्री शीतल साहेब विशेष वैराग्यवान, साधना संपन्न एवं योग्य संतपुरुष थे। विशालदेव ने श्री शीतल साहेब का भी समय-समय से सत्संग किया था। कुछ दिनों में श्री शीतल साहेब बाराबंकी छोड़कर आगरा चले गये थे। वहीं आपने बहुत दिन रहकर लगभग सौ वर्ष की उम्र में शरीर छोड़ा था।

7. विशालदेव के उपदेश देने की विधा

आप कभी सभा में नहीं बोलते थे। कई लोगों को बैठाकर भी नहीं बोलते थे। आपको तो मुख्य प्रिय थी साधना, एतदर्थ एकांतवास। आप जिस गांव में रहते, सुबह बाहर वन, बाग, नदी तट आदि एकांत में चले जाते। दोपहर तक

वहां रहते। दोपहर में गांव में आकर भक्तों के यहां भोजन बनाकर खा लेते और पुन: बाहर एकांत चले जाते। वहां रात आठ-नौ बजे तक रहते। कभी तो रातभर बाहर ही रह जाते और कभी नौ बजे रात तक गांव में भक्तों के यहां आ जाते।

यदि आप रात में गांव में आते तो गांव का जो ज्यादा समझदार तथा श्रद्धालु प्रेमी होता उसको निर्णय सुनाते। ज्यादातर उसे सुबह बाहर ले जाकर ज्ञान की बातें सुनाते। जब वह व्यक्ति बोध में पक्का हो जाता तब वह गांव के अन्य लोगों को समझाता। इस प्रकार आप एक गांव में एक-दो को जड़-चेतन का निर्णय तथा स्वरूपज्ञान का पक्का बोध करा देते और वे दूसरों को समझाते। इस प्रकार आपने बाराबंकी क्षेत्र में पारख सिद्धान्त के बीज बोये।

जब आपकी प्रसिद्धि बढ़ी और शिष्य-मंडली चलने लगी, तब भी आपने समूह में भाषण कभी नहीं दिया। रात हो या दिन, जब कभी कोई योग्य जिज्ञासु होता तब उसके प्रश्न पर आप उसे समझाने लगते। आपकी ज्ञान-चर्चा की बात सुनकर संत-भक्त आपके निवास के आस-पास आड़ लेकर बैठ जाते और सुनते। आपकी आवाज गंभीर और ऊंची होती थी। उस समय भी आपके सामने केवल एक ही व्यक्ति होता था।

जब कभी बहुत लोग मिलकर आपसे कुछ सुनने आते तब आप मौन हो जाते। आपने समूह की इच्छा से चलने की आदत ही नहीं डाली। केवल एक व्यक्ति का प्रश्न और आपका उत्तर। जब आपको कहने की प्रसन्नता होती तब आपका निर्णय बहुत लंबा चलता। यहां तक कि महत्त्वपूर्ण विषय को आप कई दिनों तक चलाते। आपके निर्णय के विषय होते थे जड़-चेतन, स्वरूपज्ञान, पुनर्जन्म, कर्मवासना, कर्मफलभोग, संचित, प्रारब्ध, क्रियमाण, कर्म, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, मानवीय गुण, साधुदशा, जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति आदि। भूत-प्रेत तथा परोक्ष आभास के निरास में भी आप बोलते थे।

8. साधु-शिष्यों का निर्माण

आपने अपनी चालीस वर्ष की उम्र तक किसी को शिष्य नहीं बनाया। इसके बाद आपके पास विरक्त शिष्यों का जमघट होने लगा। आप विरक्त साधकों को आठ-दस वर्ष, किसी-किसी को पंद्रह वर्ष साधना में कसकर साधुवेष देते थे। किसी के मिलने पर पहले तो आप उससे बोलते नहीं थे। जब किसी की बड़ी जिज्ञासा देखते थे तब उससे बात करते थे। आपके प्रसिद्ध शिष्य संत श्री प्रेम साहेब जब अपनी चौदह वर्ष की उम्र में आपसे मिले, तब आपको मौन देखकर वे घबरा गये। परंतु पास के संत ने समझाया कि तुम घबराओ मत, तुम्हारी जिज्ञासा देखकर गुरुदेव तुमसे बात करेंगे। धीरे-धीरे

विशालदेव की शरण में पचासों विरक्त शिष्य तथा हजारों गृहस्थ-भक्त आकर अपना कल्याण किये।

9. मौन, सहन और निर्विवाद

विशालदेव की प्रसिद्धि काफी बढ़ गयी थी। नाना मत के संत एवं पंडित उनसे बहस करने आते थे। विशालदेव अपने शिष्यों से उनका जल-भोजन, मीठे वचन और आसन से सत्कार करवा देते थे। कोई उलटा-पलटा कहता था उसे सह लेते थे और मौन रहते थे। उन्होंने एक बड़े विवादी मंहत को समझाया था कि आप अपनी बातें अपने भक्तों को बतायें, हम अपनी बातें अपने भक्तों को बताते हैं। सामान्य सदाचार दोनों में बराबर ही है। कुछ विचारों की बातों में अन्तर है, तो वह अंतर सबमें कुछ-न-कुछ है। जब अनादिकाल के बड़े-बड़े ऋषि-मुनि सबके विचार एक नहीं कर सके तो हम-आप कैसे एक कर सकते हैं। समझने-समझाने का तरीका है जिज्ञासा, विनम्रता, श्रद्धा, निष्पक्ष बुद्धि; विवाद नहीं।

जब कोई मतवादी हठपूर्वक कहता कि आपके विचार सत्य हैं तो उन्हें मुझको समझाइए, तब विशालदेव कहते कि आपके ख्याल से आपके विचार तो सत्य हैं, तो फिर उन्हें आप अन्य सभी मतवादियों को क्यों नहीं समझा देते!

जब विशालदेव के पीछे कोई बहुत पड़ जाता तब वे उसके प्रश्न में प्रश्न करके उसे मौन होने की दशा में ला देते। काशी से एक संत एवं पंडित आये। उन्होंने बड़े समारोह के साथ गुरुदेव को हराने का प्रोग्राम बनाया था। परंतु गुरुदेव ने उनके प्रश्नों में प्रश्न करके उन्हें मौन कर दिया। जब वे गुरुदेव के पास से निकलकर बाहर संतों के पास आये तब उन्होंने सबके बीच में कहा—"विशाल बाबा का जैसा नाम सुना था, वे वैसा ही हैं। उन्हें कोई हरा नहीं सकता।"

10. हठसाधना, दिखावा और फैलावा से रहित

गुरुवर विशालदेव प्रथम साधना में एकांत जंगल, नदी तट आदि पर दो-चार दिन रह जाते थे, तब वे कोमल पत्ते, पानी या एक-दो मुट्ठी गेहूं या चने आदि पर गुजर कर लेते थे। परंतु निष्प्रयोजन लंबा उपवास या दिखावे के काम से दूर रहते थे। एकांत में उन्हें बैठा हुआ देखकर जब कोई पूछता तब वे कह देते कि अमुक गांव से खा-पीकर आया हूं और कुछ समय में पुनः वहीं चला जाऊंगा। समाज में जब किसी संत ने एक-एक सप्ताह उपवास रहने का अनुष्ठान किया तब उन्होंने ऐसा करने से रोका। वे कहते थे कि दिखावे से रहित मध्यवर्ती व्यवहार होना चाहिए।

आपकी प्रसिद्धि बढ़ने पर लोग आपसे मिलने आते। आप सबसे मिलजुलकर चल देते तो आपका पता भी नहीं चलता कि आप कहां गये।

इससे लोगों को कष्ट भी होता था, परंतु विशाल साहेब चाहते थे कि हमारे पास भीड़ न बढ़े। इसलिए आप सबसे हटकर एकांत सेवन करते रहे। आप दूसरों को चेताने तथा अपने समाज का विस्तार करने की चेष्टा नहीं रखते थे। आपका मंतव्य था—

1. हमारी बातें सत्य होने पर भी इन्हें सब नहीं स्वीकार कर सकते, फिर हठात किसी के पीछे पड़ने से क्या लाभ?

2. दूसरों को ज्यादा मनाने एवं बलात समझाने के चक्कर में अपने समय और शक्ति नष्ट होंगे, अतएव हमारे कल्याण में विलंब होगा।

3. बेतहाशा समाज बढ़ जाने पर उसमें ऐसे-ऐसे मनुष्य आ जायेंगे जो समाज को ही उखाड़ फेंकने का प्रयत्न करने लगेंगे।

4. स्वरूपस्थिति की साधना में चलने पर मन निष्काम हो जाता है, फिर संसार से कुछ प्रयोजन ही नहीं प्रतीत होता।

5. स्वरूपस्थ पुरुष को बाह्य-प्रवृत्ति भारस्वरूप प्रतीत होती है, फिर इतने मानने वाले मिलते हैं कि सबसे भाग-भाग कर बचना पड़ता है।

6. हम सन्मार्ग पर चलते हैं, तो हमें देखकर जिसका मन होगा सन्मार्ग पर चलेगा।

7. मेरा सुधर जाना समाज का सुधार है, क्योंकि मैं समाज का एक अंग हूं।

11. समता व्यवहार

विशालदेव दूसरे के मत के खंडन-मंडन में नहीं पड़ते थे। वे मानते थे कि अपने विचारों का सही निर्णय दे देने पर दूसरे के मत के प्रायः खंडन की आवश्यकता नहीं पड़ती। उनके सारे उपदेश समतापूर्वक होते थे। वे जिस आश्रम पर जाते वहां की मर्यादा का पालन कर देते थे। एक बार वे एक वैष्णव मंदिर पर थे। पूजा का समय आया। आश्रम पर रहे हुए वैष्णव संत ने कहा—''यदि आपको 'भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी ... ' पूरा छंद याद हो तो इसे गा दें और मैं भगवान की आरती कर लूं।'' विशालदेव को यह छंद याद था। वे मूर्ति के सामने हाथ जोड़कर खड़े हो पूरा छंद गा दिये और वैष्णव संत ने आरती कर ली। वे कहते थे कि किसी आश्रम पर जाय तो वहां की मर्यादा का पालन करे, अन्यथा जाय ही नहीं।

प्रसिद्ध होने पर विशालदेव की शरण में अनेक मत के भक्त आये, परंतु उन्होंने उन भक्तों को यही उपदेश किया कि वे अपने पूर्व गुरुओं का भी आदर-सत्कार करते रहें।

12. गुरुदेव के लिए पचास आश्रम

विशालदेव की प्रसिद्धि बढ़ी और विरक्त शिष्यों की मंडली बनने लगी तथा गृहस्थ-भक्त गांव-गांव बढ़ने लगे। एकांतसेवी विशालदेव के लिए यह

सब परेशानी का कारण बनने लगा। अतएव गुरुदेव सबको छोड़-छोड़ कर एकांत निकल जाते थे। उक्त स्थिति को ध्यान में रखकर संत-भक्तों ने विचार किया कि यदि गुरुदेव से लाभ लेना है तो उनके एकांतवास के लिए हमें प्रबंध करना चाहिए। अतएव गांव के बाहर जगह-जगह कुटिया बनायी गयी। समाज के संत तथा आगंतुक संत-भक्तों का निवास गांव में होता था और गुरुदेव का निवास गांव के बाहर एकांत कुटी में होता था। वहां गुरुदेव के परली ओर दो-चार संत-ब्रह्मचारी सेवा-रक्षा करने वाले रहते थे।

पूर्ण प्रसिद्धि बढ़ जाने पर विशालदेव एक-एक आश्रम पर दो-दो, चार-चार तथा छह-छह महीने रह जाते थे। उनके दर्शन के लिए भारत के अनेक प्रदेशों तथा काठमांडू से भी भीड़ आती थी। वह भीड़ गांव में रहती थी, समय-समय पर विशालदेव के निवास पर जाकर दर्शन कर लेती थी और गांव में उसका भोजन, निवास आदि रहता था तथा गांव में ही दो समय संतों द्वारा प्रवचन के कार्यक्रम रहते थे। यह पहले बताया गया है कि विशालदेव समाज में भाषण नहीं करते थे। कितने दर्शनार्थी तो उनके साधारण शब्द भी नहीं सुनने को पाते थे। किन्तु श्री प्रेम साहेब तथा अन्य संतों से संत-भक्तों को भरपूर सत्संग लाभ मिलता था। इस प्रकार भारत तथा काठमांडू तक विशाल देव के लिए करीब पचास आश्रम बन गये।

13. निष्पृहता

कोई सन् 1945 ई० की बात है। काठमांडू की भक्त-मंडली परस्पर संग्रह कर काफी रुपये विशालदेव के चरणों में समर्पित करने के लिए बाराबंकी में लाये। विशालदेव ने उन्हें समझाया कि मेरा अपना आश्रम नहीं है। जहां रहता हूं सारा प्रबंध भक्तों द्वारा रहता है। मैं इतने रुपये स्वीकार कर क्या करूंगा! ये रुपये तो इन साधुओं के प्रमाद के ही कारण बनेंगे, क्योंकि इनका यहां कोई उपयोग नहीं। अतएव ये रुपये बुरहानपुर श्री कबीर निर्णय मंदिर ले जाकर अर्पित कर दो। वहां बहुत-से संत रहते हैं, बीजक-पंचग्रंथी की पढ़ाई होती है, पुस्तकें छपती हैं। वहां इन रुपयों का सदुपयोग हो जायेगा।

काठमांडू के भक्तों ने विशालदेव के समाज में भंडारे एवं वस्त्र-वितरण में कुछ रुपये खर्च किये और शेष रुपये बुरहानपुर के श्री कबीर निर्णय मंदिर में अर्पित कर दिये।

विशालदेव के सामने भक्तों द्वारा पूजा में जो रुपये चढ़ते थे, वे समाज के संतों एवं आगंतुक संत-भक्तों की सेवा में खर्च होते रहते थे।

विशालदेव ने स्वयं कोई आश्रम नहीं बनाया, किन्तु उनकी बुद्धि समता में थी। उन्होंने स्वरचित सत्यनिष्ठा ग्रंथ में कहा है—

लौकिक आश्रम हीन कोई, कोई आश्रम युक्त।
रहत पारखी संत इमि, रहस्य बोध गहि मुक्त॥

(सत्यनिष्ठा, पाठ 3, 13/4)

14. रचनाएं

विशालदेव अपनी पचास वर्ष की उम्र तक स्वाध्याय और साधना ही करते रहे। उसके बाद उनको देखा गया कि वे कुछ गुनगना रहे हैं। एक बार उनको गाते देखा और सुना गया—''हम कैसे अपना स्ववश करत नहिं काम।'' पास के संतों ने निवेदन किया कि जो कुछ आपके हृदय से निर्मित हो उसे बोल देने की कृपा करें तो हम लोग उसे लिख लें। गुरुदेव ने स्वीकारा और वे अपनी रचित कविताएं बोलने लगे तथा संतों ने उन्हें लिखना आरम्भ किया। इसी क्रम में भवयान, मुक्तिद्वार, सत्यनिष्ठा तथा नवनियम नाम से चार ग्रंथों की रचना हुई। विशालदेव ने स्वाध्याय के लिए ग्रंथों का स्पर्श किया, परंतु रचना के लिए कलम, स्याही और कागज का स्पर्श नहीं किया। उन्होंने कबीर देव की इस साखी को चरितार्थ कर दिया—

''मसि कागद छूवों नहीं, कलम गहों नहीं हाथ।
चारिउ युग का महातम, कबीर मुखहि जनाई बात॥''

(बीजक, साखी 187)

श्री विशाल साहेब के उपर्युक्त चारों ग्रंथों के विषय अत्यंत गंभीर, सरल तथा अध्यात्मसार हैं। वाणियों की गंभीरता देखकर कितने अनभिज्ञ लोग कल्पना कर लेते थे कि विशाल साहेब तो पढ़े-लिखे नहीं हैं, वे ऐसी गंभीर वाणियों की रचना कैसे कर सकते हैं। उनके नाम से कोई लिख देता होगा। परंतु वास्तविकता यह है कि उनकी सारी वाणियां उनके ही हृदय और कंठ से निकली हैं और उनमें एक अक्षर किसी दूसरे का शोधन भी नहीं है। इन पंक्तियों के लेखक ने स्वयं देखा है कि वे अपनी वाणियों को सुन-सुन कर उचित शोधन स्वयं करते थे। सुन-सुन कर उन्हें जहां शब्द परिवर्तन की आवश्यकता लगती थी वहां वे स्वयं बता देते थे कि यह शब्द काटकर यह शब्द लिख दो।

आपके चारों ग्रंथों की टीका श्रद्धेय श्री प्रेम साहेब ने की है जिनके एक से अधिक संस्करण प्रकाशित हो गये हैं। इन्हीं चारों ग्रंथों पर मोक्षशास्त्र नाम से इन पंक्तियों के लेखक ने एक पुस्तक लिखी है जिसमें उनके जीवन-दर्शन तथा उपदेशों को सार संक्षेप में जाना जा सकता है।[1]

---

1. **इस ग्रंथ के लेखक ने अब भवयान, मुक्तिद्वार, सत्यनिष्ठा तथा नवनियम की टीका भी कर दी है, जो कबीर पारख संस्थान इलाहाबाद से प्रकाशित है।**

15. स्पष्ट समाधान

विशाल देव लखनऊ क्षेत्र की देहाती भाषा में बोलते थे। उनका वक्तब्य स्पष्ट होता था। वे किसी विषय पर जैसे बहुत विस्तार से बोलते थे, वैसे उस पर अति संक्षेप में बोलने में भी कुशल थे। जब वे किसी विषय पर बोलते थे, तब लगता था कि स्वच्छ दर्पण में प्रतिबिम्ब दिखने के समान वह सब साफ दिख रहा है। उनकी वाक्यशक्ति प्रबल, स्वच्छ और गंभीर थी। चाहे व्यावहारिक हो या पारमार्थिक, सभी विषयों पर उनका स्पष्ट समाधान रहता था।

16. व्यक्तित्व

विशाल देव का कद मध्यम था, रंग सांवला और शरीर स्वस्थ था। वे बहुत कम बोलते थे। किसी विषय में निर्णय करते समय लंबा भी बोलते थे। वे खिलखिलाकर कभी नहीं हंसते थे, उनको कभी-कभी मुस्कराते देखा जाता था। वे कभी कटु नहीं बोलते थे। वे परमत खंडन करने से बचते थे। वे अपनी बातें ही कहते थे। परमत पर भी विचार करना हो तो मधुर शैली तथा भाषा का प्रयोग करते थे। किसी के कुछ पूछने पर वे दस-पंद्रह सेकेंड मौन रहकर उत्तर देते थे।

वे सदैव एकांतवासी थे। वे जहां रहते थे, एकदम नीरवता रहती थी। उनके सामने कोई जोर से शब्द नहीं बोलता था। वे सबसे हटकर रहना चाहते थे। वे हित, मित और प्रियभाषी थे और सबसे निष्काम थे।

वे श्रद्धा से समझ को अधिक श्रेय देते थे। वे कहते थे कि केवल श्रद्धालु का ठिकाना नहीं है कि वह इस क्षण अपना सिर अर्पित करने लगे और दूसरे क्षण सिर काटने के लिए तैयार हो जाय। यदि श्रद्धायुत समझदारी हो तो सोने में सुगंध है, परंतु श्रद्धा न रहने पर भी समझदार व्यक्ति खोटे रूप में कभी उपस्थित नहीं होगा।

17. सहनशीलता

जीवन में काफी सदाचार और त्याग होने पर भी अहंकार और ईर्ष्या से पिंड छुड़ा पाना सरल नहीं रहता। इसीलिए पूर्ण संतों की भी निन्दा करने वाले अच्छे-अच्छे लोग होते हैं। अतएव संसार का कोई महापुरुष ऐसा नहीं होगा जिसकी निन्दा करने वाला कोई न हो। विशालदेव की भी निन्दा करने वाले थे और उनमें सदाचारी तथा त्यागी लोग भी थे। विशालदेव को निंदित करने के लिए गंदी पुस्तकें लिखी गयीं। उनको अपशब्द कहा गया।

इन पंक्तियों के लेखक ने विशालदेव के अत्यंत निकट रहकर देखा कि उन्होंने अपने विरोधियों एवं निंदकों को भी कभी आधी जबान में भी कटु शब्द

नहीं कहा। बल्कि ऐसी चर्चा चलने पर उन्होंने अपने विरोधियों के लिए आदरयुक्त शब्दों का प्रयोग किया। देखा गया कि वे अपमान-सम्मान तथा अनुकूलता-प्रतिकूलता में निर्विकार एवं समान रहे।

एक बार बाराबंकी जिले में एक गांव के बाहर उनके लिए बनाये गये आश्रम में वे निवास कर रहे थे। रात में कुछ चोर आये। पास की झोपड़ी में रहने वाले साधुओं को डरा-धमकाकर कहने लगे कि जो कुछ है दे दो। संतों ने कहा कि हम लोगों के पास पहनने-ओढ़ने के कपड़े के अलावा कुछ नहीं है। जब चोरों को विश्वास हो गया कि इन साधुओं के पास वस्तुतः कुछ नहीं है तब वे श्री विशाल साहेब के कक्ष में जाकर खड़े हो गये और उन्होंने कहा कि जो कुछ है दे दीजिए।

श्री विशाल साहेब आश्रम में चोरों का आना पहले से जान गये थे; अतएव उन्होंने खाट पर बिछाई कथरी (साधारण बिस्तर) में अपने शरीर के कपड़े रखकर तथा उसे बटोरकर खाट पर सामने रख लिए थे और केवल एक लंगोटी पहने नंगे शरीर नंगी खाट पर बैठे थे। जब चोरों ने उनके सामने आकर कहा कि जो हो, दे दीजिए, तब श्री विशाल साहेब ने सामने रखी गठरी जैसी सामग्री को जमीन पर फेंक दिया और मौन रहे। चोरों ने उसमें देखा तो उनके योग्य उसमें कोई वस्तु नहीं थी। चोरों ने कक्ष में प्रवेश कर इधर-उधर देखा तो खूटियों पर दो झाबे टंगे थे। उन्होंने उसको उतारा। उन्हें वे कुछ वजनदार लगे और आभास हुआ कि इनमें मालटाल होगा। परन्तु जब उन्होंने उन्हें बाहर ले जाकर देखा, तो उनमें फल, सत्तू, आयुर्वेदिक औषध आदि नित्य के उपयोग की वस्तुएं थीं। चोरों ने उन्हें वहीं छोड़ दिया और चले गये। इस पूरी प्रक्रिया में श्री विशाल साहेब पूर्ण मौन थे।

18. उपसंहार

विशालदेव ने 9 फरवरी सन 1977 ई० को अपना भौतिक कलेवर बाराबंकी के मूंजापुर ग्राम में छोड़ा। उन्होंने शरीर धरने और छोड़ने की चरितार्थता की। वे जीवन्मुक्त थे, हजारों के अनुशास्ता थे और अमर संदेश-गायक थे। वे अपना दिव्य आदर्श तथा अमर वाणी समाज के लिए छोड़ गये जो कल्याणार्थियों के लिए अमरनिधि है।

उनके चारों ग्रंथों की वाणियों में मानव-समाज के सभी वर्ग के लिए पुष्कल उपदेश भरे है। यहां केवल जीवन्मुक्ति रहनी की व्यंजनाओं से पूर्ण आठ सखियां प्रस्तुत हैं—

जानि जनाय देखे सुने, सब मित्रन दिल हाल।
हानि लाभ इसमें कहा, जो तेहि हेतु बेहाल॥ 131॥

प्रकाश रूप स्पर्श रस, शब्द गंध बेकाम।
हर्ष शोक जाने खटक, बिनु जाने निज धाम॥ 132॥
हेतु न मिलने में कोई, जहं तक जगका साथ।
प्राणी मात्रन के मिलत, राग द्वेष दुख हाथ॥ 133॥
तन मन इन्द्रिन प्रेम से, चाह होत बहिरंग।
सो तब कल्पित जीव के, बिना हेतु ही तंग॥ 134॥
पारख अटल समाधि है, देह भिन्न सब काल।
देह रहे या ना रहे, यकसम जानि निहाल॥ 135॥
सोई रहस्य अपनाइये, और कहूं नहिं नीक।
सबसे आपै नीक है, जहां रहे सब फीक॥ 136॥
अब तो सनमुख कुछ नहीं, जब से मानब छूट।
गुरू कृपा निज बोध बल, ठहरि आप मन टूट॥ 137॥
जेहि हित सब कुछ करि थके, सो सब पाया आज।
अब तौ बाकी कुछु नहीं, पारख स्वत: बिराज॥ 138॥

(मुक्तिद्वार, निवृत्ति साहस शतक)

''हम अपने सभी मित्रों से मिलें, उन्हें देखें और दिखावें तथा उनके दिल की बातें जानें और अपने दिल की बातें उन्हें बतावें; स्वरूपस्थिति की साधना में चलने वाले विवेकवान के लिए उक्त बातों में क्या रखा है। वैसा करने से क्या लाभ है और न करने से क्या हानि है! अतएव क्यों इन बातों के लिए परेशान हो!

''सूर्य, चंद्रमा, तारे, बिजली, बत्ती आदि के सारे प्रकाश तथा इनमें दिखते हुए नर-नारियों, मकानों, गांवों, शहरों, नदियों, पर्वतों आदि के रूप, स्पर्श, रस, शब्द एवं गंध—सब निरर्थक हैं। इन्हें देख, सुन तथा जान-जान कर हर्ष-शोक की खटक होती है। इन्हें न जाने, न माने तो अपने स्वरूपस्थिति-धाम में अचल विश्राम है।

''जहां तक संसार में मनुष्यों का संयोग होता है, उनसे मिलने में शांति-इच्छुक का कोई प्रयोजन नहीं है; क्योंकि मनुष्य मात्र के मिलने में राग या द्वेष बनकर हाथ में दुख ही लगता है।

''अपने माने गये शरीर, इंद्रियों तथा मनोविलास में राग करने से बाहरी संसार की चीजों के लिए इच्छाएं उत्पन्न होती हैं। यह सब मनुष्य की व्यर्थ कल्पनाओं से ही होता है। ऐसे उपद्रव में पड़कर व्यक्ति निष्प्रयोजन ही दुखी होता है।

''यहां तो सबको परखने और जानने वाले उस शुद्ध निज स्वरूप चेतन की समाधि में सब समय स्थिति है जो देह से सर्वथा पृथक है। अब देह कुछ दिन बनी रहे या अभी नष्ट हो जाय दोनों को एक समान समझकर हम कृतार्थ हैं।

''हे कल्याणार्थी! यही रहनी ग्रहण करो। इसके अलावा कहीं कुछ भी अच्छा नहीं है। तुम बाहर चाहे जितना अच्छा मानो, उसका एक दिन छूटना पक्का है। अतएव सबसे उत्तम स्वरूपस्थिति ही है। इसमें रहने वाले के लिए सारा संसार नीरस हो जाता है।

''जब से अपने चेतन स्वरूप को विवेक द्वारा जड़-प्रकृति में से पूर्णरूपेण निकाल लिया और जड़-शरीर तथा शरीर संबंधी दृश्यों की अहंता-ममता छोड़ दी, तब से सामने कोई बंधन नहीं रहा। सद्गुरु की कृपा और अपने स्वरूपबोध के बल से अपने आप में स्थित हो गया और मन का जाल टूट गया।

''जिस परम सुख के लिए अनादिकाल से सब कुछ करके थक गये थे और वह नहीं मिला था, वह आज मिल गया। अब कुछ करना एवं पाना शेष नहीं रहा। बस, शेष साक्षी चेतन की स्थिति मात्र है।''

28
डॉ० भीमराव अम्बेडकर

प्रतिभा के धनी, विद्या में आगर, इतिहास-विधि-अर्थ-समाज-शास्त्र में निष्णात, स्वतन्त्र भारत के संविधान के निर्माता, बीसवीं सदी के मनु, जीवन भर दलित समाज के कल्याण के लिए जूझने वाले, प्यार और श्रद्धा से बाबा साहेब के नाम से याद किये जाने वाले भारतरत्न डॉ० भीमराव अम्बेडकर भारत के सपूतों में से एक हैं।

1. जन्म और बाल्य काल

महाराष्ट्र में एक क्षेत्र का नाम है 'कोंकण। इसमें एक गांव है 'अंबावड़े'। इसी में ''मालोजी सकपाल'' रहते थे जो 'महार' जाति के थे। यहां के महार लोग प्राय: बलिष्ठ, मेधावी और वीर होते थे। मालोजी सकपाल सेना की सेवा से निवृत्त होने के बाद विरक्त होकर साधु हो गये। मालोजी के 'रामजी सकपाल' नाम का एक पुत्र था। रामजी सेना के स्कूल में चौदह वर्षों तक प्रधान अध्यापक थे। इसके बाद ये सूबेदार मेजर हुए। रामजी सकपाल को चौदह संतानें हुईं जिनमें अंतिम थे 'भीमराव' जिन्हें हम डॉ० अम्बेडकर नाम से जानते हैं।

डॉ० अम्बेडकर की परिवार-परम्परा कबीरपन्थी थी और उनका ननिहाल भी कबीरपन्थी था, जहां से उनकी माता 'भीमाबाई' आई थीं। इस प्रकार डॉ० अम्बेडकर का पितृपक्ष और मातृपक्ष—दोनों कबीरपन्थी होने से उन्हें धार्मिक संस्कार मिले थे। इसका प्रभाव डॉ० अम्बेडकर के पूरे जीवन पर रहा।

भीमराव का जन्म मध्यप्रदेश के 'महू' नाम के स्थान पर 14 अप्रैल 1891 ई० में हुआ था। भीमराव की छह वर्ष की उम्र में उनकी माता भीमा देवी का देहांत हो गया। किन्तु भीमराव की बुआ 'मीरादेवी' ने उनको मातृस्नेह देकर पाला।

भीमराव के माता-पिता कबीरपन्थी होने से वे पक्के शाकाहारी थे। उनके घर में मांस, मछली, अण्डे, शराब इत्यादि के आने की संभावना ही नहीं थी। इसका प्रभाव भीमराव पर प्राय: जीवनभर रहा।

2. शिक्षा

भीमराव जी ने प्राथमिक शिक्षा से चलकर सत्रह वर्ष की उम्र में मेट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण की, और उसके बाद ही उनका विवाह 'रमाबाई' नाम की नौ वर्ष

की लड़की से हो गया। आगे चलकर रमाबाई ने भीमराव की उन्नति में हर प्रकार से सहयोग किया।

पिता जी की महत्त्वाकांक्षा एवं सहयोगियों के प्रोत्साहन से भीमराव ने बम्बई के एक कालेज में प्रवेश लिया। कालेज की पढ़ाई में भीमराव को आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इस क्रम में एक सज्जन ने भीमराव की भेंट बड़ौदा के महाराजा सयाजीराव गायकवाड़ से करायी। महाराज ने पहले से ही यह घोषणा की थी कि किसी योग्य दलित छात्र को हम आर्थिक सहायता करेंगे। अतएव भीमराव के मिलने पर महाराज ने उन्हें पचीस रुपये प्रतिमाह छात्रवृत्ति देने का निर्णय दे दिया।

भीमराव ने 1912 ई० में बी० ए० की परीक्षा पास की और इसके कुछ महीने बाद उनके पिता रामजी सकपाल का देहावसान हो गया। इस दुखद घटना में बाइस वर्ष का युवक भीमराव फूट-फूट कर रो पड़ा।

हर्ष और शोक के दिन स्थिर नहीं रहते। युवक भीमराव ने पुन: साहसकर तथा बड़ौदा महाराज गायकवाड़ से मिलकर अपनी विद्या-पिपासा बतायी। महाराज अपने खर्च पर कुछ तेज विद्यार्थियों को शिक्षा प्राप्त करने के लिए अमेरिका भेजने वाले थे। इसमें शर्त यह थी कि जब विद्यार्थी लौटकर भारत आयें तब अपने दस वर्ष बड़ौदा-रियासत की सेवा करें। सेवा में वेतन तो मिलना ही था। भीमराव का भी महाराज ने चुनाव कर लिया और उन्हें अपने खर्च से अमेरिका भेज दिया।

1913 ई० की जुलाई में भीमराव न्यूयॉर्क पहंचे। उन्होंने ''कोलंबिया विश्वविद्यालय'' में शिक्षा ग्रहण करना शुरू किया। उन्होंने दो वर्षों के कठोर परिश्रम से ''एनशियंट इंडियन कॉमर्स'' नाम के शोध-प्रबन्ध के आधार पर एम०ए० की डिग्री प्राप्त की।

भीमराव का दूसरा शोध-प्रबन्ध था ''नेशनल डिविडेंड इन इन्डिया ए हिस्टोरिक एण्ड ऐनेलेटिक स्टडी''। इसी शोध-प्रबन्ध के आधार पर भीमराव ने ''डॉक्टर ऑफ फिलासफी'' की डिग्री प्राप्त की। इस प्रकार युवक भीमराव डॉ० अम्बेडकर हो गये। यह 1916 ई० का समय है।

डॉ० अम्बेडकर अमेरिका से लन्दन गये। वे वहां रहकर और पढ़ना चाहते थे, परन्तु बड़ौदा रियासत के दीवान ने डॉ० अम्बेडकर को भारत बुला लिया।

डॉ० अम्बेडकर ने अमेरिका-प्रवास में करीब दो हजार पुरानी पुस्तकें खरीदी थी। उन्हें छह बड़े-बड़े बाक्सों में भरकर भारत भेजा, परन्तु जहाज दुर्घटना में वे समुद्र के पानी को भेंट हो गयीं। उसके बदले में जहाज-कम्पनी से उनको पैसे मिले। डॉ० अम्बेडकर 1917 ई० में भारत लौट आये।

उनके मन में ज्ञान की तीव्र इच्छा थी, अत: वे अवसर पाते ही 1920 की जुलाई में लन्दन पहुंचे। वहां उन्होंने ब्रिटिश म्यूजियम, इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी, लन्दन यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी, सिटी लाइब्रेरी आदि में गहन अध्ययन किया। उन्होंने "प्राविन्शियल डिसेंट्रलाइजेशन ऑफ इम्पीरियल फाइनेन्स इन ब्रिटिश इण्डिया" शीर्षक नाम के अपने शोध-प्रबन्ध के फलस्वरूप एम० एस० सी० की उपाधि प्राप्त की; और "द प्रॉब्लम आफ रूपी" नामक शोध-प्रबन्ध भी लन्दन विश्वविद्यालय को प्रस्तुत किया। उन्होंने इसी क्रम में बैरिस्ट्री भी पास की।

3. मानवता की विडम्बना

यह सच है कि पूरे विश्व में उच्च-से-उच्च कहे जाने वाले गोत्र में पैदा हुए ऐसे लोग सब समय हुए हैं जिन्होंने जन्म और जातिगत ऊंच-नीच तथा छुआछूत को नहीं माना है और पूरे मानव-समाज को एक दृष्टि से देखा है और उनका व्यवहार भी समतामूलक रहा है।

दूसरी तरफ यह भी सच है कि पूरे संसार के प्राय: सभी तथाकथित जातियों में दूसरों को हेय, तुच्छ एवं अछूत की दृष्टि से देखने का अभिशाप रहा है। गोरे लोग काले रंग के मनुष्यों को सदैव से अछूत समझते आये हैं। अरब के मुसलमान दूसरे मुसलमानों को तुच्छ समझते हैं। विजयी तुर्क लोग मूल भारतीय मुसलमानों को नीच समझते थे। आज भी शेख-सैयद कहलाने वाले जोलहा, धुनिया, गद्दी आदि मुसलमानों को तुच्छ समझते हैं। उन्हें वे खान-पान और उपासना में साथ ले लेते हैं, परन्तु विवाह-सम्बन्ध कभी नहीं कर सकते।

यह परम सत्य है कि हिन्दू समाज जन्म और जाति के आधार पर जितना ऊंच-नीच तथा छुआछूत की भावना से प्रदूषित है, वह अनुपम है। तथाकथित ब्राह्मण अ-ब्राह्मण कहे जाने वाले को नीच मानता है। इतना ही नहीं, एक गोत्र का ब्राह्मण दूसरे गोत्र के ब्राह्मण को नीच मानता है। एक गोत्र का क्षत्रिय दूसरे गोत्र के क्षत्रिय को तुच्छ समझता है। यही बात कुर्मी, यादव, साहू, धोबी, चमार आदि सब में है। उनकी एक-एक जाति के भीतर गोत्र को लेकर ऊंच-नीच की भावना बनी है।

इस बीसवीं सदी के अन्त में काफी समता का भाव आया है, फिर भी भीतर-भीतर अभी विषमताजनित सड़न बनी है। आज से साठ-सत्तर या असी वर्ष पूर्व तो इस दिशा में काफी दुर्गंधी थी।

बालक भीमराव अपने बड़े भाई के साथ प्राथमिक पाठशाला में जब पढ़ने जाता था, तब उसे पानी पीने की समस्या होती थी। वह सार्वजनिक नल को छू नहीं सकता था। सभी बच्चों के साथ स्कूल के टाट पर बैठ नहीं सकता था।

अतएव उसे अपने बैठने के लिए घर से बोरा ले जाना पड़ता था और सब बच्चों से अलग बैठना पड़ता था।

एक बार बालक भीमराव अपने भाई तथा भतीजे के साथ गोरेगांव जा रहे थे। वे मसूर रेलवे स्टेशन पर उतरे। उन्होंने एक बैलगाड़ी किराये पर की। रास्ते में गाड़ी वाले ने जब यह जाना कि ये बच्चे महार जाति के हैं, तो वह बहुत बिगड़ा। उसने इन बच्चों के उज्ज्वल कपड़े तथा गोरे रंग देखकर समझा था कि ये उच्चवर्ण के हैं। जब भीमराव ने दूना किराया देने की बात कही, तब उसने मान लिया, परन्तु वह स्वयं गाड़ी से उतरकर पैदल चलता रहा और गाड़ी इन बच्चों ने स्वयं हांकी। गाड़ीवान ने महार जाति के बच्चों को बैठाकर स्वयं गाड़ी हांकने में अपनी तौहीन समझी।

एक बार बालक भीमराव ने चुपके से प्याऊ से पानी पी लिया था। लोगों ने जब यह जाना तो भीमराव उनके द्वारा पीटे गये। नाई भीमराव के बाल नहीं काटता था। इसलिए उनकी बहिन उनके बाल काटती। कई बार स्वाभिमान में ठेस लगने के भय से भीमराव प्यासे ही बहुत समय तक रह जाते थे।

एक बार अध्यापक ने भीमराव से श्याम-पट पर एक सवाल हल करने को कहा। श्याम-पट के पास लड़कों के खाने के डिब्बे रखे हुए थे, सभी बच्चे दौड़कर अपने-अपने डिब्बे वहां से इस डर से उठा लिये कि भीमराव से हमारे भोजन न छू जायं।

भीमराव तथा उनके बड़े भाई बलराम जब हाईस्कूल में पढ़ रहे थे तब वे दूसरी भाषा के रूप में संस्कृत पढ़ना चाहते थे, परन्तु उन्हें नहीं पढ़ने दिया गया। न पढ़ने देने में यह बेतुकी बात थी कि शूद्रों को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है। इसी प्रकार संस्कृत देवभाषा होने से शूद्र उसके पढ़ने के अधिकारी नहीं हैं। वैसे जड़-शास्त्रों के अनुसार शूद्र को कुछ भी पढ़ने का अधिकार नहीं है। अन्ततः विवश होकर भीमराव दोनों भाइयों को संस्कृत छोड़कर फारसी भाषा लेना पड़ा।

जब भीमराव कालेज में पढ़ रहे थे तब होटल वाला उन्हें न चाय पिलाता था न पानी। एक अध्यापक प्रो० मूले उन्हें पुस्तकों और कपड़े तक का सहयोग करते थे, परन्तु अन्य अध्यापक उन्हें अछूत ही समझते थे।

पहली बार अमेरिका से पढ़कर लौटने पर शर्त के अनुसार बड़ौदा-रियासत में डॉ० अम्बेडकर को दस वर्ष सेवा में रहना था। जब वे बड़ौदा पहुंचे तब उन्हें कोई अपने होटल या हॉस्टल में रखने के लिए तैयार नहीं था। दफ्तर में उन्हें कोई पानी पिलाने के लिए तैयार नहीं था। चपरासी भी उनकी मेज पर दूर से फाइल फेंक देता था जिससे वह स्वयं एक अछूत से छू न जाय। डॉ० अम्बेडकर छद्म रूप में एक पारसी के होटल में ठहर गये थे; परन्तु जब उसे

पता चला कि अम्बेडकर अछूत हैं तब उसने उन्हें धक्के देकर होटल से निकाल दिया और उनका सारा सामान बाहर फेंक दिया। बड़ौदा जैसे बड़े शहर में डॉ० अम्बेडकर को रहने की जगह नहीं मिली। उन्होंने बड़ौदा में अपने रहने की समस्या के निदान के लिए एक प्रार्थना-पत्र महाराज के पास भेजा। महाराज ने उसे दीवान के पास भेजा, परन्तु दीवान ने उनको निवास देने में अपनी असमर्थता जतायी; क्योंकि वहां की पूरी मशीनरी ही छुआछूत की दुर्गंध से भरी थी। महाराज डॉ. अम्बेडकर को चाहते हुए भी विवश हो गये। जिस दिन होटल वाले ने उन्हें निकाला था, वे उस रात को खुले आकाश में पेड़ के नीचे भूखे-प्यासे, दिल में पीड़ा तथा आंखों में आंसू लिये बैठे रह गये। दूसरे दिन विवश होकर उन्हें अपना सामान लेकर बम्बई लौट जाना पड़ा।

जब वे बम्बई लौटे तो आजीविका का प्रश्न आया। एक सज्जन के सहारे उन्हें दो पारसी के बच्चों को पढ़ाने के लिए ट्यूशन मिल गया। साथ-साथ उन्होंने स्टॉक और शेयरों के विषय में राय देने के लिए व्यावसायिक फर्म की स्थापना की। पहले यह धन्धा अच्छा चला; परन्तु जब लोगों को यह पता चला कि राय देने वाला अछूत है तब धीरे-धीरे ग्राहक आना बन्द कर दिये और उन्हें फर्म बन्द कर देना पड़ा।

एक बार डॉ० अम्बेडकर एक सभा में जा रहे थे। कोई तांगा वाला उन्हें ले जाने के लिए तैयार नहीं था। एक तांगा वाला इस शर्त पर तैयार हुआ कि वह स्वयं तांगा नहीं चलायेगा। एक उत्साही युवक तांगा हांकने लगा। उसका इस विषय में अभ्यास न होने से वह घोड़े की रास सम्भाल नहीं सका और घोड़ा तांगे को एक गड्ढे में गिरा दिया। डॉ० अम्बेडकर को काफी चोट आयी और दाहिनी जांघ की हड्डी टूट गयी। उनको दो महीने बिस्तर पर पड़ा रहना पड़ा।

यह उस समय के हिन्दू-समाज की कलुषित छुआछूत का नमूना है। पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि यह सब जिस योग्य विद्वान पर बीता हो उसके दिल में कैसी प्रतिक्रिया हो सकती है!

उपर्युक्त विषय का दूसरा पक्ष भी है कि बड़ौदा के महाराज ने डॉ० अम्बेडकर को ऊपर उठाने के लिए बहुत सहयोग दिया। जब भीमराव हाईस्कूल में पढ़ते थे, तब उन्हें एक ऐसे अध्यापक भी मिले थे कि वे अपने भोजन में से भीमराव को दोपहर की छुट्टी के समय भोजन देते थे, उनसे प्यार का व्यवहार करते थे। उनके नाम में 'अम्बेडकर' उपाधि लगी थी। भीमराव अपने नाम में अपने पैतृक निवास अम्बावड़े के आधार पर अम्बावडेकर उपाधि रखते थे, परन्तु इस दयालु एवं समतावादी अध्यापक से प्रभावित होकर उसकी उपाधि को अपने नाम के साथ जोड़ लिया—अम्बेडकर।

प्रसिद्ध स्वतन्त्रता सेनानी एवं कांग्रेस के महान नेता तथा वेदज्ञ ब्राह्मण पण्डित लोकमान्य तिलक के सुपुत्र 'श्रीधर पंत' को जब डॉ० अम्बेडकर का सम्पर्क मिला और उन्होंने उनका पूरा विचार जाना तो वे सदा के लिए डॉ० अम्बेडकर के प्रशंसक हो गये। पण्डित श्रीधर पंत ने समाज सुधार का बड़ा काम किया। वे अछूत कहे जाने वाले युवकों को अनेक सहयोग देने लगे। उन्होंने डॉ० अम्बेडकर को चायपार्टी पर आमन्त्रित किया।

कोल्हापुर के नरेश 'शाहू छत्रपति महाराज' ने डॉ० अम्बेडकर की दिल से प्रशंसा की और उदार होकर उनका सहयोग किया।

4. डॉ० अम्बेडकर की योग्यता

डॉ० अम्बेडकर इंगलिश भाषा के पण्डित तो थे ही, अन्य भाषाएं भी जानते थे। वे समाजशास्त्र, मानवशास्त्र, विधिशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास आदि में प्रकांड पण्डित थे। जब वे बम्बई के "सिंडेन्हम" कालेज में प्रोफेसर पद पर रहकर पढ़ाते थे तब उनके लेक्चर से प्रभावित होकर दूसरे कालेज के छात्र भी सुनने आ जाते थे।

भाषा पर उनका जबर्दस्त अधिकार था। उनका भाषण ओजस्वी होता था। उन्होंने लंदन के प्रथम गोलमेज में जो भाषण दिया था, उसे सुनकर इंग्लैंड और भारत के उपस्थित विद्वान तथा नेता चकित रह गये थे। उस समय वहां उपस्थित बड़ौदा-नरेश ने तो गद्गद होकर कहा था कि भीमराव को दिया हुआ मेरा सहयोग सफल हो गया। डॉ० अम्बेडकर कुशल बैरिस्टर भी थे।

5. डॉ० अम्बेडकर की क्रांति

डॉ० अम्बेडकर ने 13 जनवरी 1920 ई० से 'मूक नायक' नाम का समाचार पत्र निकालना आरम्भ किया। यद्यपि वे उसके सम्पादक नहीं थे, तथापि वे ही इस पत्र के सर्वस्व थे। इस समाचार पत्र का मुख्य उद्देश्य था कि ज्ञान तथा अधिकार समाज के एक ही वर्ग के पास सिमिटकर न रहें, अपितु ये सर्वजनीन हों। धरती पर जन्में सभी मानव का सभी दिशाओं में बढ़ने तथा फूलने-फलने का अवकाश हो। कोई जन्म एवं जाति के कारण उपेक्षित न रह जाय और कोई अनुचित लाभ न ले।

डॉ० अम्बेडकर को दो महान समाज-सुधारकों से बड़ा बल मिला था। वे थे 'ज्योतिराव गोविंदराव फुले' तथा कोल्हापुर के नरेश 'छत्रपति शाहू महाराज'। ज्योतिराव गोविंदराव फुले ने 1837 ई० में 'सत्यशोधक समाज' नाम की संस्था भी स्थापित की थी। छत्रपति शाहू महाराज तो डॉ० अम्बेडकर के समय में सक्रिय और उनके पक्षधर थे। मातृ-वंश एवं पितृ-वंश से सन्त कबीर साहेब के मानवतावादी विचार डॉ० अम्बेडकर को मिले ही थे। स्वयं के

भुक्तभोगी जीवन ने उन्हें मथकर रख दिया था।[1]

डॉ० अम्बेडकर ने मार्च 1924 ई० में 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा' की स्थापना की। इसका उद्देश्य था अछूत कहे जाने वाले दलितवर्ग का सर्वतोमुखी विकास करना। इसमें यह भी निर्णय लिया गया था कि इस कार्य में उच्चवर्ग की भी सहानुभूति एवं सहयोग प्राप्त करने का प्रयास किया जाय।

डॉ० अम्बेडकर कहते थे 'सेल्फ हेल्प इज़ बेस्ट हेल्प' अर्थात अपनी सहायता श्रेष्ठ सहायता है। जब तक हम स्वयं अपने पैरों पर खड़े नहीं होते, तब तक दूसरे की सहायता अधिक लाभप्रद नहीं हो सकती। अच्छी शिक्षा, अच्छे संस्कार, सद्‌गुण तथा आर्थिक सुधार से ही कोई समाज आगे बढ़ सकता है। शिक्षा और अच्छे संस्कार ग्रहण करने से आर्थिक सुधार अपने आप होगा।

कुछ ऐसे सुधारक होते हैं जो मानवमात्र को मूलत: समान मानकर उन्हें समता से रहने के उपदेश देते हैं और कुछ ऐसे सुधारक होते हैं जो बड़े कहलाने वालों को फटकारते भी हैं और छोटे कहलाने वालों को ललकार कर उन्हें अपना कर्तव्य-बोध एवं अधिकार-बोध कराते हैं। डॉ० अम्बेडकर ने दलितों को अपना कर्तव्य-बोध तथा अधिकार-बोध कराया। उन्होंने अपना हक मांगा और इसके लिए प्राणपण से सत्याग्रह किया।

महाराष्ट्र के एक महाड़ नामक जगह में एक तालाब से एक वर्ग को पीने के लिए पानी नहीं लेने दिया जाता था। इस वर्ग को अन्य लोग अछूत कहते थे। कैसा अद्‌भुत धर्म था! उसमें मुसलमान तथा इसाई पानी पी सकते थे, परन्तु हिन्दू का एक वर्ग जिसे अछूत नाम दिया गया, पानी नहीं पी सकता था। यहां तक कि कुत्ते-बिल्ली जब उसका पानी पीते थे तब तालाब अशुद्ध नहीं होता था, किन्तु अमुक वर्ग के मानव के पीने से वह अशुद्ध हो जाता था।

डॉ० अम्बेडकर ने इसका कड़ा विरोध किया । हजारों को लेकर जुलूस निकाला, सभाएं कीं। उन्होंने न्यायपालिका और समाज—दोनों को प्रभावित किया।

डॉ० अम्बेडकर ने 1927 ई० में 'बहिष्कृत भारत' नाम का एक पाक्षिक पत्र निकाला, जिसमें दलित समुदाय को जगाने की चेष्टा की। अपने इस

---

1. **महाराष्ट्र में डॉ० अम्बेडकर के काल में जिस प्रकार छुआछूत की गंदगी का पता चलता है वैसा तो ब्राह्मणों का गढ़ कहलाने वाले अवध क्षेत्र में भी नहीं था । डॉ० अम्बेडकर के ही समय की बात है । अवधक्षेत्र में सर्वोच्च कहे जाने वाले ब्राह्मणों के घर के भीतर के कुएं से चमार कहे जाने वाले लोग बराबर पानी भरते और पीते थे । और वे वह चमार थे जो सुअर पालते तथा मुरदा मांस भी खाते थे । अवध-क्षेत्र में डॉ० अम्बेडकर के जमाने में नाई भंगी एवं चमार कहे जाने वाले लोगों के बाल बनाकर उसी उस्तरे से वहीं ब्राह्मणादि सवर्ण कहे जाने वाले लोगों के भी बाल बनाते थे, आज तो बनाते ही हैं ।**

अभियान में उन्होंने बाल गंगाधर तिलक जैसे नेता को भी नहीं बख्शा। उन्होंने लिखा ''यदि तिलक किसी अछूत के घर पैदा हुए होते तो 'स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है' का नारा देने के बजाय यह नारा देते छुआछूत मिटाना मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है।''[1]

6. केवल दलित वर्ग को उठाने की चेष्टा, फिर राष्ट्रवादी विचार

डॉ० अम्बेडकर भारत की स्वतंत्रता के लिए लड़ाई न लड़कर केवल दलितों को उठाने के लिए लड़ते थे। यह अपने आप में बहुत बड़ा काम था। ''वे सत्ता-परिवर्तन में अधिक विश्वास न करके आम आदमी, गरीब आदमी और पिछड़े आदमी के विकास और उसकी सत्ता के विकास में अधिक विश्वास करते थे। यही कारण है कि विचारों और लेखन में प्रखर राष्ट्रवादी होते हुए भी उन्होंने देश की राजनैतिक स्वतंत्रता के आंदोलन में भाग नहीं लिया।''[2]

ब्रिटिश-सरकार ने एक आयोग का गठन कर भारत भेजा था कि वह देश भर में घूमकर उसका अध्ययन करे और बाद में अपनी रिपोर्ट दे जिससे भारत के हित में उसके अधिनियम में संशोधन किया जा सके। इस आयोग के अध्यक्ष थे 'सर जॉन साइमन'। इसलिए इस आयोग का नाम था 'साइमन कमीशन'। राष्ट्रवादी भारतीय कांग्रेस पार्टी ने 'साइमन कमीशन' का विरोध किया। राष्ट्रवादी नेता समझते थे कि यह कमीशन भारतीयों को भुलावे में रखने का एक गोरखधन्धा है जिससे उनका मन स्वतंत्रता के संघर्ष से हटा रहे। इसलिए कांग्रेस ने इसका विरोध किया।

अंग्रेज सरकार ने बम्बई प्रांत में 'साइमन कमीशन' का सहयोग करने के लिए समिति बनायी। उसमें डॉ० अम्बेडकर सदस्य बने। डॉ० अम्बेडकर का यह व्यवहार राष्ट्रवादी नेताओं को बुरा लगा। वैसे डॉ० अम्बेडकर देश के लिए कोई अ-भक्ति का काम नहीं कर रहे थे। वे समझते थे कि यदि हम ब्रिटिश सरकार का सहयोग करेंगे, तो वह भारत के दलितों के उत्थान में सहयोग देगी। उन्होंने अपनी रिपोर्ट में यह लिखा था कि भाषा के आधार पर प्रांत तथा समुदाय के आधार पर पृथक मताधिकार की मांग करना अनुचित है।[3]

डॉ० अम्बेडकर ने धीरे-धीरे समझा कि दलित वर्ग का उत्थान ब्रिटिश-शासन से नहीं हो सकता। अतएव हमें राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का पक्षधर होना चाहिए। ''डॉ० अम्बेडकर द्वारा भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता का समर्थन

---

1. **बी० एल० मेघवालकृत–भारतरत्न डॉ० बी० आर० अम्बेडकर, पृष्ठ 45 ।**
2. **वही, पृष्ठ 40 ।**
3. **वही, पृष्ठ 55 ।**

करने से दलित वर्ग को एक नई दिशा मिली। अब तक के दलित वर्ग के आंदोलन में यह विशेषता नहीं थी कि दलितवर्ग अपने मानवीय एवं सामाजिक अधिकारों के लिए संघर्ष करने के साथ-साथ देश की आजादी के आंदोलन का भी व्यापक समर्थन करता रहा हो। अब तक दलितवर्ग ब्रिटिश-शासन को अपने हित में मानता आ रहा था।''[1]

7. गोलमेज-सम्मेलन

महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने भारत की जनता को स्वतन्त्रता के लिए जगा दिया था। भारत में ब्रिटिश-सरकार के लिए सर्वत्र असंतोष फैल गया था। ब्रिटिश-सरकार भारत को निरंतर चूस रही थी। यहां तक कि जब अवर्षण से अकाल पड़ता था, तब अन्न के बिना हजारों तथा लाखों भारतीय तड़प-तड़प कर मर जाते थे, और ब्रिटिश-सरकार मूक-दर्शक बनकर बैठी रहती थी। भारत से कपास सस्ते दाम पर इंग्लैण्ड जाता था और इंग्लैण्ड से कपड़ा बनकर भारत में आता था जो अपेक्षया बहुत महंगे दाम में बिकता था। ब्रिटिश-सरकार हर प्रकार भारत का खून चूसती थी। राष्ट्रवादी नेताओं ने यह सब जनता को अच्छी तरह बता दिया था।

भारत के असंतोष को दूर करने के लिए ब्रिटिश-सरकार ने 'गोलमेज-सम्मेलन' नाम पर एक आयोजन किया, जिसमें ब्रिटेन के तीन राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि सोलह सदस्य थे। तिरपन भारतीय सदस्य थे, जिसमें बीस देशी रियासतों के और तैंतीस राजनीतिक दलों तथा विभिन्न सम्प्रदायों के प्रतिनिधि थे। इसमें ब्रिटिश-सरकार की यह मनसा थी कि आपस में मिल-बैठकर कुछ ऐसा संविधान बनाया जाय कि भारत के लोगों का असन्तोष दूर हो जाय।

कांग्रेस के नेता समझते थे कि यह ब्रिटिश-सरकार की चाल है। वह किसी प्रकार भारत को भुलावे में रखना चाहती है। अतएव कांग्रेस ने इस सम्मेलन का बहिष्कार किया। परन्तु कुछ राजे-महाराजे, हिन्दू नेता तथा मुस्लिम नेता जिन्ना और डॉ० अम्बेडकर इस गोलमेज सम्मेलन में लन्दन गये।

डॉ० अम्बेडकर ने इस सम्मेलन में बड़ा प्रभावशाली भाषण दिया था। बड़ौदा-नरेश महाराज गायकवाड़ उस सभा में उपस्थित थे। वे बहुत प्रभावित हुए। वे जब अपने डेरे पर आये तो महारानी से गद्‌गद होकर उन्होंने कहा कि डॉ० अम्बेडकर को आर्थिक सहयोग देकर जो मैंने उन्हें पढ़ाया था वह आज वसूल हो गया। ऐसा कहते-कहते नरेश की आंखों से आंसू छलक आये। महाराजा ने डॉ० अम्बेडकर को एक शानदार भोज भी दिया।

---

1. वही, पृष्ठ 61 ।

इस सम्मेलन में डॉ० अम्बेडकर लंदन तथा बाहरी संसार को यह अच्छी तरह बता सके थे कि भारत में अछूत कहे जाने वाले तथा दलित वर्ग की क्या स्थिति है। इस प्रथम गोलमेज-सम्मेलन में डॉ० अम्बेडकर के भाषण से भारतीय कांग्रेस कमेटी के राष्ट्रीय नेताओं को भी उनके तथा उनके उद्देश्य को समझने में सरलता हुई। यह प्रथम गोलमेज-सम्मेलन 1930 ई० के नवंबर में लंदन में हुआ था।

8. अम्बेडकर तथा गांधी मिलन

6 अगस्त 1931 ई० को महात्मा गांधी ने डॉ० अम्बेडकर को पत्र लिखकर मिलने के बुलाया, और लिखा कि यदि आप किसी कारणवश न मिल सकें तो मुझे आपके पास आकर मिलने में प्रसन्नता होगी।

डॉ० अम्बेडकर महात्मा गांधी से मिले। यही प्रथम मिलन था। कहा जाता है कि अभी तक महात्मा गांधी डॉ० अम्बेडकर को कोई सवर्ण समझते थे और मानते थे कि वे अपनी उदारनीतियों के कारण दलितों के उत्थान में लगे हैं। परन्तु इस मिलन में उन्होंने डॉ० अम्बेडकर की वास्तविकता समझी तथा उनकी अपने पक्ष में दृढ़ता।

महात्मा गांधी छुआछूत तथा ऊंच-नीच शुरू से ही नहीं मानते थे। उनके आश्रम में चाहे दक्षिणी अफ्रीका हो या भारत, सभी जाति, वर्ण, वर्ग तथा अनेक देश के लोग एक साथ समभाव से रहते थे।

डॉ० अम्बेडकर तथा महात्मा गांधी में खास अन्तर था कि महात्मा जी हिन्दू-समाज से कोई जातिगत भावना से तिरस्कार या उपेक्षा नहीं पाये थे। अत: उनका दलित-उद्धार ठण्डे दिल से था। साथ-साथ वे भारत को आजाद कराने के अभियान में मुख्य रूप में लगे थे, इसलिए अछूतोद्धार उसमें एक अंग मात्र था।

दूसरी तरफ डॉ० अम्बेडकर शुरू से सवर्ण हिन्दू-समाज से अपने लिए छुआछूत का व्यवहार पाये थे, इसलिए वे भुक्तभोगी थे। साथ-साथ वे दलित वर्ग से सीधे जुड़े थे, और उनका मात्र एक अभियान था दलित-उद्धार। भारत की स्वतंत्रता पर भी पहले उनकी दृष्टि नहीं थी। अतएव दोनों के दृष्टिकोणों में अन्तर तो था ही।

डॉ० अम्बेडकर चाहते थे कि अछूत कहे जाने वाले वर्ग को अपना पृथक निर्वाचन का अधिकार मिले। महात्मा गांधी इसके विरुद्ध थे। वे कहते थे कि ऐसा कर देने से अछूतों का अछूतपन स्थायी कर देना है। ऐसा करना हिन्दू-समाज की आत्महत्या है। इससे हिन्दू-समाज टूटेगा। डॉ अम्बेडकर तथा महात्मा गांधी दोनों आपसी बातचात से सन्तुष्ट नहीं थे।

सन् 1931 ई० में लन्दन में दूसरा गोलमेज सम्मेलन हुआ। इसमें महात्मा गांधी भी गये थे और डॉ० अम्बेडकर भी। इसमें अन्य बातों के साथ दोनों नेताओं ने अपनी-अपनी बातें रखी थीं।

संप्रदायों के पृथक निर्वाचन अधिकार को डॉ० अम्बेडकर स्वयं राष्ट्रविरोधी एवं बुरा मानते थे। बी० एल० मेघवाल लिखते हैं ''मुसलमानों द्वारा पृथक मताधिकार की मांग को अनावश्यक मानते हुए डॉ० अम्बेडकर ने बताया कि मुसलमान भारत में ही अल्पसंख्यक नहीं हैं, बलगेरिया, ग्रीस, रुमानिया आदि में वे अल्पसंख्यक हैं, किन्तु वहां तो वे पृथक मताधिकार की मांग नहीं करते। अत: भारत में यह मांग राष्ट्रविरोधी मांग मानी जानी चाहिए।''[1]

9. स्वतन्त्र निर्वाचन की समस्या

जब महात्मा गांधी दक्षिणी अफ्रीका में थे, और उनसे कांग्रेस से मतलब नहीं था, तभी अर्थात सन् 1909 ई० में ब्रिटिश-सरकार ने भारतीय मुसलमानों के लिए स्वतंत्र निर्वाचन अधिकार का वातावरण बना दिया था और कांग्रेस-लीग-ऐक्ट में 1917 ई० में ही उन्हें उसका अधिकार मिल गया था। इस समय कांग्रेस में लोकमान्य तिलक का वर्चस्व था, गांधी का तो कांग्रेस में केवल प्रवेश था।

ब्रिटिश सरकार भारत को टुकड़े-टुकड़े करके उस पर राज करना या विदा होना चाहती थी। उसने सन् 1932 में घोषणा की कि भारत के विविध संप्रदायों को स्वतन्त्र निर्वाचन अधिकार होगा। इसको लेकर राष्ट्रीय नेता विचलित हो गये। इसके साथ हिन्दुओं में अछूतों को अलग निर्वाचन अधिकार होगा, इसका गांधीजी ने विरोध किया। उन्होंने संप्रदायों के आधार पर अलग निर्वाचन अधिकार को एकदम गलत बताया। गांधी जी ने कहा कि अछूत कहे जाने वाले बंधुओं को हिन्दुओं से काटकर अलग निर्वाचन अधिकार देना हम बिलकुल नहीं सहेंगे। गांधी जी ने इसके विषय में आमरण अनशन की घोषणा की। उस समय वे पूणे के यरवडा जेल में बन्द थे।

गांधी जी उपवास से बहुत कमजोर हो गये थे। डॉ० अम्बेडकर उनसे जेल में मिले और उन्होंने गांधी जी से धीरे से कहा ''महात्मा जी, आपने हमारे साथ बहुत अन्याय किया है।'' महात्मा गांधी ने कहा ''हमारा पक्ष सदा ही अन्याय करता ही दिखाई देता है।''[2] डॉ० अम्बेडकर ने अपने पक्ष की सारी बातें बतायीं। इसका गांधी जी पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने डॉ० अम्बेडकर से कहा ''आपके साथ मेरी पूर्ण सहानुभूति है। आपने जो बातें कहीं, उनमें से अधिकांश

---

1. वही, पृष्ठ 55 ।
2. वही, पृष्ठ 88 ।

में मैं आपके साथ हूं। किन्तु आप यह बताइए कि आप मेरे जीवन को बचाना चाहते हैं?'' डॉ० अम्बेडकर ने उत्तर दिया ''हां, महात्मा जी, इस आशा से कि आप हम लोगों के हित के लिए अपना जीवन समर्पित करेंगे और हमारे नायक भी बनेंगे।''[1]

गांधी जी ने कहा ''डॉक्टर, आप जन्म से अछूत हैं और मैं दत्तक रूप से अछूत हूं। हमें एक और अविभाजित होना है। मैं अपना जीवन हिन्दू-समाज की विषमताओं को दूर करने में लगाने के लिए तैयार हूं।''[2]

इसके बाद डॉ० अम्बेडकर ने महात्मा गांधी की सम्मति मान ली और अछूत कहे जाने वाले वर्ग के लिए पृथक निर्वाचन अधिकार की बात समाप्त हो गयी। समझौते के बाद दोनों नेताओं के हस्ताक्षर हुए और इसकी सूचना ब्रिटिश सरकार को दे दी गयी। अभी तक गांधी जी द्वारा अछूतोद्धार का काम जो मंदगति से चलता था, वह आज से खूब जोरदार ढंग से चलने लगा, जिसे पाठक 'महात्मा गांधी' के जीवन में पढ़ सकते हैं।

गांधी और अम्बेडकर के अभियान से अछूत कहे जाने वाले तथा दलित वर्ग का जो उत्थान कार्य हुआ वह आज बीसवीं सदी के आखिर दशक में प्रत्यक्ष आनंदप्रद है।

10. पार्टी का गठन, विधि मन्त्री

डॉ० अम्बेडकर ने 1936 ई० ''इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी'' का गठन किया। 15 अगस्त सन् 1947 ई0 में भारत स्वतंत्र होने पर प्रधानमंत्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने डॉ० अम्बेडकर को विधिमंत्री बनाया, जबकि वे कांग्रेस के आलोचक एवं विरोधी पार्टी के थे।

11. संविधान-निर्माता एवं बीसवीं सदी के मनु

पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने स्वतंत्र भारत का संविधान बनाने के लिए एक समिति गठित की जिसका अध्यक्ष डॉ० अम्बेडकर को बनाया। आज के भारतीय संविधान की रचना का श्रेय डॉ० अम्बेडकर को ही अधिक जाता है। इसीलिए उन्हें बीसवीं सदी का मनु कहा जाता है।

डॉ० अम्बेडकर ने ''हिन्दू कोड बिल'' बनाने में भी बड़ा श्रम किया था। परन्तु वह उसी रूप में पास न होकर काट-छांटकर पास हुआ। इसलिए डॉ० अम्बेडकर खिन्न होकर विधि-मंत्री पद से इस्तीफा देकर विपक्ष के आसन पर बैठ गये।

---

1. **वही, पृष्ठ 88** ।
2. **वही, पृष्ठ 88** ।

डॉ० अम्बेडकर 1952 तथा 1954 में चुनाव हार गये। क्योंकि उस समय देश-व्यापी बलवान पार्टी कांग्रेस थी। उसके सामने किसी की विजय होना कठिन था। परन्तु डॉ० अम्बेडकर जैसे योग्यतम व्यक्ति के लिए चुनाव की जीत-हार महत्त्व नहीं रखती। वे इस जीत-हार से बहुत ऊंचे थे।

12. पुनर्विवाह

डॉ० अम्बेडकर को मधुमेह रोग हो गया था। उनको डॉक्टर ने राय दी कि आप किसी युवती से विवाह कर लें तो रोग अच्छा हो जायेगा। वस्तुत: कभी-कभी डॉक्टर ही रोग बन जाता है। यद्यपि "अपने पिता का दूसरा विवाह कर लेना भीम को पसंद नहीं आया था। इससे उनके स्वाभिमान को ठेस लगी थी।"[1] तथापि वही भूल आज उन्होंने स्वयं के लिए कर डाली और अपने 56वें जन्मदिन के दूसरे दिन डॉ० सविता कबीर से उन्होंने अपना विवाह रचा डाला। बुढ़ापा में युवती से विवाह एक और विडंबना है। फल यह हुआ कि नव-पत्नी से सम्बन्ध मधुर नहीं रह सका। "6 दिसम्बर 1956 को डॉ० अम्बेडकर के आकस्मिक निधन ने संदेहों की जो परिधि खींची है उस घेरे में डॉ० (श्रीमती) सविता अंबेडकर का नाम भी आता है।"[2]

13. बौद्ध दीक्षा

डॉ० अम्बेडकर ने 1935 में ही धर्मांतरण ग्रहण करने की बात कही थी। उन्होंने 14 अक्टूबर 1956 में नागपुर में बौद्ध भिक्षु से दीक्षा ग्रहण की थी।

डॉ० अम्बेडकर "हिन्दूधर्म विरोधी कतई नहीं थे। वे हिन्दूधर्म के दोहरे मानदण्डों के विरोधी थे। हिन्दू कोड बिल पारित कराने के उनके अथक प्रयासों के पीछे भी एक ही उद्देश्य था कि इस धर्म में जो विसंगतियां हैं वे दूर हो सकें और सब हिन्दू एक 'कॉमन पर्सलन लॉ' से नियंत्रित हों। इस सम्बन्ध में लोकसभा में हुई बहस में उन्होंने सरदार हुकुम सिंह के द्वारा की गयी आपत्तियों के उत्तर में भारत के विधि मंत्री के रूप में कहा था कि इस देश के कानून की दृष्टि में हिन्दू, सिख, जैन और बौद्ध एक ही कानून से नियंत्रित होते हैं, पृथक-पृथक कानून से नहीं।"[3]

वैसे धर्म-परिवर्तन शब्द अपने आप में एक धोखा है। धर्म का परिवर्तन तो समझदार करेगा ही नहीं। सत्य ज्ञान तथा सत्य आचरण धर्म है। अत: धर्म का परिवर्तन है असत्य ज्ञान तथा असत्य आचरण पर चलना। अतएव मानवता के लिए धर्म-परिवर्तन असंभव है। हां, मत-परिवर्तन, दीक्षा-परिवर्तन, उपासना-

1. **वही, पृष्ठ 23 ।**
2. **वही, पृष्ठ 123 ।**
3. **वही, पृष्ठ 134 ।**

परिवर्तन आदि होते हैं। डॉ० अम्बेडकर इस दिशा में बहुत दूरदर्शी थे। उन्होंने कुछ हिन्दुओं की अनुदारता की जड़ता की प्रतिक्रिया में जाकर भी बुद्धमत से ही दीक्षा ली जो हिन्दुत्व की वृहत्तम परिधि के भीतर ही है।

वैसे डॉ० अम्बेडकर को बौद्ध दीक्षा की भी आवश्यकता न पड़ती यदि वे अपने पैतृक कबीरपंथ को यादकर संत कबीर की गरिमा को समझ सके होते। जाति-पांति और वर्णाभिमान की धज्जियां जिस तरह संत कबीर ने उड़ाई हैं, उसका एक अंश भी मूल बुद्ध वचन में नहीं मिलेगा। एक तरफ अध्यात्म की उच्चतम स्थिति में पहुंचा और दूसरी तरफ सामाजिक विषमता का घोरतम विरोधी भारत में यदि कोई है, तो अद्वितीय सन्त कबीर हैं।

डॉ० धर्मवीर ने ठीक ही लिखा है—*"वास्तव में यदि बाबा साहब (अम्बेडकर) के पास उस समय भारत के तमाम दलित संतों का साहित्य उपलब्ध होता तो वे बुद्ध की शरण जाने के बजाय अपने संतों के ढिग बैठते। तब वे त्रिपिटक में माथापच्ची कर सिर खपाने के बजाय निर्गुण शब्द वाणी की गंगोत्री में आनंद स्नान करते। उन्हें मजबूरी में ही इतनी दूर जाना पड़ा, अन्यथा वे अपना ही महत्त्व बनाते। यहां बौद्धधर्म की आलोचना करने का अवसर नहीं है। लेकिन लगता है कि धार्मिक युद्ध के इस हौदे में बाबा साहब ठीक से बैठ नहीं पाये। बौद्धधर्म से कुछ लेने के बजाय उन्हें उसे देना कुछ ज्यादा पड़ गया। बौद्धधर्म दलितों को क्या दे सकता था? उलटे दलितों का काम यह हो गया कि वे बौद्धधर्म पर लगाये गये ऐतिहासिक लांछनों को अपने सिर ढोयें। ... बौद्धधर्म से वर्णव्यवस्था, जातिप्रथा और अस्पृश्यता का भी गृहस्थ जीवन में खण्डन नहीं हो पाता वह इनका खंडन केवल भिक्षुओं में कर पाता है। यहां कबीर का चिंतन ही कमल की तरह खिलता है कि 'बहुरि हम काहे आवेंगे' तथा 'जो तू बाभन ब्राह्मणी जाया, आन बाट काहे नहिं आया।"*[1]

14. व्यक्ति-पूजा के विरोधी

डॉ० अम्बेडकर व्यक्ति-पूजा के विरोधी थे। बी.एल. मेघवाल लिखते हैं "डॉ० अम्बेडकर व्यक्ति-पूजा की हानियों से भली प्रकार परिचित थे। उन्होंने व्यक्ति-पूजा की कटु आलोचना की। जिन चिंतकों, विचारकों ने भारतवासियों की व्यक्ति पूजक मानसिकता का तटस्थ विश्लेषण किया है उन सबको व्यक्तिपूजा के भयंकर खतरों के दुष्परिणामों ने बहुत विचलित किया।"[2] परन्तु डॉ० अम्बेडकर के अनुयायियों द्वारा यह खतरा आज उन्हीं के लिए उपस्थित होता जा रहा है। जिस तरह उनकी मूर्तिस्थापना और उनके नाम पर कथा एवं पूजा शुरू हो गयी है वह भयावह है।

---

1. **हरिजन से दलित, पृष्ठ 147-148, लेखक: डॉ० धर्मवीर।**
2. **भारत रत्न डॉ० बी० आर० अम्बेडकर, पृष्ठ 141 ।**

15. देहावसान

डॉ० अम्बेडकर दिल्ली के अपने निवास स्थान में थे। वे अस्वस्थ तो चल रहे थे, परन्तु ''5 दिसम्बर को उनका स्वास्थ्य सामान्य था।''[1] श्रीमती सविता अम्बेडकर अतिथि डॉ० मावलंकर के साथ दिन के डेढ़ बजे कुछ खरीदारी के लिए बाजार गयीं, तो पांच बजे के बाद लौटीं। डॉ० अम्बेडकर ने उन पर काफी नाराज होकर उन्हें बहुत भला-बुरा कहा। श्रीमती सविता ने सेवक रत्तू से कहा कि वह मालिक को शांत करे।

जैनों का एक शिष्ट मण्डल मिलने आया था। जब डॉ० अम्बेडकर उनसे बात कर रहे थे तब उनके अतिथि डॉ० मावलंकर रात्रिकालीन उड़ान से बम्बई के लिए प्रस्थान कर गये।[2]

रत्तू सेवक डॉ० अम्बेडकर के पांव दबाये तथा सिर में तेल की मालिश की। डॉ० अम्बेडकर मंद स्वर से गुनगुना रहे थे ''बुद्धं शरणं गच्छामि''। अंतत: अपने सोने के कमरे में जाते समय कबीर साहेब का एक भजन गुनगुना रहे थे ''चल कबीरा तेरा भवसागर डेरा''।

रात में श्रीमती सविता तथा रसोइया सुदामा के अलावा कोई नहीं था। ''अगले दिन 6 दिसम्बर की सुबह श्रीमती सविता अम्बेडकर जब साढ़े 6 बजे उठीं, तो उन्होंने अपने पति को सोते हुए देखा। सदा की भांति उन्होंने बगीचे में थोड़ी चहलकदमी की और लौटकर अपने पति को जगाना चाहा तो उन्होंने उन्हें मृत पाया।''[3]

''डॉ० अम्बेडकर की असामयिक मृत्यु को लेकर उनके पुत्र श्री यशवंत राव बी० अंबेडकर तथा बाबा साहेब के कई अनुयायियों को शंका थी कि हो सकता है कि उनकी मृत्यु के पीछे कोई साजिश हो। बाबा साहेब के पुत्र श्री यशवंत द्वारा इस सम्बन्ध में दिल्ली पुलिस में प्राथमिकी भी दर्ज करायी गयी थी। बाबा साहेब के दुभाषिये श्री सोहनलाल शास्त्री ने अपने प्रकाशित संस्मरणों में भी ऐसी आशंका व्यक्त की है। इस सम्बन्ध में 26 नवम्बर, 1957 ई० को तत्कालीन गृहमन्त्री पण्डित गोविंद वल्लभ पंत ने लोकसभा में इस आशय का वक्तव्य देकर इस प्रकरण का पटाक्षेप किया कि डॉ० अम्बेडकर की मृत्यु एक स्वाभाविक मृत्यु है।''[4]

---

1. **वही, पृष्ठ 148।**
2 **वही, पृष्ठ 148।**
3. **वही, पृष्ठ 149।**
4. **वही, पृष्ठ 150।**

16. उपसंहार

भारत के धार्मिक क्षेत्र में शूद्र कहे जाने वाले वंश में कृष्णद्वैपायन, सौति आदि अगणित महापुरुष हुए हैं जो हिन्दू-समाज की रीढ़ में हैं। राजकाज में भी मगध की गद्दी पर नन्दवंश एवं मौर्यवंश भारत के महान शासक हुए जिसने क्रमश: प्रसिद्ध महान सिकंदर का सामना किया और पीछे उसके सरदार सैल्यूकस को परास्तकर उन्हें अधीन किया। मौर्यवंशी महान अशोक की सुकीर्ति कौन नहीं जानता है जो शूद्रवंश के ही माने जाते हैं। छत्रपति शिवाजी भी शूद्रवंश के ही माने जाते हैं जिनके राज्याभिषेक को लेकर ब्राह्मणों ने बहुत खींचातानी की थी। अन्त में करोड़ों रुपयों की दान-दक्षिणा के बाद ब्राह्मणों द्वारा उनका राज्याभिषेक हो सका था। परन्तु इस शूद्र कहे जाने वाले छत्रपति शिवाजी का वर्चस्व जगजाहिर है।

इस बीसवीं सदी में डॉ० भीमराव अंबेडकर भारत के एक ऐसे रत्न हुए जो शूद्र कहे जाने वाले वंश में जन्म लिये थे। उन्होंने भारत और भारत के बाहर तथा दिल्ली से लंदन तक के राजभवनों में विषमता के विरोध में ऐसा हुंकार किया, जिससे भारत के सवर्ण कहे जाने वाले लोगों को पुनर्विचार करने के लिए विवश होना पड़ा। स्वतन्त्र भारत के दलित वर्ग की उन्नति तथा सब क्षेत्रों में अधिकार प्राप्ति में कारण भारतीय कांग्रेस पार्टी, अन्य राजनीतिक पार्टियां, समय आदि हैं ही, डॉ० अम्बेडकर का बहुत बड़ा योगदान है।

29

महापंडित राहुल सांकृत्यायन

सरल, उदार, कारुणिक, दृढ़निश्चयी, अटूट परिश्रमी, अद्भुत भ्रमणशील, नदी की धारा की तरह कहीं न रुकनेवाला, भारतीय विद्वतनभ का एक चमकता तारा, लगभग तैंतीस भाषाओं का जानकार और विविध विषयों पर करीब डेढ़ सौ ग्रंथों का लेखक महापंडित राहुल सांकृत्यायन का यहां सरल परिचय देने का प्रयास किया जा रहा है।

1. जन्मस्थान और जन्मकाल

महापंडित राहुल सांकृत्यायन उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ जिले के पंदहा नामक ग्राम में गोबर्धन पांडे तथा कुलवंती देवी माता-पिता से 9 अप्रैल, 1893 ई० में जन्म लिये। राहुल जी चार भाई और एक बहिन में स्वयं सबसे बड़े थे। इनका बचपन का नाम केदार पांडे था।

पिता गोबर्धन पांडे धार्मिक विचार के थे और एक साधारण किसान थे। माता कुलवंती अपने माता-पिता के यहां अर्थात नैहर में रहती थीं, पिता भी वहीं रहते थे। जब राहुल जी चार वर्ष के थे तब भयंकर अकाल पड़ा था। उसकी स्मृति उनके मानस पटल पर बचपन की पहली बड़ी छाप थी। राहुल के बचपन में ही उनकी माता और एकमात्र बहिन की मृत्यु हो गयी थी।

2. पढ़ाई

राहुल जी जब पांच वर्ष के हुए तब एक मदरसे में पढ़ने के लिए उनकी भरती करायी गयी और फारसी लिपि तथा उर्दू भाषा से उनकी पढ़ाई आरंभ हुई। वे कुछ समय काशी के चक्रपाणि ब्रह्मचारी के मठ में संस्कृत पढ़ते रहे। वे लाहौर, चित्रकूट, जबलपुर आदि घूमते-घूमते संस्कृत पढ़ते रहे, परन्तु स्वतन्त्रता आंदोलन के अपने राजनीतिक विचारों के कारण संस्कृत में शास्त्री की परीक्षा में भी उत्तीर्ण नहीं हुए। वे बिना किसी डिग्री पाये भी अपने अध्यवसाय के बल पर संस्कृत के प्रकांड पंडित हो गये। उन्होंने संस्कृत, अरबी, फारसी, इंगलिश, तिब्बती आदि लगभग तैंतीस (33) भाषाएं सीखीं। परंतु वे जीवन भर संस्कृत तथा हिन्दी ही में लिखते रहे।

3. भ्रमण और ज्ञान का शौक

उनको देश-देशांतर घूमने और ज्ञानार्जन का बड़ा शौक था। जब वे नौ वर्ष के थे तभी घर छोड़कर वाराणसी भाग गये और चौदह वर्ष की उम्र में कलकत्ता भाग गये। वे कलकत्ता दो वर्ष रहे। महानगरी में अनेक ठोकरें खाकर दो वर्ष के बाद घर लौट आये। परंतु उनका साहस कम नहीं हुआ और पुनः कलकत्ता गये और एक तम्बाकू की दुकान पर कारिंदा बने। उनके मन में यह इच्छा नहीं थी कि वे पढ़ाई से डिग्री प्राप्त करें, धन कमायें और गृहस्थी बसायें। उन्हें घूमने, ज्ञानार्जन करने के साथ साधु जीवन बिताने का शौक हुआ और कलकत्ता से बनारस की तरफ लौट आये।

राहुल जी अपनी सत्तरह वर्ष की उम्र में साधुओं का साथ कर भ्रमण करने लगे। उनकी इच्छा थी कि मूल संस्कृत में वेदांत पढ़ें। वे बनारस की तरफ से पैदल चलकर अयोध्या और मुरादाबाद गये और वहां से बिना टिकट ट्रेन से हरिद्वार गये। वहां से ऋषिकेश, देवप्रयाग, बद्री, केदार, जमनोत्री, गंगोत्री तक की साधुओं के साथ पद-यात्रा की और उनके साथ गांजा की चिलम भी पी। इस समय उनकी उम्र सत्तरह वर्ष की थी। वे यात्रा से लौटकर बनारस आ गये और चक्रपाणि ब्रह्मचारी के मठ में लघु कौमुदी पढ़ने लगे। बनारस में ही रहकर उन्होंने काव्य, इतिहास, व्याकरण, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि अनेक विषयों के संस्कृत-ग्रंथ पढ़े। कई सिद्धियों को पाने के लिए उन्होंने जप, तप, देव-प्रार्थनाएं भी कीं।

4. साधुवेष की दीक्षा

जब राहुल उन्नीस (19) वर्ष के हुए तब उन्होंने संस्कृत के एक प्रकांड पंडित का भाषण सुना। पंडित का नाम था रामावतार शर्मा। वे न वेद की अपौरुषेयता पर विश्वास करते थे और न ईश्वर पर। उनका भाषण एवं चिंतन तर्कपूर्ण था। राहुल के मन पर उस भाषण का गहरा प्रभाव पड़ा। राहुल जी परसा मठ में विधिवत वैष्णव-साधुवेष में दीक्षित हो गये। उनका नाम केदार पांडे से बदलकर 'रामउदार दास' पड़ा। वे मंदिर के पूजा-पाठ तथा सेवाकार्य से समय निकालकर अपना अध्ययन जारी रखते थे।

5. साधुवेष में भ्रमण

राहुल जी को परसा मठ में बौद्धिक संतोष नहीं मिला। वे 1913 ई० में मठ छोड़कर ट्रेन द्वारा हाजीपुर चले गये, फिर वहां से बिना टिकट आसनसोल, आद्रा, खड़गपुर होते हुए जगन्नाथपुरी पहुंचे। इसके बाद मद्रास पहुंचे। इसके बाद तिरुमलै तक पैदल गये; फिर पुन्नमलै, पच्छपेरुमाल, तिरमिशि और तिन्ननूर गये। वहां वे तमिल भाषा सीखने लगे। वे तिरुपति, तिरुकलिकुंड्रम, कांचीपुरम और रामेश्वरम गये। इतना ही नहीं, वे रामनाड, बंगलौर, विजयनगर,

बागलकोट, पंढरपुर, पुणे, बंबई, नासिक, त्रयंबक, कपिल धारा, ओंकार, मांधाता, उज्जैन का कुंभ, डाकोर, अहमदाबाद होते हुए 1914 ई० में परसा मठ लौट आये।

6. वैष्णवता से आर्य समाज की ओर

राहुल जी का मन पुन: मठ में नहीं लगा और वे मठ को छोड़कर किसी को बिना बताये अयोध्या चले गये। अयोध्या तथा फैजाबाद के बीच में आर्यसमाज मंदिर एवं विद्यालय है। राहुल जी ने जब आर्य समाजियों से मुलाकात की तब उनके विचार उन्हें पैने लगे। उन्होंने आर्यसमाज के विचारों को लेकर वाद-विवाद शुरू किया। अयोध्या और फैजाबाद के बीच में एक देवकाली मंदिर है, जो आज भी है। वहां उसकी पूजा में बकरे की हत्या की जाती थी। राहुल जी ने इसका विरोध किया। इसको लेकर सनातन धर्मी कहलाने वाले पुरोहितों द्वारा राहुल जी मारे-पीटे गये। राहुल जी मूर्तिपूजा विरोधी कट्टर आर्य-समाजी बन गये थे। उनको अपने मारे-पीटे जाने की परवाह नहीं थी।

राहुल जी जनवरी, 1915 ई० में आगरा पहुंचकर मुसाफिर विद्यालय में अपनी भरती कराकर पढ़ने लगे। वे दो वर्षों तक संस्कृत, अरबी तथा कई संप्रदायों के धर्मशास्त्र और राष्ट्रीय इतिहास पढ़ते रहे। इसके साथ उन्होंने उर्दू और हिन्दी में अखबारों के लिए लेख लिखना शुरू किया। लेख के विषय होते थे ढोंगी साधु-वेषधारियों का परदाफास जो गृहस्थों को ठगने वाले होते थे। राहुल जी बराबर तार्किक ग्रंथ पढ़ते थे।

7. आर्यसमाज से भी उदासीनता

धीरे-धीरे राहुल जी को आर्यसमाज भी एक जड़ रूढ़िबद्ध संप्रदाय लगने लगा। वे इटावा, कानपुर, लखनऊ आदि के आर्यसमाज कार्यालयों में गये, परन्तु उनका मन हर जगह से हटता गया। उन्होंने रायबरेली में हिन्दी भाषा और साहित्य पर भाषण दिया और वाराणसी में उनके भाषण हुए। इसी क्रम में अहरोरा में राहुल जी के पिता उनसे मिलने आये और उन्होंने उन्हें समझा-बुझाकर घर ले जाना चाहा, परन्तु वे घर नहीं गये, और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि मैं अपनी पचास वर्ष की उम्र के पहले आजमगढ़ में नहीं लौटूंगा। यह पिता जी से राहुल जी की अंतिम भेंट थी। इस समय राहुल जी अपनी डायरी प्राय: संस्कृत में लिखते थे। पत्र भी प्राय: संस्कृत में लिखते थे। पद्य संस्कृत, अरबी, उर्दू, हिन्दी आदि में रचा करते थे।

वे सन् 1920 ई० में जब सत्ताइस वर्ष की उम्र के थे पहली बार वाराणसी से उत्तर स्थित सारनाथ गये जहां बौद्धों का अवशेष है, और वहां से गोरखपुर के पास कसया गये जहां तथागत बुद्ध का परिनिर्वाण हुआ था। इसके

बाद लुंबनी और कपिलवस्तु गये जहां तथागत बुद्ध का जन्म हुआ था। उन्होंने निगलिहरा के तालाब के पास भग्नावस्था में अशोक कालीन शिलालेख देखा जो उनके मन को प्रभावित किया।

8. राजनीतिक प्रेरणा

राहुल जी हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी भाषा के अखबार पढ़ते रहते थे। उन्होंने सन् 1918 ई० में रूस की साम्यवादी राज्य-क्रांति के समाचार पढ़े और उनका मन उस तरफ दौड़ने लगा। उन्होंने 1922 ई० में साम्यवाद पर संस्कृत में एक प्रारूप ही लिख डाला। वे सन् 1921 ई० में भारतीय कांग्रेस में प्रवेश किये और उनकी राजनीतिक यात्रा शुरू हो गयी। उन्होंने कांग्रेस के असहयोग आंदोलन में सक्रिय भाग लिया और खंडवा में इस पर भाषण दिया। वे अंग्रेज सरकार द्वारा गिरफ्तार कर हजारीबाग जेल में बंद कर दिये गये। उसी जेल में उन्होंने बाइसवीं सदी नाम की पुस्तक लिख डाली।

कुछ ऐसे लोग थे जो पूजा के नाम पर बकरे, मुरगे, गांजा, शराब आदि चढ़ाते रहते थे। राहुल जी ने उन्हें इन दुर्गुण एवं दुराचारों से रोका, परन्तु उन पर इसका असर नहीं हुआ, तब उन्होंने उन अंधविश्वासों पर प्रभाव डालने के लिए एक अभिनय किया। राहुल जी ने चिल्लाकर कहा कि मेरे भीतर गांधी बाबा नाम का एक नया देवता जाग्रत हो गया है, और अन्य सारे देवता उसके सहयोगी हो गये हैं। अब यदि कोई पूजा के नाम पर बकरे-मुरगे की हत्या करेगा और गांजा-शराब आदि चढ़ायेगा तो मैं उसे शाप दूंगा और उसका विनाश हो जायेगा। उस समय राहुल जी साधुवेश में थे। उनके इस नाटकीय ढंग का अंधविश्वासियों पर प्रभाव पड़ा और वे पूजा के नाम पर जीव-हत्या तथा नशा छोड़ दिये।

गांधीजी की राजनीति समाज-सेवा के सहित थी। इसलिए राहुल जी इससे प्रभावित थे। उन्होंने अपने साधुवेष में रहते हुए छपरा जिले के बाढ़-पीड़ितों की सेवा की। उन्होंने एकमा में गांधी स्कूल से चरखे बांटे और अंग्रेजी राज्य के विरोध में भोजपुरी भाषा में अनेक भाषण दिये। वे 31 जनवरी, 1922 ई० को पकड़कर जेलखाने में डाल दिये गये। उन्हें जेलखाने में ही कहीं से ट्राट्स्की रचित 'बोल्शेविज्म और विश्व-क्रांति' नाम की पुस्तक मिल गयी। इसे पढ़कर उनका मन प्रभावित हुआ और उन्होंने जेलखाने में ही संस्कृत भाषा में एक गीत की रचना की—"शृणु-शृणु रे पांथ, अहमिव नह्येकाकी!" अर्थात हे पथिक! सुनो-सुनो, मैं अकेला नहीं हूं। यह गीत वे उच्च स्वर में गाते हुए जेलियों को सुनाते थे।

राहुल जी ने मजिस्ट्रेट के सामने अपना राजनीतिक अपराध स्वीकार कर लिया। अतएव जब उन्हें मजिस्ट्रेट ने छह महीने का कारावास दिया तब राहुल

जी ने उसे धन्यवाद दिया। उनके हाथों में हथकड़ियां पहनायी गयीं। उन्होंने आत्मकथा में लिखा है, ''जब दादा ने चांदी के कड़े इन कलाइयों में डाले थे, तब वे इन बेड़ियों की ही तरह थे, फर्क सिर्फ इतना था कि जब वे हाथ बेड़ी से जकड़ जाते हैं तो काम उतनी ही अच्छी तरह से नहीं हो पाता।''[1] इसी जेल में रहते हुए राहुल जी ने भारतेंदु हरिश्चंद्र रचित नाटक 'अंधेरी नगरी' को खेला और यहीं रहकर उन्होंने कुरआन का संस्कृत भाषा में अनुवाद करना शुरू किया। इसके साथ वे जेल के साथियों को उपनिषद् और वेदांत पढ़ाते थे। जेल का समाचार रहस्यमय ढंग से नित्य बाहर भेजे जाते थे जो मदरलैण्ड नाम के अखबार में छपते थे।

राहुल जी 29 अक्टूबर, 1922 ई० जिला कांग्रेस कमेटी के सचिव चुने गये। किन्तु उनके विचार कम्युनिज्म की तरफ बड़ी तेजी से बदल रहे थे। उनमें साम्प्रदायिक निरपेक्षता की भावना बढ़ती गयी और वे अंततः भौतिकवादी हो गये। 1923 ई० में राहुल जी ने करीब पैंतालिस दिन नेपाल में बिताये। उन दिनों नेपाल सरकार भारत के हिन्दुओं को केवल शिवरात्रि के दिन पशुपतिनाथ के दर्शनार्थ जाने की आज्ञा देती थी। राहुल जी ने इसी बीच अनेक बौद्ध विद्वानों, भिक्षुओं, मंगोल और चीनी लामाओं से मिलकर उनके विषय में जानने का प्रयत्न किया।

राहुल जी जब नेपाल से लौटे तब अंग्रेज सरकार ने उन्हें पुनः पकड़कर बांकीपुर जेल में अकेले कैद की कोठरी में बंद कर दिया। इसके बाद वहां से उन्हें हजारीबाग के जेलखाने में लाकर दो वर्षों तक बंद रखा गया। उस समय उनके पास पालिमूल में मंझिम निकाय बौद्ध ग्रंथ था जिसे उन्होंने दो दिन के उपवास से पुलिस से प्राप्त किया था। वे उसे पढ़ा करते थे। साथ-साथ केरल से बंदी बनाकर लाये गये एक शंकराचार्य से जो उसी जेल में रहते थे उन्होंने गणित, बीजगणित, रेखागणित, आप्टिक्स और ज्योतिष का ज्ञान परिमार्जित किया।

हजारीबाग का जेलर एंग्लो-इण्डियन था और दयालु था। उसने बच्चों के लिए पढ़ने वाली इंगलिश की किताबें राहुल जी के लिए भेजी। उन्होंने इसी जेल में रहकर चार अंग्रेजी उपन्यास जो रहस्य और साहस का बोध देते थे उनका हिन्दी में अनुवाद किया और केवल पुस्तक के आधार पर फ्रांसीसी और आवेस्तन भाषाएं सीखीं।

9. भदंत आनंद कौसल्यायन से भेंट और पुनः यात्रा

राहुल जी ने 1926 ई० में मेरठ में हरनामदास से भेंट की जिनका पीछे ब्रह्मचारी विश्वनाथ नाम पड़ा और उसके बाद बौद्ध भिक्षु आनंद कौसल्यायन,

---

1. **राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ 18, लेखक : प्रभाकर माचवे, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली।**

जिन्हें हम भदंत आनंद कौसल्यायन नाम से जानते हैं। मिलने के बाद आजीवन दोनों की मित्रता बनी रही।

इसके बाद राहुल जी कश्मीर गये। वहां से कारगिल होते हुए लद्दाख पहुंचे और हेमिस के लामा 'स्ताकसांग-रस-पा' से उन्होंने भेंट की। काल्पी में उन्होंने कुछ मोहिनी विद्या सीखी जिसे मेस्मेरिज्म कहते हैं। वे वहां से अठारह हजार फीट की ऊंचाई पर खारदोंग-ला तक गये और वहां के एक साठ वर्ष की उम्र के रिझोंग नाम के लामा से मिले। इसके बाद वे न्युब्रा तथा लेह होते हुए मान-पांग-गोंग सरोवर गये, फिर चुमूर्ति-किन्नोर होते हुए शिमला पहुंचकर वापस आये। यह तिब्बत की सीमा पर उनकी यात्रा साहसपूर्ण थी।

इस यात्रा में राहुल जी के सामने एक तिब्बती कुत्ते की मृत्यु हुई थी जिसका उन्होंने बड़ा भावपूर्ण वर्णन दिया है। "वे लिखते हैं—"मेरी आंखें जो प्रिय माता-पिता और स्नेहमय नाना-नानी की मृत्यु पर भी गीली नहीं हुई थीं, इस कुत्ते की मौत पर आंसुओं से भर आईं। मैंने कुत्ते पर संस्कृत में आठ श्लोक की शोकांजलि रची, प्रत्येक श्लोक की अन्तिम पंक्ति थी—सेंग तुके! त्वत्प्रयाणे!"[1] कुत्ते का नाम 'सेंग-तुक' था।

राहुल जी बिहार लौट आये और राजनीतिक आंदोलनों में पुनः भाग लेने लगे। उन्होंने छपरा में राजेन्द्र प्रसाद के साथ भाषण दिये। वे 1926 ई० में गौहाटी कांग्रेस में काम किये। फरीदपुर में उन्होंने मजहरूल हक से भेंट की और उनकी आध्यात्मिक पुस्तकों का बहुत बड़ा ग्रंथालय देखा। 30 मार्च, 1927 ई० को अंतिम बार परसा पहुंचे। वहां उन्होंने प्रतिज्ञा की कि जमींदारी प्रथा का अंत होने पर ही पुनः परसा आऊंगा।

10. श्रीलंका की यात्रा और वहां अध्ययन

राहुल जी श्रीलंका जाना चाहते थे। कलकत्ता की महाबोधि सोसाइटी ने उनकी सहायता की और वे श्रीलंका जाकर वहां के विद्यालंकार परिवेण में उपस्थित हुए। वे वहां 16 मई सन् 1927 ई० से दिसम्बर सन् 1928 ई० तक उन्नीस महीने से अधिक समय तक बौद्ध ग्रंथों का अध्ययन करते रहे। वहां रहते हुए उन्होंने भारतीय सांस्कृतिक इतिहास की अपनी जानकारी में भी वृद्धि की। पहले हजारीबाग के जेलखाने में रहकर राहुल जी ने ब्राह्मी लिपि का ज्ञान प्राप्त किया था। उन्होंने वहां रहकर देश-विदेश से प्रकाशित अनेक पत्र-पत्रिकाओं का अध्ययन किया था। पहले वे अपने ब्राह्मण संस्कारों से ईश्वर विश्वास का बौद्ध-विचारों से समन्वय करने का प्रयत्न करते रहे, परन्तु यह बात ज्यादा दिनों तक स्थिर नहीं रही।

---

1. **वही, पृष्ठ 19।**

दिसम्बर 1927 ई० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन मद्रास में हुआ था। राजेन्द्र प्रसाद मद्रास से श्रीलंका गये। राहुल जी राजेन्द्र प्रसाद का वहां मार्गदर्शन करते रहे।

राहुल जी ने अपना सुस्थिर लेखन-कार्य श्रीलंका से ही शुरू किया है। वे श्रीलंका के सम्बन्ध में लेख लिखते थे और इलाहाबाद से प्रकाशित सरस्वती हिन्दी त्रैमासिक में छपने भेजते थे। वहां के कुछ विद्यार्थियों को वे संस्कृत भी पढ़ाते थे। श्रीलंका में रहकर राहुल जी ने सिंहली और फ्रांसीसी अच्छी तरह सीख ली। श्रीलंका में रहते-रहते उनके मन में तिब्बत जाने की इच्छा तीव्र हो गयी थी। राहुल जी श्रीलंका से भारत लौट आये।

बख्तियार खिलजी ने बिहार प्रदेश के विक्रमशिला और नालंदा विश्वविद्यालय पर हमला किया था। ये दोनों विश्वविद्यालय आज के भागलपुर तथा नालंदा जिले में पड़ते हैं। ये दोनों विश्वविद्यालय बौद्धों के थे। बौद्ध भिक्षु विद्वान उक्त दोनों विश्वविद्यालयों से हस्तलिखित ग्रन्थ तथा तालपत्र के ग्रंथ लेकर असम, नेपाल तथा तिब्बत भाग गये थे। वैसे भारत से कुछ पोथियां तथा तालपत्र ईसा की सातवीं शताब्दी से ही तिब्बत में पहुंचते रहे। इसका उल्लेख तिब्बती सम्राट ''श्रांग-वत्सन साम-सो'' के राजदरबार के दस्तावेज में हुआ है जो 630-693 ई० काल का है। परन्तु मुसलिम आक्रमणों के बाद भारतीय ग्रंथों का भारत से तिब्बत ले जाया जाना ईसा की नौवीं सदी से तेरहवीं सदी तक चलता रहा। ग्रंथों की इस महाराशि में बौद्ध ग्रंथ तो हैं ही, हिन्दू और जैन ग्रंथ भी पुष्कल मात्रा में हैं। ये ग्रंथ संस्कृत और पालि भाषा में हैं। इनके हजारों ग्रंथों का भोट भाषा में अनुवाद होता रहा। ऐसे अनेक बौद्ध ग्रंथ जो भारत में नष्ट हो गये या खो गये थे, वे तिब्बत में लामाओं के मठों में सुरक्षित हैं। ''कंजूर और तंजूर'' में दस हजार दुर्लभ प्राचीन भारतीय ग्रंथ सुरक्षित बताये जाते हैं।

11. राहुल जी की तिब्बत-यात्रा

राहुल जी के मन में यह बराबर लालसा उठने लगी कि मैं तिब्बत जाकर वहां से दुर्लभ बौद्ध ग्रंथ भारत लाऊं। परंतु 1928 ई० के काल में भारत से तिब्बत जाना सरल नहीं था। वहां भी ब्रिटिश-शासन था और बाहर के लोगों को वहां जाना वर्जित था। परन्तु पक्की लगन का फल अच्छा होता ही है। राहुल जी एक बार नहीं, चार बार 1929, 1934, 1936 तथा 1938 में तिब्बत गये।

शिवरात्रि फालगुन कृष्ण 13 को भारत के हिन्दुओं के लिए छूट रहती थी। उस दिन वे काठमांडो स्थित पशुपतिनाथ के दर्शनार्थ जा सकते थे। राहुल जी

ने इसी अवसर का लाभ उठाया और वे रक्सौल तथा अमलेखगंज होते हुए काठमांडो पहुंचे। वे वहां के महाबौद्ध स्तूप में 'डुक-पा' लामा से मिले। राहुल जी ने लद्दाख के 'हेमिस' लामा से अपने विषय में एक अनुशंसा पत्र पहले से प्राप्त कर लिया था। उसके सहारे वे 'डुक-पा' लामा के भिक्षु-समाज में मिल गये। वे तिब्बती भ्रमणशील व्यापारियों के साथ मिलकर तिब्बत के लिए प्रस्थान कर दिये। परन्तु एक कठिनाई थी तिब्बत की सीमा में प्रवेश करना। उसके लिए चाहिए था 'लाम-चिक' अर्थात सीमा पार करने का अनुमति-पत्र।

राहुल जी का एक मंगोल-भिक्षु से बोध-गया में परिचय हो गया था, संयोग से वह वहां मिल गया। अतएव उसके सहारे उन्हें अनुमति-पत्र मिल गया। राहुल जी ने उस मंगोल भिक्षु का भारी बोझा भी अपने ऊपर लाद लिया और उसके साथ चल दिये। वहां का रास्ता खतरनाक था। रास्ते में डाकू होते थे। वे पथिक की हत्या करके पीछे उनके माल लूटते थे। जब राहुल जी किसी को डाकू-जैसा देखते, तब वे अपनी टोपी उतारकर, जीभ निकालकर और हाथ फैलाकर 'कुची-कुची' (दया करो) कहते थे। अनेक व्यापारी लामा एवं भिक्षु (साधु) का वेष पहनकर कीमती चीजें ले जाते थे, इसलिए डाकू भिक्षुओं और लामाओं पर भी हमला करते थे।

राहुल जी कोसी नदी का बर्फीला पानी पारकर आगे बढ़े। आगे उनका सामान ढोने के लिए गधे मिल गये। फिर वे एक टट्टू पर सवार होकर ब्रह्मपुत्र के किनारे-किनारे नारथाङ् तक पहुंचे। नारथाङ् में एक मठ था जहां ग्यारहवीं सदी के 338 ग्रंथ थे। प्राय: भारतीय ग्रंथों के तिब्बती भाषा में अनुवाद थे। राहुल जी आगे बढ़ते रहे। वे शिगार्चे, डिक, थोमों, जराला दर्रा, नगाचे डांडे-खाम-वाला होकर छू-ओरी में एक नौका द्वारा ब्रह्मपुत्र पार करके एक टट्टू पर बैठकर तिब्बत की राजधानी ल्हासा पहुंचे। 19 जुलाई 1929 ई० का समय था। उन्हें दूर से ही पोटाला मठ की सुनहरी छत दिखाई दी। वहां धर्मा साहु नाम के नेपाली रहते थे, जिनसे राहुल जी का परिचय नेपाल में ही हो गया। वे उनके घर पर जाकर उनसे मिले और उन्होंने उनका स्वागत किया।

राहुल जी चाहते थे कि वे समसामयिक दलाई लामा से मिलें। उन्होंने 151 छंदों का संस्कृत भाषा में एक पद रचा और उसका भोट भाषा में अनुवाद कर दलाई लामा के एक शिष्य के हाथों उनसे पास भेजवाया। कहा जाता है कि दलाई लामा उसे पढ़कर प्रसन्न हुआ और कहा कि इस छंद के रचयिता को समय से अपने पास आने की अनुमति दूंगा। परंतु उसके पास से राहुल जी को मिलने के लिए कभी अनुमति नहीं मिली।

राहुल जी वहां के देपुंग-गुंबा नामक जगह में गये जहां अनेक देशों के सात हजार भिक्षु छात्रावासों में रहते थे। परंतु भारत के लोगों का कोई

छात्रावास नहीं था। उस समय भारत में बौद्ध मत का प्रचार ही शून्य था। राहुल जी ने तिब्बत में कागज के छोटे-छोटे पर्चे पर 16,000 भोट भाषा के शब्दों का संग्रह करके उनका नेपाली तथा संस्कृत में अर्थ किया। वे तिब्बत में तीन वर्षों तक रहना चाहते थे जिससे प्राप्त बौद्ध ग्रंथों का अध्ययन और शोध कर सकें। परन्तु उनके सामने मुख्य कठिनाई धन की थी। काशी विद्यापीठ के आचार्य नरेन्द्र देव ने पचास रुपये मासिक भेजने की व्यवस्था की थी। इसके अतिरिक्त श्रीलंका से भदंत आनंद कौसल्यायन तीन हजार रुपये भेजवाये जिससे राहुल जी दुर्लभ पुस्तकें खरीद सकें। परंतु इतना धन उनके लिए पर्याप्त नहीं था।

राहुल जी 'साम-ये' के प्राचीनतम महाविहार को देखने गये। यहां नालंदा के प्रसिद्ध भिक्षु शांतिरक्षित का शव सुरक्षित रखा गया था, परन्तु यह खंडहर रूप में था। वहां एक जगह 'गे-गर-लिंग' है जिसका अर्थ है 'भारतीय द्वीप'। यहां पर ग्यारहवीं सदी में भारतीय विद्वान रहते थे और भारत के संस्कृत ग्रंथ तिब्बती में अनुवाद करते थे। इस मठ की दशा भी बहुत बुरी थी। यहां एक बड़ा ग्रंथालय था उसमें ऐसे दुर्लभ ग्रंथ थे जो भारत के विक्रमशिला में भी नहीं थे। परंतु यह वर्षों पहले जलकर राख हो चुका था।

इसके बावजूद भी राहुल जी ने पुराने ग्रंथों को इकट्ठा करने में अथक प्रयत्न किया। कुछ ग्रंथ और चित्र खरीदे तथा कुछ उन्हें भेंट स्वरूप मिले। इस प्रकार उन्होंने तिब्बती भाषा में 1619 हस्तलिखित ग्रंथ तथा दुर्लभ चित्र अठारह टट्टुओं पर लादकर लौटे। उन्हें ल्हासा से कालिपोंग तक 39 दिन लगे। वे 24 अप्रैल को ल्हासा से चले और कालिपोंग 3 जून 1930 ई० को पहुंचे। इसके बाद वे उसे बड़े श्रम से भारत में लाकर बिहार की राजधानी पटना के म्यूजियम में समर्पित कर दिये।

उक्त संग्रह में धर्म, दर्शन, इतिहास, जीवनी, कला, ज्योतिष, चिकित्सा, भूगोल आदि अनेक विषयों पर साहित्य हैं। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान नागार्जुन और असंग की माध्यमिक शाखा तथा योगाचार शाखा पर दुर्लभ ग्रंथ हैं। इतना ही नहीं, क्रियातंत्र, चर्यातंत्र, योगतंत्र, दंडी के काव्यादर्श पर 'ल्ना-पा' की दो टीकाएं, कल्पलता के दो तिब्बती अनुवाद, पाणिनी धातु-पाठ पर दुर्गासिंह का भाष्य आदि ग्रंथ हैं। इस ग्रंथ-राशि में एक ग्रंथ ऐसा भी है जिसमें मुसलिम आक्रमण द्वारा विक्रमशिला विश्वविद्यालय का महाविनाश का वर्णन है। इस संग्रह में बौद्ध महायान और वज्रयान की देवमाला संबंधी 137 चित्रपट भी हैं। राहुल जी ने तिब्बती भाषा का व्याकरण तथा तीन बालपोथियां नागरी लिपि में लिखीं। वे प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान धर्मकीर्ति (600 ई०) का प्रसिद्ध ग्रंथ 'प्रमाण वार्तिक' वृत्ति लाये। उन्होंने उसे तिब्बती से पुनः संस्कृत में किया। यह ग्रंथ

मूल संस्कृत में ही लिखा गया था। उन्होंने एक तिब्बती-हिन्दी कोश भी तैयार किया। जिसका पहला खण्ड साहित्य अकादमी ने उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित किया।

12. अन्य देशों का भ्रमण

राहुल जी तिब्बत से भारत लौटकर 1930 ई० में ही पुन: श्रीलंका गये। वहां से भारत लौटकर 1931 ई० के चलने वाले सत्याग्रह में भाग लिये। वे तीसरी बार पुन: 1931-32 ई० में श्रीलंका में रहकर आये। वे 1932-33 ई० में यूरोप गये और इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी के प्राच्य-विद्या विशारदों से मिले। 1935 ई० में उन्होंने जापान, कोरिया और मंचूरिया में प्रवास किया। वे मंचूरिया में 29 अगस्त, 1935 ई० में ट्रेन पर बैठे और सात दिनों तक रेलगाड़ी की यात्रा करते हुए रूस की महानगरी मास्को पहुंचे। उन्होंने 4 से 21 सितम्बर तक मास्को में निवास किया। वे प्रसिद्ध विद्वान ओल्डेनबर्ग तथा श्चेर्बास्की से मिलना चाहते थे परन्तु तब तक ओल्डेनबर्ग तो मर चुके थे और श्चेर्बास्की लेनिनग्राद में रहते थे। राहुल जी को वहां जाने की अनुमति न मिलने से वे उनसे भी नहीं मिल सके।

राहुल जी मास्को से बाकू गये। उन्होंने वहां अग्नि-मंदिर देखा, जिसे उन्होंने अपनी भाषा में 'ज्वालामाई' कहा। वहां से जल-जहाज से ईरान जाकर उन्होंने तेहरान, शीराज, मर्शद और बलूचिस्तान का भ्रमण किया। फिर ट्रेन द्वारा लाहौर आ गये। इसके बाद वे विषम-ज्वर से अस्वस्थ हो गये और पटना के एक चिकित्सालय में पांच दिनों तक अचेत रहे। फिर स्वस्थ हुए।

13. सोवियत रूस में दूसरा विवाह

राहुल जी 1937 ई० में ईरान तथा 1937-38 ई० में पुन: सोवियत रूस गये। अब की बार वे सोवियत अकादमी के निमंत्रण पर गये थे। वे मास्को से लेनिनग्राद गये और 17 नवम्बर, 1937 ई० से 13 जनवरी, 1938 ई० तक वहीं रहे। लोला नाम की एक मंगोलियन महिला थी। जो भारतीय-तिब्बती विभाग की सचिव थी। वे उस समय संस्कृत-तिब्बती कोश बना रही थीं। वे फ्रांसीसी, अंग्रेजी, रूसी और मंगोलियन भाषाएं जानती थीं। राहुल जी की उनसे भेंट हुई और दोनों की मित्रता हो गयी। राहुल जी उन्हें संस्कृत पढ़ाने लगे और वे राहुल जी को रूसी पढ़ाने लगीं। दोनों की मैत्री पारस्परिक मोह और फिर विवाह में बदल गयी। राहुल जी द्वारा लोला को 5 सितम्बर 1938 ई० में एक पुत्र पैदा हुआ जिसका नाम 'इगोर' रखा गया। भारत वापस आ जाने के कारण राहुल जी उसे देख न सके। जब वे पुन: 1945 ई० में सोवियत रूस गये तब देख सके। 17 अगस्त 1947 ई० को रूस छोड़ देने के बाद राहुल जी अपने

पुत्र को कभी नहीं देख सके। 1962 ई० में राहुल जी को जब विस्मृति का रोग हुआ तब जब वे चिकित्सा के लिए सोवियत रूस ले जाये गये, तब उनकी पत्नी लोला उन्हें देखने आयीं, परन्तु विस्मृति के कारण कोई परस्पर बात नहीं हो सकी। उस समय राहुल जी के नेत्रों से केवल आंसू बह रहे थे। लोला और इगोर माता-पुत्र न कभी भारत आये और न वे हिन्दी जानते थे।

14. पुनः राजनीतिक अभियान

राहुल जी 1939 ई० में किसान-संघर्ष में लग गये। उनको जेल जाना पड़ा। उन्होंने जेलखाने के सुधार के लिए 10 और 17 दिनों के दो अनशन व्रत किये। कुछ महीने के बाद उन्हें जेल से छोड़ दिया गया। इसके बाद वे 24-25 फरवरी 1940 ई० में मोतिहारी किसान सम्मेलन के अध्यक्ष बने। इसके बाद वे पुनः पकड़कर जेल में डाल दिये गये और वे 1940-42 ई० के बीच करीब 29 महीने हजारीबाग और देवली जेल में बंद रहे।

15. दर्शन दिग्दर्शन की रचना

इसी 29 महीने के लंबे कारावास में राहुल जी ने दर्शन पर अपना सर्वोच्च ग्रंथ 'दर्शन दिग्दर्शन' लिखा जिसमें यूनानी दर्शन, यूरोपीय दर्शन, इसलामी दर्शन तथा भारतीय दर्शनों का सरल वर्णन है। यह लगभग साढ़े आठ सौ पृष्ठों का ग्रंथ हिन्दी भाषा में अद्वितीय है। इसमें मार्क्सवादी दृष्टिकोण से समीक्षा की गयी है।

जब वे जेल से छूटे तब उन्होंने अपने जन्म स्थान की यात्रा की। उनके बचपन में उनका एक विवाह हो चुका था। उसका गौना आने के पहले ही राहुल जी घर से भाग निकले थे। वह महिला बेचारी घर में बैठी थी और राहुल जी से मिलने आयी। परंतु वे वहां रुके नहीं। उनका राजनैतिक और साहित्यिक क्षेत्र में निरंतर श्रम चलता रहा। उनकी राजनीति कांग्रेस-माध्यम से मुड़कर कम्युनिज्म-माध्यम से चलने लगी। वे 1939 ई० में मुंगेर में कम्युनिष्ट पार्टी के सदस्य बने। परंतु जनवरी 1948 ई० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन बम्बई में अध्यक्षीय भाषण देने से भारतीय कम्युनिष्ट पार्टी ने उन्हें पार्टी से निकाल दिया। साहित्य में वे संस्कृति, नृवंशशास्त्र, समाज विज्ञान, अर्थशास्त्र, भाषाशास्त्र, यात्रा, भूगोल-भूस्तर की बातें, राजनीति, पुरातत्त्व, धर्म, इतिहास, मत-पंथ आदि को लेकर सरल प्रवाह में लिखते रहे।

16. बुढ़ापा में पुनर्विवाह और दुखद अंत

राहुल जी 1948 ई० के बाद भारत में ही रहे। अपवादस्वरूप वे केवल एक बार चीन गये तथा एक बार बौद्ध दर्शन पढ़ाने श्रीलंका बुलाये गये। परंतु वहां वे बीमार पड़ गये। बीमारी दशा में 1962 ई० में चिकित्सा के लिए रूस ले जाये गये, परंतु अच्छा फल न निकलने से पुनः भारत लाये गये।

रूस में उस समय जबकि अत्यंत तानाशाह स्तालिन का शासन था, राहुल जी अपनी पत्नी लोला और पुत्र इगोर को भारत न ला सके। प्रथम विवाहिता पत्नी गांव की थी उससे उनका लगाव नहीं था। अतएव उन्होंने अपनी साठ वर्ष की उम्र के लगभग एक नेपाली युवती से विवाह किया जिसका नाम कमला पेरियार था और वह मूल भारतीय थी, जिसको विवाह बाद डॉ० कमला सांकृत्यायन कहा जाता रहा। राहुल जी अपनी नववधू के साथ कई वर्ष मंसूरी में बिताये। इसी क्रम में उनकी पत्नी को जया पुत्री और जेता पुत्र पैदा हुए।

राहुल जी श्रीलंका के विद्यालंकार विश्वविद्यालय के बौद्ध दर्शन के प्रोफेसर थे, अतएव श्रीलंका से उनका बुलावा आया। वे श्रीलंका गये, परंतु कुछ दिनों में उन्हें मधुमेह, उच्च रक्तचाप तथा हृदय-विकार के रोग एक साथ घेर लिये। उनको विस्मृति का रोग हो गया। इतना बड़ा विद्वान अपना नाम तक नहीं पढ़ पाता था और न ठीक से बोल पाता था। अति परिश्रम और पारिवारिक चिन्ता ने उन्हें सब प्रकार से शक्तिहत कर दिया। प्रसिद्ध विद्वान निराला के अंतिम वर्ष ऐसे बीते थे तथा 'काजी नजरूल इसलाम' अपने जीवन के अंतिम पूरे चौंतीस वर्ष इसी प्रकार से पीड़ित रहे। "राहुल जी ने बहुत अधिक उम्र में विवाह किया और अपने बच्चों के भविष्य की चिन्ता उन्हें शायद भीतर-भीतर कुतरती रही। वे अपनी अर्धमूक अवस्था में बुदबुदाते रहते थे—"दो बच्चे-तीन बच्चे"। हो सकता है उनके शरीर ने उनके मन का साथ नहीं दिया, और इसी भुलावे में अपने आपको डाले रहे कि औषधियों के सहारे शरीर को जवानी जैसे ही सक्रिय रखा जा सकता है।"[1]

ऊपर वर्णन आ चुका है कि वे 1962 ई० में सोवियत रूस ले जाये गये, परंतु सफलता न मिली और पुनः भारत लाये गये। तथा उसी बीमारी की दयनीय दशा में दार्जिलिंग में 1963 ई० में उनकी मृत्यु हो गयी। वहां उनका अंतिम संस्कार हुआ तथा एक छोटी-सी राहुल-स्मृति बनायी गयी।

17. उपसंहार

राहुल जी उत्तर प्रदेश आजमगढ़ जिले के एक गांव में एक गरीब किसान ब्राह्मण यहां जन्म लेकर थोड़ी पढ़ाई के बाद अपने कैशोर से ही घर छोड़कर इधर-उधर भागते रहे और अपने निरंतर श्रम से उन्होंने लगभग तैंतीस भाषाएं सीखीं, देश-विदेश का भ्रमण किया, विदेश से सैकड़ों भारतीय साहित्य लाये, देशभक्ति में अनेकों बार जेल गये, अनेक विषयों पर लगभग डेढ़ सौ ग्रंथ लिखे, सोवियत रूस लेनिनग्राद में तथा श्रीलंका में संस्कृत अध्यापक तथा दर्शन के प्रोफेसर रहे। उन्होंने काशी की पंडित-सभा से महापंडित की, श्रीलंका

---

1. **राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ 27, प्रभाकर माचवे।**

विद्यालंकार परिवेण से त्रिपिटकाचार्य की, हिन्दी साहित्य सम्मेलन इलाहाबाद से साहित्य वाचस्पति की, भागलपुर विश्वविद्यालय भागलपुर तथा विद्यालंकार विश्वविद्यालय श्रीलंका से डी० लिट० की और भारत सरकार से पद्मभूषण की उपाधियां पायीं।

इतना ही नहीं, वे केदारनाथ पांडे से वैष्णव रामउदारदास बने, फिर आर्य समाजी और उसके बाद बौद्ध भिक्षु राहुल सांकृत्यायन और कांग्रेसी से कट्टर कम्युनिष्ट तथा भौतिकवादी भी। उन्हें भक्ष्याभक्ष्य का अधिक विचार नहीं था, परंतु पेय-अपेय पर विचार था। वे अपनी तरुणाई में गंजेड़ी साधुओं के साथ गांजा पीये थे, परंतु फिर छोड़ दिये। उन्हें सिगरेट पीने की आदत हो गयी थी, परन्तु उसे सन् 1948 ई० से छोड़ दिये। उन्होंने अपने जीवन में शराब का स्पर्श तक नहीं किया। वे छह फिटा लंबे, गोरे, चौड़े माथा के, सशक्त तथा दृढ़ मन वाले थे।

उनका एक विवाह तो उनके अबोधपन में हुआ था। साधुवेष में होने के बाद जब कम्युनिष्ट तथा भौतिकवादी हुए तब उन्होंने दूसरा विवाह रूस में किया और तीसरा बुढ़ापा में भारत में। उन्होंने अपने परम श्रद्धेय महात्मा बुद्ध को भी शीर्षासन करने वाला, अर्थात उलटा-पथ चलने वाला कह डाला। इन पंक्तियों के लेखक से सारनाथ, वाराणसी के महाबोधि विद्यालय के प्राचार्य भिक्षु धर्मरक्षित ने सन् 1971 ई० में बताया था कि राहुल अंत में पुन: धर्म में रुचि लेने लगे थे। परन्तु तब वे अस्वस्थता के कारण कुछ करने योग्य नहीं रह गये थे।

राहुल जी यूनानी, इसलामी, यूरोपीय तथा भारतीय दर्शनों के तो विद्वान थे ही, बौद्ध दर्शन के प्रकांड पंडित थे। "प्रसिद्ध रूसी दार्शनिक बौद्ध-न्याय शास्त्र के लेखक प्रोफेसर श्चेर्बास्की ने लेनिनग्राद विश्वविद्यालय में अपनी स्मृतियों में लिखा कि उनके बाद इस विषय को साधिकार पढ़ाने वाला एक ही व्यक्ति सारे विश्व में है और वह है राहुल सांकृत्यायन। बौद्ध विद्वान के नाते उन्हें सोवियत रूस में बुलाया गया। वे लेनिनग्राद विश्वविद्यालय में प्रोफेसर बने। जीवन के संध्याकाल में, श्रीलंका विद्यालंकार विश्वविद्यालय में वे ससम्मान प्राध्यापक बनाकर बुलाये गये। पर भारत में किसी विश्वविद्यालय में उन्हें पढ़ाने की अनुमति नहीं दी गयी, न उन्हें आमंत्रित किया गया, क्योंकि उनके पास कोई औपचारिक उपाधि नहीं थी। हमारी शिक्षा पद्धति की नौकरशाही कितनी जकड़बंद की है, इस पर इससे अधिक दुखद टिप्पणी क्या हो सकती है।"[1]

राहुल जी भाषण देने में कुशल नहीं थे, किन्तु लेखन में अत्यन्त प्रवीण थे। उन्होंने अपनी लेखनी से विश्व को ज्ञान की अपार राशि दी है। उन्होंने अपने

---

1. **राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ 21।**

जीवन में आध्यात्मिक उन्नति नहीं की, यह उन्हीं की नहीं, अधिकतम विद्वानों की कम-वेश यही दशा है। कितने धार्मिक नामधारी भी मन की भ्रांति में ही अंत तक रह जाते हैं। इस भयंकर भूल से हमें सावधान होना चाहिए। आध्यात्मिक उन्नति अर्थात आत्मज्ञान, आत्मशोधन, आत्मसंतोष और पूर्ण निर्भयता जीवन का सच्चा फल है।

संत लाओत्ज़े

लेखक—**देवेंद्र**

30. संत लाओत्ज़े

पुराने संतों की प्रामाणिक जीवनियां नहीं मिलतीं। भारतवर्ष की ही बात नहीं है, दुनिया के इतिहास में लगभग सब जगह ऐसा ही है। जिस समय प्राचीन भारत में स्वामी महावीर तथा तथागत बुद्ध की जोड़ी अध्यात्म के प्रचार-प्रसार में लगी हुई थी, लगभग उसी समय पड़ोसी राष्ट्र चीन में दो महत्त्वपूर्ण संत हुए—लाओत्ज़े एवं कनफ्यूशियस। प्रारंभ में दोनों ही प्रशासनिक अधिकारी थे, फिर प्रशासनिक कार्यों से स्वैच्छिक निवृत्ति लेकर स्वतंत्र हो गये। लाओत्ज़े कनफ्यूशियस से ज्येष्ठ थे, कितना ज्येष्ठ थे निश्चित तौर पर कहा नहीं जा सकता। कुछ इतिहासकार लगभग पचास वर्ष, तो कुछ बीस वर्ष ज्येष्ठ बताते हैं। कनफ्यूशियस सामाजिक सुधार एवं जनकल्याण में आजीवन लगे रहे, जबकि लाओत्ज़े दुनिया से उदास रहते थे। उनकी लौकिक चीजों में जरा भी रुचि न थी। अत: वे एकान्तवास में रहने लगे। वे प्रखर वैराग्यवान, संसार से उदासीन, आत्मभाव में जाग्रत संत पुरुष थे। उनमें सब कुछ को झाड़-फटकार कर चल देने वाली फक्कड़ाना मस्ती एवं निर्भयता बरबस ही भारतीय संत शिरोमणि कबीर की याद दिलाती है। उनकी वाणियों का दो टूक स्वर, उनमें उलटवासियों की गुत्थियां, उनमें छिपे वैज्ञानिक चिंतन के तत्त्व एवं एक स्वतंत्र चिंतन की सुगंध उनको आज ढाई हजार वर्ष बाद भी आकर्षण का केन्द्र बनाये हुए है। यहां उनका जीवन परिचय और उनकी वाणी 'ताओ ते चिंग' पर विनम्र निवेदन प्रस्तुत है।

1. जन्म और जीवन

लाओत्ज़े के जन्म और जीवन के संबंध में इतिहास और किंवदंतियों की मिली-जुली जानकारी इस प्रकार है। उनका जन्म चीन के हेनान प्रांत में हुआ जो उत्तरी चीन में पड़ता है। कब हुआ, इस पर थोड़ा मतभेद है। कुछ के अनुसार उनका जन्म 604 ई० पूर्व में हुआ, तो अन्य के अनुसार 571 ई० पूर्व। वैसे ज्यादा प्रामाणिक 604 ई० पूर्व का है। ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व हुए चीन के प्रसिद्ध इतिहासकार 'सिज-मा-सियेन' ने भी उनका जन्म 604 ई० पूर्व माना है। इसी हेनान प्रांत से एक और महान साधक का संबंध है जिनसे भारतीय जनमानस सुपरिचित है, वे हैं 'ह्वेनसांग' प्रसिद्ध चीनी बौद्ध भिक्षु-यात्री जो महाराज हर्षवर्धन के काल में भारत आये थे और यहां लगभग 15 वर्ष

रहकर विद्या अध्ययन किये थे, वे भी हेनान प्रांत के निवासी थे।[1]

जहां तक लाओत्ज़े की बात है, लाओत्ज़े, वह नाम जिससे उन्हें जाना जाता है, वस्तुत: उनका व्यक्तिगत नाम नहीं है। यह तो उनका उपनाम है, लोगों के प्रेम और सम्मान का प्रतीक। चीन में नाम के अंत में 'त्ज़ु' या 'त्ज़े' शब्द का जुड़ना सम्मान का प्रतीक है। उनका पारिवारिक नाम 'ली' था जो चीन में बहुधा प्रचलित है। 'लाओत्ज़े' नाम के चार अर्थ बताये जाते हैं, इससे कुछ मनोरंजक किंवदंतियां भी जुड़ी हुई हैं—

1. वृद्ध बालक। वह बालक जो बचपन से ही परिपक्व बुद्धि का हो। कहते हैं, लाओत्ज़े जब पैदा हुए तो उनके सफेद दाढ़ी थी। यह केवल किंवदंती है।
2. लाओ से उत्पन्न। कहते हैं, 'लाओ' नामक कुंवारी कन्या को एक रात्रि, आकाश में टूटते हुए तारे को देखकर गर्भ ठहर गया। समय आने पर उसने एक पुत्र को जन्म दिया। लाओ से उत्पन्न होने के कारण उसके पुत्र का नाम लाओत्ज़े पड़ा।[2]
3. वृद्ध दार्शनिक। परिपक्व उम्र में जब उन्होंने 'ताओ-ते-चिंग' जैसी अमर कृति की रचना की; कहते हैं, कनफ्यूशियस जब लाओत्ज़े से मुलाकात कर वापस गये तो उन्होंने अपने अनुयायियों के बीच लाओत्ज़े की चर्चा लाओत्ज़े-द ओल्ड फिलॉसफर कहकर की।
4. बड़े कान वाला। सम्भवत: उनके कान आम आदमियों की तुलना में बड़े थे। वैसे बड़े कान का होना शुभ व्यक्तित्व का लक्षण माना जाता है।[3] विल्हम आदि विचारकों का मत है कि उनके बड़े कान के नाते ही उनका नाम 'बड़े कानों वाला ली' पड़ा।

युवावस्था में लाओत्ज़े अपनी योग्यता एवं ज्ञान के लिए पूरे प्रांत में प्रसिद्ध थे। वहां के सम्राट ने उन्हें प्रांतीय राजधानी-चाऊ बुलाया और उनकी योग्यता को परखकर एवं उनकी विद्वता का उपयोग करने के लिए उन्हें अपने अभिलेखागार का प्रमुख नियुक्त किया। जिसका काम था सम्राट को विशेष आवश्यकता पड़ने पर सूचना एवं मंत्रणा देना जैसे कि युद्ध-संधिकाल में, विद्रोह-अव्यवस्था को ठीक करने हेतु, तथा न्याय कार्य में भी। अभिलेखागार में कार्यरत रहते हुए उन्होंने चीन के पुराने संत महापुरुषों द्वारा रचित ग्रंथों, वहां के इतिहास, संस्कृति, दर्शन आदि विषयों का विशद अध्ययन किया।

---

1. **मेरी और ह्वेन सां की डायरी, श्री अभिलाष साहेब, कबीर पारख संस्थान, इलाहाबाद से प्रकाशित।**
2. **पुरुष-संबंध के बिना स्त्री को गर्भ नहीं ठहर सकता।**
3. **The Sayings of Lao Tzu by Lionel Giles. Published in London, 1950.**

अपनी प्रौढ़ावस्था तक उन्होंने शासन कार्य में सहयोग दिया, तत्पश्चात उन्होंने राजकीय कार्यों से अवकाश ले लिया। सम्भवत: वे नब्बे वर्ष से भी अधिक दिनों तक जिये। इस बीच सम्राट ने कई बार चाहा कि लाओत्ज़े पुन: उन्हें प्रशासन में सहयोग करें किन्तु वे राजधानी छोड़कर गायब जैसे हो गये और वापस न लौटे।

एक छोटी सी कहानी है। लाओत्ज़े एक सरोवर के तट पर बैठे हुए थे। सरोवर के जल में कई कछुए एक साथ खेल रहे थे। वे कभी किनारे रेत तक आते, विश्राम करते, पुन: सरोवर में लौट जाते। लाओत्ज़े उनकी जल-क्रीड़ा देखने में तल्लीन थे, तभी सम्राट का मंत्री उन्हें ढूंढता हुआ वहां आ पहुंचा। उसने उनसे पूछा, आप सम्राट की बात मानकर उनका प्रमुख सलाहकार बनना स्वीकार क्यों नहीं कर लेते? आप यह निमंत्रण बार-बार क्यों ठुकरा देते हैं? इस बार सम्राट ने मुझे खास हिदायत देकर भेजा है कि आपको लेकर ही राज-दरबार आऊं। आप कृपया सम्राट का प्रस्ताव स्वीकार कर लें। लाओत्ज़े सरोवर की ओर एकटक देखते रहे। कुछ देर चुप रहकर उन्होंने मंत्री से कहा—'आप इन कछुओं का आनंद देख रहे हैं! कितनी स्वतंत्रता से ये सब विचरण कर रहे हैं। आप इनमें से किसी एक कछुए को राजदरबार में चलने के लिए राजी कर लें। यदि आप एक भी कछुए को अपने साथ चलने के लिए राजी कर लेंगे तो मैं भी आपके साथ चल दूंगा।'

मंत्री उनकी बात समझ गया। वह मुंह नीचा कर वहां से चल दिया। सच है 'संतन को कहा सीकरी से काम'। कहते हैं कविकुल भूषण गोस्वामी तुलसी दास जी को मुगल सम्राट अकबर ने अपनी राजधानी फतेहपुर सीकरी आने के लिए आमंत्रण भेजा किन्तु बाबा गये नहीं। वे समझते थे कि हम भक्तों का बादशाह से क्या प्रयोजन?

लाओत्ज़े की अवस्था लगभग नब्बे वर्ष की हो रही थी। उन्होंने अपने को कभी भी प्रमुखता से प्रकट नहीं किया, किन्तु उनकी सुकीर्ति फैल रही थी, लोग उनके दर्शन के लिए आते। एक छोटा सा शिष्य-समूह भी उनके चारों ओर एकत्रित हो ही गया था। ऐसे में एक बार कनफ्यूशियस उनसे मिलने के लिए उनकी कुटिया में पधारे।

2. लाओत्ज़े-कनफ्यूशियस सम्मिलन

कनफ्यूशियस (551-478 ई० पूर्व) नीतिवादी समाज सुधारक थे। उनके नाम की प्रसिद्धि उनके जीवन काल में ही व्यापक रूप से फैल गयी थी। पुराने संत उनके आदर्श थे। वे उनकी शिक्षाओं को सभी प्रकार की सामाजिक व्याधियों के लिए रामबाण मानते थे। वे अपने को 'पुरातन विचारों का प्रेषक, प्रेमी और उन पर निष्ठा रखने वाला न कि सर्जक' मानते थे। पुराने संतों की

शिक्षाओं को लागू करने के लिए वे युवावस्था से ही राजाओं से मिलते रहते और उन्हें प्रेरित करते। वे प्रभावशाली थे, विद्वान थे, उनके शिष्य-अनुगामी भी बहुत थे। वे समाज के उच्च कहे जाने वाले सम्भ्रांत परिवार से आये थे। जब कि लाओत्ज़े दूसरी समझ के व्यक्ति थे। राजकाज में लम्बे समय तक जुड़े रहकर वे जान गये थे कि सम्राटों की जनता के कल्याण में कोई रुचि नहीं है। वे तो सिर्फ सत्ता एवं समृद्धि के भूखे हैं, राज्यविस्तार ही उन्हें आनंद देता है। वे जनता से अधिक टैक्स वसूलते हैं और उसे डराकर रखते हैं। साधारण जनता भी अपने स्वार्थों को लेकर आपस में बंटी हुई है। ऐसे वातावरण में वे शांत रहना ही श्रेयष्कर समझते थे। कनफ्यूशियस के उद्देश्यों एवं आदर्शों में उनकी विशेष रुचि न थी। अत: संक्षिप्त बातचीत हुई जिसका भाव आगे दिया जा रहा है।

कनफ्यूशियस का लाओत्ज़े से मिलने के लिए जाना एक ऐतिहासिक घटना है। अनेक ग्रंथकारों ने इस प्रसंग को बढ़ा-चढ़ाकर लिखा है। कनफ्यूशियस के ग्रंथ 'एनालेक्ट्स' में इस मिलन का संकेत है। 517 ई० पूर्व में यह मुलाकात हुई जब कनफ्यूशियस का चाऊ प्रांत में आगमन हुआ। कनफ्यूशियस उस समय 35 वर्ष के युवा थे, जबकि लाओत्ज़े 88 वर्ष की पकी उम्र के थे। कनफ्यूशियस ने विनय पूर्वक उनसे कुछ सुनना चाहा। लाओत्ज़े ने कहा, "वे महापुरुष जिनकी चर्चा तुम करते हो, मर चुके हैं और उनकी हड्डियां गलकर मिट्टी में मिल चुकी हैं, मात्र उनके शब्द रह गये हैं। और यह कि जब श्रेष्ठ मनुष्य को अवसर मिलता है वह ऊंचा उठ जाता है; किन्तु जब परिस्थितियां उसके अनुकूल नहीं होतीं, वह समय को देखकर उसके अनुसार चलता है। मैंने एक धनी व्यापारी के विषय में सुना है जिसके पास धन का विशाल भंडार सुरक्षित है, तो भी वह साधारण ढंग से रहता है; और यह भी कि श्रेष्ठ मनुष्य, यद्यपि वह सदगुणों में पूर्ण है, ऊपर से देखने पर साधारण-मूढ़ जान पड़ता है। अपने श्रेष्ठ होने का अहंकार और तमाम इच्छाओं को दूर रखकर, मन की चालाकी और अनियंत्रित इच्छाओं को हटाकर ही काम बनेगा। इन्हें रखकर किसी का लाभ नहीं हो सकता। तुम्हें मैं इतना ही बता सकता हूं।"[1]

---

1. **Lao Tze said, " The men about whom you talk are dead, and their bones are mouldered to dust; only their words are left. More over, when the superior man gets his opportunity, he mounts aloft; but when the time is against him, he is carried along by the force of circumstances. I have heard that a good merchant, though he have rich treasures safely stored, appears as if he were poor; and that the superior man, though his virtue be complete, is yet to outward seeming stupid. Put away your proud air and many desires, your insinuating habit and wild will. They are of no advantage to you; this is all I have to tell you.''**

(Page 34, Introduction by James Legge, The Texts of Taoism in The Sacred Books of the East, Vol. XXXIX)

पीछे कनफ्यूशियस ने अपने अनुयायियों के बीच जाकर लाओत्ज़े की भूरि-भूरि प्रशंसा की। उन्होंने कहा, "पक्षियों का उड़ना, मछलियों का तैरना और पशुओं का दौड़ना, मैं इनसे परिचित हूं। किन्तु दौड़ने वाले फंस सकते हैं, तैरने वाले बंसी में फंस सकते हैं और उड़ने वाले का तीर से शिकार सम्भव है। किन्तु इनसे भिन्न ड्रैगन होता है। मैं नहीं जानता कि कैसे वह बादलों के सहारे हवा में ऊपर उठकर स्वर्ग तक पहुंच जाता है। आज मैंने लाओत्ज़े के दर्शन किये और उनकी तुलना सिर्फ ड्रैगन से हो सकती है।"[1] चीन की संस्कृति में ड्रैगन बहुत महत्त्वपूर्ण है। ड्रैगन सर्प के आकार का पंखवाला काल्पनिक प्राणी है, जिसे शुभ मानकर चीन में पूजा जाता है, जैसे हमारे देश में गणेश जी को पूजा जाता है।

यहां ध्यान देने योग्य है कि विद्वान लेखकों ने कनफ्यूशियस और लाओत्ज़े को एक दूसरे के विरोध में खड़ा कर दिया है। अनेक बार लाओत्ज़े की व्याख्या इस ढंग से की जाती है कि वे कनफ्यूशियस के विरोधी जान पड़ते हैं। वस्तुत: ऐसा नहीं है। वैचारिक मतभेद अवश्य हैं किन्तु लाओत्ज़े का प्रेम स्पष्ट है। उन्होंने कनफ्यूशियस को हित की बात समझायी, भले ही उनका स्वर थोड़ा तेज रहा हो; और कनफ्यूशियस ने अपने शिष्यों के बीच उनकी जो प्रशंसा की वह लाओत्ज़े के प्रति उनकी श्रद्धा को दर्शाता है । पीछे दोनों के अनुयायियों ने एक दूसरे के प्रति ऐसा कटुतापूर्ण ढंग से लिखा कि वैमनस्य और द्वेष बढ़ता रहा, सौहार्द घटता गया। अनधिकारी लोगों से और आशा भी क्या की जा सकती है!

3. लाओत्ज़े द्वारा 'ताओ ते चिंग' की रचना

लाओत्ज़े स्वभाव से अंतर्मुख थे। उनकी लौकिकता में कोई रुचि न थी। अपनी यश-कीर्ति को उन्होंने कभी महत्त्व नहीं दिया और अपने को लोगों की नजरों से बचाकर रखा, अपने जीते जी भी और मरने के बाद भी। ईसा से भी पुराने चीन के इतिहासकार 'सिज-मा-सियेन' ने लाओत्ज़े के विषय में लिखा है—He strove towards self-concealment and remaining without name. अर्थात वे अपने को गुप्त रखने के मार्ग पर चले और अनाम रहे।

लाओत्ज़े की महिमा नगर में फैल रही थी। उनके मानने वाले बढ़ रहे थे। साथ ही राज्य की व्यवस्था निरंतर बिगड़ती जा रही थी। लाओत्ज़े उम्र के

---

1. **Confucius said, "I know how birds can fly, fishes swim and animals run. But the runner may be snared, the swimmer hooked, and the flyer shot by the arrow. But there is the dragon: I can not tell you how he mounts on the wind through the clouds, and rises to the heaven. Today I have seen Lao Tze, and can only compare him to the dragon."(same, page 35)**

अंतिम पड़ाव में थे। उनके पीछे उनका सम्प्रदाय चले, इसकी उन्हें तनिक भी चाहना न थी। वे पूर्णतया निवृत्त थे। ऐसे में एक दिन उन्होंने नगर छोड़ने का मन बना लिया। परम्परा से प्राप्त जानकारी के अनुसार एक प्रात:काल बिना किसी से कुछ कहे काले बैल की पीठ पर सवार होकर (चीन में बैल पर सवारी करने का प्रचलन रहा है) वे चुपचाप निकल पड़े और आगे बढ़ते रहे। नगर की सीमा पार निर्जन प्रदेश में जाने का उनका विचार था। सीमांत क्षेत्र तक पहुंचने में दिन डूब गया। सीमा-प्रहरी लाओत्ज़े का अनुयायी था। जब उसे उनके उद्देश्य की जानकारी हुई तो उसने उन्हें ससम्मान रोक लिया और सम्राट तक सूचना भेज दी। सम्राट ने संदेश भेजा कि लाओत्ज़े अपने विचार लिखकर दे जायें, तभी उन्हें सीमा पार जाने दिया जाये। सीमा-प्रहरी का भी यही आग्रह था।

लाओत्ज़े विवश हो गये। उन्होंने कहा, 'सत्य कहा नहीं जा सकता और जो कहा जा सकता है, वह सत्य नहीं।' यही उनके ग्रंथ के प्रारम्भिक वचन बने। लाओत्ज़े सीमा पर तीन दिन रुके और लगभग पांच हजार चीनी शब्दों में अपने विचार सूत्र रूप में लिख दिये। उन्होंने ग्रन्थ को कोई नाम नहीं दिया। पीछे चीन के ही एक सम्राट ने, जो उनका प्रशंसक था, उनकी वाणी को 'ताओ-ते-चिंग' नाम दिया।

ताओ=नियम।

ते=सद्‌गुण संपन्न जीवन।

चिंग=पुस्तक।

इस प्रकार 'ताओ ते चिंग' का अर्थ हुआ नियम और सद्‌गुण संपन्न जीवन की पुस्तक। संक्षेप में कहें तो 'नियम और जीवन की पुस्तक'।

लाओत्ज़े वहां से विदा लेकर सीमा पार निर्जन एवं पर्वतीय प्रदेश में चले गये। फिर कोई जान नहीं पाया कि वे किस दिशा में गये, कहां रहे। उम्र नब्बे से ऊपर थी। चीन में ठंड भी जोरों की पड़ती है। पहाड़ी प्रदेश में उनका शरीर कब, कहां छूटा, कोई जानता नहीं। लेकिन उनके वचन 'ताओ ते चिंग' के रूप में अमर हो गये। एक प्रसिद्ध विचारक का कहना है कि 'ताओ ते चिंग' जैसा छोटा सा धर्मग्रंथ गीता या उपनिषद्, धम्मपद या महावीर वाणी, बाइबिल, कुरान या जिन्दावेस्ता की ही कोटि में आता है। किसी से जरा भी कम हैसियत नहीं है इसकी, और कुछ अर्थों में तो यह अनूठा है।

कुछ विचारकों का यह मानना है कि 'ताओ ते चिंग' के साथ यह सीमा पार जाने वाला प्रसंग जोड़कर उसे चित्ताकर्षक बनाया गया है। उनका मानना है कि लाओत्ज़े ने इसे तीन दिन में पूरा नहीं किया था, वरन यह उनकी

जीवनभर की कमाई है, उनकी परिपाक साधना का परिणाम है। लाओत्ज़े ने इसे तीन दिन में विवशतावश लिख दिया, यह कथन सुपाच्य नहीं है।

विवेक से विचार करने पर यह तर्क सही समझ में आता है। 'ताओ ते चिंग' को पूरा पढ़ने पर जरा भी नहीं लगता कि यह एक साथ लिखा गया है वरन पूरे ग्रंथ में उनकी बातें बिखरी हुई हैं। भिन्न विषयों पर यत्र-तत्र सूत्र मिलते हैं। पुराने संतों की वाणी तथा उनके कथनों को बहुलता से उद्धृत किया गया है। कोई कारण नहीं है कि इसे तीन दिन का लिखा हुआ माना जाय।

भारतवर्ष में धर्मग्रंथ गीता का बहुत मान है। महाराज श्रीकृष्ण ने युद्ध-भूमि में वीर अर्जुन को इसका उपदेश किया था। पाठक स्वयं सोचें कि युद्ध की परिस्थितियों में, युद्ध के मैदान में क्या निष्काम कर्म योग घटित होता है? युद्ध स्थल सत्संग स्थल कदापि नहीं हो सकता। गीता भावुकता या क्षणिक आवेश में दिया गया बयान नहीं है। यह भारतीय चिंतन की आत्यंतिक ऊंचाई है। इस ग्रंथ की रचना धीरे-धीरे करके अनेक सदियों में हुई है। 'विद्वानों की राय से गीता ईसा पूर्व चौथी शताब्दी की रचना है और महाभारत में रखी गयी है...... परन्तु ईसा के चार सौ वर्ष बाद तक इसमें श्लोक जुड़ते रहे।'[1] इस प्रकार गीता का रचना-काल लगभग आठ सौ वर्षों का है। वस्तुत: गीता-लेखक ज्ञानी एवं श्रीकृष्ण के उपासक थे। उन्होंने प्रवक्ता के रूप में श्रीकृष्ण को ही मुख्य पात्र चुना है और उन्हें ईश्वर सिद्ध करने की चेष्टा की। इसी प्रकार, लाओत्ज़े का यह ग्रंथ उनके जीवन का मधुरस है जो धीरे-धीरे करके उनके जीवनकाल में एकत्रित हुआ जान पड़ता है।

4. 'ताओ ते चिंग' का इतिहास

'ताओ ते चिंग' का मान लाओत्ज़े से कम नहीं है। इसका अंदाजा इसी बात से लगता है कि विश्व के विद्वान लेखकों ने 'ताओ ते चिंग' पर ज्यादा लिखा है और लाओत्ज़े के जीवन पर अपेक्षाकृत कम। इस समय 'ताओ ते चिंग' के लगभग सौ से ऊपर अनुवाद यूरोपीय एवं अन्य भाषाओं में उपलब्ध हैं और नित्य नये-नये अनुवाद सामने आ रहे हैं। विज्ञान प्रौद्योगिकी के बढ़ते कदम एवं इंटरनेट की सुविधा ने इस ग्रंथ को चीन के बाहर जनसामान्य के लिए सुलभ बना दिया है।

'ताओ ते चिंग' की विषय-वस्तु जानने से पहले उसके इतिहास पर एक नजर डाल लें। यह ईसा से लगभग 500 वर्ष पूर्व का ग्रंथ है। ईसा पूर्व के

---

1. **श्री कृष्ण और गीता, श्री अभिलाष साहेब, कबीर पारख संस्थान, इलाहाबाद से प्रकाशित।**

अनेक ग्रंथकारों ने इसे अपने ग्रंथों में उद्धृत किया है। कनफ्यूशियस मतावलम्बियों ने भी इसको मान दिया है। कहते हैं, स्वयं कनफ्यूशियस के ग्रंथ 'एनालेक्ट्स' में इसका एक अध्याय उद्धृत है। इसके अनेक संस्करण मिलते हैं किन्तु सभी संस्करण ईसा पूर्व के हैं, और थोड़े पाठान्तर के साथ मूल स्वर सबका एक समान है। ईसा से दौ सौ वर्ष पूर्व ही यह चीनी भाषा के एक 'क्लासिक'—श्रेष्ठ ग्रंथ के रूप में मान्य हो गया था। राजसत्ता ने भी इसे उपयोगी जानकर इसके पठन-पाठन को प्रोत्साहन दिया। एक सम्राट के बारे में तो कहा जाता है कि अपने दरबार में नियमित रूप से वह 'ताओ ते चिंग' पर चर्चा सुनता था। उस समय उसके मंत्री एवं सहयोगी सभी वहां उपस्थित होते और इस बीच यदि कोई जमुहाई या झपकी लेता, पांव फैलाता या किसी अन्य प्रकार से अपनी अरुचि प्रदर्शित करता तो उसी समय सम्राट द्वारा डांटा जाता। एक दूसरे सम्राट ने अपने मंत्रियों से पूछा कि ताओ का सरकार और प्रशासन चलाने में क्या योगदान हो सकता है? ताओ के मर्मज्ञ ने उन्हें बताया कि ताओ के सहयोग से एक मुर्दा भी शासन को सुचारु रूप से चला सकता है। इसके बारे में एक पुराने संस्करण की भूमिका में, ''सभी वस्तुओं का मूल, सम्राटों का गुरु और जनता का सर्वाधिक मूल्यवान रत्न'' लिखा मिलता है। निश्चय ही यह सब ग्रंथ की महिमा को दर्शाता है।

चीन में कागज और छपाई अत्यंत प्राचीन हैं। सूखे काठ पर सांचों को उभारकर, पौधों की छाल से बनाये गये कागज पर ग्रंथों को छापकर प्रकाशित किया जाता था। 'ताओ ते चिंग' के अनेक संस्करण इसी प्रकार प्रकाशित हुए थे। चीन के सम्राटों ने आज्ञा जारी करके 'ताओ ते चिंग' को स्नातक स्तर के अध्ययन के लिए अनिवार्य विषय घोषित किया। सभी छात्रों के पास इसकी अपनी एक निजी प्रति होती थी; शिक्षाविदों को इसकी प्रतियां भेजी गयीं और इसका अन्य स्थानीय भाषाओं में अनुवाद हुआ। राजधानी में पत्थर पर 'ताओ ते चिंग' के शिलालेख खुदवाये गये। यह सब ईसा पूर्व के युग में होता रहा।

ऐसा नहीं था कि सबने इसको अच्छा ही माना। कनफ्यूशियस के कट्टर अनुयायी सदैव इसकी आलोचना ही करते रहे। कुछ ऐसे भी सम्राट हुए जिन्होंने इसको रद्द करने का भी प्रयास किया। ईसा पूर्व 215 में श्रेष्ठ चीनी ग्रंथों को मंगोल आक्रमणकारियों ने आग लगा दी थी। ईसवी सन् 1200 के आसपास मंगोल आक्रमणकारी कुबलई खान ने चीन पर आक्रमण कर उसे जीत लिया और वहां का शासक बन बैठा। तत्पश्चात उसने ताओ सम्प्रदाय के सभी ग्रंथों को आग लगाकर नष्ट करने का आदेश दिया किन्तु 'ताओ ते चिंग' को छोड़कर; उसका सम्मान कुबलई खान ने भी किया। इस प्रकार ढाई हजार वर्षों की ऊंच-नीच सहकर यह ग्रंथ हमारे बीच सुरक्षित बना हुआ है और यह

संपूर्ण मानवता की धरोहर है, मात्र चीन की नहीं। भारतवर्ष में जैसे वेद, वैसे चीन में 'आई चिंग' एवं 'ताओ ते चिंग'। 'आई चिंग' लाओत्ज़े से भी लगभग बारह सौ वर्ष पुराना ग्रंथ है। जिसके वाक्यों को लाओत्ज़े ने अपने ग्रंथ में उद्धृत किया है।

5. 'ताओ ते चिंग' की विषय-वस्तु

'ताओ ते चिंग' एक जीवन्मुक्त संत का अमृत रस है। जो साधना पथ का पथिक है, वह इसको सहजता से हृदयंगम कर सकता है, वह इसका आस्वादन कर सकता है, उसे इसमें रस मिलेगा। और जो कोई भी मात्र बुद्धि एवं विद्वता के जोर से इसे समझना चाहेगा वह अर्थ का अनर्थ कर बैठेगा। कई लोगों के द्वारा जाने-अनजाने यह दुर्घटना घटी है। पश्चिम के कुछ विद्वानों ने निष्ठापूर्वक 'ताओ ते चिंग' का अनुवाद कार्य किया है, किन्तु ऐसे अनेक स्थल हैं जहां पर वे समझ न सके कि लाओत्ज़े कहना क्या चाहते हैं। उदाहरणस्वरूप, जेम्स लेगी (1815-1897 ई०) का नाम लिया जा सकता है। वे ब्रिटेन के थे किन्तु लम्बे समय तक चीन में रहे और चीनी भाषा एवं संस्कृति के विशिष्ट विद्वान माने गये। उन्होंने प्रसिद्ध जर्मन विद्वान-दार्शनिक मैक्समूलर के 'सैक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट' के संपादन एवं अनुवाद में सहयोग किया। उन्होंने स्वयं बड़े श्रमपूर्वक 'ताओ ते चिंग' का अंग्रेजी अनुवाद किया किन्तु ऐसे अनेक स्थल हैं जहां साधनात्मक रहनी-गहनी की बातें हैं जिन्हें जेम्स लेगी समझ न सके और उन्होंने ईमानदारी से अपनी असमर्थता स्वीकार की है। 'ताओ ते चिंग' अत्यंत गम्भीर है। उसका लघु आकार देखकर उसे हंसी में नहीं उड़ाया जा सकता। इस छोटे से ग्रंथ के एक-एक सूत्र पर अनेकानेक शास्त्र न्योछावर हैं। 'ताओ ते चिंग' में तीन बातें प्रमुख हैं—

1. उत्तम जीवन के सूत्र।
2. विश्व सत्ता को समझने के लिए ताओ का सिद्धांत।
3. शासन एवं शासक हेतु निर्देश।

1. उत्तम जीवन के सूत्र

समुद्र की तली में जैसे मोती बिखरे रहते हैं, 'ताओ ते चिंग' के समस्त अध्यायों में वैसे ही उत्तम जीवन के सूत्र मिलते हैं। ऐसा जीवन जो राग-द्वेष, कलह, शक्ति-भोग की इच्छाओं से परे हो, शिशुवत निर्दोष हो, स्त्री-सुलभ विनम्रता एवं मौन से संयुक्त हो, जल की भांति नीचे रहकर भी पर-उपकार करने वाला हो, नये पौधे की भांति कोमल, लचीला एवं निर्बल हो, अहंकार-शून्य हो—लाओत्ज़े की दृष्टि में उच्च जीवन है। जीवन में सद्गुण ओत-प्रोत हों किन्तु उनका अहंकार न हो, ऐसा जीवन ताओ के निकट है, संयम और

शील से सुसज्जित है। लाओत्ज़े ऐसे निर्दोष जीवन को जो ताओ—विश्व-सत्ता के नियमानुसार हो, उसको 'गुप्त जीवन' (Hidden life) कहते हैं। ऐसा उच्च जीवन जीने वाले विश्व इतिहास में लोग हुए हैं, उनका जीवन एवं उनकी वाणी इसका प्रमाण है।

लाओत्ज़े ने चीन के पुराने संतों के कथनों एवं रहनी को उच्च जीवन के प्रमाण के रूप में अपने ग्रंथ में अनेक स्थलों पर उद्धृत किया है। उदाहरण स्वरूप अध्याय 15, 26, 27, 49, 56, 58, 70 आदि को यथास्थान देखा जा सकता है। संत से तात्पर्य गैरिक या सादा वस्त्र धारण करने वालों से नहीं, अपितु जिनके जीवन में निष्कामता, प्रपंच-शून्यता एवं अंतर्मुखता के लक्षण दिखायी दें। मूल चीनी भाषा में संत के लिए 'शेंग रेन' (Sheng Ren) शब्द का प्रयोग है, जिसका अर्थ सामान्यत: अनुवादक Sage/Saint करते हैं; विल्हम ने उसके लिए 'द मैन ऑफ कालिंग' (The Man of Calling) 'पुकार कर कहने वाला मनुष्य' प्रयोग किया है। कबीर साहेब ने भी अपने लिए 'कहहिं कबीर पुकारि के' कहा है।

सांसारिक ऐश्वर्य, यश, कीर्ति, बल, प्रतिष्ठा, आगे बढ़ने की चाह, उच्च पद आदि अहंकार को जन्म देते हैं, फलत: विनाश होता है। प्रकृति में यह स्पष्ट दिखता है। पौधे जब जीवन में प्रवेश करते हैं, कोमल और नाजुक होते हैं। जब वे मजबूत एवं कठोर हो जाते हैं, तब उन्हें काटकर गिरा दिया जाता है। मजबूत, अकड़वाला, कठोर होना ताओ (नियम) के विपरीत है, और ताओ के विपरीत होना विनाश को निमंत्रण देना है। लाओत्ज़े सरल, प्राकृतिक जीवन के पक्षधर हैं। प्रेम, संतोष, अगुआ न बनने की चाहना वाला जीवन ही आत्मसंतोष दे सकता है। पीछे एवं नीचे रहकर जीवन जियें ताकि कलह न हो। जिस प्रकार नदी तथा जलधाराओं की जलराशि समुद्र में मिलती है क्योंकि समुद्र नीचे होता है, उसी प्रकार शासक यद्यपि शक्तिशाली है, परन्तु जब वह अपने को दीन-हीन तुच्छ मानता है, तब वह लोगों का सिरमौर होता है।

2. विश्व सत्ता को समझने के लिए ताओ का सिद्धांत

लाओत्ज़े ईश्वर को लेकर भावुक नहीं हैं। किसी ईश्वर ने सृष्टि रची है, ऐसा वे नहीं कहते। ढाई हजार वर्ष पूर्व जब चीन में ही नहीं, समस्त विश्व सभ्यताओं में दैववाद-बहुदेववाद का प्रचलन था, लाओत्ज़े की वाणी ईश्वरवाद, दैववाद, चमत्कार, अलौकिकता से पूर्णतया मुक्त है। वे वैज्ञानिक अध्यात्म का सूत्रपात करते हैं। वे देखते थे कि व्यक्ति-ईश्वर की कल्पना करके लोगों द्वारा उससे भोग-मोक्ष मांगा जाता है। अत: ईश्वर पर वे मौन रहे, मौन रहकर उसकी उपेक्षा कर दी। उन्होंने कहा, एक नित्य सत्ता है जो ईश्वर से भी पहले की है और वह सत्ता करुणाशील नहीं है। उसे यज्ञ-हवन से संतुष्ट नहीं

किया जा सकता। मनुष्य उसके लिए तृण-श्वानवत तुच्छ है। इस नित्य सत्ता को वे 'ताओ' नाम देते हैं। ताओ शब्द से चीन के लोग प्राचीन काल से ही परिचित थे, पुराने सम्राटों द्वारा राज-काज चलाने के लिए जो नियम-विधान बनाये जाते थे, वे ताओ कहे जाते थे। दूसरा अर्थ था आकाश में तारों की गति करने का निर्धारित पथ। लाओत्ज़े ने इसे एक नये अर्थ में प्रयुक्त किया। उन्होंने इसे विश्व प्रकृति में व्याप्त भौतिक नियम तथा प्राणियों के मन-इंद्रियों को संचालित करने वाले मानसिक नियमों का समुच्चय माना। इस प्रकार जिसे विज्ञान में कारण-कार्य व्यवस्था और Eternal laws कहा जाता है, वही लाओत्ज़े के लिए ताओ है। ताओ में किसी व्यक्तित्व की कल्पना नहीं है। नियम में भला कैसा व्यक्तित्व? सृष्टि अनादिकाल से है, निर्मित पदार्थ सूक्ष्म प्रकृति से व्यक्त रूप में प्रकट होते हैं, पुन: चक्र में गति करते हुए सूक्ष्म प्रकृति में विलीन हो जाते हैं। यही ताओ की गति है। संसार की परिवर्तनशीलता ताओ अर्थात नियम से संचालित है। असत्ता से सत्ता का उदय नहीं होता और सत्ता कभी असत्ता में नहीं जाती। इस प्रकार वैज्ञानिक अध्यात्म का सूत्रपात लाओत्ज़े ने किया। ताओ को ही भारतवर्ष के वेदों में 'ऋत' कहा गया है। 'ऋतस्य तन्तुं विततम्।' अर्थात ऋत के तन्तु सर्वत्र फैले हैं। लाओत्ज़े कहते हैं ताओ के तंतु सर्वत्र हैं। भाषा भिन्न है जबकि विचारसरणी एक समान। जिस प्रकार वेद के ऋषि प्रकृति को लेकर भावुक हो जाते हैं और उसके लिए व्यक्तिवाचक शब्दों में, उसकी महिमा में मंत्र बनाते-गाते हैं, उसी प्रकार लाओत्ज़े भी ताओ को लेकर अभिभूत हैं। छोटे से ग्रंथ में लगभग 75 बार ताओ शब्द आया है। ताओ उनका दार्शनिक चिंतन प्रस्तुत करता है। ताओ के नाम पर उनका मत ताओवाद कहलाता है। विश्व प्रकृति को समझने के लिए उनका प्रयास अत्यंत वैज्ञानिक एवं आधुनिक है।

3. शासन एवं शासक हेतु सूत्र

उस अंधे युग में कबीलों में परस्पर लड़ाई, लूटमार मची रहती थी। लाओत्ज़े प्रथम विचारक हैं जो युद्ध को पूर्णत: अनावश्यक मानते हैं। छोटे-बड़े राज्य दोनों अपनी सनक को पूरा करने में लगे रहते हैं। जबकि लोगों के हितों का ध्यान कोई नहीं रखता। आम जनता इन युद्धों में पिसती, उसी के बेटे-पति-भाई युद्धों में मारे जाते, फसल-सम्पत्ति की हानि होती, युद्ध के बाद भुखमरी फैलती, महामारी फैलती। इन सब कष्टों से जनता जूझती जबकि शासक वर्ग जबरदस्ती कर लेकर आम जनता से अलग हो जाता। लाओत्ज़े युद्ध के पूर्ण विरोधी हैं। किसी हालत में युद्ध का परिणाम दुखदायी है, विजेता हो अथवा पराजित, सबके लिए युद्ध का परिणाम पीड़ा ही है। अत: युद्ध को बचाना चाहिए। छोटा राज्य बड़े का संरक्षण स्वीकार कर ले। बड़ा राज्य अपने

को बड़ा न मानकर छोटे राज्य को सहयोग करे। अंतत: दोनों राज्य जनता के लिए हैं।

लाओत्ज़े राजकाज में लम्बे समय तक रहे। अत: वे राजकाज की बारीकियों को समझते थे। उन्होंने 'ताओ ते चिंग' में सम्राट को निर्देश दिया है कि वह अत्यंत सावधानी से शासन करे, वह शासन की कला सीखे। वह अपनी भावी योजनाओं को लोगों के सामने समय से पूर्व प्रकट न करे। सम्राट आम लोगों के जीवन-यापन में हस्तक्षेप न करे। उसका शासन क्षुरधार न हो अपितु संयत हो। सम्राट आदेश देने में संयत हो। वह किसी के गलत करने पर उसे मृत्युदंड न दे। वह पुराने सम्राटों से सीख लेकर ताओ के अनुसार शासन करे। वह अपने को शक्तिशाली मानकर अहंकार न करे अपितु अपने को दीन-हीन तुच्छ समझे। अंतत: एक दिन उसकी यह गति होनी ही है।

चीन में एक प्राचीन परम्परा रही है, युवराज को राजमहल छोड़कर साधारण ढंग से अध्ययन करना होता था। जिससे वह जनता के कष्टों से परिचित हो सके। जब वह परिपक्व होता तब उसे शासन की बागडोर दी जाती। इस प्रकार से प्रशिक्षित सम्राट विनम्र होता था। लाओत्ज़े ऐसा ही सम्राट चाहते हैं जो साधुशाही ढंग का हो, न कि क्षुरधार हो। ऐसे विनयी सम्राट के लिए यूनान के दार्शनिक प्लेटो ने भी कल्पना की है। उसे उन्होंने 'फिलॉसफर किंग' या 'सेज किंग' कहा है।

6. लाओत्ज़े का व्यक्तित्व एवं चिंतन

लाओत्ज़े अध्यात्म की विरल घटना हैं। उनका शरीर भले चीन में जन्मा हो किन्तु उनकी आत्मा का स्वर हमारी हृदय-वीणा के तारों को झंकृत करता है। उनका स्वर ऐसा है मानो उपनिषद् के कोई ऋषि बोल रहे हों, कोई कबीर बोल रहे हों। लाओत्ज़े मानव इतिहास के उन चुनिंदा लोगों में से हैं जिन्हें उंगलियों पर गिना जा सकता है। जैसे कपिल, कणाद, महावीर, बुद्ध, सुकरात, कबीर आदि। ये प्राय: एक लाइन के संत एवं चिंतक हैं। इन सभी की वाणी वैज्ञानिक अध्यात्म प्रस्तुत करती है।[1] ईश्वर के प्रति उदासीनता, कारण-कार्य व्यवस्था पर बल, कर्मफल भोग, पुनर्जन्म, स्व में स्थिति, अंदर हृदय में स्वर्ग का वास, ये सब चिंतन के बीज लाओत्ज़े में स्पष्ट हैं।

लाओत्ज़े का व्यक्तित्व अंतर्मुखी है; वह भीतर की ओर विकसित होता है। उनकी जड़ें भीतर की ओर फूटती हैं और गहरे जाती हैं। उन्होंने कहा है, जो जानता है वह बोलता नहीं, जो बोलता है वह जानता नहीं। उन्होंने सत्य की ओर मात्र संकेत किया है और साथ ही चेतावनी भी दे दी है कि सत्य कहा

---

1. **इसी ग्रंथ की भूमिका से।**

नहीं जा सकता और जो कहा जा सकता है वह सत्य नहीं। उनका वचन उपनिषद् के ऋषियों का स्मरण कराता है जिन्होंने 'नेति-नेति' कहकर परमतत्त्व को बखाना है। आधुनिक यूरोप में विटिंगस्टाइन नाम के समर्थ चिंतक हुए हैं, उनका एक सूत्र है—जो कहा नहीं जा सकता, उसे कहना ही मत, चुप रह जाना।[1] इसमें लाओत्ज़े की प्रतिध्वनि सुनायी पड़ती है।

लाओत्ज़े की वाणी ईश्वरवाद, अवतारवाद, पैगंबरवाद, दैववाद, अलौकिकता एवं चमत्कार से पूर्णतया मुक्त है। उन्होंने इनमें से किसी का खंडन नहीं किया, सिर्फ मौन रहे। उनका एक बहुमूल्य वचन है—उत्तम प्रवक्ता को खंडन की आवश्यकता नहीं। कारण-कार्य व्यवस्था, जिसे वे ताओ कहते थे उसको स्थापित किया। मानव सभ्यता के उस प्रारंभिक दौर में सभी सभ्यताओं में देववाद, बहुदेववाद का प्रचलन था। देवताओं का स्वर्ग में वास माना जाता था जो कि मानवीय गुण-चेतना से युक्त थे और प्रेम, दया, करुणा, क्षमा, क्रोध आदि करते थे। मनुष्य जब गलत करता तब वे उस पर क्रोध कर उसे दंडित करते, किन्तु यज्ञ में हवन-दक्षिणा पाकर जब पंडित और राजा, जो पृथ्वी पर उनके प्रतिनिधि थे, उसे क्षमा कर देते तो उन देवताओं का भी कोप शांत हो जाता। लाओत्ज़े ने इस चिंतन की नींव हिला दी। उन्होंने कहा कि एक नित्य सत्ता है जो ईश्वर के भी पहले की है, मानो वह उसकी पूर्वज हो, और वह नित्य सत्ता करुणाशील नहीं है। उसे यज्ञ-हवन द्वारा संतुष्ट नहीं किया जा सकता। इस नित्य सत्ता को लाओत्ज़े ताओ नाम देते हैं। ताओ विश्व-सत्ता के नियमों का समुच्चय है, जहां कोई क्षमा नहीं है और प्रत्येक कर्म कर्ता के सिर पर वापस लौटता है। ताओ का कोई व्यक्तित्व नहीं है। इस प्रकार लाओत्ज़े के वैज्ञानिक अध्यात्म में देवी-देवता, ईश्वर या क्षमा की गुंजाइश नहीं।

लाओत्ज़े अपनी वाणी में स्वर्ग का नाम अनेक बार लेते हैं। उनका स्वर्ग बाहर, ऊपर आकाश में नहीं है; वह भीतर है। मन की कलह-शून्यता ही स्वर्ग है। वे कहते हैं कि वह जीवन जिसमें कलह नहीं, यही है वह ऊंचाई जो स्वर्ग का स्पर्श करती है। कलह किसलिए होता है? अपने स्वार्थों की बढ़ोत्तरी के लिए। संत जगत से मिली हुई गाली और निंदा को निर्विकार भाव से स्वीकार लेते हैं, वे अपने को पीछे और नीचे रखते हैं। अत: उनके जीवन में कलह नहीं। लाओत्ज़े का स्वयं का जीवन इसका प्रमाण है।

लाओत्ज़े आत्मवादी थे। उन्होंने 'सेल्फ' अर्थात 'स्व' का प्रयोग आत्मा के लिए किया। अपने अकेलेपन के बोध में स्थित रहना ही 'स्व' में स्थित होना है। उनका वचन है—जो आत्मसंतुष्ट है वह लज्जित नहीं होता...... और वह

---

1. **Whatever cannot be said, thereof must not be said.**

सदैव के लिए सुरक्षित हो जाता है। संत अपने मान-सम्मान के प्रति लापरवाह होते हैं और उनका 'स्व' बढ़ता है। वे अपने अहंकार को खो देते हैं और उनका 'स्व' सुरक्षित रहता है। चूंकि वे अपने लिए कुछ चाहते नहीं, वे स्वयं पूर्ण हैं।

विल्हम ने अपनी भूमिका में लिखा है कि लाओत्ज़े के 'सेल्फ' (स्व) को कोई अहं न समझ ले। स्व में स्थित होने के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है हृदय का विचारों से पूर्णतः खाली होना, तभी सत्य जानने में आयेगा। लाओत्ज़े सर्वत्र खाली हृदय को ज्ञान और कर्म की उपयुक्त भूमि बताते हैं। वे कहते हैं बाह्यज्ञान क्षणिक है, यह बदलता रहता है। अपने आपका ज्ञान अक्षुण्ण है, जब उसमें मिलावट न हो। अपनी स्थिति तक पहुंचने के लिए बाह्यज्ञान पर्याप्त नहीं। जब सारे दृश्य समाप्त हो जाते हैं, तभी वह सत्य जो कि छिपा हुआ है, शाश्वत व श्रेष्ठ है, सभी एंद्रिक ज्ञान से परे है, शुद्ध व स्पष्ट रूप से उजागर होता है। इसके लिए शिशुवत निर्दोषता चाहिए, उस शिशु की भांति जो अभी इच्छाओं के भंवरजाल में फंसा नहीं। तब स्थिति स्वयमेव स्पष्ट होती है, और वह शाश्वत जीवन को जानने की स्थिति में आता है और उसे जानकर मृत्यु के पार हो जाता है।

लाओत्जे पदार्थ-पार दृष्टि वाले हैं। वे शाश्वत जीवन को देखते हैं। संभवतः इसी कारण लाओत्ज़े के कट्टर विरोधी भी यह स्वीकार करने को बाध्य हैं कि यद्यपि संत कुएं की तली में रहते हैं और जगत को नहीं देखते अर्थात अंतर्मुखी स्वभाव के हैं और बाहर की गतिविधि से उदास रहते हैं तथापि वे जो देखते हैं उसका खंडन नहीं हो सकता। लाओत्ज़े ने कहा है कि जो मरकर भी नहीं मरता, वह चिरजीवी है। इस पर जेम्स लेगी ने टिप्पणी की है कि मानव-शरीर कीड़े का खोल या सर्प की केंचुलि की तरह है जिसे हम बहुत थोड़े समय के लिए धारण करते हैं। निस्संदेह, लाओत्ज़े जीव के लिए वर्तमान जीवन के बाद दूसरे जीवन पर विश्वास करते हैं।[1]

लाओत्ज़े इतिहास के उन लोगों में से हैं, जिनका कोई साथी न हो पाया। वे अपने समय के स्वतंत्र चिंतक कहे जा सकते हैं। उन्हीं के लगभग सौ वर्ष बाद यूनान में दार्शनिक सुकरात हुए। वे भी परंपरा से अलग-थलग अपने में रमने वाले संत पुरुष थे किन्तु प्लेटो और अरस्तू जैसे समर्थ शिष्यों ने उनकी

---

1. **The human body is like the covering of the caterpillar or the skin of the snake; that we occupy it for a passing sojourn. No doubt, Lao Tze believed in another life for the individual after the present.**

(Page 30, Tao Te Ching, James Legge)

वाणी को जीवित रखा। दुर्भाग्य से लाओत्ज़े के साथ ऐसा न हो सका। एक विचारक के अनुसार, लाओत्ज़े ऐसे सुकरात थे जिनको उनका प्लेटो या अरस्तू न मिल सका जो उनकी बोयी फसल को काट सके। जहां अन्य लोग अपनी उपलब्धियों को लेकर गर्व से इतराते फिरे, वहीं लाओत्ज़े मौन रहकर अपना कार्य करते रहे और लोगों को अपना महत्त्व दिखाने या अपनी बात समझाने के फेर में नहीं पड़े। अपने समकालीन विचारक कनफ्यूशियस की तरह उन्होंने कोई पंथ स्थापित नहीं किया न उन्होंने इसकी आवश्यकता ही समझी। विश्व प्रकृति के रहस्य को उन्होंने समझा, मानव मन की परख की और उसे अपने शब्दों में कहा। कहीं-कहीं पहेली या संकेत रूप में, जिससे कि उनके पीछे आने वाले वे थोड़े पथिक जो संसार की चमक-दमक में उलझे नहीं, और इस संसार की क्षणभंगुरता, परिवर्तनशीलता को समझने का प्रयास किये, उन्हें सहारा मिल सके और लाओत्ज़े इसमें सफल रहे।

लाओत्ज़े भावुक न थे। संसार के लोगों को वे समझा लेंगे, इस भावुकता में वे कभी नहीं पड़े। लोग उन्हें कम समझ पाये, या गलत समझे, लाओत्ज़े इससे तटस्थ रहे। रिचर्ड विल्हम ने उचित ही लिखा है कि कनफ्यूशियस की तरह लाओत्ज़े को स्वयं के न समझे जाने की समस्या से जूझना पड़ा। दोनों ही संत जिस ढंग से इस तथ्य से निपटते हैं, संभवत: वही उनकी सबसे बड़ी विशिष्टता है। लोगों द्वारा उन्हें न समझा जाना कनफ्यूशियस के लिए सर्वाधिक पीड़ाजनक था, और वे संभवत: इससे कभी उबर न सके। उनका दृढ़ विश्वास था कि उनके पास समाज की सहायता करने के लिए साधन हैं। फिर भी लोग उनका उपयोग करने के लिए तैयार नहीं हैं। जब कि लाओत्ज़े इस समस्या को नगण्य मानते थे। अपने स्वाभिमान और संप्रभुता में रहकर वे इसे तुच्छ मानते थे। वे इस ज्ञान में सुदृढ़ थे कि उनको न समझा जाना अथवा गलत समझा जाना इसका कारण है उनकी शिक्षाओं को न समझना। ताओ जो उनकी शिक्षाओं का और अंतर्निहित नियमों का मूल है, उसे ही नहीं समझा गया, अत: वे भी अनसमझे रह गये। उनकी वाणी में आता है—वस्तुत: इतना कम समझे जाने में ही मेरा मूल्य निहित है। लाओत्ज़े जैसे उच्चश्रेणी और आत्मलीन संत के लिए यह सब सहज और सरल था।

लाओत्ज़े अखण्ड आत्मनिष्ठ हैं। वे अपनी ओर से एकदम निश्िंचत हैं। अगर वे अपनी ओर से इतना निश्िंचत न होते तो वे इतना तीव्र व्यंग्य कैसे करते? 'ताओ ते चिंग' के अध्याय 20 को विद्वतजन लाओत्ज़े का आत्मकथात्मक मानते हैं। जिसमें लाओत्ज़े संसार के लोगों पर, उनकी चमक-दमक, उनके भोग-विलास, सुख-साधनों की प्रचुरता आदि पर तीखा व्यंग्य करते हैं। दूसरी ओर अपने लिए उन्होंने नवजात शिशु की भांति जिसके अभी

मुस्कान भी नहीं उभरी, मूढ़, अव्यवस्थित, अत्यंत उदास, गंदला, लहरों की तरह भटकता हुआ आश्रयहीन, अशांत, व्यर्थ, भिखारी आदि विशेषणों का प्रयोग किया है। फिर भी उन्होंने अपने जीवन को श्रेष्ठतर और उत्तम माना है, क्योंकि वे ताओ (नियम) के निकट स्थित हैं। कबीर साहेब ने भी अपने पर व्यंग्य किया है—कहहिं कबीर सब खलक सयाना, इनमें हमहिं अनारी। दुनिया के लोग बहुत सयाने हैं, ज्ञानी हैं; इनमें हम ही एक अनाड़ी हैं।

7. लाओत्ज़े और कबीर

लाओत्ज़े को पढ़ते हुए कबीर पदे-पदे याद आते हैं। एक विचारक ने तो लिखा है कि लाओत्ज़े को कबीर ने समझा। लाओत्ज़े की झांकी कबीर में देखने को मिलती है, जीवन में भी और विचारों में भी।

लाओत्ज़े और कबीर दोनों परम संत हैं। दोनों स्वतंत्र चिंतक हैं। उनके बीच दो हजार वर्षों का अंतर है। यदि देश-काल के इस अंतर को नजरअंदाज कर दिया जाये तो दोनों के विचार एवं व्यक्तित्व घुलकर एक हो जाते हैं। लाओत्ज़े ने अपने विचारों को सूत्र रूप में या बीज मंत्रों की तरह 'ताओ ते चिंग' में व्यक्त किया है; कबीर की वाणी का नाम ही 'बीजक' है। जिसका भाव है बीज रूप में निहित ज्ञान। दोनों ही आत्मतृप्ति के सर्वोच्च शिखर पर विराजमान हैं। समाज के लोगों को चेताने के लिए करुणावश दोनों ने श्रम किया किन्तु भावुक होकर नहीं। कबीर कहते हैं—मैंने सबके कल्याण के लिए समान सत्पथ बता दिया है, परन्तु मुझे कोई समझ न पाया। तो भी, मैं पहले संतुष्ट था, आज संतुष्ट हूं तथा आगे भी संतुष्ट रहूंगा। मेरी अपनी संतुष्टि में कोई कमी नहीं है।[1] लाओत्ज़े की वाणी में आत्मतृप्ति का भाव छलकता है। संत-इतिहास में एक अद्‌भुत संयोग की घटना! जीवन के अंतिम वर्षों में दोनों ही महापुरुष अपने-अपने नगर को छोड़कर अंजान-सी जगहों को अपने देहावसान के लिए चुने। लाओत्ज़े का 'चाऊ' राज्य छोड़कर निर्जन प्रदेश में जाना, कबीर का काशी छोड़कर मगहर जाने की घटना का स्मरण कराता है। जिस प्रकार परम्परागत सोच से हटकर अपने प्रखर चिंतन, तार्किक विचारधारा के लिए कबीर भारतीय मध्ययुग में विशिष्ट हैं, उसी प्रकार प्राचीन चीन में लाओत्ज़े अपने खरे ज्ञान एवं वैज्ञानिक सोच के नाते विशिष्ट हैं।

8. लाओत्ज़े का प्रभाव

लाओत्ज़े की चमक ढाई हजार वर्ष बाद भी क्षीण नहीं हुई। उनके

---

1. **हम तो सबकी कही, मोको कोई न जान।**
   तब भी अच्छा अब भी अच्छा, जुग-जुग होउँ न आन॥ बीजक, साखी, 183॥

जीवनकाल में ही उनकी अंतर्मुख रहनी का लोगों पर व्यापक प्रभाव पड़ा था। यहां तक कि कनफ्यूशियस के अनुयायी जो अपने युवा दिनों में समाज को बदलने के लिए कमर कसे हुए थे और जीवनभर लाओत्ज़े को कूप-मंडूक कहकर व्यंग्य करते रहे, वे अपने तमाम प्रयासों के बाद भी जब समाज में अपेक्षित सुधार न कर पाये और उनको अपना जीवन भी व्यर्थ जाता हुआ दिखा, तब वे लाओत्ज़े के बताये अनुसार समुद्र के किनारे या पर्वत की गुफाओं में एकांत ढूंढ़कर आत्मशोधन के लिए उन्मुख हुए और उनकी रहनी का अनुसरण किये। वर्तमान में लाओत्ज़े का आकर्षण और गहरा रहा है। उनकी अंतर्मुखता में रहस्य समाया हुआ है, जो यूरोपीय और पाश्चात्य लोगों को उनकी ओर आकर्षित कर रहा है। भौतिक समृद्धि व वैज्ञानिक उपलब्धियां उनके मन के खालीपन को भरने में असफल रही हैं। अत: लाओत्ज़े की वाणियों पर मनन-चिंतन बढ़ा है। ताओ नाम लोगों को आकर्षित कर रहा है। लेखक ताओ नाम का प्रयोग कर रहे हैं। अभी कुछ वर्ष पूर्व ही 'द ताओ आफ फिजिक्स' तथा 'द ताओ आफ फू' ग्रंथ प्रकाशित हुए। पर्यावरण अध्ययन के क्षेत्र में भी ताओ को जोड़कर देखा जा रहा है। ताओ विश्व परिदृश्य में चीन की पहचान बनकर उभर रहा है।

९. लाओत्ज़े का दुरुपयोग

लाओत्ज़े को ताओवाद का जनक माना जाता है, किन्तु उनके पूर्व भी चीन में ताओवाद एक पंथ के रूप में था। लाओत्ज़े का शरीर छूटने के सौ वर्ष के भीतर ही उन्हें अवतार मानकर देवता के रूप में उनकी पूजा प्रारम्भ हो गयी। वर्तमान ताओवाद का आधार उनकी रचना 'ताओ ते चिंग' नहीं है। लाओत्ज़े का स्वर जो 'ताओ ते चिंग' में व्यक्त होता है उसमें भीड़ जुटाने की क्षमता नहीं है। वह विशुद्ध ज्ञान है। अत: उनके वर्तमान अनुयायी अन्य वाणियों को अपने मत का आधार मानते हैं, और आवश्यकता पड़ने पर 'ताओ ते चिंग' की भी मनमानी व्याख्या कर अपना स्वार्थ साधते हैं। लाओत्ज़े के ग्रंथ 'ताओ ते चिंग' में भूत-प्रेत की मान्यता बची रह गयी है, जिसका दुरुपयोग उनके अनुयायियों ने किया है। उन्होंने लाओत्ज़े के विशुद्ध ज्ञान को छोड़कर चीन की लोक मान्यताओं को अपने में समाहित कर लिया है और जादू-टोना, मंत्र-तंत्र, ज्योतिष, यज्ञ-हवन, बलि, भूत-प्रेत, झाड़-फूंक आदि कर्मकांड आज के ताओवाद की प्रमुख पहचान बन गये हैं। अपने जादू-मंतर का प्रभाव डालने के लिए अनेक बार इस पंथ के लोगों ने प्रशासन को ही उखाड़ फेंकने का षडयंत्र रचा, अत: पकड़े गये, दंडित हुए; और यह सब लाओत्ज़े के नाम पर हुआ है। लाओत्ज़े का वास्तविक स्वरूप ढक ही गया था, उन्हें एक मिथक-पौराणिक व्यक्तित्व मान लिया गया था। भला हो यूरोपवासियों का जिन्होंने उनके वास्तविक

चिंतन को खोज निकाला। ताओवाद के अनुयायियों की वर्तमान संख्या करोड़ों में है, और वे चीन सहित पूर्वी एशिया के अनेक राष्ट्रों जापान, कोरिया, सिंगापुर, ताइवान आदि में फैले हैं। आधुनिक विद्वान लाओत्ज़े की प्रशंसा एक स्वर से करते हैं किन्तु वे वर्तमान ताओवाद को लाओत्ज़े से नहीं जोड़ते।

यह दुर्घटना लाओत्ज़े के साथ ही हुई हो, ऐसा नहीं है। यह सर्वत्र देखने में आता है कि प्रवर्तक की अनुपस्थिति में अनुयायियों की प्रवंचना उभर आती है। भौतिक स्वार्थों में फंसकर वे अपने प्रर्वतकों के वचनों की अवमानना करते हैं और विपरीत साधनों का प्रयोग करने में भी नहीं हिचकते। हमारे देश में श्रीकृष्ण एवं कबीर साहेब प्रमाण हैं इस बात के।

भारतवर्ष के पुराकाल में श्रीकृष्ण एक स्वतंत्र चिंतक एवं क्रांतिकारी पुरुष हुए। ऋग्वेद में उन्हें इंद्र का विरोधी, वन्यजातियों का नायक, घोर गर्जना करने वाला, तीव्रगामी, सूर्य के समान तेजवान बताया गया है। छांदोग्य उपनिषद् में उत्तम आध्यात्मिक जिज्ञासु के रूप में उनकी चर्चा है। महाभारत में वे एक महान राजनेता के रूप में उभरते हैं। उनका तेज देखकर आगे चलकर उन्हें नारायण का अवतार ही घोषित कर दिया गया। फिर उनकी महिमा में जो शास्त्र लिखे गये उनमें उनका रूप ही विकृत कर दिया गया। हरिवंश पुराण, भागवत पुराण आदि में उन्हें सैकड़ों-हजारों स्त्रियों के साथ रास करने वाला रसिया बना दिया गया। माधुर्य-भक्ति के रसिक भक्त-कवियों ने उनका जो श्रृंगारिक चित्रण किया है, उसने श्रीकृष्ण के क्रान्तिकारी तथा आध्यात्मिक रूप पर धूल डाल दी है। अब भारतवर्ष में श्रीकृष्ण के मूलरूप की चर्चा कोई नहीं करता, वे हिन्दुओं के दस अवतारों में एक अवतार बनकर रह गये हैं। यह उनके अनुयायियों की लीला है।

एक दूसरा उदाहरण। कबीर साहेब को हुए अभी मात्र छह सौ वर्ष बीते हैं, और उनकी महिमा बताने के लिए अनेक पोथियां रची गयीं, उन्हें चारों युगों में अवतार लेने वाला बताया गया, उन्हें भवफंद काटने वाला बताकर पूजा जा रहा है और यह सब करने वाले कबीर के अनुयायी कहलाते हैं।

भारतवर्ष हो, चीन हो या अन्य कोई राष्ट्र; लाओत्ज़े हों, कृष्ण हों या कबीर, सभी जगह अनुयायियों की मूल समस्या एक ही है—भौतिक ऐश्वर्य का प्रबल आकर्षण। डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि लोग केवल सत्य को पाने के लिए देर तक टिके नहीं रह सकते। उन्हें धन चाहिए, मान चाहिए, यश चाहिए, कीर्ति चाहिए। यह प्रलोभन 'सत्य' कही जाने वाली बड़ी वस्तु से अधिक बलवान साबित हुआ है.....इसे द्विवेदी जी ने 'घर जोड़ने की माया' कहा है। यही काम श्री राम, महावीर, बुद्ध आदि सभी महापुरुषों के साथ उनके अनुगामियों ने किया है।

10. 'ताओ ते चिंग' के अन्य अनुवाद और भाष्य

'ताओ ते चिंग' पर अन्य चीनी साहित्य की अपेक्षा अधिक ध्यान दिया गया है। इस पर चीन के बाहर भी लिखा गया है, चीन में तो लिखा ही गया है। ईसा पूर्व ही इस पर अनेक भाष्य हुए हैं। कुछ तो सम्राटों द्वारा किये गये हैं। एक ही राजवंश के तीन सम्राटों ने इस पर भाष्य लिखे थे। यहां दो प्रमुख पुराने भाष्यकारों की चर्चा की जा रही है, जिनके भाष्य अभी भी अनूदित होकर प्रकाशित हो रहे हैं।

प्रथम है, 'हो-शांग-कुंग' का भाष्य। यह सर्वाधिक पुराना उपलब्ध भाष्य है। 'हो-शांग-कुंग' ईसा से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व हुए। वे ताओ मत के अनुयायी थे, एवं 'ताओ ते चिंग' के अध्येता माने गये। उनका भाष्य यूरोपीय भाषाओं में अनूदित होकर आज भी प्रकाशित हो रहा है। अनेक स्थलों पर यह लाओत्ज़े की वाणी को स्पष्ट करता है किन्तु अनेक स्थलों पर यह उलझाव भी पैदा करता है। यह थोड़ा चमत्कारिक मान्यता वाला है। पुराना होने से इसका विद्वानों में मान है।

दूसरा भाष्य है, 'वैंग बी' (226-249 ई०) नामक 24 वर्षीय नवयुवक का जिसका 249 ई० में एक बीमारी से असमय ही शरीर छूट गया। वह बड़ा योग्य था। वस्तुत: वह कनफ्यूशियस के मत का अनुयायी था। किन्तु 'ताओ ते चिंग' ने उसे प्रभावित किया, अत: वह उसके अध्ययन में लगा और उसने उस पर भाष्य भी लिखा। विद्वानों के बीच 'वैंग बी' के भाष्य का विशेष महत्त्व है। यह भाष्य ज्यादा स्पष्ट, प्रामाणिक और बुद्धिगम्य है।

अन्य भाष्यों के साथ, इन दोनों भाष्यों का आधार लेकर ही यूरोपीय लेखकों ने 'ताओ ते चिंग' का अनुवाद किया है। 19वीं शताब्दी में यूरोप से चीन पहुंचे ईसाई मिशनरियों, जैसे जूलियन, स्ट्रास, जेम्स लेगी और रिचर्ड विल्हम का अनुवाद कार्य प्रामाणिक माना जाता है। इधर कुछ वर्षों से अमरीका के विद्वानों ने भी 'ताओ ते चिंग' पर ध्यान दिया है। जेम्स लेगी के बारे में पीछे बताया जा चुका है। रिचर्ड विल्हम (1873-1930 ई०), जिनके पाठ के आधार पर यह भाष्य लिखा गया है, वे जर्मनी के थे एवं चीन में 20 वर्ष रहे। उन्होंने चीनी भाषा के अनेक ग्रंथों का अनुवाद किया है तथा वे चीनी भाषा-साहित्य के समर्थ विद्वान माने गये। 'ताओ ते चिंग' एवं 'आई-चिंग' के अनुवाद उनके श्रेष्ठ अनुवाद हैं।

11. वर्तमान परिदृश्य और यह भाष्य

हिन्दी में 'ताओ ते चिंग' के अनुवाद या भाष्य दिखते नहीं। संभवत: हिन्दी लेखकों का ध्यान इधर गया ही नहीं। पुराने चीनी भाष्य जिनके विषय में ऊपर

बताया गया है, वे स्पष्ट नहीं हैं, कारण चाहे जो भी हो। पिछली सदी में जो काम यूरोप के लेखकों ने किया है वह बुद्धिगम्य एवं स्पष्ट दिखता है, फिर भी अनेक ऐसे स्थल हैं जिनका भेद वे खोल नहीं पाते।

लाओत्ज़े कहना क्या चाहते हैं? इस पर विचार किये बिना ही कई बार विद्वान उनके शब्दों में ही उलझ जाते हैं। वे अपनी विद्वता एवं जानकारी में पड़कर साधनात्मक बातों के विषय में संदेह पैदा कर देते हैं। उदाहरण स्वरूप 'ताओ ते चिंग' का अध्याय 50, जिसका भाव है कि ताओ के अनुसार जीने वाला व्यक्ति भले ही सेना के मध्य से गुजर जाय किन्तु उनके अस्त्र-शस्त्र से वह अप्रभावित रहेगा; सघन वन से निकल जाय किन्तु हिंसक जीवों के वार से आहत नहीं होगा। जेम्स लेगी ने इस पर टिप्पणी की है कि लाओत्ज़े का कथन स्पष्ट नहीं है। ऐसा लगता है मानो लाओत्ज़े काव्यात्मक-कल्पना कर रहे हों कि ताओवादी कभी खतरे में नहीं पड़ सकता। लेगी साहब संत-वाणी का मर्म नहीं समझ पा रहे हैं। वस्तुतः मृत्यु का भय तो उसको होता है, जिसे शरीर से राग है। संत का अहंकार-ममकार पहले ही मर गया है, अब उसे मरने का क्या भय! वह तो निर्भय आत्मस्थिति के साम्राज्य में जी रहा है। सेना के बीच से गुजरना, वन्य जीवों के बीच से निकलना—ये सब लाक्षणिक कथन हैं, किन्तु लेगी साहब इन्हीं में उलझ गये।

रिचर्ड विल्हम की टिप्पणियां ज्यादा प्रौढ़ हैं। किन्तु संतवाणी को समझने की उनकी भी एक सीमा है क्योंकि यह विषय वाणी का नहीं, रहनी का है। संत की वाणी को कोई संत ही प्रामाणिक ढंग से व्याख्यायित कर सकते हैं, क्योंकि वे एक ही पथ के पथिक हैं, ऐसा हमारा निर्दोष विश्वास है।

भारतवर्ष में लाओत्ज़े पर विशेष लिखा नहीं गया है। संभवतः यहां पर संतों की इतनी समृद्ध परंपरा रही है कि लोगों को सीमा पार देखने का अवकाश ही नहीं मिला। भारत भूमि सदैव ही ऋषि-मुनि एवं संतों की वाणी से गुंजायमान रही है। तथागत बुद्ध का बौद्ध धर्म भारत से ही चीन पहुंचा है। इस प्रकार भारत चीन के लिए बहुत पहले से ही धर्मगुरु रहा है। अतीत में इन दोनों राष्ट्रों के रिश्ते मधुर रहे हैं। पुराने इतिहास में कभी ऐसा अवसर नहीं आया कि किसी चीनी सम्राट ने यहां हमला किया हो, किन्तु वर्तमान चीन की स्थिति अलग है। भारतवर्ष में धर्म-अध्यात्म अभी भी फल-फूल रहा है, जबकि चीन में सरकार ने धार्मिक गतिविधियों को अपने नियंत्रण में ले लिया है। वर्तमान चीन कम्युनिस्ट राष्ट्र है। सन् 1950 से चीन में कम्युनिस्ट पार्टी का शासन है। इस प्रकार कम्युनिस्ट पार्टी ही वर्तमान चीन की अधिष्ठात्री देवी है। उसके सामने बुद्ध, लाओत्ज़े, कन्फ्यूशियस, दलाई लामा आदि धर्मगुरु सब बौने हो गये हैं। और सारे धर्म अफीम की तरह नशा पैदा करने वाले मान

लिये गये हैं। अब वहां के धर्मगुरु सरकार के अनुसार सोचते-बोलते हैं, अपने प्रवर्तकों के सिद्धांतों के अनुसार नहीं। चीन की सरकार की नीति भी हिंसक और आक्रामक है, पहले की तरह अहिंसक नहीं। सम्पूर्ण विश्व मौन साधे देख रहा है कि चीन अपने लोगों, अपनी सांस्कृतिक-धार्मिक परम्परा एवं लोकतांत्रिक मूल्यों के साथ कैसा व्यवहार कर रहा है।

वर्तमान विश्व परिदृश्य में तीन महापुरुषों के प्रति लोगों का आकर्षण निरंतर बढ़ रहा है—ईरान के संत मौलाना जलालुद्दीन रूमी, भारतवर्ष के संत कबीर एवं चीन के संत लाओत्ज़े। रूमी साहब का ग्रंथ 'मसनवी', कबीर साहेब का ग्रंथ 'बीजक' एवं संत लाओत्ज़े का ग्रंथ 'ताओ ते चिंग' उनकी वाणियों का सार है। हिन्दी में लाओत्ज़े पर यह भाष्य लोगों के बीच प्रस्तुत करते हुए मन में हर्ष हो रहा है। इस ग्रंथ के भाष्यकार पूज्यवर गुरुदेव संत श्री अभिलाष साहेब जी की लेखनी से अब तक अनेक ग्रंथ रत्न निकले हैं। वे अनेक बार कहते हैं, ''पहले मैं केवल शिव, विष्णु, राम और कृष्ण का उपासक था। अब कबीर को पाकर ऐसी दृष्टि मिली है कि संसार के सभी महापुरुष बुद्ध, महावीर, लाओत्ज़े, कन्फ्यूशियस, सुकरात, ईसा, मोहम्मद, नानक आदि मेरे हो गये।'' ऐसी प्रेममयी दृष्टि रखने वाले संतप्रवर ने कबीरवाणी, वेदवाणी, बुद्धवाणी, पातंजल योगसूत्र, गीता, उपनिषद्, शांकर-विवेक चूडामणि आदि पर अपने भाष्य लिखे हैं। जिन्हें जनता से अपूर्व प्रेम मिला है। इसी क्रम में चीनी संत लाओत्ज़े के ग्रंथ 'ताओ ते चिंग' पर उनका भाष्य प्रस्तुत है। संतवाणी देश-काल की भौतिक दूरी का भेद नहीं मानती। संत की रहनी की सुगन्धि हवा की विपरीत दिशा में भी जाती है, ऐसा तथागत बुद्ध ने कहा है। पुराने संतों का मेल-मिलाप, सौहार्द्र का भाव हमारे मन में पुनः जागृत हो, ऐसी शुभ कामना है।